भारतीय
राजनीति और शासन-विकास

(१६३५—५०)

लेखक
कन्हैयालाल वर्मा, एम० ए०
रीडर, राजनीति विभाग, हिंदू विश्वविद्यालय
ब ना र स

प्रकाशक
नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स
ब ना र स

प्रथम बार] १९२४ [मूल्य ७॥)

मुद्रक
परेसनाथ घोष
स र ला प्रे स
बाँसफाटक, बनारस—१

अगस्त क्रांति के

शहीदों को

लेखक की अन्य रचनाएँ :—

भारतीय राजनीति और शासन-पद्धति (१८५८–१९३५) मू० ८)

(उत्तर प्रदेशीय सरकार द्वारा पुरस्कृत)

राजनीतिक भारत (१९४०–५२) मूल्य ४॥)

भारतीय नागरिकता की भूमिका मूल्य ५॥)

संयुक्त-राज्य-अमरीका का संविधान मूल्य ६)

(उत्तर प्रदेशीय सरकार द्वारा पुरस्कृत)

लोक-नीति और राष्ट्रीयता मूल्य १।)

पाश्चात्य राजनीतिक विचारों का इतिहास

(प्राचीन और मध्यकालीन) मूल्य ८॥)

(उत्तर प्रदेशीय सरकार द्वारा पुरस्कृत)

भारत का संविधान मूल्य ७)

भारत का समाजवादी दल मूल्य ॥=)

हाई स्कूल नागरिक-शास्त्र मूल्य २॥)

नागरिक-शास्त्र के मूल तत्त्व

(डा० हीरालाल सिंह के साथ) मूल्य ४॥।)

भूमिका

छः बरस से अधिक हुआ, भारतीय राजनीति और शासन-पद्धति (१८५८–१९३५) नाम की मेरी पुस्तक प्रकाशित हुई थी। उसमें मैंने इस काल, विशेषतया १९२० से १९३५ तक, के राजनीतिक आंदोलनों और शासन-विकास पर प्रकाश डाला था। मेरी धारणा थी कि भारत के शासन-विकास का अध्ययन राजनीतिक जागृति के इतिहास के बिना भली-भाँति नहीं हो सकता था। "शासन-विकास और राजनीतिक जागृति का अन्योन्याश्रयी संबंध है और हमारे देश में वे विशेष रूप से क्रिया-प्रतिक्रिया के बंधन से जकड़े हुए हैं।" प्रस्तुत पुस्तक उस कार्य की पूर्ति के लिए लिखी गयी है, जो उक्त पुस्तक द्वारा आरंभ किया गया था। इसमें सन् १९३५ से सन् १९५० तक के राजनीतिक आंदोलनों और उनके परिणाम-स्वरूप जो शासन-विकास हुआ, उसका विवरण दिया गया है। हिंदी में, जहाँ तक मेरी सूचना है, इस विषय की यह पहली पुस्तक है। भारत के राजनीतिक इतिहास का उक्त काल बड़े ही महत्व का है। इसमें सर्व-प्रथम, दूसरे महासमर में, भारत को युद्ध-रत देश बनाने के परिणाम-स्वरूप कांग्रेसी मन्त्रि-मंडलों ने त्यागपत्र दे दिया, कांग्रेस ने गांधी जी के नेतृत्व में सन् १९४० का व्यक्तिगत सत्याग्रह आंदोलन चलाया और तत्पश्चात् अगस्त सन् १९४२ की भयंकर क्रांति हुई। इसी काल में पाकिस्तान के विचार ने मूर्तिमान स्वरूप धारण किया और मुस्लिम लीग के हठ के कारण, अंत में, देश का विभाजन करना पड़ा। इसी काल में ब्रिटिश सरकार ने भारत की संवैधानिक समस्या के हल के लिए कई प्रयत्न किये और सन् १९४७ में उसने भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम को पारित करके, भारत को स्वतंत्र कर दिया। इसी काल में भारतीय संविधान-सभा ने भारत का वह संविधान बनाया, जिसके अनुसार आजकल देश का

शासन हो रहा है। पंद्रह बरस का यह परिवर्तन वास्तव में आश्चर्य-चकित कर देने वाला है। इसका वास्तविक मूल्यांकन आनेवाली पीढ़ियाँ करेंगी। हममें से अनेक व्यक्ति तो ऐसे हैं जो इस काल को देख तथा इसका स्वयं अनुभव कर चुके हैं।

इस काल की सामग्री अत्यधिक एवं पेचींदा है। निकट भूत-कालीन होने के कारण, उसके संबंध में अभी तक ऐसा मत-निर्धारण नहीं हो पाया है, जैसा दूरवर्ती भूत-कालीन घटनाओं के संबंध में हो जाता है। अतः इस पुस्तक में वक्तव्यों, भाषणों और पत्र-व्यवहार के आधार पर ही समस्त निष्कर्ष निकाले गये हैं। उनमें से कुछ का हिंदी अनुवाद पट्टाभि सीतारामय्या की सुविख्यात पुस्तक 'कांग्रेस के इतिहास' में मिलता है और कुछ का भारत-सरकार के प्रिंसपल इनफार्मेशन आफिसर द्वारा प्रकाशित 'भारतीय समाचार' में। मैंने इन अनुवादों का यथोचित प्रयोग तथा यथास्थान अपने ऋण को स्वीकार किया है। इस स्थान पर मैं पुनः उनके प्रकाशकों के प्रति अपना आभार प्रकट करता तथा अपने ऋण को स्वीकार करता हूँ। जिन अन्य ग्रंथों से पुस्तक के लिखने में सहायता ली गयी है उनकी सूची भी पुस्तक के अंत में दी गयी है। मैं उनके लेखकों और प्रकाशकों का भी ऋणी हूँ।

मुझे आशा है कि पुस्तक राजनीति के विद्यार्थियों और सर्व-साधारण के लिए उपयोगी सिद्ध होगी। सुहृद पाठकों से मेरी यह विनय है कि वे पुस्तक की त्रुटियों की ओर मेरा ध्यान आकृष्ट करें। इस कृपा के लिए मैं उनका आभारी रहूँगा।

हिंदू-विश्व-विद्यालय
१०-११-५४

कन्हैयालाल वर्मा

विषय-सूची

१

भारतीय शासन-संबंधी अधिनियम, १६३५

प्राक्कथन—सन् १६३५ के संविधान की विशेषताएँ—संघ-राज्य की स्थापना—कार्य-विभाजन—संघीय शासन—गवर्नर जनरल के अधिकार—संघीय विधान-मंडल—विधान-मंडल की सदस्यता के अनधिकारी—संघीय विधान-मंडल के अधिकार—संघ-सरकार का विरोध—प्रांतीय शासन—प्रांतीय गवर्नर और चीफ कमिश्नर—गवर्नरों के विशेष उत्तरदायित्व—गवर्नरों के अधिकार—प्रांतीय विधान-मंडल—प्रांतीय लेजिस्लेटिव कौंसिल—प्रांतीय लेजिस्लेटिव असेंबली—सदस्यता के अनधिकारी—प्रांतीय विधान-मंडल के अधिकार—संघीय न्यायालय—हाई-कोर्ट—भारत-मंत्री और उनकी कौंसिल—भारतीय हाई-कमिश्नर—सरकारी नौकरियाँ—संविधान में संशोधन की व्यवस्था।

प्राक्कथन—भारतीय शासन-संबंधी सन् १६३५ ई० का अधिनियम, उन अधिनियमों में अंतिम था जिन्हें ब्रिटिश पार्लमेंट ने भारत के सुशासन के लिए पारित किया था। इसका श्रीगणेश साइमन कमीशन की नियुक्ति से हुआ था। मार्च सन् १६३३ में इसका श्वेतपत्र प्रकाशित हुआ था। इसके चार आधार-भूत सिद्धांत थे—(अ) भारतीय संघ-राज्य; (ब) केंद्रीय उत्तरदायी शासन; (स) प्रांतीय स्वराज्य; (द) सवैधानिक और आर्थिक संरक्षण तथा गवर्नर जनरल और गवर्नरों के विशेष उत्तरदायित्व। इस प्रारूप से भारत के किसी राजनीतिक दल को संतोष न था। फिर भी इस पर विचार करने के लिए संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी नियुक्त की गयी। १८ महीने के परिश्रम के पश्चात नवंबर सन् १६३४ को उसकी बहुमत रिपोर्ट प्रकाशित हुई। उसके मूल सिद्धांत वे ही थे जो श्वेतपत्र के प्रारूप के। २२ जनवरी सन् १६३५ को बहुमत

रिपोर्ट के आधार पर गवर्मेंट आफ इंडिया विधेयक (बिल) पार्लमेंट में प्रेषित किया गया। उस पर ६१ दिन तक विचार हुआ और कुछ छोटे-मोटे परिवर्तन भी किये गये। पर विधेयक के मूल सिद्धांत वे ही बने रहे जो श्वेतपत्र के प्रारूप के थे। २ अगस्त सन् १९३५ को सम्राट की भी अनुमति मिल गयी और इस प्रकार भारत का सन् १९३५ का अवांछित संविधान बना।

सन् १९३५ के संविधान की विशेषताएँ—सन् १९३५ के संविधान की निम्नलिखित विशेषताएँ स्मरणीय हैं—(१) उसका आकार बहुत बड़ा था। उसके मूल भाग में ३०० पृष्ठ और ४७० अनुच्छेद थे। अनुसूचियों सहित वह ४७० पृष्ठ का था। केवल मूल सिद्धांतों को ही निर्धारित न करके संविधान में, शासन-संबंधी प्रायः सभी महत्त्वपूर्ण बातों का ब्यौरेवार विवरण दिया गया था। अतः संविधान का आकार अत्यधिक बढ़ गया था। (२) वह समस्त भारत का संविधान था। इसके पूर्व जितने संविधान बने थे उनका संबंध केवल ब्रिटिश भारत से था। सन् १९३५ के संविधान ने ब्रिटिश भारतीय प्रांतों और भारतीय रियासतों को एक राजनीतिक सूत्र में बाधने का प्रयत्न किया था। (३) वह संघ-संविधान था। इसके पूर्व ब्रिटिश पार्लमेंट ने भारत के लिए जितने संविधान बनाये थे वे एकात्मक (Unitary) थे। अतः १९३५ के संविधान के मूल सिद्धांत पूर्वकालीन संविधानों से भिन्न थे। वह लिखित और अनमनीय था और उसमें संघ और संघांतरित राज्यों में संविधान द्वारा कार्य का बँटवारा किया गया था। (४) सन् १९३५ के संविधान की चौथी विशेषता प्रांतीय स्वराज्य की व्यवस्था थी। मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों द्वारा, प्रांतों में द्वैध शासन-प्रणाली के अनुसार सीमित प्रांतीय स्वराज्य स्थापित किया गया था। उससे भारतीय लोकमत संतुष्ट न था। सन् १९३५ के संविधान के द्वारा, गवर्नरों के विशेष उत्तरदायित्वों और विशेष अधिकारों सहित प्रांतीय स्वराज्य की व्यवस्था की गयी थी। (५) केंद्र में उत्तरदायी सरकार की व्यवस्था सन् १९३५ के संविधान की पांचवीं विशेषता थी। इसकी स्थापना द्वैध शासन-प्रणाली के अनुसार की जाने को थी। इस सीमा के अतिरिक्त, प्रांतीय गवर्नरों की भांति, गवर्नर जनरल के भी विशेष उत्तरदायित्व थे और उन्हें अनेक विशेषाधिकार प्राप्त थे। (६) सन् १९३५ के संविधान की कोई प्रस्तावना न थी। किस उद्देश्य से वह सविधान बनाया गया था, अधिनियम को पढ़ कर यह बतलाना कठिन था। इस कमी की पूर्ति यह कहकर कर दी गयी थी कि मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों की प्रस्तावना जारी थी। (७) राष्ट्रीय आधार का

अभाव सन् १९३५ के संविधान की सातवीं विशेषता थी। ऐसा होना कुछ स्वाभाविक सा था। जिन लोगों ने उस संविधान को बनाया था उनमें से अधिकांश ऐसे थे जो राष्ट्रीयता से सांप्रदायिकता और विशेष हितों को उच्चतर समझते थे। भारतीय रियासतों के प्रतिनिधि रियासतों के अधिकारों के संरक्षण में लगे हुए थे, मुसलमान और हरिजन प्रतिनिधि अपनी अपनी सांप्रदायिक स्वार्थ-सिद्धि में, उद्योग-धंधों के प्रतिनिधि अपनी भलाई में और ब्रिटिश पार्लमेंट के प्रतिनिधि कम से कम स्वशासनाधिकार देने में। भारतीय लिबरलों का कोई सांप्रदायिक या वर्गीय स्वार्थ न था, पर वे भारतीय जनता की परिस्थिति के वास्तविक ज्ञान से इतने परे थे कि वे समस्त भारत की ओर से न बोल सकते थे। फलस्वरूप संविधान के निर्माण में, समझौते के द्वारा सारी मूल बातें निश्चित की गयी थीं और सांप्रदायिकता तथा विशेष हितों के प्रतिनिधित्व ने इतना जोर पकड़ा था कि भारतीय निर्वाचक लगभग एक दर्जन पृथक निर्वाचक-मंडलों में विभाजित कर दिये गये थे जिसके कारण भारतीय राष्ट्रीयता के विकास को गहरी ठेस लगी थी। (८) सन् १९३५ के संविधान की आठवीं विशेषता थी ब्रिटिश पार्लमेंट का निरीक्षण। यद्यपि केंद्र और प्रांतों दोनो में उत्तरदायी सरकार की व्यवस्था की गयी थी, तो भी ब्रिटिश पार्लमेंट का निरीक्षणाधिकार पूर्ववत् बना हुआ था। कार्य-रूप में, प्रथाओं के द्वारा यह निरीक्षणाधिकार क्रमशः शिथिल किया जाने को था, किंतु कानूनी दृष्टि से उसका अधिकार पूर्ववत् बना हुआ था। संघीय सरकार के संरक्षित विषयों और गवर्नर जनरल तथा गवर्नरों के विशेष उत्तरदायित्वों के निरीक्षण का अधिकार भारत-मंत्री को था। भारत के सुशासन के लिए वे अब भी ब्रिटिश पार्लमेंट के प्रति उत्तरदायी थे।

संघ-राज्य की स्थापना—सन् १९३५ के संविधान के अनुसार भारतीय संघ-राज्य के दो प्रधान अंग थे—(१) गवर्नरों के प्रांत और (२) भारतीय रियासतें। संघ-राज्य में वे प्रांत भी सम्मिलित किये जाने को थे जो चीफ कमिश्नरों के अधीन थे। संघ-राज्य की स्थापना के पूर्व निम्नलिखित शर्तों की पूर्ति आवश्यक थी—(१) कम से कम इतने भारतीय नरेश संघ-राज्य में सम्मिलित होने के लिए तैयार होते जो संघीय विधान-मंडल के उच्च सदन (Council of States) में ५२ सदस्य भेज सकते थे और जिनकी जन-संख्या समस्त रियासती जन-संख्या की कम से कम आधी थी। (२) इस शर्त की पूर्ति के पश्चात्, यदि ब्रिटिश पार्लमेंट के दोनों सदन सम्राट से भारतीय

संघ-राज्य स्थापित करने की प्रार्थना करते तो सम्राट इस आशय की घोषणा करते कि अमुक तिथि से, सम्राट के अधीन भारतीय संघ-राज्य स्थापित किया जाय। इन दोनों शर्तों से यह स्पष्ट है कि भारतीय संघ-राज्य की स्थापना प्रधानत: भारतीय नरेशों की इच्छा पर निर्भर थी और यदि वे तैयार होते तो ब्रिटिश पार्लमेंट और सम्राट की इच्छा पर। ब्रिटिश भारतीय प्रांतों की इच्छा अथवा अनिच्छा पर कुछ भी ध्यान न दिया गया था। वे संघ-राज्य में अवश्य सम्मिलित होंगे, यह बात एक प्रकार से मान सी ली गयी थी।

भारतीय रियासतें संघ-राज्य में प्रवेश-प्रार्थना-पत्रों (Instrument of Accession) द्वारा सम्मिलित होने को थीं। इनमें नरेश अपनी और अपने उत्तराधिकारियों की ओर से सम्राट को यह आश्वासन देने को थे कि वे भारतीय शासन-संबंधी सन् १६३५ के अधिनियम द्वारा व्यवस्थित भारतीय संघ-राज्य में सम्मिलित होना चाहते थे और सम्राट, गवर्नर जनरल, संघीय विधान-मंडल, संघीय न्यायालय या अन्य संघीय प्राधिकारी, उनकी रियासतों में प्रवेश-प्रार्थना-पत्र की शर्तों के अंतर्गत, उन अधिकारों का उपयोग कर सकेंगे जो उन्हें भारतीय शासन-संबंधी सन् १६३५ के अधिनियम द्वारा प्राप्त थे। इन्हीं पत्रों में वे यह वचन भी देने को थे कि वे अपने राज्य में लागू होने वाली उन सब बातों को कार्यान्वित करेंगे जिनका उल्लेख संविधान में किया गया था और जो उनके प्रवेश-प्रार्थना-पत्रों की शर्तों के अनुकूल थीं।

कार्य-विभाजन—प्रत्येक संघ-राज्य में संविधान द्वारा संघ-राज्य और संघांगों में कार्य का विभाजन कर दिया जाता है। भारतीय शासन-संबंधी सन् १६३५ के अधिनियम में इसके लिए तीन सूचियाँ बनायी गयी थीं। पहली सूची संघीय विषयों की थी। संविधान के अन्य अनुच्छेदों के अंतर्गत संघ-सरकार और संघीय विधान-मंडल का इन पर पूर्ण अधिकार था। इस सूची में जल, थल और नभ सेना, पर-राष्ट्र-संबंध, मुद्रा और टकसाल, संघीय सार्वजनिक ऋण आदि ५६ विषय सम्मिलित किये गये थे। दूसरी सूची प्रांतीय विषयों की थी। इसमें पुलिस, जेल और सुधार-गृह, स्थानीय स्वायत्त शासन आदि ५४ विषय सम्मिलित किये गये थे। प्रांतीय सरकारों और प्रांतीय विधान-मंडलों का इन पर पूर्ण अधिकार था। तीसरी सूची समवर्ती (Concurrent) विषयों की थी। इन विषयों पर संघ-राज्य और प्रांतों दोनों को अधिकार था। संसार के अन्य संघ-राज्यों के अनुभव के कारण यह उचित था कि इन विषयों की सूची बिल्कुल छोटी होती। फिर भी इसमें फौजदारी कानून,

फौजदारी कार्य-पद्धति, दीवानी कार्य-पद्धति, मील और कारखाने, मजदूरों की दशा सुधार-संबंधी कानून, बेकारी का बीमा आदि ३६ विषय रखे गये थे। इतनी बड़ी बड़ी सूचियों के होते हुए भी यह संभव था कि कुछ विषय छूट गये हों। संघ-राज्यों में इनको अवशिष्ट (Residuary) विषय कहा जाता है। गवर्नर जनरल को अपने विवेक (Discretion) के अनुसार इन विषयों के संबंध में सार्वजनिक घोषणा द्वारा यह निर्धारित करने का अधिकार था कि अमुक विषय संघीय था अथवा प्रांतीय। तत्पश्चात वह विषय घोषणानुसार संघीय अथवा प्रांतीय समझा जाने को था। इनके अतिरिक्त कुछ विषय ऐसे थे जिनमें न तो संघ-राज्य को अधिकार था और न प्रांतों को। कुछ के संबंध में (जैसे भारतीय शासन-संबंधी पार्लमेंट के अधिकार) कोई विधेयक प्रस्तुत ही न किया जा सकता था और कुछ के संबंध में गवर्नर जनरल या गवर्नर की पूर्व अनुमति से ही विधेयक प्रेषित किये जा सकते थे[१]। असाधारण परिस्थितियों के सामना करने की भी व्यवस्था की गयी थी। गवर्नर जनरल और गवर्नरों दोनों को ऐसी परिस्थितियों के लिए विशेष अधिकार दिये गये थे। भारतीय रियासतों के संबंध में कार्य-विभाजन की समस्या और भी जटिल कर दी गयी थी। जो विषय वे अपने प्रवेश-प्रार्थना-पत्रों द्वारा संघ-राज्य को समर्पित करतीं उन्हीं के संबंध में संघीय विधान-मंडल द्वारा निर्मित विधियाँ उन पर लागू होने को थीं। इस व्यवस्था के कारण भारतीय रियासतों द्वारा संघ-राज्य को समर्पित अधिकारों में कुछ विभिन्नता का होना अनिवार्य था।

---

१. ऐसे विधेयक तीन समूहों में रखे गये थे—(१) गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति के बिना कुछ विषयों के विधेयक संघीय विधान-मंडल में प्रेषित न किये जा सकते थे। उदाहरणार्थ उन विधेयकों का उल्लेख किया जा सकता है जो गवर्नर जनरल के किसी अधिनियम या अध्यादेश को जिसको उन्होंने अपने विवेक के अनुसार जारी किया था, निरसित या संशोधित करते हों या उससे असंगत हों। (२) गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति के बिना कुछ विषयों के विधेयक प्रांतीय विधान-मंडलों में प्रेषित न किये जा सकते थे। उदाहरणार्थ उन विधेयकों का उल्लेख किया जा सकता है जिनका असर किसी ऐसे काम पर पड़ता हो, जिसे सन् १९३५ के संविधान के अनुसार गवर्नर जनरल अपने विवेक के अनुसार कर सकते हों। (३) गवर्नरों की पूर्व अनुमति के बिना कुछ विषयों के विधेयक प्रांतीय विधान-मंडल में प्रेषित न किये जा सकते थे। उदाहरणार्थ ऐसे विधेयकों का उल्लेख किया जा सकता है जो गवर्नर के किसी कानून या अध्यादेश को जिसको उन्होंने अपने विवेक के अनुसार जारी किया है, निरसित या संशोधित करते हों।

संघीय-शासन—सन् १६३५ के संविधान के अनुसार गवर्नर जनरल संघीय कार्यपालिका के सर्वोच्च अधिकारी थे। वाइसराय का पद इस पद से सर्वथा अलग था, पर प्रचलित प्रथा के अनुसार दोनों के लिए एक ही व्यक्ति के नियुक्त किये जाने की व्यवस्था थी। नियुक्ति का अधिकार इंगलैंड के प्रधान-मंत्री के परामर्श से सम्राट को था। गवर्नर जनरल को २,५०,००० रुपये सलाना वेतन तथा मर्यादापूर्वक रहने के लिए यथोचित भत्ता मिलता था। नियुक्ति के समय उन्हें एक आदेश-पत्र (Instrument of Instructions) मिलता था जिसमें उनके कार्य करने के ढंग का उल्लेख होता था। साधारणतया गवर्नर जनरल इस आदेश-पत्र के अनुसार काम करने को थे, पर ऐसा करना अनिवार्य न था। संविधान में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि आदेश-पत्र के विरुद्ध किये गये काम, इसी आधार पर असंवैधानिक न ठहराये जा सकते थे।

संविधान द्वारा द्वैध शासन-प्रणाली के आधार पर केंद्र में आंशिक उत्तरदायी सरकार की व्यवस्था की गयी थी। देश-रक्षा, ईसाई-धर्म, पर-राष्ट्र-संबंध, आदिम प्रदेशों की देखभाल आदि संरक्षित विषय निर्धारित हुए थे। इनका शासन गवर्नर जनरल अपने विवेक के अनुसार, भारत-मंत्री के निरीक्षण में, उनके आदेशानुकूल करने को थे। अपनी सहायता के लिए उन्हें अधिक से अधिक तीन परमर्शदाताओं की नियुक्ति का अधिकार था। आर्थिक सुरक्षा के लिए वे एक आर्थिक परामर्शदाता को नियुक्त कर सकते थे। इन कामों के अतिरिक्त गवर्नर जनरल, अपने अन्य कर्तव्यों का पालन मंत्रिमंडल की सहायता और मंत्रणा से करने को थे। मंत्रिमंडल के अधिक से अधिक दस सदस्य हो सकते थे। उनकी नियुक्ति का अधिकार गवर्नर जनरल को था। साधारणतः वे ही व्यक्ति मंत्री नियुक्त किये जाने को थे जो संघीय विधान-मंडल के सदस्य थे। मंत्रियों का वेतन, भत्ता आदि विधान-मंडल द्वारा निर्धारित किया जाने को था। वह किसी मंत्रिमंडल के कार्य-काल में घटाया न जा सकता था। मंत्रिमंडल अपनी नीति और कामों के लिए विधान-मंडल के प्रति उत्तरदायी था।

सन् १६३५ के शासन-संबंधी अधिनियम द्वारा गवर्नर जनरल को दो प्रकार के अधिकार मिले हुए थे। उनके कुछ अधिकार साधारण थे और कुछ असाधारण। साधारण अधिकारों का प्रयोग वे मंत्रियों की सहायता और मंत्रणा से करने को थे और विशेषाधिकारों का प्रयोग अपने विवेक (Discretion)

और व्यक्तिगत निर्णय (Individual Judgement) के अनुसार। विवेक के कामों में मंत्रियों का परामर्श लेना आवश्यक न था। पर व्यक्तिगत निर्णय के कामों में मंत्रियों का परामर्श लेना आवश्यक था। अंतिम निर्णय का अधिकार गवर्नर जनरल को ही था। उक्त दोनों प्रकार के कामों को गवर्नर जनरल भारत-मंत्री के निरीक्षण में, उनके आदेशानुकूल करने को थे।

गवर्नर जनरल के अधिकार—सन् १६३५ के संविधान में उत्तरदायी सरकार की व्यवस्था होते हुए भी गवर्नर जनरल को अनेक अधिकार दिये गये थे। हम उनको निम्नलिखित भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(अ) कार्यपालिका संबंधी अधिकार—गवर्नर जनरल को अपने विवेक के अनुसार मंत्रियों, परामर्शदाताओं और प्रथम आर्थिक परामर्शदाता की नियुक्ति का अधिकार था और व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार भारतीय महाधिवक्ता (एडवोकेट जनरल) की नियुक्ति का अधिकार। इनके अतिरिक्त गवर्नर जनरल अपने विवेक के अनुसार, रिजर्व बैंक के गवर्नर, डिप्टी-गवर्नर और चार संचालकों (Directors) को नियुक्त करते थे। संघ-सरकार के सारे काम गवर्नर जनरल के नाम पर किये जाने को थे। संविधानयुक्त शासन के असफल होने पर गवर्नर जनरल को संघ-सरकार के सारे या आवश्यकतानुकूल विषय अपने अधीन करने का अधिकार था। भारतीय जल, थल और नभ सेनाएँ गवर्नर जनरल के अधीन थीं पर सम्राट् को एक प्रधान सेनापति (Commander-in-chief) के नियुक्त करने का अधिकार था। प्रधान सेनापति के सेना-संबंधी वे ही अधिकार थे जो सम्राट् उनको प्रदान करते थे।

(ब) विधि-निर्माण संबंधी अधिकार—संघीय विधान-मंडल का साल में एक अधिवेशन अवश्य होने को था; पर गवर्नर जनरल को अपने विवेक के अनुसार विधान-मंडल के दोनों सदनों अथवा एक सदन के बुलाने, विसर्जित करने और संघीय-असेंबली को विघटित करने का अधिकार दिया गया था। वे अपने विवेक के अनुसार दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन में या किसी सदन के अधिवेशन में अपना भाषण दे सकते अथवा संदेश भेज सकते थे। विधान-मंडल द्वारा पारित विधेयक उनकी अनुमति के बिना विधि न बन सकते थे। गवर्नर जनरल को अध्यादेश जारी करने का अधिकार था और अपने विवेक और व्यक्तिगत-निर्णय के कामों को संतोषपूर्वक करने के लिए गवर्नर जनरल के अधिनियम बनाने का अधिकार।

(स) आर्थिक अधिकार—संघ-सरकार की सारी माँगें गवर्नर जनरल की सिफ़ारिश पर संघीय असेंबली में पेश की जाने को थीं। वे दो हिस्सों में विभक्त की गयी थीं—(१) संघ-सरकार का वह व्यय जिसका उल्लेख संविधान में था, और (२) वह व्यय जिसकी माँग प्रथम भाग के अतिरिक्त पेश की जाती थी। अमुक माँग प्रथम भाग की थी अथवा द्वितीय, इसका निर्णय गवर्नर जनरल अपने विवेक के अनुसार करने को थे। व्यय के प्रथम भाग पर संघीय विधान-मंडल को वोट देने का अधिकार न था, पर द्वितीय भाग उसके वोट पर निर्भर था। असेंबली द्वारा अस्वीकृत माँग, बिना गवर्नर जनरल की आज्ञा, कौंसिल ऑफ स्टेट्स में न पेश की जा सकती थी। यदि असेंबली किसी माँग को घटाती थी तो घटी हुई माग ही कौंसिल ऑफ स्टेट्स में पेश की जा सकती थी, जब तक गवर्नर जनरल उसके विरुद्ध आज्ञा न देते। संघ-सरकार की आर्थिक स्थिरता का कायम रखना गवर्नर जनरल का एक विशेष उत्तरदायित्व था।

(द) विशेष उत्तरदायित्व के अधिकार—सन् १९३५ के संविधान द्वारा गवर्नर जनरल के जो विशेष उत्तरदायित्व निर्धारित हुए थे उनमें से निम्नलिखित मुख्य थे—भारत या उसके किसी भाग में शांति-भंग करने वाले खतरों का निवारण; आर्थिक स्थिरता का सुरक्षित रखना; अल्पसंख्यकों के उचित हितों की रक्षा करना; सार्वजनिक नौकरियों के सदस्यों और उनके आश्रितों के उचित हितों की रक्षा करना; भारतीय रियासतों के अधिकारों और उनके नरेशों के अधिकारों तथा मर्यादा की रक्षा करना। इन विषयों का शासन गवर्नर जनरल अपने व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार भारत-मंत्री के निरीक्षण में, और उनके आदेशानुकूल करने को थे।

(य) वाइसराय के अधिकार—सम्राट के प्रतिनिधि अर्थात् वाइसराय की हैसियत से भी, १९३५ के संविधान के अनुसार, गवर्नर जनरल को कुछ अधिकार दिये गये थे। इस हैसियत से वे उन भारतीय रियासतों में, जो संघ-राज्य में प्रविष्ट न होतीं, सम्राट के अधिकारों की रक्षा और उनके कर्तव्यों का पालन करने को थे। इसी नाते वे संघांतरित रियासतों के उन विषयों के शासन की देख-भाल करने को थे जो संघ-सरकार को समर्पित न किये जाते। वाइसराय की हैसियत से वे उन सब अधिकारों का भी प्रयोग करने को थे जो सम्राट् समय-समय पर उनको प्रदान करते।

(फ) अधिकारों की सीमा—उपर्युक्त विवरण से हमें यह न समझना चाहिये कि सन् १९३५ के संविधान के अनुसार गवर्नर जनरल संघ-

राज्य के निरंकुश शासक थे। कुछ विषयों का शासन वे मंत्रियों की मंत्रणा और सहायता से करने को थे। इस अंश तक संघ-राज्य में उत्तरदायी शासन की व्यवस्था थी। किंतु संरक्षित विषयों का शासन वे अपने विवेक के अनुसार करने को थे और इनके लिए वे बजरिये भारत-मंत्री ब्रिटिश पार्लमेंट के प्रति उत्तरदायी थे। उन सब विषयों के शासन में, जिनमें उन्हें अपने विवेक और व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार काम करने का अधिकार था, वे भारत-मंत्री के अधीन और उनके आदेशानुकूल काम करते थे।

संघीय विधान-मंडल (Federal Legislature)—१९३५ के संविधान के अनुसार जो विधान-मंडल बनने को था उसका आकार १९१९ के केंद्रीय विधान-मंडल के आकार से बड़ा था। उसके कौंसिल-ऑफ-स्टेट्स और हाउस ऑफ-असेंबली दो सदन थे। कौंसिल-आफ-स्टेट्स के २६० सदस्य निर्धारित किये गये थे और असेंबली के ३७५। कोई व्यक्ति एक ही समय दोनों सदनों का सदस्य न हो सकता था।

कौंसिल-ऑफ-स्टेट्स के २६० सदस्यों में से १५६ ब्रिटिश भारत के थे और १०४ भारतीय रियासतों के। ब्रिटिश भारत और रियासतों के प्रतिनिधि भिन्न-भिन्न प्रांतों और रियासतों या उनके समूहों में विभक्त कर दिये गये थे। संयुक्त-प्रांत को बीस प्रतिनिधि भेजने का अधिकार था। कौंसिल-ऑफ-स्टेट्स के सदस्यों का कार्यकाल नौ बरस निश्चित किया गया था। परंतु पहले चुनाव को छोड़कर प्रत्येक तीसरे वर्ष एक तिहाई सदस्यों का चुनाव होने को था। पहले चुनाव में एक-तिहाई सदस्य तीन बरस के लिए चुने जाने को थे, एक-तिहाई छः बरस के लिए और शेष नौ बरस के लिए। उपर्युक्त कार्यकाल समाप्त होने पर जो स्थान खाली होते, उनका चुनाव नौ बरस के लिए होता। भारतीय रियासतों के प्रतिनिधियों को उनके नरेश मनोनीत करने को थे। कौंसिल-ऑफ-स्टेट्स के सभापति और उप-सभापति उसके सदस्यों में से उन्हीं के द्वारा चुने जाने को थे। प्रत्येक सदस्य को पद की शपथ खानी पड़ती थी। $\frac{1}{6}$ सदस्यों का कोरम था और साल में कम से कम एक अधिवेशन आवश्यक था।

असेंबली के ३७५ सदस्यों में से २५० ब्रिटिश भारत के थे और १२५ भारतीय रियासतों के। ब्रिटिश भारत और रियासतों के प्रतिनिधि, भिन्न-भिन्न प्रांतों और रियासतों या उनके समूहों में विभक्त कर दिये गये थे। संयुक्त

प्रांत को ३७ प्रतिनिधि भेजने का अधिकार था। प्रत्येक प्रांत में सांप्रदायिक आधार पर विविध संप्रदायों के प्रतिनिधियों की संख्या निश्चित की गयी थी। असेंबली के ब्रिटिश भारतीय प्रतिनिधियों का चुनाव परोक्ष निर्वाचन-प्रणाली (Indirect Election) से किया जाने को था। उसके अधिकांश सदस्य प्रांतीय विधान-मंडलों अथवा सभाओं द्वारा चुने जाने को थे। भारतीय रियासतों के प्रतिनिधियों को मनोनीत करने का अधिकार उनके नरेशों को दिया गया था।

असेंबली का कार्यकाल पाँच बरस निर्धारित किया गया था। इस अवधि के पूर्व भी वह विघटित की जा सकती थी, परंतु उसका कार्य-काल बढ़ाया न जा सकता था। उसके रिक्त स्थान केवल शेष काल के लिए ही भरे जाने को थे। उसके प्रमुख (Speaker) और उप-प्रमुख (Deputy-Speaker) उसी के सदस्य होते और उसी के सदस्यों द्वारा चुने जाने को थे। एक तिहाई सदस्यों का कोरम था और साल में कम से कम एक अधिवेशन आवश्यक था। अनुपस्थिति-संबंधी नियम वे ही थे जो कौंसिल-ऑफ़-स्टेट्स के।

विधान-मंडल की सदस्यता के अनधिकारी—कौंसिल-ऑफ-स्टेट्स के उम्मेदवारों के लिए कम से कम ३० बरस का होना आवश्यक था और असेंबली के उम्मेदवारों को २५ वर्ष का। कौंसिल ऑफ स्टेट्स के उम्मेदवारों में उन सब योग्यताओं का होना आवश्यक था जो उस प्रांत के कौंसिल-ऑफ-स्टेट्स के निर्वाचकों के लिए आवश्यक थीं। असेंबली के उम्मेदवार वे ही व्यक्ति हो सकते थे, जो प्रांतीय असेंबली के उम्मेदवार हो सकते थे। वैतनिक सरकारी कर्मचारी, उपयुक्त न्यायालय द्वारा पागल ठहराये गये लोग, वे दिवालिये जिन्होंने अपना भुगतान न किया था, उम्मेदवार न हो सकते थे। वे मनुष्य जो कालेपानी अथवा किसी फौजदारी अपराध की सजा भोग रहे थे, किसी विधान-सभा के सदस्य न चुने जा सकते थे।

संघीय विधान-मंडल के अधिकार—गवर्नर जनरल के विशेष उत्तरदायित्वों और उनके विवेक तथा व्यक्तिगत निर्णय के कामों के अतिरिक्त हस्तांतरित विषयों के शासन में संघीय कार्यपालिका, संघीय विधान-मंडल के प्रति उत्तरदायी थी। विधान-मंडल का कोई भी सदस्य, मंत्रिमंडल से उसकी नीति और कामों के विषय में प्रश्न पूछ सकता था और अधिवेशन के स्थगित करने या अविश्वास का प्रस्ताव प्रेषित कर सकता था। मंत्रियों को

विधान-मंडल द्वारा नियत वेतन और भत्ता मिलता था, लेकिन किसी मंत्रि-मंडल के कार्य-काल में उनका वेतन घटाया न जा सकता था।

संघीय विधान-मंडल को सभी संघीय विषयों के कानून बनाने का अधिकार था। समवर्ती विषयों के संघीय और प्रांतीय कानूनों में यदि विरोध होता तो साधारणतः संघीय कानून ठीक और प्रांतीय कानून विरोधात्मक अंश तक शून्य समझा जाने को था। अवशिष्ट विषयों में से, जिनको गवर्नर जनरल संघीय विषय निश्चित करते, उनके संबंध में भी संघीय विधान-मंडल कानून बना सकता था।

प्रति वर्ष, संघीय विधान-मंडल के सम्मुख, आय-व्यय का ब्यौरा पेश किया जाने को था। व्यय-संबंधी मदें, दो भागों में विभक्त की गयी थीं। जिन मदों के व्यय पर संघीय असेंबली को वोट देने का अधिकार न था वे समस्त आय की लगभग ८० प्रतिशत की थीं। शेष २० प्रतिशत आय विधान-मंडल के वोट के अनुसार खर्च की जाने को थी। आर्थिक विषयों में असेंबली के अधिकार कौंसिल-ऑफ़-स्टेट्स की अपेक्षा कुछ अधिक थे। जब तक गवर्नर जनरल हस्तक्षेप न करते, असेंबली द्वारा अस्वीकृत माँग कौंसिल-ऑफ़-स्टेट्स में पेश न की जा सकती थी और असेंबली द्वारा घटायी हुई माँग, बढ़ा कर पेश न की जा सकती थी।

संघीय विधान-मंडल के अधिकार असीम न थे। संरक्षित विषयों के शासन पर उसका कोई अधिकार न था। व्यय का लगभग ८० प्रतिशत भाग उसके अधिकार से परे था। उसका विधि-निर्माण का अधिकार भी सीमारहित न था। उसके द्वारा पास किये गये विधेयक गवर्नर जनरल की अनुमति के बिना कानून न बन सकते थे। गवर्नर जनरल को अधिकार था कि अनुमति दे या न दें या विधेयक को पुनर्विचार के लिए लौटा दें या सम्राट् की आज्ञा के लिए रिजर्व कर दें। इनके अतिरिक्त गवर्नर-जनरल को ऑर्डीनेंसों और गवर्नर जनरल के ऐक्टों के जारी करने का भी अधिकार दिया गया था।

संघ-सरकार का विरोध—जिस रूप में सन् १६३५ के संविधान के अनुसार संघ-सरकार स्थापित करने की व्यवस्था की गयी थी उससे भारत के राष्ट्रवादी संतुष्ट न थे। भारतीय रियासतें भी संघ-राज्य में सम्मिलित होने के पूर्व अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाने में लगी थीं। भारतीय कांग्रेस संघ-सरकार का जन्म के पहले ही संहार करना चाहती थी। इस विरोध के तीन मुख्य कारण

थे—(अ) संघीय विधान-मंडल के प्रतिक्रियात्मक (Reactionary) होने की आशंका थी। (ब) गवर्नर-जनरल के विशेष उत्तरदायित्व, विवेक और व्यक्तिगत निर्णय के अधिकारों के कारण उत्तरदायी शासन का रंग बहुत कुछ फीका पड़ गया था, और (स) द्वैध शासन-प्रणाली के अनुभव के कारण यह आशा निर्मूल थी कि वह संघ-सरकार में सफल हो सकेगी। अतएव भारत के प्राय: सभी राजनीतिक दल संघ-सरकार की स्थापना का विरोध कर रहे थे। युरोपीय महासमर के कारण सरकार ने भी महासमर के काल तक के लिए संघ-सरकार की तैयारियों को स्थगित कर दिया। फलस्वरूप भारतीय संघ-राज्य स्थापित न हो सका और भारत की केंद्रीय कार्यपालिका और विधान-मंडल का वही संगठन बना रहा जो भारतीय शासन संबंधी सन् १६१६ के अधिनियम द्वारा निर्धारित किया गया था।

प्रांतीय शासन—भारतीय शासन-संबंधी सन् १६३५ के अधिनियम की दूसरी विशेषता थी प्रांतीय स्वराज की स्थापना। इसकी मांग बड़ी पुरानी थी। सन् १६१६ मे माटेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधारों द्वारा केवल हस्तांतरित विषयों में प्रांतीय स्वराज्य की स्थापना की गयी थी। सन् १६३५ के अधिनियम द्वारा हस्तांतरित और संरक्षित विषयों का भेद मिटा दिया गया था और प्रांतीय स्वराज्य की व्यवस्था की गयी थी। अप्रैल सन् १६३७ से १६४७ तक प्रांतीय शासन इसी सविधान के अनुसार होता रहा। संविधान में केवल दो प्रकार के प्रांतों की व्यवस्था थी, अर्थात् गवर्नरों के प्रात और चीफ कमिश्नरों के प्रांत। स-कौंसिल सम्राट को अपने ऑर्डर द्वारा नये प्रांतों के बनाने और पुराने प्रांतों के क्षेत्र के बढ़ाने या घटाने का अधिकार था। सन् १६३५ के अधिनियम के अनुसार ब्रिटिश भारत का कोई भी प्रांत लेफ्टिनेंट गवर्नर के अधीन न था।

प्रांतीय गवर्नर और चीफ कमिश्नर—सन् १६३५ के संविधान में, चीफ कमिश्नरों के प्रांतों के अतिरिक्त, प्रांतीय कार्यपालिका के सर्वोच्च अधिकारी को गवर्नर कहते थे। उसकी नियुक्ति सम्राट द्वारा पांच बरस के लिए की जाती थी। सब प्रांतों के गवर्नरों का वेतन और भत्ता समान न था। संयुक्त-प्रांत (उत्तर-प्रदेश) बंबई, बंगाल और मद्रास के गवर्नरों को १,२०,००० रुपये सालाना वेतन मिलता था; पंजाब और बिहार के गवर्नरों को १,००,००० रुपये; मध्य-प्रांत तथा बरार के गवर्नर को ७२,००० रुपये और आसाम, सीमांत पश्चिमोत्तर प्रांत, उड़ीसा और सिंध के गवर्नरों को ६६,००० रुपये। छुट्टी के भत्ते में भी इसी प्रकार की विभिन्नता थी। चीफ कमिश्नरों के प्रांत गवर्नर जनरल के

अधीन थे । वे इन प्रांतों का शासन चीफ़ कमिश्नरों की सहायता से करते और अपने इच्छानुकूल उनको अधिकार दे सकते थे । अपने विवेक के अनुसार वे चीफ़ कमिश्नरों को नियुक्त भी करते थे ।

गवर्नर-जनरल की भाँति प्रांतीय गवर्नरों को भी नियुक्ति के समय एक आदेश-पत्र दिया जाता था । इसमें उन्हें यह आदेश मिलता था कि वे अपने अधिकारों का प्रयोग किस प्रकार करें । गवर्नरों के लिए यह अनिवार्य न था कि वे आदेश-पत्र के अनुसार ही काम करते । संविधान में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि यदि गवर्नर आदेश-पत्र के प्रतिकूल कोई काम करेंगे तो वह उसके आधार पर गलत न ठहराया जा सकेगा ।

प्रांतीय गवर्नर को सहायता और मंत्रणा देने के लिए प्रत्येक प्रांत में एक मंत्रि-मंडल की व्यवस्था थी । उसके सदस्यों की संख्या हर प्रांत में अलग-अलग थी । गवर्नर साधारणतः विधान-सभा के बहुसंख्यक दल के नेता को मुख्य मंत्री नियुक्त करते थे, और मुख्य मंत्री की सिफारिश पर अन्य मंत्रियों को । प्रायः सभी मंत्री विधान-मंडल के सदस्य होते थे । परंतु गवर्नर ऐसे व्यक्तियों को भी मंत्री नियुक्त कर सकते थे, जो विधान-मंडल के सदस्य न थे । ऐसे व्यक्ति, यदि विधान-मंडल के सदस्य न हो जायँ, तो छः महीने से अधिक मंत्री न रह सकते थे । मंत्रि-मंडल का कार्यकाल गवर्नर की इच्छा पर निर्भर था । मंत्रियों को प्रांतीय विधान-मंडल के द्वारा निर्धारित वेतन मिलता था । किसी मंत्रि-मंडलके कार्यकाल में उसका वेतन घटाया न जा सकता था । मंत्रि-मंडल अपनी नीति और कामों के लिए विधान-मंडल के प्रति उत्तरदायी था ।

गवर्नरों के विशेष उत्तरदायित्व (Special Responsibilities)—१९३५ के ऐक्ट के अनुसार प्रांतों में द्वैध शासन-प्रणाली का अंत तो कर दिया गया था, परंतु अभी तक उनको पूर्ण उत्तरदायी शासन न मिला था । गवर्नर जनरल की भाँति गवर्नरों के भी कई विशेष उत्तरदायित्व निर्धारित किये गये थे । उनकी पूर्ति के लिए उन्हें व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार काम करने का अधिकार था । निम्नलिखित विशेष उत्तरदायित्व महत्त्वपूर्ण थे—(अ) प्रांत अथवा उसके किसी भाग की शांति को भंग करने वाले खतरों का निवारण । (ब) अल्पसंख्यकों के उचित हितों की रक्षा । (स) सार्वजनिक नौकरियों के सदस्यों और उनके आश्रितों के उचित हितों

की रक्षा। (द) प्रांत के अपवर्जित प्रदेशों (Excluded Areas) की शांति और शासन की व्यवस्था। (य) भारतीय रियासतों के अधिकारों और उनके नरेशों के अधिकारों तथा मर्यादा की रक्षा। (र) गवर्नर-जनरल के उन आदेशों पर अमल करना, जिन्हें वे अपने विवेक या व्यक्तिगत निर्णय के कामों के लिए जारी करते थे। इन विषयों के शासन में गवर्नरों को व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार काम करने का अधिकार था। इनके अतिरिक्त वे बहुत से अन्य काम भी विवेक और व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार कर सकते थे। विवेक और व्यक्तिगत निर्णय के कामों को प्रांतीय गवर्नर, गवर्नर-जनरल के निरीक्षण में उनके आदेशानुसार करते थे। विशेष उत्तरदायित्व, विवेक और व्यक्तिगत निर्णय के कामों के कारण, कुछ लोगों का कहना था कि प्रांतीय शासन में द्वैध शासन-प्रणाली का अस्तित्व शेष था। केवल उसका नाम बदल दिया गया था।

गवर्नरों के अधिकार (Powers of Governors)—भारतीय शासन-संबंधी सन् १९३५ के ऐक्ट में प्रांतीय स्वराज्य की व्यवस्था के होते हुए भी गवर्नरों को अनेक महत्त्वपूर्ण अधिकार दिये गये थे। अपने विवेक के अनुसार वे मंत्रियों को नियुक्त करते थे और व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार प्रांतीय महाधिवक्ता (एडवोकेट-जनरल) को। यद्यपि शांति और व्यवस्था का विषय मंत्रियों के अधीन था तो भी गवर्नर को नियमानुकूल स्थापित सरकार की राजनीतिक षड्यंत्रों से और प्रांत की शांति तथा सुव्यवस्था की हिंसात्मक आचरणों से रक्षा करने का अधिकार था। प्रांतीय शासन के सारे काम गवर्नर के नाम पर किये जाते थे। वे ही मंत्रियों का काम निर्धारित करते थे। संविधान-युक्त शासन के असफल होने पर घोषणा द्वारा वे उन विषयों का शासन अपने विवेक के अनुसार कर सकते थे जिनकी घोषणा की जाय।

प्रांतीय विधान-मंडल का साल में एक अधिवेशन अवश्य होता था। किंतु गवर्नरों को अपने विवेक के अनुसार प्रांतीय विधान-मंडल के दोनों सदनों अथवा एक सदन की बैठक कराने, उनको विसर्जित करने तथा प्रांतीय असेंबली को विघटित करने का अधिकार था। अपने विवेक के अनुसार गवर्नर प्रांतीय विधान-मंडल के दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन में अथवा किसी सदन के अधिवेशन में भाषण दे सकते थे और अपना संदेश भेज सकते थे। विधान-मंडल द्वारा पास किये विधेयक गवर्नर की अनुमति के बिना कानून न बन

सकते थे। गवर्नर को अधिकार था कि वे अपने विवेक के अनुसार किसी विधेयक के संबंध में अनुमति देते या न देते या उसे गवर्नर-जनरल की आज्ञा के लिए रिजर्व कर देते या विधान-मंडल के पास पुनर्विचार के लिए भेज देते। इनके अतिरिक्त गवर्नरों को भी असाधारण परिस्थिति में अध्यादेश जारी करने और गवर्नरों के अधिनियम बनाने का अधिकार था।

प्रांतीय व्यय की सारी माँगें, गवर्नर की सिफारिश पर प्रांतीय विधान-मंडल में पेश की जाती थीं। व्यय के दो भाग होते थे–(१) वह व्यय जिसका उल्लेख ऐक्ट में किया गया था और (२) वह व्यय जिसकी माँग प्रथम भाग के अतिरिक्त पेश की जाती थी। अमुक माँग प्रथम भाग की थी अथवा द्वितीय की इसका निर्णय गवर्नर अपने विवेक के अनुसार करते थे। प्रथम प्रकार की माँगों पर विधान-मंडल को वोट देने का अधिकार न था। परंतु दूसरी प्रकार की माँगें प्रांतीय असेंबली के वोट पर निर्भर थीं। यदि असेंबली किसी माँग को अस्वीकृत करती या घटाती थी और उसका संबंध गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्व से होता था तो गवर्नर अस्वीकृत अथवा घटायी गयी माँग को पुनः असेंबली में पेश कर सकते थे। इस बार वह स्वतः मंजूर समझी जाती थी।

प्रांतीय गवर्नरों के अधिकार अपरिमित न थे। साधारणतः वे मंत्रिमंडल की सहायता और मंत्रणा से प्रांतीय शासन का संचालन करते थे। व्यक्तिगत निर्णय के कामों में मंत्रियों का परामर्श लेना आवश्यक था, पर अंतिम निर्णय स्वयं गवर्नर का होता था। विवेक के कामों में मंत्रियों का परामर्श लेना आवश्यक न था। इन सब कामों को प्रांतीय गवर्नर, गवर्नर-जनरल के निरीक्षण में उनके आदेशानुकूल करते थे।

प्रांतीय विधान-मंडल (Legislature)—१९३५ के अधिनियम के अनुसार छः प्रांतों (बंगाल, मद्रास, बंबई, संयुक्त-प्रांत, बिहार और आसाम) के लिए दो सदनों के विधान-मंडल की व्यवस्था की गयी थी और शेष प्रांतों के लिए एक विधान-सभा की। जिन प्रांतों में दो सदन थे वहाँ उनका नाम क्रमशः लेजिस्लेटिव कौंसिल और लेजिस्लेटिव असेंबली था। जिन प्रांतों में केवल एक ही सदन था वहाँ उसको लेजिस्लेटिव असेंबली (Legislative Assembly) या केवल असेंबली कहते थे।

विधान-मंडल के सदस्य बनने के लिए निम्नलिखित योग्यताओं का होना आवश्यक था—(अ) ब्रिटिश प्रजा होना, या संघांतरित भारतीय रियासत का नरेश अथवा प्रजा होना या किसी ऐसी रियासत का नरेश अथवा प्रजा होना

जिसकी व्यवस्था कर दी जाय। (ब) लेजिस्लेटिव कौंसिल के लिए कम से कम ३० बरस की आयु का होना और असेंबली के लिए २५ बरस की। (स) उस निर्वाचन-संघ में जहाँ से वह खड़ा हो रहा हो अथवा उसी प्रकार के अन्य निर्वाचन-संघ में मताधिकारी होना और (द) उन निर्योग्यताओं से मुक्त होना जिनका उल्लेख अधिनियम में किया गया था।

प्रांतीय लेजिस्लेटिव कौंसिल—भिन्न भिन्न प्रांतों की लेजिस्लेटिव कौंसिलों के आकार का पता हमें १७ पृष्ठ की तालिका से चलता है। उससे हमें विदित होता है कि कौंसिल का चुनाव सांप्रदायिक आधार पर होता था। प्रत्येक कौंसिल के कुछ सदस्यों को गवर्नर मनोनीत करते थे। सदस्यों का कार्यकाल नौ बरस था, परंतु एक तिहाई सदस्य प्रति तीसरे बरस के चुने जाते थे। पहले निर्वाचन में एक-तिहाई व्यक्ति तीन बरस के लिए चुने गये थे, एक-तिहाई छः बरस के लिए और शेष एक तिहाई नौ बरस के लिए। इस अवधि के समाप्त होने पर प्रत्येक सदस्य का चुनाव नौ बरस के लिए होने को था। कौंसिल के रिक्त स्थान पहले सदस्य के शेष काल के लिए ही भरे जाते थे। कौंसिल के ही दो सदस्य उसके सभापति और उप-सभापति होते थे। वे उसके सदस्यों द्वारा चुने जाते थे।

कौंसिल के निर्वाचकों की अर्हताएँ भिन्न भिन्न प्रांतों में अलग अलग थीं। साधारणतः वे चार भागों में विभक्त की जा सकती थीं—निवास-संबंधी अर्हताएँ, साधारण अर्हताएँ, स्त्रियों की विशेष अर्हताएँ और दलित जातियों की अर्हताएँ। संयुक्त-प्रांत में निम्नलिखित अर्हताओं वाले व्यक्तियों को निर्वाचकों की सूची में नाम लिखाने का अधिकार दिया गया था—

निवास-संबंधी—निर्वाचन-क्षेत्र के निवासी।

साधारण—(अ) गत वर्ष में ४,००० रुपये या अधिक पर आय-कर देने वाले व्यक्ति। (ब) दीवान बहादुर, खाँ बहादुर राव बहादुर या इनसे ऊँची पदवी प्राप्त व्यक्ति। (स) २५० रुपये मासिक पेंशन पानेवाले व्यक्ति। (द) वे मनुष्य जो निम्नलिखित पदों पर कभी रहे हों या उस समय हों—ब्रिटिश भारत के किसी विधान-मंडल के गैर-सरकारी सदस्य; किसी विश्व-विद्यालय के चांसेलर, प्रो-चांसेलर, वाइस-चांसेलर, प्रो-वाइस-चांसेलर, फेलो और कोर्ट या सेनेट के सदस्य; संघीय न्यायालय हाई-कोर्ट या चीफ़ कोर्ट के न्यायाधीश; किसी नगरपालिका या जिला-बोर्ड के गैर-सरकारी सभापति। (य) १,००० रुपये

लेजिस्लेटिव कौंसिलों का संगठन

१	२		३	४	५	६	७	८	
प्रांत	कुल स्थान		साधारण स्थान	मुसलिम स्थान	यूरोपियन स्थान	भारतीय ईसाइयों के स्थान	लेजिस्लेटिव असेंबली द्वारा निर्वाचित होने वाले स्थान	गवर्नर द्वारा मनोनीत	
मद्रास....	कम से कम अधिक से अधिक	५४ ५६	३५	७	१	३	०	कम से कम अधिक से अधिक	८ १०
बंबई	कम से कम अधिक से अधिक	२६ ३०	२०	५	१	०	०	कम से कम अधिक से अधिक	३ ४
बंगाल....	कम से कम अधिक से अधिक	६३ ६५	१०	१७	३	०	२७	कम से कम अधिक से अधिक	६ ८
संयुक्त-प्रांत	कम से कम अधिक से अधिक	५८ ६०	३४	१७	१	०	०	कम से कम अधिक से अधिक	६ ८
बिहार....	कम से कम अधिक से अधिक	२६ ३०	६	४	१	०	१२	कम से कम अधिक से अधिक	३ ४
आसाम........	कम से कम अधिक से अधिक	२१ २२	१०	६	२	०	०	कम से कम अधिक से अधिक	३ ४

सालाना या अधिक मालगुजारी देनेवाले व्यक्ति, या इतने ही टैक्स की माफी जमीन के मालिक और (फ) १,५०० रुपये सालाना लगान देने वाले असामी।

स्त्रियों-संबंधी—ऐसी स्त्रियों को वोट देने का अधिकार दिया गया था जिनके पति में निम्नलिखित योग्यताएँ थीं—(क) गत वर्ष १०,००० रुपये या अधिक पर आय-कर देनेवाले व्यक्ति। (ख) ५,००० रुपये सालाना मालगुजारी देने वाले व्यक्ति। (ग) दीवान बहादुर, खाँ बहादुर, राय बहादुर, राव बहादुर या इनसे ऊँची पदवी-प्राप्त व्यक्ति और (घ) २५० रुपये मासिक सरकारी पेंशन पाने वाले व्यक्ति।

दलित जातियों संबंधी—(क) २,००० रुपये या अधिक पर आय-कर देनेवाले व्यक्ति। (ख) २०० रुपये सालाना या अधिक माल-गुजारी देनेवाले व्यक्ति। (ग) ५०० रुपये सालाना या अधिक लगान वाली भूमि के असामी और (घ) जिनको गवर्नर जनरल ने कोई टाइटिल दिया हो।

प्रांतीय लेजिस्लेटिव असेंबली—भिन्न-भिन्न प्रांतों की लेजिस्लेटिव असेंबलियों के आकार का पता हमें पृष्ठ १६ की तालिका से चलता है। उससे हमें विदित होता है कि असेंबली के चुनाव के लिए प्रत्येक प्रांत साम्प्रदायिक आधार पर बारह प्रकार के निर्वाचन-संघों में विभक्त किया गया था। सीमांत पश्चिमोत्तर प्रदेश और सिंध को छोड़कर, प्रत्येक प्रांत के साधारण स्थानों में से कुछ स्थान दलित जातियों के लिए सुरक्षित कर दिये गये थे। संयुक्त-प्रांत (उत्तर-प्रदेश) में इस प्रकार के स्थानों की संख्या बीस थी। कुछ प्रांतों में आदिम प्रदेशों और जातियों के लिए भी कुछ स्थान सुरक्षित कर दिये गये थे। असेंबली का कार्यकाल पाँच बरस था। परंतु वह इसके पहले भी विघटित की जा सकती थी। पाँच बरस की अवधि समाप्त होने पर असेंबली के स्वतः विघटित हो जाने की व्यवस्था की गयी थी। असेंबली के रिक्त स्थान पहले सदस्य के शेष काल के ही लिए भरे जाते जाते थे। असेंबली के प्रमुख (Speaker) और उपप्रमुख (Deputy Speaker) उसके सदस्यों में से उन्हीं के द्वारा चुने जाते थे।

असेंबली के निर्वाचकों की अर्हताएँ भिन्न भिन्न प्रांतों में अलग अलग थीं। वे छः भागों में विभक्त की जा सकती थीं—निवास-संबंधी, टैक्स-संबंधी,

प्रांतीय लेजिस्लेटिव असेंबलियों का संगठन

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९
		साधारण स्थान												महिलाओं के स्थान				
प्रांत	कुल स्थान	कुल साधारण स्थान	दलित जातियों के लिए संरक्षित साधारण स्थान	आदिम ज़िलों और जातियों के प्रतिनिधियों के स्थान	सिक्ख	मुसलमान	एंग्लो-इंडियन	युरोपियन	भारतीय ईसाई	वाणिज्य, व्यवसाय आदि	ज़मींदार	विश्वविद्यालय	मज़दूर	साधारण	सिक्ख	मुसलमान	एंग्लो-इंडियन	भारतीय ईसाई
मद्रास ...	२१५	१४६	३०	१	०	२८	२	३	८	६	६	१	६	६	०	१	०	१
बंबई ...	१७५	११४	१५	१	०	२९	२	३	३	७	२	१	७	५	०	१	०	०
बंगाल ...	२५०	७८	३०	०	०	११७	३	११	२	१९	५	२	८	२	०	२	१	०
संयुक्त-प्रांत (उत्तर प्रदेश)...	२२८	१४०	२०	०	०	६४	१	२	२	३	६	१	३	४	०	२	०	०
पंजाब ...	१७५	४२	८	०	३१	८४	१	१	२	१	५	१	३	१	१	२	०	०
बिहार ...	१५२	८६	१५	७	०	३९	१	२	१	४	४	१	३	३	०	१	०	०
मध्यप्रांत और बरार ...	११२	८४	२०	१	०	१४	१	१	०	२	३	१	२	३	०	०	०	०
आसाम ...	१०८	४७	७	९	०	३४	०	१	१	११	०	०	४	१	०	०	०	०
पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत ...	५०	९	०	०	३	३६	०	०	०	०	२	०	०	०	०	०	०	०
उड़ीसा ...	६०	४०	६	५	०	४	०	०	१	१	२	०	१	२	०	०	०	०
सिंध ...	६०	१८	०	०	०	३३	०	२	२	२	२	०	१	१	०	१	०	०

संपत्ति-संबंधी, सरकारी नौकरी संबंधी, और स्त्रियों-संबंधी। किसी निर्वाचन-क्षेत्र में वे ही मनुष्य वोट दे सकते थे, जिनका नाम निर्वाचकों की सूची में था। संयुक्त-प्रांत (उत्तर-प्रदेश) में साधारण स्थानों के निर्वाचकों की सूची में नाम लिखाने के लिए निम्नलिखित अर्हताओं का होना आवश्यक था—

(अ) निर्वाचन-क्षेत्र का निवासी। (ब) गत वर्ष में आय-कर या १५० रुपये सालाना आय पर म्युनिसिपल टैक्स देनेवाले व्यक्ति। (स) २४ रुपये सालाना मकान के मालिक या किरायेदार। (द) अपर प्राइमरी अथवा उसके समान अन्य कक्षा पास मनुष्य। (य) सम्राट की स्थायी सेना के अवकाश-ग्रहीत या पेंशन पानेवाले या छुड़ाये गये अफ़सर या सैनिक।

निम्नलिखित अर्हताओंवाली महिलाओं को वोट देने का अधिकार दिया गया था—(अ) सम्राट् की स्थायी सेना के अफ़सरों या सैनिकों की पेंशन-प्राप्त विधवाएँ अथवा माताएँ। (ब) निर्धारित सीमा तक पढ़ी लिखी स्त्रियाँ। (स) ऐसे पुरुषों की पत्नियाँ जो निर्वाचन-क्षेत्र के अंदर ऐसे मकान के मालिक अथवा किरायेदार हों जिसका सालाना किराया ३६ रुपये हो; जिन्होंने पिछले साल में २०० रुपये सालाना आमदनी पर म्युनिसिपल टैक्स दिया हो; जो २५ रुपये सालाना मालगुजारी की ज़मीन के मालिक हों; जिन्होंने पिछले साल में आय-कर दिया हो; जो सम्राट् की स्थायी सेना के अवकाश-ग्रहीत, या पेंशन-प्राप्त या छुड़ाये गये अफ़सर या सैनिक हों।

सदस्यता के अनधिकारी—निम्नलिखित मनुष्य विधान-मंडल के किसी भी सदन के सदस्य चुने जाने के अधिकार से वंचित थे—(१) वैतनिक सरकारी कर्मचारी। (२) वे मनुष्य जिनको किसी उपयुक्त न्यायालय ने पागल ठहराया था। (३) वे दिवालिये जिन्होंने अपना भुगतान न किया था। (४) निर्वाचन-संबंधी अपराधों के दोषी, निर्धारित काल तक सदस्य न हो सकते थे। (५) फौजदारी अपराध के कारण दो बरस या कालेपानी की सजा पाये हुए व्यक्ति सजा समाप्त होने के पाँच बरस तक उम्मेदवार न हो सकते थे। गवर्नर अपने विवेक के अनुसार इस अवधि को घटा सकते थे। (६) निर्धारित काल तक निर्वाचन-संबंधी व्यय का ब्यौरा न भेजनेवाले व्यक्ति पाँच बरस तक उम्मेदवार न हो सकते थे। (७) वे मनुष्य विधान-मंडल के किसी सदन के सदस्य नहीं चुने जा सकते थे जो किसी फौजदारी अपराध अथवा कालेपानी की सजा भोग रहे थे। यदि विधान-मंडल के किसी सदन

में कोई ऐसा मनुष्य वोट देता था जो उसका अधिकारी न था तो उससे ५०० रुपये रोज जुर्माना लेने की व्यवस्था की गयी थी।

प्रांतीय विधान-मंडल के अधिकार—संघीय विधान-मंडल की भाँति प्रांतीय विधान-मंडल के तीन प्रकार के अधिकार थे—

(अ) कार्यपालिका के निरीक्षण का अधिकार—प्रांतीय गवर्नर, अपने विवेक और व्यक्तिगत निर्णय के कामों को छोड़कर, शेष सभी काम मंत्रि-मंडल की सहायता और मंत्रणा से करते थे। इन सब कामों के लिए मंत्रि-मंडल विधान-मंडल के प्रति उत्तरदायी था। प्रश्न, विरोधसूचक प्रस्ताव, अधिवेशन को स्थगित करने के प्रस्ताव या अविश्वास के प्रस्ताव को पास करके विधान-मंडल, मंत्रि-मंडल की आलोचना करता या कर सकता था। अविश्वास के प्रस्ताव के पास होने पर मंत्रि-मंडल के पद-त्याग की प्रथा थी।

(ब) विधि-निर्माण का अधिकार—प्रांतीय विधान-मंडल को प्रांतीय विषयों की विधि बनाने का अधिकार था। वह समवर्ती विषयों की भी विधि बना सकता था लेकिन इस शर्त पर कि इन विषयों की संघीय विधियाँ प्रांतीय विधियों से उच्चतर थीं और प्रांतीय विधियाँ साधारणतः विरोधात्मक अंश तक शून्य समझी जाने को थीं।

(स) आर्थिक अधिकार—प्रांतीय विधान-मंडल के सम्मुख प्रति वर्ष प्रांतीय आय-व्यय का ब्यौरा पेश किया जाता था। व्यय-संबंधी ब्यौरे के दो भाग होते थे। गवर्नर के आर्थिक अधिकारों के संबंध में हम उनका विवरण दे चुके हैं। प्रथम भाग का व्यय विधान-मंडल के अधीन न था। पर वह उस पर तर्क-वितर्क कर सकता था। दूसरे भाग का व्यय असेंबली के मतानुकूल किया जाता था। यदि असेंबली किसी माँग को अस्वीकार करती या घटाती थी और उसका संबंध गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्वों से होता था, तो गवर्नर अस्वीकृत अथवा घटायी गयी रकम को असेंबली में पुनः पेश कर सकते थे। इस बार बिना तर्क-वितर्क अथवा वोटिंग हुए, वह रकम स्वतः स्वीकार समझी जाती थी।

(द) विधान-मंडल के अधिकारों की सीमा—संघीय विधान-मंडल की भाँति प्रांतीय विधान-मंडल के भी अधिकार परिमित थे। गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्व एवं विवेक और व्यक्तिगत निर्णय के कामों पर उसका कोई अधिकार न था। प्रांतीय आय का बहुत बड़ा भाग उसकी अनुमति के बिना ही खर्च किया जाता था। उसका विधि-निर्माण का अधिकार भी परिमित था। कुछ

विषयों के विधेयक उसके समक्ष आ ही न सकते थे, कुछ विषयों के विधेयकों के पेश होने के लिए गवर्नर जनरल और गवर्नरों की पूर्व अनुमति आवश्यक थी। इसके अतिरिक्त गवर्नरों को भी अध्यादेश जारी करने और गवर्नरों के अधिनियम बनाने का अधिकार था।

संघीय न्यायालय—सन् १६३५ के अधिनियम द्वारा भारतके लिए एक संघीय न्यायालय की व्यवस्था थी जिसमें प्रधान न्यायाधीश के अतिरिक्त अधिक से अधिक छः न्यायाधीश हो सकते थे। जब तक संघीय विधान-मंडल की दोनों सभाएँ न्यायाधीशों की संख्या बढ़ाने की प्रार्थना न करतीं, तब तक यह संख्या बढ़ायी न जा सकती थी। प्रधान न्यायाधीश और न्यायाधीशों की नियुक्ति का अधिकार सम्राट् को था। ६५ बरस की अवस्था प्राप्त करने पर कोई व्यक्ति न्यायाधीश अथवा प्रधान न्यायाधीश न रह सकता था। इसके पूर्व भी वह त्यागपत्र देकर न्यायालय से अलग हो सकता था। प्रिवी कौंसिल की रिपोर्ट पर सम्राट् किसी न्यायाधीश को शारीरिक या मानसिक दुर्बलता अथवा दुराचरण के लिए निकाल सकते थे।

इस न्यायालय के न्यायाधीश बनने के लिए निम्नलिखित अर्हताओं का होना आवश्यक था—(१) ब्रिटिश भारत या संघांतरित रियासतों की हाई कोर्ट का पाँच साल का अनुभवी न्यायाधीश। (२) इंगलैंड या उत्तरी आयरलैंड का दस बरस का अनुभवी बैरिस्टर। (३) स्काटलैंड का दस बरस का अनुभवी एडवोकेट। (४) ब्रिटिश भारतीय अथवा देशी रियासतों में वकालत करनेवाला दस बरस का अनुभवी वकील।

प्रधान न्यायाधीश के लिए उपर्युक्त प्रथम अर्हता में कोई अंतर न था; किंतु दूसरी, तीसरी और चौथी अर्हताओं में दस के स्थान में पंद्रह बरस का अनुभव आवश्यक था। वे ही व्यक्ति प्रधान न्यायाधीश के पद पर नियुक्त किये जा सकते थे, जो नियुक्ति के समय इंगलैंड या उत्तरी आयरलैंड के बैरिस्टर, या स्कॉटलैंड के एडवोकेट या भारत के वकील थे। पहली अर्हता-वाले व्यक्तियों को भी नियुक्ति के समय उपर्युक्त अर्हताओं का बैरिस्टर, एड-वोकेट या वकील होना आवश्यक था। यदि संघीय प्रधान न्यायाधीश का स्थान थोड़े दिनों के लिए रिक्त होता था तो गवर्नर जनरल उस स्थान को भर सकते थे। प्रत्येक न्यायाधीश को अपने पद की शपथ खानी पड़ती थी। न्यायाधीशों को ५, ५०० रुपये मासिक वेतन मिलता था और प्रधान न्याया-

धीश को ७,००० रुपये मासिक। किसी न्यायाधीश अथवा प्रधान न्यायाधीश के कार्यकाल में उसका वेतन घटाया नहीं जा सकता था।

संघीय न्यायालय के अधिकार दो प्रकार के थे—(१) कुछ अभियोग ऐसे थे जो संघीय न्यायालय में ही आरंभ हो सकते थे और (२) कुछ ऐसे थे जिनकी वह अपील सुनता था। ऐसे मुकदमे, जो संघ-सरकार और प्रांतीय सरकारों के बीच में या संघ-सरकार और भारतीय रियासतों के बीच में किसी कानूनी अधिकार के कारण होते थे, संघीय न्यायालय में ही आरंभ हो सकते थे। यदि किसी मुकदमें के विषय में हाई कोर्ट यह प्रमाणित करती थी कि उसका संबंध संविधान या स-कौंसिल सम्राट् के किसी आदेश के अर्थ से है, तो हाई-कोर्ट के निर्णय के प्रतिकूल ऐसे मुकदमों की अपीलें संघीय न्यायालय में हो सकती थीं। संविधान और स-कौंसिल सम्राट् के आदेशों के वास्तविक अर्थ से संबंध रखनेवाले संघीय न्यायालय के निर्णयों की अपीलें प्रिवी कौंसिल में होने को थीं। गवर्नर जनरल को, अपने विवेक के अनुसार, संघीय न्यायालय से किसी कानूनी प्रश्न के विषय में मंत्रणा लेने का अधिकार दिया गया था। परंतु उसकी मंत्रणा का मानना गवर्नर जनरल के लिए अनिवार्य न था। संघीय विधान-मंडल को संघीय न्यायालय के अपील संबंधी अधिकारों के बढ़ाने का अधिकार था। संघीय न्यायालय का सारा काम-काज अंगरेजी में किया जाता था।

हाई-कोर्ट—संघीय न्यायालय के अतिरिक्त बंबई, कलकत्ता, मद्रास, इलाहाबाद, पटना और लाहौर में हाई कोर्टें थीं। प्रत्येक हाई-कोर्ट में एक प्रधान न्यायाधीश और कई न्यायाधीश होते थे। उनको सम्राट् नियुक्त करते थे। किसी न्यायाधीश की अवस्था ६० बरस से अधिक न हो सकती थी। इस अवस्था के पूर्व भी कोई न्यायाधीश त्यागपत्र द्वारा हाई-कोर्ट से अलग हो सकता था और सम्राट् प्रिवी कौंसिल की रिपोर्ट पर किसी न्यायाधीश को शारीरिक या मानसिक दुर्बलता अथवा दुराचरण के लिए निकाल सकते थे।

हाई-कोर्ट के न्यायाधीश बनने के लिए निम्नलिखित अर्हताओं का होना आवश्यक था—(१) इंगलैंड या उत्तरी आयरलैंड का दस बरस का अनुभवी बैरिस्टर। (२) स्कॉटलैंड का दस बरस का अनुभवी एडवोकेट। (३) दस बरस पुराना सिविल सर्विस का सदस्य जो कम से कम तीन बरस तक जिला-जज रहा हो और (४) हाई-कोर्ट या दूसरे न्यायालयों का दस बरस का अनुभवी वकील। हाई-कोर्ट के प्रत्येक न्यायाधीश को अपने पद की

शपथ लेनी पड़ती थी। उसको निर्धारित वेतन मिलता था, जो उसके कार्यकाल में घटाया न जा सकता था। अधिक काम होने पर गवर्नर जनरल को दो बरस के लिए अतिरिक्त (Additional) न्यायाधीशों की नियुक्ति का अधिकार था।

कलकत्ता, बंबई और मद्रास की हाई कोर्टों में कुछ मुकदमे आरंभ हो सकते थे, परंतु साधारणतः हाई-कोर्टों में अपीलें ही सुनी जाती थीं। ये अपीलें फौजदारी और दीवानी दोनों प्रकार के मुकदमों की होती थीं। हाई-कोर्ट के निर्णय के प्रतिकूल संघीय न्यायालय और प्रिवी कौंसिल में अपील की जा सकती थी। किसी दीवानी मुकदमे की अपील प्रिवी कौंसिल में तब तक न हो सकती थी जब तक वह १०,००० रुपये से अधिक की न थी।

भारत-मंत्री और उनकी कौंसिल—सन् १६१६ के अधिनियम की भाँति सन् १६३५ के अधिनियम के अनुसार भी, इंगलैंड से भारतीय शासन की देखभाल के लिए, भारत-मंत्री की व्यवस्था थी। पूर्ववत् वे मंत्रिमंडल और पार्लमेंट के सदस्य थे। भारतीय शासन के संबंध में, मंत्रिमंडल साधारणतया उन्हीं की मंत्रणा के अनुसार अपनी नीति को निर्धारित करता था। वे विषय जिनमें उत्तरदायी शासन की व्यवस्था न थी, अब भी उनके अधीन थे। उनके सुशासन के लिए वे ब्रिटिश पार्लमेंट के प्रति उत्तरदायी थे। विशेष उत्तरदायित्व और विवेक एवं व्यक्तिगत निर्णय के कामों को गवर्नर जनरल भारत-मंत्री के निरीक्षण में उनके आदेशानुकूल करते थे।

भारत-मंत्री के निरीक्षण के शिथिल करने का सिद्धात सन् १६१६ के सुधारों के साथ-साथ मान लिया गया था। इस संबंध में संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी ने कुछ प्रथाओं के चलाने पर जोर दिया था। अतएव कानूनी दृष्टि से भारत-मंत्री के निरीक्षण में किसी प्रकार की कमी तो नहीं की गयी थी, लेकिन वास्तव में पहले की अपेक्षा उनका निरीक्षण कुछ शिथिल अवश्य हो गया था। १६३५ के संविधान के अनुसार ब्रिटिश सरकार के कानूनी अधिकारों में कोई परिवर्त्तन न किया गया था। वह अब भी पार्लमेंट के प्रति भारतीय सुशासन और सुव्यवस्था के लिए उत्तरदायी थी। फिर भी उत्तरदायी सरकार स्थापित करने के कारण ब्रिटिश सरकार और इस कारण भारत-मंत्री का भी, निरीक्षण पहले की अपेक्षा कुछ शिथिल अवश्य हो गया था।

१६१६ के सुधारों के अनुसार भारत-मंत्री की कौंसिल में कई महत्त्वपूर्ण

परिवर्त्तन किये गये थे। फिर भी भारतीय इस कौंसिल से संतुष्ट न थे। वे उसे प्रतिक्रियात्मक (Reactionary) कहते और उसके तोड़ने का आग्रह करते थे। १६३५ के सविधान द्वारा उनकी यह माँग स्वीकार कर ली गयी थी। १ अप्रैल सन् १६३७ को भारत-मंत्री की कौंसिल (India Council) तोड़ दी गयी थी, पर उन्हें कम से कम तीन और अधिक से अधिक छः परामर्शदाताओं को नियुक्त करने का अधिकार दिया गया था। कम से कम आधे परामर्शदाताओं के लिए यह आवश्यक था कि वे दस बरस तक भारत में नौकरी कर चुके हों और उन्हें भारत छोड़े हुए दो बरस से अधिक न हुआ हो। परामर्शदाताओं का कार्य-काल पाँच बरस निर्धारित किया गया था। कोई मनुष्य एक बार से अधिक परामर्शदाता नहीं नियुक्त किया जा सकता था। परामर्शदाताओं को १,३५० पौंड सालाना वेतन मिलता था और जिनका मकान भारत में हो उनको इस वेतन के अतिरिक्त ६०० पौंड सालाना भत्ता भी। भारत-मंत्री, उनके परामर्शदाताओं, एवं उनके कार्यालय के कर्मचारियों का वेतन ब्रिटिश कोष से दिया जाता था। भारत-मंत्री को अधिकार था कि वे अपने परामर्शदाताओं की चाहे व्यक्तिगत मंत्रणा लें, चाहे सामूहिक, चाहे उनके परामर्श के अनुसार काम करें, चाहे उसके प्रतिकूल। भारतीय नौकरियों के संबंध में कम से कम आधे परामर्शदाताओं का भारत-मंत्री के मत का होना आवश्यक था। इन परिवर्त्तनों के कारण ब्रिटिश मंत्रिमंडल में भारत-मंत्री का स्थान वैसा ही हो गया था जैसा उपनिवेश-मंत्री (Colonial Secretary) का। उनके कार्यालय के कर्मचारियों की नौकरी की शर्तें और उनके अधिकार अब प्रायः वे ही थे जो अन्य ब्रिटिश नौकरियों के।

भारतीय हाई कमिश्नर—सन् १६१६ के अधिनियम के द्वारा भारतीय हाई कमिश्नर की व्यवस्था की गयी थी। १६३५ के संविधान में उनका पद पूर्ववत् बना रहा। गवर्नर जनरल अपने व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार भारतीय हाई कमिश्नर को नियुक्त करते थे। उनकी नौकरी की शर्तें और वेतन आदि को भी गवर्नर जनरल अपने व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार निर्धारित करते थे। संघ-सरकार की ओर से वे उन सब कामों को करते थे जो गवर्नर जनरल उनसे करने के लिए कहें। गवर्नर जनरल की अनुमति से किसी संघांतरित भारतीय रियासत या प्रांत या बर्मा की ओर से भी वे उन सब कामों को कर सकते थे जो संघ-सरकार की ओर से।

सरकारी नौकरियाँ—सन् १६३५ के अधिनियम के अनुसार सरकारी

नौकरियाँ दो भागों में विभक्त थीं—(१) सैनिक नौकरियाँ और (२) सार्वजनिक नौकरियाँ। सैनिक नौकरी के सर्वोच्च अधिकारी को प्रधान सेनापति कहते थे। इनकी नियुक्ति का अधिकार सम्राट् को था। प्रधान सेनापति, रक्षा के संबंध में, गवर्नर जनरल के परामर्शदाता की हैसियत से काम करते थे। वे संघीय विधान-मंडल में गवर्नर जनरल की ओर से बोलते थे। चूँकि रक्षा संरक्षित विषय था, इसलिए इन नौकरियों के काम की शर्तों को, भारत-मंत्री अपने परामर्शदाताओं के परामर्श से निश्चित करते थे। अधिनियम में फौजी नौकरियों के भारतीकरण के संबंध में किसी प्रकार की व्यवस्था न थी।

सार्वजनिक नौकरियाँ तीन भागों में विभक्त थीं—

(अ) भारत-मंत्री की नौकरियाँ—इनमें इंडियन सिविल सर्विस, इंडियन पुलिस सर्विस और इंडियन मेडिकल सर्विस की गणना थी। इन नौकरियों के सदस्य केंद्रीय और प्रांतीय दोनों प्रकार की सरकारों के अधीन काम करते थे। ये भारत-मंत्री के द्वारा नियुक्त किये जाते थे और अंत में भारत-मंत्री ही इनके हितों की देखभाल करते थे। इनका वेतन विधान-मंडल के वोट पर निर्भर न था। भारत-मंत्री इन नौकरियों के संबंध की नीति को अपने परामर्शदाताओं के मतानुसार निश्चित करते थे।

इंडियन सिविल सर्विस और इंडियन पुलिस सर्विस के सदस्यों की भर्त्ती प्रतियोगिता-परीक्षाओं के आधार पर की जाती थी। इंडियन सिविल सर्विस की परीक्षाएँ भारत में होती थीं और इंगलैंड में भी। परीक्षा में उत्तीर्ण उम्मेदवारों को विलायत में काम सीखने के लिए जाना पड़ता था। उसके बाद वे भारत में भिन्न-भिन्न स्थानों में नियुक्त किये जाते थे।

(ब) संघीय नौकरियाँ (Federal Services)—संघीय नौकरियाँ पूर्णतया संघ-सरकार के अधीन होने को थीं। १९४७ तक वे भारत-सरकार के अधीन थीं। इनमें रेलवे सर्विस, इंडियन पोस्ट और टेलीग्राफ सर्विस, संघीय कार्यालय (Federal Secretariate) के कर्मचारी आदि शामिल थे। इनकी नियुक्ति का अधिकार संघ-सरकार को था। इनकी भर्ती भी प्रतियोगिता-परीक्षाओं के आधार पर की जाती थी।

(स) प्रांतीय नौकरियाँ (Provincial Services) प्रांतीय नौकरियाँ प्रांतीय सरकारों के अधीन थीं। इनकी नियुक्ति का अधिकार प्रांतीय सरकारों को दिया गया था। अधिकांश स्थान प्रतियोगिता-परीक्षाओं के आधार

पर भरे जाते थे। प्रांतीय सिविल सर्विस के सदस्य बढ़ते बढ़ते इंडियन सिविल सर्विस के स्थानों पर भी नियुक्त किये जा सकते थे। इंडियन सिविल सर्विस के कुछ स्थान प्रांतीय सिविल सर्विस के लिए सुरक्षित रखे जाते थे।

इनके अतिरिक्त प्रत्येक प्रांत में और भी अनेक कर्मचारी थे, जिनको भिन्न-भिन्न विभागों के अध्यक्ष नियुक्त करते थे।

अखिल भारतीय नौकरियों की भाँति संघीय और प्रांतीय नौकरियाँ भी सम्राट की नौकरियाँ थीं और गवर्नर जनरल और गवर्नर, सम्राट् के प्रतिनिधि की हैसियत से, उनके हितों की रक्षा करने को थे। सिविल सर्विस के किसी सदस्य का उस समय तक न तो वेतन घटाया और न दर्जा गिराया जा सकता था जब तक उसे बचाव का अवसर न दिया गया हो। सदस्यों तथा उनके आश्रितों के हितों की देख-भाल की समुचित व्यवस्था की गयी थी। अधिनियम में सार्वजनिक नौकरियों में अंगरेजों और भारतीयों के सापेक्षक अनुपात का उल्लेख न था। नौकरियों में सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था थी। अल्प-संख्यकों के हितों की देख-भाल गवर्नर जनरल और गवर्नरों का विशेष उत्तर-दायित्व था।

संघ-सरकार और प्रातीय सरकारों के लिए १९३५ के संविधान के अनुसार लोक-सेवा-आयोगों की व्यवस्था की गयी थी। केंद्रीय लोक-सेवा-आयोग सन् १९१९ के सुधारों के बाद से ही अपना काम कर रहा था। सन् १९३५ में उसका नाम बदल कर संघीय लोक-सेवा-आयोग कर दिया गया था। प्रांतों के लिए भी ऐसे ही आयोगों की व्यवस्था की गयी थी। लोक-सेवा-आयोगों का काम था प्रतियोगिता-परीक्षाओं का संचालन और उपयुक्त उम्मेदवारों की नियुक्ति के लिए सिफारिश करना।

संविधान में संशोधन की व्यवस्था—भारतीय संविधान का संशोधन दो तरह से किया जा सकता था—(१) पार्लमेंट के अधिनियम द्वारा और (२) ऑर्डर्स-इन-कौंसिल के द्वारा। पार्लमेंट, जब चाहे तब, भारतीय संविधान में संशोधन कर सकती थी। भारत के लिए नये संविधान का बनाना भी उसी के हाथ में था। परिस्थिति के अनुकूल संविधान को परिवर्तनशील बनाये रखने के लिए ऑर्डर्स-इन-कौंसिल की व्यवस्था की गयी थी। इनके द्वारा ब्रिटिश सरकार, जब चाहे तब, छोटे-मोटे परिवर्तन कर सकती थी।

संघ-राज्य स्थापित होने के दस बरस पश्चात् संघीय विधान-मंडल और प्रांतीय

स्वराज्य के स्थापित होने के दस बरस पश्चात् प्रांतीय विधान-मंडल, विधेयक पारित करके, कुछ निर्दिष्ट विषयों में संशोधन करने के लिए, गवर्नर जनरल और गवर्नर से यह प्रार्थना कर सकते थे कि उनके स्वीकृत विधेयक की सूचना सम्राट को दी जाय और वे उसे पार्लमेंट के समक्ष प्रस्तुत करने की कृपा करें। ऐसी अवस्था में भी ऑर्डर्स-इन-कौंसिल द्वारा संविधान संशोधित किया जा सकता था। इन ऑर्डर्स-इन-कौंसिल के लागू होने के लिए यह आवश्यक था कि पार्लमेंट के दोनों सदन, उन्हें जारी करने के लिए, सम्राट से प्रार्थना करते। संघीय विधान-मंडल के विधेयकों पर गवर्नर जनरल और प्रांतीय विधान-मंडल के विधेयकों पर गवर्नरों के व्यक्तिगत विचारों का होना आवश्यक था। विशेष परिस्थिति में, यदि भारत-मंत्री को कोई संशोधन आवश्यक प्रतीत होता, तो पार्लमेंट की अनुमति के बिना ही ऑर्डर-इन-कौंसिल जारी किया जा सकता था। इस प्रकार का ऑर्डर-इन-कौंसिल, कामन सभा का जिस दिन प्रथम अधिवेशन हो उसके २८ दिन पश्चात् स्वयं शून्य हो जाता था, यदि पार्लमेंट के दोनों सदन इस काल में उसकी स्वीकृति का विधेयक पारित न करते थे।

संघीय और प्रांतीय विधान-मंडलों को निम्नलिखित विषयों के संशोधन-संबंधी विधेयकों को पारित करने का अधिकार था—

(१) संघीय विधान-मंडल की रचना, आकार, चुनाव के ढंग, और सदस्यों की आर्हताओं के संबंध में। ऐसे संशोधनों में संघीय विधान-मंडल के दोनों सदनों के निर्धारित अनुपात में किसी प्रकार का परिवर्तन करना मना था।

(२) प्रांतीय विधान-मंडलों का एक सदन हो अथवा दो, उनकी रचना किस प्रकार की हो और उनका आकार कितना बड़ा हो, उनके सदस्य किस प्रकार चुने जायँ, उनमें किन किन अर्हताओं का होना आवश्यक समझा जाय आदि के विषय में।

(३) अधिक स्त्रियों को मताधिकार देने के विषय में। इस संबंध के प्रस्ताव दस बरस की अवधि समाप्त होने के पूर्व भी पेश किये जा सकते थे।

(४) ऐसा कोई संशोधन जिसके कारण उन लोगों को मताधिकार मिल सकता हो, जो मतदाता न थे।

इन संशोधनों के द्वारा भारतीय नरेशों की अनुमति के बिना रियासतों के प्रतिनिधित्व में और विभिन्न संप्रदायों की अनुमति के बिना सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व के अनुपात में किसी प्रकार का परिवर्तन न किया जा सकता था।

संविधान में संशोधन-संबंधी सन् १६३५ के अधिनियम की उक्त धाराओं से यह स्पष्ट है कि संघीय विधान-मंडल और प्रांतीय विधान-मंडल दोनों ही किसी महत्त्वपूर्ण विषय के संबंध में संशोधन का प्रस्ताव तक न पारित कर सकते थे। ऐसी बात अन्य डोमीनियनों में न थी। पर भारत को सन् १६३५ के अधिनियम द्वारा डोमीनियन का दर्जा नहीं मिला था। वेस्टमिंस्टिर-स्टेच्यूट कैनाडा, ऑस्ट्रेलिया, दक्षिणी अफ्रीका, न्यूजीलैंड, आयरलैंड और न्यूफाउंडलैंड के लिए था, भारत के लिए नहीं।

२

१९३५ के संविधान का कार्यान्वित रूप (१)

कांग्रेस बहुमत प्रांत

(१९३५ से १९३९ तक)

प्राक्कथन—सन् १९३५ के संविधान पर कार्यारंभ—अंतःकालीन मंत्रि-परिषद्—कांग्रेसी मंत्रि-मंडल—मंत्रि-पद ग्रहण करने के कारण—कांग्रेस की चुनाव-घोषणा—संवैधानिक संकट; बिहार और संयुक्त-प्रांत के मंत्रियों का त्याग-पत्र; उड़ीसा का संवैधानिक संकट; मध्य-प्रांत का संवैधानिक संकट; राजकोट और संवैधानिक संकट की आशंका—कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों के काम—कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों की कठिनाइयाँ; उदार वादे और कम समय; संवैधानिक संकटों की आशंका; सांप्रदायिक वैमनस्य; मजदूरों, किसानों आदि के आंदोलन; आदर्श-वादिता द्वितीय महासमर की ओर—युरोपीय महासमर का श्रीगणेश और कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों का पद-त्याग।

प्राक्कथन—सन् १९३५ से १९३९ तक के चार बरस भारतीय राजनीतिक इतिहास में बड़े महत्त्व के थे। सन् १९३५ में सम्राट जॉर्ज पंचम की रजत-जयंती सारे साम्राज्य में बड़े समारोह के साथ मनायी गयी। तत्पश्चात् उनके स्वर्गवास के कारण समस्त साम्राज्य शोकातुर हुआ। सम्राट् एडवर्ड आठवें के सिंहासनारूढ़ होने और व्यक्तिगत कारणों से उसे त्यागने के पश्चात्, सम्राट जॉर्ज छठें सिंहासनारूढ़ हुए। इन महत्त्वपूर्ण संवैधानिक परिवर्तनों में डोमीनियनों की संसदों का महत्त्वपूर्ण हाथ था, पर भारत का परामर्श तक न लिया गया था। सांप्रदायिक समस्या के सुलझाने के लिए भी, इस काल में कई असफल प्रयत्न किये गये। श्री राजेंद्र प्रसाद, पं० जवाहर लाल नेहरू, गांधीजी, श्री सुभाषचंद्र बोस, मिस्टर मुहम्मद अली जिन्ना और हिज़ हाईनेस दि

आगा खाँ में इस विषय में पत्र-व्यवहार हुए, पर कुछ परिणाम न निकला। ऐसा विदित होता था कि देश की सांप्रदायिक समस्या दिन पर दिन अधिकाधिक जटिल होती जा रही थी। सांप्रदायिक दंगों ने उसे और भी अधिक जटिल बना दिया था। परिणाम-स्वरूप देश के विभाजन की चर्चा आरंभ हो गयी थी। भारतीय रियासतों को भी इस काल में कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। इनके सामने एक ओर तो संघ-राज्य में सम्मिलित होने का प्रश्न था और दूसरी ओर शासन-सुधार का प्रश्न। रियासतों की प्रजा, ब्रिटिश भारत के आंदोलनों से प्रभावित होकर, अपनी रियासतों में, शासन-सुधार संबंधी हलचल मचा रही थी और उसे कांग्रेस की सहायता तथा सहानुभूति प्राप्त थी। कांग्रेस की घोषित नीति अब तक, अहस्तक्षेप की थी। गांधीजी के शब्दों रियासतों में पूर्ण उत्तरदायी शासन स्थापित करने वाले संघर्ष का भार रियासती प्रजा को ही वहन करना चाहिये था।[1] पर व्यवहार में कांग्रेस का नैतिक समर्थन गांधी जी द्वारा निर्धारित सीमा का उल्लंघन कर सकता था। इसी काल में राजनीतिक बंदियों की रिहाई के लिए गांधी जी ने सफल प्रयत्न किये। सन् १९३७ में, परिवर्तित परिस्थिति के कारण, मुस्लिम लीग का भी ध्येय पूर्ण स्वाधीनता हो गया। इसी काल में कांग्रेस में वामपक्षियों का जोर बढ़ा और किसान और मजदूर-आंदोलन खड़े हुए। ये सब घटनाएँ महत्वपूर्ण थीं, इसमें संदेह नहीं, पर इनसे भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण वह घटना थी जब कांग्रेस ने, गांधी जी और वाइसराय द्वारा संवैधानिक स्पष्टीकरण के पश्चात्, प्रांतीय मंत्रि-मंडलों के निर्मित करने का निश्चय किया और सात प्रांतों में कांग्रेसी मंत्रि-मंडल स्थापित हुए। आधुनिक भारत के राजनीतिक इतिहास में विरोधी दल द्वारा उत्तरदायी सरकार स्थापित करने का यह सर्वप्रथम प्रयत्न था।

सन् १९३५ के संविधान पर कार्यारंभ—भारतीय शासन-संबंधी सन् १९३५ का अधिनियम, तीन गोलमेज परिषदों तथा संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी द्वारा विचार के पश्चात्, ब्रिटिश पार्लमेंट द्वारा स्वीकृत हुआ था। कांग्रेस

---

१. कांग्रेस का रियासतों संबंधी प्रस्ताव सन् १९२८ में स्वीकार हुआ था। सन् १९३५ में कांग्रेस-कार्य-समिति ने उस प्रस्ताव को दोहराया। गांधीजी के विचारानुकूल "रियासतों में कांग्रेस द्वारा हस्तक्षेप का प्रयत्न रियासती प्रजा के उद्देश्य की पूर्ति के लिए हितकर न था। ...मैं अभी तक इस बात से निराश नहीं हुआ हूँ कि नरेश अपनी प्रजा के सच्चे संरक्षक बनेंगे। मैं उनके दर्जे को गिराना नहीं चाहता।"

उसकी विरोधिनी थी और जन्म के पूर्व ही उसका संहार कर देना चाहती थी। मुस्लिम लीग उसके सांप्रदायिक निर्णय तथा प्रांतीय अंश के पक्ष में थी, पर संघीय अंश उसे भी नापसंद था।[1] भारतीय नरेश या उनके प्रतिनिधि गोलमेज़ परिषदों में तो संघ-राज्य की स्थापना के संबंध में ओजस्वी भाषण दे आये थे, पर कालांतर में गवर्नर जनरल के विशेष उत्तरदायित्वों[2] तथा कांग्रेस के बढ़ते हुए प्रभाव के कारण उनका समर्थन क्रमशः शिथिल हो गया और वे संघ-राज्य के उतने पक्षपाती न रह गये जितने पहले थे। भारत का उदार दल ही संविधान को अपर्याप्त और असंतोषप्रद बतलाते हुए भी, उसे कार्यान्वित करने के पक्ष में था। पर देश में उसका प्रभाव नहीं के बराबर था। अतएव यह कहना अतिशयोक्ति नहीं कि भारत के प्रायः सभी प्रमुख दल नये संविधान या उसके महत्त्वपूर्ण अंशों के विरोधी थे।

फिर भी भारतीय-शासन-संबंधी सन् १९३५ का अधिनियम कार्य रूप में परिणत किया गया। होम गवर्मेंट की संस्थाओं, विशेषतया भारत-मंत्री की कौंसिल और स्वयं भारत-मंत्री की स्थिति में आपेक्षिक परिवर्तन कर दिये गये। भारत का संघीय न्यायालय स्थापित हो गया और संघीय लोक-सेवा-आयोग (Public Service Commission) अपने काम में लग गया। इसके पूर्व सन् १९३५ में ही रिज़र्व बैंक स्थापित हो चुका था। ब्रिटिश सरकार की इच्छा थी कि संघ-राज्य की स्थापना के पूर्व उसकी आर्थिक स्थिरता के लिए रिज़र्व बैंक स्थापित किया जाय। भारत में उसकी चर्चा कुछ दिन पहले से हो रही थी। संविधान के संघीय और प्रांतीय अंशों की भी तैयारियाँ होने लगीं। नये संविधान की विरोधिनी होते हुए भी कांग्रेस अपनी स्थिति को सुदृढ़ रखना चाहती थी। अतएव वोटरों की पूरी-पूरी सूची बनाने तथा निर्वाचन संबंधी अन्य कामों के करने के लिए वह तैयार थी। कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष श्री

---

१. फरवरी सन् १९३५ में भारतीय असेंबली ने संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी की रिपोर्ट पर विचार किया। कांग्रेसी सदस्य उसकी समस्त योजना के विरोधी थे। पर उनका तत्संबंधी प्रस्ताव ६१ के विरुद्ध ७२ मतों में गिर गया। उसके स्थान पर मिस्टर जिन्ना का प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। उसका प्रथम अंश सांप्रदायिक निर्णय और दूसरा प्रांतीय स्वायत्त शासन के ग्रहण करने के पक्ष में था और तीसरा अंश संघ-योजना के विरुद्ध।

२. गवर्नर जनरल के शांति और व्यवस्था संबंधी विशेष उत्तरदायित्व के कारण यह आशंका निर्मूल न थी कि रियासतों के आंतरिक शासन में उत्तरदायी भारत-सरकार का हस्तक्षेप होने लगता।

राजेंद्र प्रसाद ने, एक पत्र-संवाददाता से अक्टूबर सन् १६३५ में ही अपने विचार वोटरों की सूची बनाने के पक्ष में प्रकट किये थे।[१] पद-ग्रहण के विषय में भी चर्चा हो रही थी। कांग्रेस के अंतर्गत वाम-पक्षी पद-ग्रहण के घोर विरोधी थे, पर दक्षिण-पक्षी कुछ आवश्यक आश्वासन पर पद-ग्रहण को अनुचित न समझते थे। फैज़पूर कांग्रेस ने कांग्रेसवादियों को, अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमेटी के आज्ञानुसार, निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए, निर्वाचन लड़ने का अधिकार दिया; पर पद-ग्रहण की समस्या का निर्णय उस समय तक के लिए स्थगित कर दिया जब तक प्रांतीय विधान-सभाओं के निर्वाचन का फल ज्ञात न हो जाय। अतएव फरवरी सन् १६३७ के निर्वाचन में कांग्रेस ने अपने अभ्यर्थी (उम्मेदवार) खड़े किये और उनको आशा से अधिक सफलता मिली। उनके विरोध करने वाले कुछ उदार दल के सदस्य थे और कुछ जमींदार। कहीं-कहीं, विशेषतया पंजाब और बंगाल में, हिंदू महासभा ने भी कांग्रेस के विरुद्ध अपने अभ्यर्थी खड़े किये थे। इसका मुख्य कारण कांग्रेस की सांप्रदायिक नीति थी, जिससे हिंदू महासभा सहमत न थी। मुसलिम स्थानों के लिए भी कांग्रेस ने ५८ अभ्यर्थी खड़े किये, जिनमें से केवल २६ ही सफल हो सके। निर्वाचन के नतीजे के संबंध में निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—

(१) लगभग ५४ प्रतिशत मतदाताओं ने मत-दान किया था।

(२) प्रांतीय विधान-सभाओं के १५८५ स्थानों में से ७११ कांग्रेस के हाथ आये थे।

(३) मुस्लिम स्थानों में से ४२४ ऐसे व्यक्तियों के हाथ आये थे, जो कांग्रेसवादी न थे। कांग्रेस के मुस्लिम अभ्यर्थी उत्तरी-पश्चिमी सीमांत प्रदेश में विशेष रूप से सफल हुए थे। अतएव निर्वाचन से यह स्पष्ट हो गया था कि देश की मुस्लिम जनता पर कांग्रेस का उतना प्रभाव न था जितना मुस्लिम लीग का था।

(४) पाँच प्रांतों अर्थात् मद्रास, संयुक्त-प्रांत (उत्तर-प्रदेश), मध्य-प्रदेश, बिहार और उड़ीसा में कांग्रेस को आधे से अधिक स्थान मिले थे। बंबई प्रांत के ४६ प्रतिशत स्थान उसके हाथ आये थे और आसाम और उत्तरी-

---

1. Indian Quarterly Register 1935 Vol. II P. 252

पश्चिमी सीमांत प्रदेश में कांग्रेसी सदस्यों की संख्या अन्य दलों की अपेक्षा अधिक थी।

(५) देश का बहुमत भी कांग्रेस के पक्ष में था। कई प्रांतों में कांग्रेस को मिले हुए वोटों का अनुपात जीते गये स्थानों की अपेक्षा अधिक था।

(६) बंगाल और पंजाब में कांग्रेस की शक्ति कम थी। किंतु मद्रास में उसकी शक्ति इतनी अधिक थी कि दूसरे सदन में भी उसका बहुमत था।

अंतःकालीन मंत्रि-मंडल—निर्वाचन में कांग्रेस की विजय तो हुई पर कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों का निर्माण तुरंत ही न हो सका। कांग्रेस के दक्षिण-पक्षियों और वाम-पक्षियों में इस विषय में भयंकर मतभेद था। जो लोग पद-ग्रहण के पक्ष में थे, उनके मतानुकूल मंत्रि-पद न ग्रहण करना जनता के साथ धोखा-बाजी करना था और जो पद-ग्रहण के विरोधी थे उनके विचार में मंत्रि-पद ग्रहण करना कांग्रेस के साथ धोखाबाजी करना था। पर अंत में पद-ग्रहण करने वालों की विजय हुई। अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमेटी ने यह निर्णीत किया कि जिन प्रांतों में कांग्रेस का बहुमत है वहां इस शर्त पर पद-ग्रहण किया जाय कि गवर्नर संवैधानिक कार्रवाइयों के संबंध में मंत्रिमंडल की मंत्रणा को अस्वीकार न करेंगे और न उनके संबंध में अपने विशेष अधिकारों का ही उपयोग करेंगे।[1] प्रांतीय विधान-मंडलों के कांग्रेसी नेताओं को इस विषय का स्पष्ट आश्वासन मांगना चाहिये और आश्वासन मिलने पर ही मंत्रिमंडल निर्मित करने के लिए राजी होना चाहिये। कुछ लोग कांग्रेस की इस मांग को अनुचित समझते थे। पर सदियों पुराने परस्पर अविश्वास के कारण, कांग्रेसवादियों के विचारानुकूल इस प्रकार का आश्वासन उचित एवं आवश्यक था। कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष पं० जवाहरलाल नेहरू ने, इस विषय में अपने विचार इस प्रकार प्रगट किये थे—

"जब तक इस प्रकार का आश्वासन प्राप्त न कर लिया जाय तब तक जिम्मेदारी मजाक होगी, क्योंकि उसमें अधिकार न होंगे। यदि ब्रिटिश सरकार के वादे सच्चे होते, तो इस प्रकार का आश्वासन अवश्य दिया जाता। सरकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि वह जो कुछ उचित समझेगी, वही

---

१. भारत के कुछ विधान-शास्त्रज्ञों का मत था कि इस प्रकार के आश्वासन का मांगना अनुचित था। इनमें सरतेज बहादुर सप्रू का नाम उल्लेखनीय है। श्री तारापुरवाला, श्री बहादुरजी तथा डाक्टर आर्थर बेरीडील कीथ आश्वासनों के समर्थक थे।

करेंगी, चाहे भारत के करोड़ों निर्वाचकों की इच्छा का उससे समर्थन होता हो या न होता हो।"

प्रांतीय गवर्नर इस प्रकार का आश्वासन न दे सके। अतएव कांग्रेसवादियों ने मंत्रि-मंडल बनाने से इनकार कर दिया। इस परिस्थिति को संभालने के लिए अल्पसंख्यक दलों के अंतःकालीन मंत्रिमंडल बने। इनके साथ न तो जनता का बहुमत था और न विधान-सभाओं का। फिर भी कुछ समय तक इनके चलाने का प्रयत्न किया गया। कुछ लोग तो इनको संवैधानिक सिद्ध करने के लिए, संविधान के ही नये नये अर्थ लगाने लगे। जब तक अंतःकालीन मंत्रिमंडल पदासीन रहे, तब तक गवर्नरों ने विधान सभाओं के अधिवेशन बुलाने से भी इनकार कर दिया। पर इस प्रकार अधिक से अधिक छः महीने तक काम चल सकता था। इसके पश्चात् या तो विधान-सभाएँ बुलायी जातीं या उनका नया निर्वाचन किया जाता। नये निर्वाचन से परिस्थिति के बदलने की विशेष आशा न थी। अधिवेशन बुलाने से मंत्रिमंडल के विरुद्ध अविश्वास के विधेयक का भय था जिसे कांग्रेसवादी अवश्य प्रेषित करते और जो निश्चय ही पास होता। ऐसी अवस्था में अंतःकालीन मंत्रिमंडल को त्याग-पत्र देना पड़ता और मत्रिमंडल के निर्माण की समस्या देश के सम्मुख पुनः आती। आश्वासन प्राप्त किये बिना कांग्रेसवादी, मंत्रि-मंडल बनाने से पुनः इनकार करते और तब असाधारण परिस्थिति के कारण, प्रांतीय गवर्नर, संभवतः संविधान को स्थगित करके आवश्यकतानुसार अपने प्रांतों का शासन अपने अधीन करते। भारत के राजनीतिक वायुमंडल में इस प्रकार के वातावरण का प्राधान्य था। पर परिस्थिति अत्यधिक न बिगड़ने पायी और छः महीने की अवधि के पूर्व ही, अंतःकालीन मंत्रिमंडलों के स्थान पर कांग्रेसी मंत्रि-मंडल स्थापित हो गये।

कांग्रेसी मंत्रिमंडल—निर्वाचन के पश्चात् जब तक कांग्रेसवादियों ने अपने मंत्रिमंडल नहीं बनाये तब तक संवैधानिक स्थिति के स्पष्टीकरण के लिए भारत-मंत्री, वाइसराय, गांधीजी और अन्य भारतीय नेताओं ने अनेक वक्तव्य प्रकाशित किये जिनके कारण समाचार-पत्रों में काफी चहल-पहल रही और देश के सम्मुख संवैधानिक समस्याओं का जाल फैला रहा। यदि कांग्रेस चुपचाप मंत्रि-पद को ग्रहण कर लेती तो सन् १९३५ के संविधान की वह व्याख्या न हो पाती जो इस परिस्थिति के कारण हुई और जिसके परिणाम-स्वरूप संविधान के संबद्ध अनुच्छेदों का वास्तविक अर्थ लोगों को ज्ञात हो गया। कांग्रेस और गांधीजी मंत्रि-पद ग्रहण के पूर्व दो बातें चाहते थे—

(१) यह आश्वासन कि संवैधानिक कार्रवाइयों के संबंध में गवर्नर मंत्रि-मंडल की मंत्रणा को न तो अस्वीकार करेंगे और न उनके संबंध में अपने विशेष अधिकारों का उपयोग करेंगे।

(२) यदि ऐसी कार्रवाइयों के संबंध में गवर्नर और मंत्रिमंडल में गंभीर मतभेद होगा तो गवर्नर मंत्रिमंडल से त्यागपत्र न मांग कर, उसको बरखास्त करेंगे।

२२ जून सन् १९३७ को वाइसराय (लॉर्ड लिलिथगो) ने एक वक्तव्य निकाला जिससे स्थिति सुलझ गयी और कुछ दिन पश्चात् कांग्रेसी मंत्रिमंडल भी बन गये। वाइसराय ने अपने वक्तव्य में कहा था कि माँगे गये आश्वासनों की आवश्यकता न थी। मंत्रियों के अधिकार-क्षेत्र के अंतर्गत सभी मामलों में, जिनमें अल्पसंख्यकों और नौकरियों की बातें भी सम्मिलित हैं, गवर्नर साधारणतया मंत्रियों की मंत्रणा पर ही चलेंगे। केवल उन मामलों में जिनमें गवर्नर के विशेष उत्तरदायित्व हैं, विशेष कर प्रांत की शांति और व्यवस्था के मामलों में, गवर्नर अपने उत्तरदायित्व पर काम करेंगे। ये विशेष उत्तरदायित्व बहुत ही सीमित हैं।[1] इनमें भी गवर्नर मंत्रियों को अपने साथ रखने की इच्छा करेंगे। मंत्रियों के अधिकार-क्षेत्र की बातों में गवर्नर मंत्रियों की मंत्रणा पर चलने के लिए बाध्य होंगे चाहे वे मंत्रियों की मंत्रणा से बिल्कुल ही असंतुष्ट क्यों न हों। त्यागपत्र और बरखास्तगी के विषय में वाइसराय ने कहा कि यदि गंभीर मतभेद के अवसरों पर, विचार-विनिमय के पश्चात् भी, गवर्नर और मंत्रिमंडल का मतभेद दूर न हो तो मंत्रिमंडल को या तो त्यागपत्र दे देना चाहिये या गवर्नर को चाहिये कि उसे बरखास्त कर दे। त्याग-पत्र और बरखास्तगी में से प्रचलित संवैधानिक प्रथा का अत्यधिक झुकाव त्यागपत्र की ओर है। त्याग-पत्र मंत्रिमंडल की प्रतिष्ठा के अधिक उपयुक्त और गवर्नर के कार्य के प्रति मंत्रियों के सार्वजनिक रुख प्रगट करने का अधिक प्रभावशाली तरीका है। साथ ही त्यागपत्र मंत्रिमंडल की इच्छा से किया हुआ कार्य है। बरखास्तगी का तरीका संवैधानिक प्रथाओं में प्रचलित नहीं है।

---

१. गवर्नरों के विशेष उत्तरदायित्व कुछ समुदायों, स्थापित स्वार्थों और क्षेत्रों से संबंधित थे। समुदाय थे अल्पसंख्यक लोग; स्वार्थ थे अंगरेजों के संबंध के और क्षेत्र थे ब्रिटिश भारत और भारतीय रियासतों के कुछ चुने हुए भाग। वाइसराय के मतानुकूल पार्लमेंट ने इन विशेष उत्तरदायित्वों की व्यवस्था उनके मांगे जाने पर की थी। उनका क्षेत्र अधिक से अधिक संकुचित था।

इसमें एक प्रकार की छोटाई प्रगट होती है जिसको हम नये संविधान में कोई स्थान नहीं देना चाहते।

वाइसराय के उक्त वक्तव्य के कारण देश की राजनीतिक स्थिति में महान परिवर्तन हुआ। सभी लोग उनकी दूरदर्शिता और व्यावहारिक राजनीति की कुशलता की प्रशंसा करने लगे। ५ जुलाई सन् १९३७ से ८ जुलाई तक वर्धा में कांग्रेस-कार्यसमिति की अत्यंत महत्त्वपूर्ण बैठक हुई और उसमें मंत्रि-पद स्वीकार करने का प्रस्ताव पारित हुआ। प्रस्ताव के संबंधित अंश इस प्रकार हैं—

"कार्यसमिति का मत है कि परिस्थितियों और घटनाओं के परिणाम-स्वरूप जो परिस्थिति उत्पन्न हो गयी है उससे विश्वास होता है कि गवर्नरों के लिए विशेषाधिकारों का प्रयोग आसान न होगा। कमेटी ने विधान-सभाओं के कांग्रेसी सदस्यों और साधारण कांग्रेसजनों की रायों पर भी विचार किया है। इसलिए कमेटी इस परिणाम पर पहुँची है कि कांग्रेसवादियों को, जहाँ वे मंत्रि-पद ग्रहण के लिए आमंत्रित किये जायँ, मंत्रि-पद स्वीकार करने की अनुमति दे दी जाय। परंतु वह इस बात को स्पष्ट कर देना चाहती है कि मंत्रि-पद की स्वीकृति और उसका प्रयोग कांग्रेस की चुनाव-विज्ञप्ति में बताये गये कार्यक्रम के अनुसार कार्य करने और नये संविधान (सन् १९३५ का) से लड़ने की कांग्रेस-नीति को हर संभव उपाय से अग्रसर करने और रचनात्मक कार्य-क्रम को पूरा करने के लिए होगा।"

कांग्रेस कार्य-समिति के उपर्युक्त प्रस्ताव के पश्चात् प्रांतीय गवर्नरों ने कांग्रेसी नेताओं को मंत्रिमंडल निर्मित करने के लिए आमंत्रित किया और उन्होंने उस कार्य के संपादन का भार अपने ऊपर लिया। अंतःकालीन मंत्रि-मंडल त्यागपत्र देकर शासन-भार से अलग हो गये और उनके स्थान पर कांग्रेसी मंत्रिमंडलों का शासन आरंभ हुआ।

मंत्रि-पद ग्रहण करने के कारण—हम ऊपर लिख चुके हैं कि मंत्रि-पद ग्रहण करने के विषय में कांग्रेसवादियों में मतभेद था। कार्यसमिति में उपर्युक्त प्रस्ताव के पास होने पर भी यह मतभेद पूर्ववत् बना रहा। समाज-वादियों ने अपने को मंत्रिमंडलों से बिल्कुल अलग रखा। जिन लोगों ने मंत्रि-पद ग्रहण किया उनकी मनोवृत्ति में भी विशेष परिवर्तन न हुआ था। वे अब भी १९३५ के संविधान को अपर्याप्त और निराशासूचक समझते थे और उन्हें इस बात की लेशमात्र भी आशा न थी कि उसको कार्यान्वित करके वे प्रांतों की स्थिति में मनचाहे परिवर्तन और सुधार कर सकेंगे। फिर भी निम्नलिखित

तीन कारणों से कांग्रेसवादियों ने सात प्रांतों में मंत्रि-पद को ग्रहण किया—

(अ) यदि कांग्रेसवादी अपने मंत्रिमंडल न बनाते, तो या तो अंतःकालीन मंत्रिमंडलों का शासन बना रहता या संविधान स्थगित कर दिया जाता। दोनों हालतों में राष्ट्रीय विकास और राष्ट्रीय शक्ति की वृद्धि की उतनी आशा न थी जितनी उस हालत में, जब कि कांग्रेसी मंत्रिमंडल विधानांतर्गत की गयी कार्रवाई से जनता के उभारने की कोशिश करते।

(ब) चार महीने के संवैधानिक वातावरण से यह स्पष्ट हो गया था कि राष्ट्रीय विचारों के अनुशासित मंत्रिमंडल, प्रांतीय शासन की कुछ भूत-कालीन बुराइयों को दूर कर सकेंगे और कुछ हद तक जानता की आर्थिक स्थिति को सुधार सकेंगे।

(स) कांग्रेस को यह प्रतीत होता था कि यदि वे व्यक्ति, जो कुछ दिनों पूर्व नौकरशाही के शिकार थे और पुलिस के डंडे खाते थे, प्रांतीय शासन का संचालन करेंगे तो जनता के हृदय से नौकरशाही का डर निकल जायगा और वह अधिक ऐक्य और आत्म-सम्मान से प्रेरित होकर नौकरशाही का मुकाबला कर सकेगी।

इन शुभाकांक्षाओं से प्रेरित होकर कांग्रेस ने सात प्रांतों का शासनसूत्र अपने हाथ में लिया। कुछ दिनों तक शांतिपूर्वक कामकाज चलता रहा। पर यह आशा कि प्रांतीय गवर्नर और कांग्रेसी मंत्रिमंडल हमेशा पूर्ण सहयोग से काम कर सकेंगे, निर्मूल सिद्ध हुई। कुछ ही दिनों में, परस्पर मतभेद के कारण, संवैधानिक गुत्थियाँ आ उपस्थित हुईं, जिनके कारण कई बार त्यागपत्र देने या त्यागपत्र देने की तैयारी करने की नौबत आयी। अंत में कांग्रेसी मंत्रिमंडल त्यागपत्र देकर शासन-भार से अलग हो गये।

कांग्रेस की चुनाव-घोषणा—इसके पूर्व कि सन् १९३५ के संविधान के कार्यान्वित रूप पर प्रकाश डाला जाय, कांग्रेस की चुनाव-घोषणा पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है। आरंभ ही से कांग्रेस सन् १९३५ के संविधान की विरोधिनी थी। अतएव विधान-मंडलों में जाकर भी वह उसके साथ सहयोग करने के पक्ष में न थी। संविधान का अंत ही उसका लक्ष्य था। कांग्रेस की इच्छा थी कि "कौंसिलों के भीतर की कार्रवाई ऐसी हो जिससे कांग्रेस के बाहरी कामों में सहायता मिल सके, जनता की शक्ति बढ़े और उन सभी उपायों को प्रोत्साहन मिले जो स्वराज्य-प्राप्ति के लिए आवश्यक हैं।"

कांग्रेसवादी कौंसिलों में ऐसे विधेयकों का विरोध करने को थ जा "भारतीय हित के विनाशक हैं। वे भारत की स्वतंत्रता की लहर को कुचलने वाली सभी दमनकारी विधियों और अध्यादेशों के रद करने के सभी उपाय करेंगे। वे नागरिक स्वतंत्रता की स्थापना के लिए राजनीतिक कैदियों तथा नज़रबंदियों की रिहाई के लिए और राष्ट्रीय युद्ध के समय सताये गये किसानों और अन्य लोगों को मुआविजा दिलाने के लिए पूरी कोशिश करेंगे।" देश की ग़रीबी, बेकारी और किसानों के कर्ज की समस्या के विषय में कांग्रेस का यह विश्वास था कि इन सबकी जड़ लगान और मालगुज़ारी का दक़ियानूसी एवं घातक तरीक़ा था। अतएव उसका ध्येय "बंदोबस्त, लगान तथा मालगुज़ारी के मौजूदा नियमों में संशोधन कराना है, छोटे-छोटे किसानों के मौजूदा लगान व मालगुज़ारी में काफ़ी कमी कराना है, ऐसी जमीनों का लगान बिल्कुल माफ़ कराना है जिनसे किसानों को कोई फ़ायदा नहीं है तथा काश्तकारी की ज़मीन के बोझ को उचित ढंग से कम कराना है।" कांग्रेस किसानों के क़र्ज़-अदायगी को मुल्तवी करने और ऐसी विधियों के बनाने के पक्ष में थी जिनके द्वारा सरकार से सस्ती दर से क़र्ज़ मिल सके। मज़दूरों के लिए कांग्रेस गुज़रबसर का उचित प्रबंध करना चाहती थी और यह चाहती थी कि "उनके काम करने के घंटे और काम करने के नियम, भारत की आर्थिक अवस्था पर ध्यान रखते हुए, अंतर्राष्ट्रीय ढग पर हों।" वह स्त्रियों और पुरुषों की असमानता, चाहे वह क़ानूनी हो या सामाजिक, दूर करने के पक्ष में थी, खादी-प्रचार तथा ग्रामीण उद्योग-धंधों को प्रोत्साहित करना चाहती थी और सांप्रदायिक निर्णय का तीव्र विरोध करते हुए यह विश्वास करती थी कि इस प्रश्न का संतोषजनक निर्णय मुख्य मुख्य जातियों की सद्भावना तथा सहयोग से ही हो सकता था। अतएव कांग्रेस का निर्णय था कि "सांप्रदायिक निर्णय से पैदा हुई परिस्थिति का मुक़ाबला करने के लिए हमको अपनी आजादी की लड़ाई को और भी प्रभावशाली बनाना चाहिये।" साथ ही साथ हमें विभिन्न जातियों में परस्पर समझौते की कोशिश करनी चाहिये जिससे भारतीय एकता की नींव सुदृढ़ हो। संविधान के अंत के लक्ष्य को सामने रख कर, कांग्रेस का यह निश्चय था कि संघ-शासन वाली योजना काम में न लायी जा सके।

संवैधानिक संकट—जुलाई सन् १९३७ से १९३९ तक के दो बरसों में, प्रांतीय-शासन-संचालन में संवैधानिक गुत्थियों के कारण कई बार राजनीतिक स्थिति ने संदिग्धमय रूप धारण किया, किंतु परस्पर दूरदर्शिता और

समझौते की भावना के कारण स्थिति बिगड़ने के पूर्व ही, संवैधानिक गुत्थियाँ संतोषपूर्वक सुलझा ली गयीं। इन गुत्थियों में से निम्नलिखित ध्यान देने योग्य हैं—

(अ) बिहार और संयुक्त-प्रांत के मंत्रिमंडलों का त्यागपत्र—आरंभ से ही कांग्रेस, राजनीतिक वंदियों की रिहाई का कार्य-क्रम अपना चुकी थी। शासन की बागडोर को हाथ में लेने के कुछ ही दिनों बाद इस विषय में गवर्नर और प्रांतीय मंत्रिमंडलों में मतभेद हुआ जिसके कारण १५ फरवरी, सन् १९३८ को बिहार और संयुक्त-प्रांत के मंत्रि-मंडलों ने अपना त्यागपत्र दे दिया। इस विषय में बिहार के मुख्य मंत्री ने यह वक्तव्य निकाला—''मैं राजनीतिक वंदियों के छोड़ने के प्रश्न पर बहुत गंभीरता से विचार रहा हूँ। मैंने कई बार गवर्नर से इस संबंध में परामर्श किया पर इसका कोई परिणाम होता हुआ न देख कर मैंने इन वंदियों की रिहाई की आज्ञा दे दी। भारतीय संविधान की धारा १२६ (५) के अनुसार गवर्नर-जनरल से आदेश पाकर, गवर्नर ने मेरी आज्ञा को कार्यान्वित होने देने में अपनी असमर्थता प्रकट की। ऐसी अवस्था में मेरे लिए पदत्याग करने के सिवा कोई दूसरा उपाय ही न रह गया।'' संयुक्त-प्रांत के मुख्य मंत्री ने अपने त्यागपत्र के साथ गवर्नर को निम्नलिखित आशय का पत्र लिखा—''आपने (गवर्नर ने) मुझे और मेरे साथियों को यह लिखा है कि भारतीय-संविधान की धारा १२६ (५) के अनुसार गवर्नर-जनरल के आज्ञानुसार आपने राजनीतिक वंदियों की रिहाई की हमारी मंत्रणा अस्वीकार कर दी है। राजनीतिक वंदियों की रिहाई हमारा कर्तव्य है। अब हमारे सामने केवल यही एक मार्ग है कि हम त्यागपत्र दे दें। अतएव हम त्यागपत्र देते हैं।'' प्रांतीय गवर्नरों ने भी अपनी स्थिति को स्पष्ट करने के लिए अपने वक्तव्य निकाले। संयुक्त-प्रांत के गवर्नर के सेक्रेटरी ने अपने वक्तव्य में कहा कि ''संयुक्त-प्रांत के मंत्रिमंडल ने १५ राजनीतिक वंदियों की रिहाई के संबंध में गवर्नर से बातचीत की थी। एक के सिवा इनमें से सब हिंसात्मक कामों के कारण सज़ा पाये हुए थे। मंत्रिमंडल ने यह आशा प्रकट की कि उनकी रिहाई से हिंसा का प्रचार न होगा। गवर्नर ने उनके व्यक्तिगत मामलों पर विचार करना स्वीकार भी कर लिया, पर मंत्रियों ने उनकी तुरंत रिहाई पर जोर दिया। इस पर गवर्नर ने यह मामला वाइसराय के पास भेजा। वाइसराय ने भारतीय-संविधान की धारा १२६ (५) के अनुसार इन क़ैदियों को छोड़ने से इनकार कर दिया। मंत्रियों को इसकी सूचना देने पर उन्होंने अपने त्यागपत्र

दे दिये।" बिहार के गवर्नर का वक्तव्य भी इसी आशय का था।[1]

त्यागपत्र देने के पश्चात् कांग्रेसी मंत्री हरिपुरा की ओर रवाना हुए। देश के राजनीतिक आकाश में पुनः काले बादल मँडराने लगे। अनेक नेताओं और विद्वानों ने इस संकट के विषय में अपने विचार प्रगट किये। गांधीजी का ख्याल था कि "चंद क़ैदियों की रिहाई से, चाहे उन्हें हिंसात्मक अपराधों के लिए ही सज़ा क्यों न दी गयी हो, शांति और व्यवस्था को ख़तरा नहीं हो सकता।" अतएव संवैधानिक संकट के अवांछनीय दुष्परिणामों की ओर संकेत करते हुए उन्होंने गवर्नर-जनरल से अपने किये गये पर फिर से विचार करने की प्रार्थना की। हरिपुरा कांग्रेस ने भी इस विषय में बड़ी सावधानी से काम किया। आंदोलन, सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा अथवा लड़ाई आदि से गूँजे हुए वायुमंडल का पुनः शांति की ओर अग्रसर करके हरिपुरा कांग्रेस ने शेष पाँच सूबों के इस्तीफ़े रोक दिये और गवर्नर-जनरल को फिर से अपने निश्चय पर विचार करने का निमंत्रण दिया। आख़िर में वाइसराय ने पुनः एक वक्तव्य प्रकाशित किया। उसका भावार्थ निम्नलिखित है—

"गवर्नर ख़ुशी से हरेक बंदी के व्यक्तिगत मामले पर ग़ौर करने के लिए तैयार हैं। कांग्रेसी प्रांतों में व्यक्तिगत रिहाई का सिद्धांत कई महीनों से स्थिर किया जा चुका है। मंत्री व्यक्तिगत जाँच के सिद्धांत से सहमत नहीं हो सके। अंत में अपनी ज़िम्मेदारियों का ख्याल रखते हुए गवर्नरों ने राजनीतिक बंदियों की रिहाई संबंधी बात को आदेश के लिए मेरे पास भेज दिया। गवर्नर अब भी इस बात के लिए तैयार हैं कि रिहाई के मसले पर व्यक्तिगत रूप से विचार किया जाय और जिनसे, उनके तथा अन्य प्रांतों को कोई ख़तरा न हो, वे बंदी छोड़ दिये जायँ। न तो गवर्नर-जनरल और न गवर्नर यह चाहते हैं

---

१. इस संकट की आलोचना करते हुए कुछ लोगों का मत था कि कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों ने अति व्यग्रता से काम किया था। वास्तविकता इस से भिन्न थी। वे राजनीतिक बंदियों की रिहाई का वचन दे चुके थे। हरिपुरा कांग्रेस में उनसे इस संबंध के स्पष्ट प्रश्न पूछे जाते। साथ ही उन्होंने जेल में जाकर प्रत्येक बंदी की अलग अलग जाँच कर ली थी। अतः जाँच संबंधी दलील व्यर्थ थी। चंद राजनीतिक बंदियों के छोड़े जाने के कारण ब्रिटिश सम्राज्य का समाप्त हो जाना असंभव था। पर गवर्नर अब भी अपने को शांति और व्यवस्था की रक्षा के लिए उत्तरदायी समझते थे। उनकी इस मनोवृत्ति के कारण संवैधानिक संकट हुआ था, कांग्रेस की व्यग्रता के कारण नहीं।

कि मंत्रियों की ज़िम्मेदारी पर हमला किया जाय। मैं इस बात पर ज़ोर देना चाहता हूँ कि मैंने जो कारवाई की है वह इस भावना से प्रेरित होकर नहीं की है कि कांग्रेसी मंत्रियों की स्थिति को कमज़ोर बनाया जाय। मेरी यह हार्दिक अभिलाषा है कि इन दोनों प्रांतों की स्थिति शीघ्र ही अपनी पूर्व व्यवस्था को प्राप्त कर लेगी और मंत्री लोग गवर्नरों से बातचीत करके अपने काम को फिर से सँभालने में समर्थ होंगे।"

वाइसराय के वक्तव्य के जवाब में गांधीजी ने इस बात पर संतोष प्रकट किया कि वाइसराय ने समझौते का दरवाज़ा खुला रखा है। क़ैदियों की रिहाई के पहले उनके मामलों की जाँच करने से किसी को इनकार नहीं है। लेकिन यह जाँच गवर्नर को नहीं, मंत्रियों को करनी चाहिये। यदि गवर्नर मंत्रियों को यह आश्वासन दे दें कि वे मंत्रियों के इस अधिकार का अपहरण नहीं करेंगे तो समझौते का रास्ता निकल सकता है। वाइसराय और गांधीजी के वक्तव्यों के आधार पर संयुक्त-प्रांत के गवर्नर और मुख्य मंत्री में विचार-विनिमय हुआ और दोनों ने अपने संयुक्त वक्तव्य में निम्नलिखित समझौते की घोषणा की—"वे राजनीतिक बंदी जिनके मामलों की जाँच हो चुकी है, मंत्रियों की मंत्रणा के अनुसार शीघ्र ही रिहा किये जा रहे हैं। बाकी राजनीतिक बंदियों के मामलों की जाँच मंत्री करेंगे और मुनासिब हुक्म जारी करेंगे।" वक्तव्य में यह भी बतलाया गया कि गवर्नरों का इरादा मंत्रियों के संवैधानिक कामों में हरगिज़ अड़ंगा लगाने का नहीं है। बिहार में भी इसी प्रकार की घोषणा की गयी। इस प्रकार संवैधानिक संकट का अंत हुआ। राजनीतिक वायुमंडल में पुनः शांति की स्थापना हुई। लड़ाई और आंदोलन की बातचीत बंद हुई और कांग्रेसी मंत्रिमंडल पुनः अपने रचनात्मक कार्य-क्षेत्र में उत्साह से अग्रसर हुए।

(ब) उड़ीसा का संवैधानिक संकट—संयुक्त-प्रांत और बिहार के संवैधानिक संकट के लगभग तीन महीने पश्चात् उड़ीसा में संवैधानिक संकट आ उपस्थित हुआ। उड़ीसा के गवर्नर सर जॉन हबक छुट्टी पर जाने को थे। उनकी छुट्टी मंज़ूर हो गयी थी और उनके स्थान पर, भारतीय सिविल सर्विस के एक अनुभवी सदस्य मिस्टर डेन, जो उड़ीसा-सरकार के मातहत थे, स्थानापन्न गवर्नर नियुक्त किये गये थे। उड़ीसा के मंत्रिमंडल को यह नियुक्ति नापसंद थी। उसके विचार में एक ऐसे पदाधिकारी को, जो मंत्रिमंडल के मातहत काम करता हो, उसी मंत्रिमंडल का सिरताज बनाना अनुचित था। अतएव उड़ीसा के मंत्रिमंडल ने, कांग्रेस पार्लमेंटरी बोर्ड की अनुमति से, यह घोषित

किया कि यदि मिस्टर डेन, स्थानापन्न गवर्नर का काम करेंगे तो मंत्रिमंडल को त्यागपत्र देने के सिवा कोई दूसरा मार्ग न रह जायगा। देश के राजनीतिक वायुमंडल में पुनः काले बादल मँडराने लगे। कांग्रेसी प्रांतों के मंत्रिमंडलों के इस्तीफ़े की बातचीत होने लगी। प्रांतीय स्वराज्य की निःसारता की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया जाने लगा और भारतीय नेताओं के संबंधित वक्तव्यों से समाचार-पत्रों में कुछ दिन फिर चहल-पहल रही। इस विषय में गांधीजी के विचार निम्नलिखित थे—

"………जो कुछ भी कष्टकर बात है वह सिर्फ़ इसी में है कि एक मातहत अफ़सर अपने प्रांत का स्थानापन्न गवर्नर बन जाय और उसके साथ मंत्री काम करें, रोज़मर्रा अपने काग़ज़ों को पेश करें और उसकी अध्यक्षता में अपनी बैठक करें। यह बात असंगत और अशोभनीय है। इससे प्रांतीय स्वराज्य मखौला हो जाता है।………अधिपति सत्ता को पहले की तरह कोई कारवाई नहीं करनी चाहिये। उसके हरेक काम को नियम और प्रथा के अनुसार होना चाहिये। उसे भारत-मंत्री या गवर्नर-जनरल की सनक पर निर्भर नहीं रहना चाहिये।……मुझे उम्मेद है कि यह भूल अति विलंब होने से पहले सुधार ली जायगी। इसे सुंदरता के साथ सही करने के कई तरीक़े हैं, किंतु कोई भी सुंदर तरीक़ा ढूँढ़ निकालने के पहले इस तरह की इच्छा का होना आवश्यक है। मुझे उम्मेद है कि यह ग़लती सुधार ली जायगी।"

हुआ भी ऐसा ही, पर छुट्टी शुरू होने के एक दिन पहले, अर्थात् ४ मई, सन् १६३८ तक, देश की राजनीतिक स्थिति डाँवाडोल रही। ४ मई को गवर्नर-जनरल और भारत-मंत्री के परामर्श से सर जॉन हबक ने अपनी छुट्टी मंसूख करवा ली। इस विषय में उनके सेक्रेटरी ने निम्नलिखित विज्ञप्ति प्रकाशित की—

"राजनीतिक परिस्थिति की अस्थिरता को ध्यान में रखते हुए, जो कि गवर्नर के प्रस्थान करने के बाद उनके उत्तराधिकारी पर पड़ती, उड़ीसा के गवर्नर, अपने पूर्व निश्चित कार्य-क्रम को अमल में लाना उचित नहीं समझते। उनका ख्याल है कि प्रांत के हित को ध्यान में रखते हुए, सिवा इसके उनके पास कोई दूसरा मार्ग नहीं है, कि वे अपनी स्वीकृत छुट्टी को मंसूख करवा दें। भारतमंत्री ने गवर्नर-जनरल से परामर्श करके उनकी यह प्रार्थना स्वीकार कर ली है।"

गवर्नर की इस दूरदर्शिता के कारण उड़ीसा का संवैधानिक संकट टल गया।

देशमें पुनः शांतिकी स्थापना हुई और संकट टल जाने के कारण सभी क्षेत्रों में संतोष और प्रसन्नता प्रगट की गयी।

(स) मध्य-प्रांत का संवैधानिक संकट—उड़ीसा के संवैधानिक संकट के लगभग दो महीने पश्चात् मध्य-प्रांत में संवैधानिक संकट की बारी आयी। यह संकट उपर्युक्त दोनों संकटों से भिन्न था। अन्य प्रांतों के संवैधानिक संकटों का कारण या तो अनावश्यक सरकारी हस्तक्षेप था या कांग्रेसी मंत्रिमंडलों की प्रतिष्ठा की रक्षा। परंतु मध्य-प्रांत के संकट का कारण मंत्रिमंडल के मंत्रियों का परस्पर झगड़ा था। बहुत दिनों से यह प्रश्न देश के सामने था। मंत्रियों पर यह दोषारोपण किया जाता था कि वे कांग्रेस के ऊँचे आदर्शों के अनुसार न चल कर व्यक्तिगत तथा सांप्रदायिक पक्षपात से प्रभावित हो रहे थे। धीरे धीरे मंत्रियों का मतभेद बढ़ता गया और अंत में ऐसी नौबत आयी जिसका कोई अनुमान तक न कर सकता था। मध्य-प्रांत के मुख्य मंत्री डा० खरे और दो अन्य मंत्रियों ने अपने इस्तीफ़े दे दिये। शेष तीन मंत्रियों ने इस्तीफ़ा देने से इनकार कर दिया। इस पर गवर्नर ने अपने विशेषाधिकारों का उपयोग करके उनको बरख़ास्त कर दिया। तत्पश्चात् डा० खरे पुनः मुख्य मंत्री नियुक्त हुए और उन्होंने अपना नया मंत्रिमंडल बनाया। अनचाहे मंत्रियों के निकालने का यह अनोखा तरीक़ा था। गवर्नर के विशेषाधिकारों का उपयोग, विशेषतया जिस तरीक़े से वह इस अवसर पर किया गया था, कांग्रेस की प्रतिष्ठा एवं मर्यादा के विरुद्ध था। डाक्टर खरे के काम करने का ढंग भी अनुचित और व्यग्रता से भरा हुआ था, विशेष कर इसलिए कि कांग्रेस कार्य-समिति का अधिवेशन कुछ ही दिनों के बाद होने को था। राजनीतिक वायुमंडल में पुनः बिजली दौड़ गयी। डा० खरे और मध्य-प्रांत के गवर्नर के काम करने के ढंग पर टिप्पणियाँ होने लगीं और नेताओं ने पुनः अपने वक्तव्य निकाले। २३ जुलाई, सन् १९३८ से २७ जुलाई तक वर्धा में कार्य-समिति की बैठक हुई। मध्य-प्रांत के संवैधानिक संकट के विषय में वह इस नतीजे पर पहुँची कि डा० खरे ने कई बार बेसमझी की भारी भूल की थी। जिसके कारण मध्य-प्रांत में कांग्रेस हास्यास्पद हुई थी और उसकी शान घटी थी। चेतावनी देने पर भी वे अपनी जल्दबाज़ी से बाज़ न आये थे। इसलिए वे अनुशासन-भंग के दोषी थे। कार्य-समिति की राय में मध्य-प्रांत के गवर्नर ने अपनी भद्दी जल्दबाज़ी से, जिसके द्वारा उन्होंने रात को दिन बना दिया, यह साबित किया था कि वे अपनी शक्ति भर कांग्रेस को कमज़ोर और बदनाम करने को उत्सुक थे। अतएव कार्य-समिति

ने डा० खरेको यह आज्ञा दी कि अपने जिम्मेदार पद के योग्य न होने के कारण वह दुबारा इस्तीफ़ा दें। डा० खरे ने समिति द्वारा लगाये गये आरोपों को अस्वीकार करते हुए कहा कि उन्होंने जो कुछ किया था स्थिति के अनुकूल और उचित किया था। उनका विचार कांग्रेस के विरुद्ध कार्रवाई करने का कदापि नहीं था। इस्तीफ़े के बारे में उन्होंने कहा कि उन्हें कार्य-समिति की आज्ञा सर्वथा मान्य थी। अतएव उन्होंने अपना इस्तीफ़ा गवर्नर के पास भेज दिया। तत्पश्चात् कार्य-समिति के आज्ञानुसार मध्य-प्रांत की कांग्रेस पार्टी के नेता का चुनाव हुआ। श्री रविशंकरजी शुक्ल, जो पुराने मंत्रिमंडल के सदस्य थे और जिनको विशेषाधिकार का उपयोग करके गवर्नर ने मंत्रिपद से निकाला था, कांग्रेस पार्टी के नेता चुने गये और गवर्नर से आमंत्रित होकर उन्होंने अपना मंत्रिमंडल बनाया।

मध्य-प्रांत के संवैधानिक संकट की वजह से कुछ लोग कांग्रेस की नीति की कड़ी आलोचना करने लगे। उनके विचार में कांग्रेस क्रमशः फासिस्टवादी होती जाती थी। परंतु वास्तव में परिस्थिति ऐसी न थी। अनुशासन की दृष्टि से कार्य-समिति ने जो कुछ किया वह ठीक था। गांधी जी के कथनानुसार "फासिज़्म तो नंगी तलवार है। उसके नीचे तो डाक्टर खरे का सिर धड़ से अलग हो जाना चाहिये। आंतरिक विकास और शासन के लिए कांग्रेस एक लोकतंत्रात्मक संस्था है किंतु साम्राज्यवादी संस्था से लड़ने की वजह से उसे बतौर सेना के काम करना पड़ता है।" ऐसी अवस्था में यदि कार्य-समिति डा० खरे के कार्य की निंदा करके उनके खिलाफ़ अनुशासन-संबंधी कार्रवाई न करती, तो कांग्रेस की प्रतिष्ठा और देश की मर्यादा की दृष्टि से एक भारी भूल होती।

(द) राजकोट और संवैधानिक संकट की आशंका—अभी आठ महीने भी न हो पाये थे कि संवैधानिक संकट की आशंका से देश में पुनः काले बादल मँडराने लगे। इस बार का संवैधानिक संकट एक भारतीय रियासत की वजह से था जिसके कारण गांधीजी ने आमरण अनशन आरंभ किया था। राजकोट में संवैधानिक सुधार की बातें बहुत दिनों से चल रही थीं। ठाकुर साहब और सरदार पटेल में इस विषय में समझौता भी हो चुका था, परंतु समझौते की शर्तों के पालन न होने की शिकायतों की वजह से राजकोट में सत्याग्रह आरंभ हुआ। गांधी जी ने सत्याग्रह को स्थगित करवा दिया और लड़ाई का सारा भार अपने ऊपर लिया। कुछ जाँच-पड़ताल करने के बाद उन्होंने ठाकुर

साहब के पास कुछ शर्तों के स्वीकार करने के लिए एक अल्टीमेटम भेजा और उसमें यह स्पष्ट कर दिया कि यदि वे शर्तें स्वीकार न की जायँगी तो वे निर्धारित दिन से आमरण अनशन आरंभ कर देंगे। ठाकुर साहब ने गांधीजी की शर्तों को स्वीकार करने में अपनी असमर्थता प्रकट की। अतएव गांधीजी का आमरण अनशन आरंभ हुआ। देश का कोना कोना इस कठोर तपस्या की खबर से विह्वल हो उठा। लाखों आदमियों ने गांधीजी की सफलता के लिए ईश्वर से प्रार्थना की। अगणित मनुष्यों ने अनशन आरंभ के दिन स्वयं भोजन नहीं किया। कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने इस परिस्थिति के अंत के लिए वाइसराय से प्रार्थना की और यह स्पष्ट कर दिया कि यदि वाइसराय शीघ्र ही इस मसले को न सुलझा सकेंगे, तो वे अपना इस्तीफा भेजने के लिए मजबूर होंगे। संवैधानिक संकट पुनः निकट दृष्टिगोचर होने लगा। वाइसराय शीघ्र ही दिल्ली वापस आये। दिन भर दिल्ली, राजकोट, लंदन और वाइसराय में तार द्वारा बातचीत होती रही। अंत में वाइसराय के हस्तक्षेप और आश्वासन से संतुष्ट होकर, चार दिन के बाद गांधीजी ने अपना आमरण अनशन समाप्त किया। देश की भयंकर चिंता दूर हुई। गांधीजी के आत्मबल की विजय हुई। संवैधानिक संकट की आशंका मिटी और १५ और १६ मार्च सन् १९३९ को वाइसराय और गांधीजी की महत्वपूर्ण मुलाक़ात हुई जिसमें रियासतों से संबंध रखनेवाली अनेक समस्याएँ हल की गयीं।

उपर्युक्त संवैधानिक संकटों के अतिरिक्त प्रांतीय स्वराज्य के दो बरसों में कई बार और संवैधानिक संकटों की बातचीत हुई। उन सबका वर्णन लिखना यहाँ पर संभव नहीं। परंतु जिन संकटों का विवरण ऊपर दिया गया है उनके आधार पर हम निम्नलिखित निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—कांग्रेस मर्यादापूर्वक शासन करना चाहती थी। वह उत्तरदायी शासन संबंधी उन प्रथाओं को स्थापित करना चाहती थी जो ग्रेट ब्रिटेन और डोमीनियनों में प्रचलित थीं। किंतु ब्रिटिश सरकार की भारतीय मनोवृत्ति में वह परिवर्तन नहीं हुआ था, जो डोमीनियनों के संबंध में हो गया था। अतएव अपनी प्रतिष्ठा और राष्ट्रीय आत्म-सम्मान की रक्षा के लिए कांग्रेस को आवश्यकता पड़ने पर संवैधानिक संकटों का सहारा लेना पड़ा। सौभाग्य से दोनों पार्टियाँ समझौते के दरवाजे को खुला रखती थीं जिसकी वजह से स्थिति बिगड़ने के पूर्व ही संवैधानिक संकट मिट जाता था।

कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों के काम—जिस चुनाव-घोषणा को कार्य-रूप में परिणत करने के लिए कांग्रेस ने चुनाव में भाग लिया था और तत्पश्चात्

अपने मंत्रिमंडल बनाये थे, क्या लगभग ढाई बरस तक सात प्रांतों में शासन करने के पश्चात् वे उसे कार्यान्वित करने में सफल हुए थे ?

इस प्रश्न का एक शब्द में उत्तर देना सरल नहीं। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि विभिन्न प्रांतों के कांग्रेसी मंत्रिमंडल अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी अपने काम में लगे रहे थे और कांग्रेस की चुनाव-घोषणा को सार्थक बनाने की कोशिश कर रहे थे। संघ-राज्य की स्थापना न हो सकी थी। संवैधानिक संकटों के सहारे कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने संविधान के प्रांतीय अंश के कानूनी रूप को व्यवहार में इस प्रकार बदल दिया था कि उसका अर्थ बिल्कुल ही भिन्न हो गया था। अतएव वे संविधान के विध्वंश में पूर्ण-तया सफल हुए थे।

कांग्रेसी मंत्रियों ने चुनाव-घोषणा की अन्य बातों को भी कार्य-रूप में परिणत किया था। राजनीतिक बंदी छोड़ दिये गये थे। गांधीजी के प्रयत्नों के कारण बंगाल के भी अधिकांश राजनीतिक मुकदमे उठा लिये गये थे। अखबारों से ज़मानतें माँगने वाली नोटिसें मंसूख कर दी गयी थीं और कुछ की ज़ब्त जमानतें लौटा दी गयीं थीं। राजनीतिक कार्यकर्ता कांग्रेसी प्रांतों में स्वतं-त्रता से राजनीतिक और सामाजिक काम करते रहे थे और जिन संस्थाओं को पहले ग़ैर-क़ानूनी घोषित किया गया था, वे भी पुनर्जीवित होकर अपने-अपने कामों में लग गयीं थीं। राजनीतिक चित्रपटों से प्रतिबंध हटा लिये गये थे और बहुत सी ज़ब्त किताबें फिर से छपने और बिकने लगी थीं। इन कामों को देखते हुए, किसी निष्पक्ष मनुष्य को यह कहने में लेशमात्र भी संकोच नहीं हो सकता कि कांग्रेसी मंत्रिमंडल नागरिक स्वतंत्रता के कार्यक्रम को कार्यान्वित करने में बहुत कुछ सफल हुए थे।

कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने किसानों और मज़दूरों की भलाई के कई काम किये थे। ऋण के बोझ से दबे हुए किसानों की रक्षा के लिए पुराने ऋण कम कर दिये गये थे। कहीं-कहीं पर, जैसे मद्रास, पुराने ऋण समाप्त कर दिये गये थे। नये ऋणों के लिए ब्याज की दर निर्धारित कर दी गयी थी। मालगुज़ारी और लगान में कमी करने की कोशिश की गयी थी। विभिन्न प्रांतों में हक़ आराज़ी विधेयक (Tenancy Bills) पास हुए थे और क़र्ज अदायगी के नीलाम रोक दिये गये थे। ग्राम-सुधार के लिए कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने यथाशक्ति कोशिश की थी। नये औषधालय और अस्पताल खोले गये थे। खेती की उन्नति के उपाय कार्य-रूप में परिणत किये गये थे और देहातियों के

मनबहलाव एवं शिक्षा के लिए वायरलेस का प्रबंध किया गया था। इन कामों से यह विदित होता है कि कांग्रेसी मंत्रिमंडल किसानों की दशा से भली भाँति परिचित थे और चुनाव-घोषणा के अनुसार उसे सुधारने की कोशिश कर रहे थे।

पर मज़दूरों के विषय में, कुछ लोगों का कहना था, कि कांग्रेस-सरकार उस सहानुभूति से काम नहीं कर रही थी जिसकी उससे आशा थी। कई स्थानों पर, मज़दूर-हड़ताल आदि के कारण मजदूरों पर शांति और सुव्यवस्था के नाम पर गोली चलायी गयी थी। अतएव समाजवादी और साम्यवादी कांग्रेस से कुछ असंतुष्ट से रहने लगे थे। पर विचारपूर्वक देखने से यह विदित होता है कि इस विषय में भी कांग्रेसी मंत्रिमंडल चुपचाप न थे। संयुक्त-प्रांत में मील-मालिकों और मज़दूरों के झगड़ों को निबटाने के लिए एक लेबर कमिश्नर नियुक्त हुआ था। बंबई की एक विधि के अनुसार, मील-मालिक और मज़दूर, उचित समय की नोटिस दिये बिना, न तो कोई नियम बदल सकते थे और न हड़ताल कर सकते थे। इस विधि के कारण मील-मालिकों पर एक भारी प्रतिबंध लगा दिया गया था और उन मज़दूरों-नेताओं का भी नियंत्रण हो गया था जो व्यर्थ ही मज़दूरों को उकसा कर हड़-तालें करा देते थे। इसमें संदेह नहीं कि इन विधियों के कारण मज़दूरों की आये दिन हड़ताल करने की स्वतंत्रता छिन गयी थी। पर स्वतंत्रता की भी कुछ सीमाएँ होती हैं। उनके बिना नागरिक स्वतंत्रता कदापि उपयोगी नहीं हो सकती।

इन कामों के अतिरिक्त कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने और भी अनेक उपयोगी काम किये थे। संयुक्त-प्रांत में घूसबंदी का नया विभाग खुला था। कांग्रेस-सरकार के पहले, कुछ सरकारी विभागों में, खुल्लमखुल्ला घूस ली जाती थी। कांग्रेसी-सरकार ने इसके बंद करने का प्रयत्न किया था। शिक्षा-प्रचार और स्थानीय स्वशासन की बाबत कई कमेटियाँ नियुक्त हुईं थी। मद्य-निषेध की कोशिश की गयी थी और इस कारण घटी हुई आय की पूर्ति के लिए थिएटर, सिनेमा, खेल और घुड़-दौड़ के टिकटों पर सरकारी टैक्स लगाया था और कोर्ट-फ़ीस बढ़ा दी गयी थी।

कांग्रेसी मंत्रिमंडलों द्वारा किये गये उपर्युक्त काम भारतीय समस्याओं और कांग्रेस के पूर्व वादों को देखते हुए पर्याप्त तो न थे पर वास्तव में वे इतने महत्वपूर्ण और उपयोगी थे और इतने अल्प समय में किये गये थे, कि उनको

यथेष्ट कहना अनुचित नहीं प्रतीत होता[1]। यदि कांग्रेसी मंत्रिमंडल इसी त्याग और परिश्रम से काम करते हुए, अपने पद पर कुछ वर्षों तक टिक जाते तो संभव था कि सरकारी अफ़सरों का रवैया बिल्कुल बदल जाता और जनता के उभारने के अनेक काम किये जाते। किंतु ऐसा न हो सका। नये युरोपीय महा-युद्ध के कारण सरकार और कांग्रेस में पुनः मतभेद हुआ, जिसके कारण कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने इस्तीफ़ा दे दिया।

कांग्रेसी मंत्रिमंडलों की कठिनाइयाँ—कांग्रेसी मंत्रिमंडल अपने कामों में विघ्नरहित न थे। उन्हें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। उनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

(अ) उदार वादे और कम समय—कांग्रेसवादियों ने पद-ग्रहण के पूर्व, विरोधी दल की हैसियत से सैकड़ों वादे किये थे। पुरानी सरकार के दोषों को दिखलाते हुए, भूतकाल में उन्होंने ऐसा रुख अख्तियार किया था कि उनसे सभी सुधारों की आशा की जाती थी। कांग्रेस की चुनाव-घोषणा में सभी महत्त्व-पूर्ण बातों का उल्लेख था। अतएव कांग्रेसी मंत्रिमंडलों को आवश्यकता से अधिक काम करना पड़ा और प्रायः प्रत्येक महत्त्वपूर्ण विषय में उनकी एक कमेटी ने जाँच आरंभ की। उन्हें शासन करते हुए अभी थोड़े ही दिन हुए थे पर लोगों की आशाएँ इतनी अधिक थीं कि इस अल्प काल में ही वे दिये गये सारे वादों को पूरा करा लेना चाहते थे। ऐसा होना इतनी जल्दी से संभव न था। मंत्रि-पद के कामों और सार्वजनिक व्याख्यानों में बड़ा अंतर होता है। अतएव अपने उदार वादों, लोगों की आशाओं, अल्प समय और मंत्रि-पद की जिम्मेदारियों के कारण कांग्रेसी मंत्रिमंडलों को कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था।

---

१. कांग्रेसी मंत्रिमंडलों की सफलता की प्रशंसा वाइसराय और गवर्नरों तक ने की थी। लॉर्ड लिनलिथगो के मतानुकूल, सन् १९३५ के संविधान के अंतर्गत, उन्होंने अपने काम को सफलतापूर्वक किया था। इसके विषय में किसी प्रकार के संदेह का स्थान न था। "इन प्रांतों में चाहे किसी दल का बहुमत रहा हो, वे सब पिछले ढाई बरस के प्रशंसनीय कामों को संतोषप्रद कहलाने के अधिकारी हैं।" सर सेम्युअल होर ने, जो भारत-मंत्री के पद पर थे, भारत के प्रांतीय स्वायत्त शासन की सफलता की प्रशंसा करते हुए, उन देशों से उसकी तुलना की थी जहाँ पर संवैधानिक सरकारें विफल हो रही थीं। Coupland : Indian Politics 1936-42 Vol. II P. 157.

(ब) संवैधानिक संकटों की आशंका—कांग्रेसी मंत्रिमंडलों की दूसरी कठिनाई संवैधानिक संकटों की थी। वे पूर्ण स्वतंत्रता के पक्षपाती थे और इस उच्च आदर्श को हमेशा अपने सम्मुख रखते थे। वे स्वाधीन देशों में प्रचलित प्रथाओं के अनुसार अपने प्रांतों का शासन-संचालन करना चाहते थे। ऐसा करने में उन्हें कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। प्रांतीय गवर्नर और कभी कभी भारतीय सिविल सर्विस[1] के सदस्यों के कारण उनके सामने संवैधानिक कठिनाइयाँ आ उपस्थित हुई थीं। ऐसी अवस्था में उन्हें अंत में संवैधानिक संकटों का सहारा लेना पड़ा था। इनके कारण शासन-संचालन की मनोवृत्ति, तुरंत ही भावी संग्राम की ओर जाने लगती थी।

(स) सांप्रदायिक वैमनस्य—कांग्रेसी मंत्रिमंडलों की तीसरी कठिनाई का संबंध सांप्रदायिक वैमनस्य से था। हिंदू और मुसलमानों के दंगे भारत की पुण्य-भूमि को बहुत दिनों से रक्त-रंजित करते आये थे। इन दंगों को दबाने में कांग्रेसी मंत्रियों को अनोखी परिस्थिति का सामना करना पड़ा। हिंदू लोग उन पर यह दोषारोपण करते थे कि वे मुसलमानों का पक्षपात करते थे। मुसलमान लोग कांग्रेस-सरकार को हिंदू-सरकार कहते थे और उस पर अपने अधिकारों और हितों पर कुठाराघात करने का आरोप लगाते थे। इस परिस्थिति में शांति और व्यवस्था की रक्षा के लिए कांग्रेसी मंत्रिमंडलों द्वारा किया गया कोई भी काम बदनामी से न बच सका। तिस पर संवैधानिक संकटों तक का सहारा लेकर कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने शांति और व्यवस्था का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लिया था। सांप्रदायिक दंगों के कारण यह जिम्मेदारी मखौल सी हो गयी थी। संतोष इसी बात का था कि इन दंगों की बाबत कांग्रेस की नीति निष्पक्ष थी। दोनों वर्गों द्वारा पक्षपात का दोषी ठहराया जाना, निष्पक्षता का प्रत्यक्ष प्रमाण था।

---

१. मिस्टर कूपलैंड के विचारानुकूल कांग्रेसी मंत्रि-परिषदों को संगठित शासन मिला, लगभग ५००,००० ऐसे कर्मचारी मिले, जिन्हे अपने काम का पूर्ण ज्ञान था, और परामर्श देने, प्रोत्साहित और सावधान करने के लिए अनुभवी गवर्नर मिले। ये बातें उनकी सफलता के अनुकूल थीं। वास्तविक स्थिति इससे सर्वथा भिन्न थी। सिविल सर्विस वालों और गवर्नरों की मनोवृत्ति इस प्रकार की थी कि वे सरलतापूर्वक उत्तरदायी शासन के अनुकूल न बनाये जा सकते थे। Coupland : Indian Politics 1936-42 Vol. II P. 22.

(द) मज़दूरों, किसानों आदि के आंदोलन—कांग्रेसी मंत्रिमंडलों की चौथी कठिनाई का संबंध मजदूरों और किसानों के आंदोलनों से था। इसमें संदेह नहीं कि कांग्रेस मज़दूरों और किसानों की हालत सुधारने और विद्यार्थियों को उन बंधनों से छुड़ाने का वचन दे चुकी थी जिनके कारण वे राजनीतिक कामों और आंदोलनों में भाग लेने के कारण दंडनीय समझे जाते थे। पर इन समुदायों ने अपने अपने आंदोलन चलाये और आये दिन हड़ताल और कभी कभी भूख-हड़ताल की नौबत आयी। इनके कारण कांग्रेसी मंत्रिमंडलों का काम अत्यधिक बढ़ गया था और उनको प्राय: चिंतित अवस्था में रहना पड़ता था। कांग्रेसी मंत्री इन आंदोलनों को दबाना नहीं चाहते थे, पर वे इन आंदोलनों के प्रवर्तकों से यह प्रार्थना अवश्य करते थे कि उनके काम और चिंता में अनावश्यक वृद्धि न की जाय। उनकी प्रार्थना पर विशेष ध्यान न दिया गया था जिसके कारण उन्हें कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था।

(य) आदर्शवादिता—कांग्रेसी मंत्रिमंडलों की पाँचवीं कठिनाई उनकी आदर्शवादिता थी। उन्हें शासन का अनुभव न था, विशेषकर ऐसे शासन का, जो संरक्षणों, विशेष उत्तरदायित्वों, विशेषाधिकारों आदि के कारण, इंगलैंड के शासन से भिन्न था। दूसरों की विचार-धाराएं उनसे मेल न खाती थीं। कांग्रेस हाई कमांड के आदेशों से बँधे होने के कारण, वे व्यावहारिक अनुभव के आधार पर, अपने विचारों को बदलने में असमर्थ थे। परिणाम-स्वरूप उन्हें अपने समस्त कामों को न्यूनाधिक अकेले ही करना पड़ता था। यदि उन्हें दूसरे दलों का सहयोग प्राप्त होता, तो बहुत संभव था कि उन्हें प्राप्त सफलता से कुछ अधिक सफलता मिलती।

द्वितीय युरोपीय महासमर की ओर—कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के अंतिम दिनों में युरुप की स्थिति बिगड़ती जा रही थी। कांग्रेस न तो युरोपीय राज्यों के साम्राज्यवाद से संतुष्ट थी और न उनमें बढ़ते हुए फासिस्टवाद से। मार्च सन् १९३९ में, पं० जवाहरलाल नेहरू ने, त्रिपुरी के अधिवेशन में जो प्रस्ताव प्रेषित किया था और जो कांग्रेस द्वारा पारित किया गया था, उसमें ब्रिटिश नीति को लोकतंत्र के लिए घातक बतलाते हुए फासिस्टवाद और साम्राज्यवाद के संबंध में निम्नलिखित विचार सम्मिलित किये गये थे—

"कांग्रेस साम्राज्यवाद और फासिस्टवाद दोनों के विरुद्ध है। उसका विश्वास है कि संसार की शांति और स्वतंत्रता के लिए दोनों का अंत आवश्यक

है। कांग्रेस का मत है कि भारत को स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में अपनी पर-राष्ट्र-नीति का संचालन करना चाहिये जिससे वह साम्राज्यवाद और फासिस्टवाद दोनों से बच जाय और शांति और स्वतंत्रता के अपने मार्ग का अनुसरण कर सके।"[1]

पं० नेहरू के मतानुकूल इंगलैंड और फ्रांस में लोकतंत्रात्मक भावनाएँ थीं। यदि लोकतंत्र के संरक्षण में इनका उपयुक्त प्रयोग किया जायगा, तो भारत का दृष्टिकोण उनके अनुकूल होगा और वह इनके समर्थन में अपनी सहायता प्रदान करेगा।

अप्रैल के महीने में युद्ध और भी निकट प्रतीत होने लगा था। उसके सफल संचालन के लिए यह आवश्यक था कि युद्ध के काल में केंद्रीय सरकार अधिक शक्तिशाली बनायी जाय। अतः सन् १९३५ के संविधान में संशोधन करने का विधेयक पार्लमेंट में प्रेषित किया गया। मूल संविधान के अनुसार ही गवर्नर-जनरल को आपात-काल की घोषणा का अधिकार था। इसके अंतर्गत वे केंद्रीय विधान-मंडल को, किसी प्रांत या उसके भाग के लिए, प्रांतीय सूची के विषयों के कानून बनाने का अधिकार दे सकते थे। किंतु केंद्रीय कार्यपालिका को यह अधिकार न था कि वह प्रांतीय सरकारों को कार्यपालिका संबंधी आदेश दे सकती। अतः संविधान में अनुच्छेद १२६ (अ) बढ़ाया गया। इसके अनुसार युद्ध की आशंका के कारण की गयी आपात-काल की घोषणा की अवधि में, केंद्रीय सरकार को यह अधिकार दिया गया था कि वह प्रांतीय सरकारों को कार्यपालिका-शक्ति के प्रयोग के संबंध में आदेश दे सकेगी। संशोधन के अनुसार केंद्रीय विधान-मंडल को भी प्रांतीय विषयों के ऐसे कानून बनाने का अधिकार मिला जिनके द्वारा कार्यपालिका-शक्ति, केंद्रीय सरकार या उसके अधिकारियों को प्राप्त हो सकती थी। संशोधन के संबंध में भारत-मंत्री लॉर्ड जेटलैंड के विचार निम्नलिखित थे—"मुझे आशा है कि लोग इस बात को समझ लेंगे कि वाइसराय और मैं दोनों, आवश्यकता पड़ने पर, संचालन और नियंत्रण की एकता के लिए ही, इस व्यवस्था को आवश्यक समझते हैं। हमारा इरादा लेशमात्र भी इस बात का नहीं है कि प्रांतीय सरकारों की सत्ता को दुर्बल बनाया जाय।"[2] पूर्वकालीन तोड़े गये वादों के कारण कांग्रेस को

---

1. Pattabhi Sitaramayya Vol. II P. 112.
2. Coupland : Indian Politics 1936-42 P. 209.

भारत-मंत्री की सफाई में विश्वास न था। अतः मई में अखिल-भारतीय कांग्रेस कमेटी ने निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किया—

"यद्यपि कांग्रेस को भारतीय शासन-संबंधी अधिनियम के संशोधन में किसी प्रकार की दिलचस्पी नहीं है और यद्यपि वह उसकी समाप्ति के उद्देश्य से क्रियाशील रही है, तो भी वह उसमें किये गये किसी ऐसे संशोधन को सहन नहीं कर सकती जो प्रांतीय स्वायत्त-शासन की नींव को खोदता और युद्ध के काल में उसे मखौल बनाता हो, जो वास्तव में भारत की केंद्रीय सरकार का युद्ध-कालीन अधिनायकत्व स्थापित करता हो और जो प्रांतीय सरकारों को साम्राज्यवाद का असहाय एजेंट बनाता हो। भारत पर इस प्रकार के संशोधन लादे जाने का कांग्रेस को हर प्रकार से विरोध करना चाहिये और विरोध किया भी जायगा। अतः प्रांतीय सरकारों को इस बात की चेतावनी दी जाती है कि इस संबंध में, अखिल-भारतीय कांग्रेस कमेटी या कार्य-समिति द्वारा जो कुछ भी नीति निर्धारित की जाय, उसे कार्य-रूप में परिणत करने के लिए वे तैयार रहें।" कमेटी ने भारतीय सेनाओं को एडेन भेजने का भी विरोध किया। "कांग्रेस इस बात का दृढ़ संकल्प कर चुकी है कि वह उन सब प्रयत्नों का विरोध करेगी जिनके परिणाम-स्वरूप युद्ध भारत पर लादा जायगा और भारतीय जनता की अनुमति के बिना, भारतीय साधनों का प्रयोग युद्ध में किया जायगा।"[1]

युरोपीय महासमर का श्रीगणेश और कांग्रेसी मंत्रिमंडलों का पदत्याग—३ सितंबर सन् १९३९ को वाइसराय ने सम्राट और जर्मनी में युद्ध छिड़ने की घोषणा की और उसी दिन भारत जर्मनी के विरुद्ध युद्धरत देश हो गया।[२] यह सब काम शिमला रेडियो स्टेशन से किया गया था। भारतीय जनता अथवा उसके नेताओं का, इस गंभीर काम में, परामर्श तक न लिया गया था। अन्य डोमिनियनों की ओर से युद्ध की घोषणा इस प्रकार से नहीं की गयी थी। ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड की संसदों की संपुष्टि के पश्चात् ही वे देश युद्धरत हुए थे। कैनाडा और दक्षिणी अफ्रीका की संसदों की अनुमति के बिना इस प्रकार की घोषणा नहीं की गयी थी। किंतु भारत अभी तक डोमीनियनों के समकक्ष न था। भारतीय राष्ट्रीय भावना को इस प्रकार

1. Coupland : Indian Politics 1936-4? P. 209-10.

२. युरोपीय महासमर १ सितंबर सन् १९३९ को छिड़ा था।

ठेस लगाते हुए भी वाइसराय ने निम्नलिखित शब्दों में भारत से सहायता की आशा प्रगट की थी—"मुझे विश्वास है कि भारत पशुबल के विरुद्ध मनुष्य की स्वाधीनता का पक्ष ग्रहण करेगा और संसार की ऐतिहासिक सभ्यता की हैसियत से दुनिया के महान राष्ट्रों के बीच में अपने स्थान के अनुरूप अपने हिस्से का कार्य पूरा करेगा।"[१]

वाइसराय ने, युद्ध के प्रयत्नों में भारत का सहयोग प्राप्त करने के लिए, गांधी जी को शिमला बुला भेजा। पर वे तो दृढ़-संकल्प अहिंसावादी थे। पशु-बल के संग्राम में उनसे सहायता की आशा निराधार थी। मानवता के नाते उन्होंने यह अवश्य कहा था—

"कि मेरी सहानुभूति इंगलैंड और फ्रांस के प्रति है। उस लंदन के विनाश की, जिसे अब तक अभेद्य माना जाता रहा है, कल्पना करते ही मेरा रोम-रोम काँप उठता है।.......मैं बेचैन हूँ। मैं अपने दिल में ईश्वर से लगातार लड़ता हूँ कि वह ऐसी बातें क्यों होने देता है। मेरी अहिंसा एक प्रकार से प्रभावहीन-सी जान पड़ती है। लेकिन ईश्वर से इस रोज की लड़ाई के बाद जवाब मिलता है कि ईश्वर या अहिंसा में से एक भी शक्तिहीन नहीं है। शक्ति का अभाव तो मनुष्य में है। श्रद्धापूर्वक मुझे कोशिश करते रहना चाहिये, भले ही ऐसा करते-करते मैं खत्म ही क्यों न हो जाऊँ।"[२]

समझौते की चर्चा करते हुए गांधीजी ने बतलाया कि यदि समझौता होता है तो उसे कांग्रेस और सरकार के बीच में होना चाहिये।

१४ सितंबर को परिस्थिति पर विचार करने के लिए कांग्रेस कार्य-समिति का अधिवेशन हुआ। उसने इस संबंध में एक लंबा प्रस्ताव पारित करके निम्नलिखित बातों के स्पष्टीकरण की माँग प्रस्तुत की—(१) स्पष्ट और निश्चित अर्थवाले शब्दों में लोकतंत्र, साम्राज्यवाद और नवीन व्यवस्था के संबंध में युद्ध के उद्देश्य; (२) ये उद्देश्य किस सीमा तक भारत पर लागू होंगे और वर्त्तमान में कार्यान्वित किये जायँगे? (३) क्या उनमें साम्राज्यवाद का अंत तथा भारत के प्रति ऐसे स्वतंत्र राष्ट्र की भाँति बर्ताव सम्मिलित है जिसकी नीति उसकी जनता की इच्छा के अनुकूल निर्धारित की जायगी?

वाइसराय ने सम्राट की सरकार तथा अपनी ओर से उत्तर देने के पूर्व

---

१. पट्टाभि सीतारामय्या : कांग्रेस का इतिहास, दूसरा भाग, पृष्ठ १३०।

२. वही, पृष्ठ १३०–३१।

भारतीय नेताओं से पुनः मुलाकात की। सितंबर के अंत में गांधी जी बुलाये गये और अक्टूबर के आरंभ में मिस्टर जिन्ना, पं० जवाहर लाल नेहरू, सरदार वल्लभ भाई पटेल, श्री राजेंद्र प्रसाद आदि अन्य ५० नेता। १७ अक्टूबर को कांग्रेस द्वारा की गयी माँगों के संबंध में, वाइसराय ने निम्नलिखित आशय का वक्तव्य प्रकाशित किया--(१) ब्रिटिश सरकार अभी तक स्थूल रूप में अपने युद्ध के उद्देश्यों को परिभाषित नहीं कर सकी है। पर वह अपने भौतिक लाभ की ओर नहीं देखती। उसकी इच्छा है कि वर्त्तमान से श्रेष्ठतर अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था तथा वास्तविक और स्थायी शांति की स्थापना की जाय। (२) भारत में ब्रिटिश नीति का उद्देश्य देश को डोमीनियन का दर्जा देना है। युद्ध के अंत के पश्चात्, सम्राट की सरकार विभिन्न संप्रदायों, दलों और स्वार्थों के प्रतिनिधियों तथा भारतीय नरेशों के परामर्श से सन् १९३५ के अधिनियम में संशोधन करने के लिए तैयार रहेगी। (३) युद्ध के संचालन में भारतीयों की सहायता लेने का सबसे अच्छा साधन एक युद्ध परामर्श-दात्री कौंसिल का स्थापित करना है जिसमें भारत के विभिन्न राजनीतिक दलों और भारतीय नरेशों के प्रतिनिधि होंगे और जिसका सभापतित्व गवर्नर-जनरल करेंगे। इंगलैंड की पार्लमेंट में भारत-मंत्री ने भी न्यूनाधिक इसी प्रकार के विचार प्रगट किये थे।

२२ अक्टूबर सन् १९३९ को कांग्रेस-कार्य-समिति का अधिवेशन वर्धा में हुआ। राजनीतिक परिस्थिति के संबंध में उसने जो प्रस्ताव पास किया वह प्रत्याशित ही था। उसमें वाइसराय के वक्तव्य को असंतोषप्रद तथा नाराजी पैदा करने वाला बतलाया गया था—

"इसमें वस्तुतः पुरानी साम्राज्यवादी नीति को दोहराया गया है। विभिन्न राजनीतिक दलों के मतभेदों को, ब्रिटेन के इरादों पर पर्दा डालने का, बहाना बना लिया गया है।........ऐसी परिस्थिति में समिति ब्रिटेन का किसी भी तरह समर्थन करने को तैयार नहीं है क्योंकि ऐसा करने का मतलब दूसरे शब्दों में यही लगाया जायगा कि कांग्रेस उस साम्राज्यवादी नीति का समर्थन करने जा रही है जिसका अंत करने के लिए वह सदा से प्रयत्नशील रही है।"

इस दिशा में पहला पग उठाने के लिए कार्य-समिति ने कांग्रेसी मंत्रिमंडलों द्वारा त्यागपत्र दिलाने का निश्चय किया। अपनी आंतरिक स्थिति की दृढ़ता के लिए उसने कांग्रेस कमेटियों को एक ओर तो सभी परिस्थितियों के

लिए तैयार रहने को कहा और दूसरी ओर संयम से काम करने के लिए, जिससे कोई ऐसी परिस्थिति न उत्पन्न हो जो भारत के सम्मान या कांग्रेस के सिद्धांतों के विरुद्ध हो। समिति ने सविनय अवज्ञा, हड़ताल या इसी प्रकार की किसी अन्य कार्रवाई के विरुद्ध चेतावनी दी और यह आश्वासन दिया कि समय आने पर वह उचित कार्रवाई करने में हिचकिचाहट न करेगी।

इसके पश्चात् कांग्रेस पार्लमेंटरी बोर्ड ने कार्य-समिति की अनुमति से मंत्रियों और कांग्रेसी दलों के लिए निम्नलिखित आदेश जारी किये—(१) कांग्रेस कार्य-समिति ने अपने प्रस्ताव द्वारा, कांग्रेसी सरकारों को त्यागपत्र देने को कहा है। यह काम विधान-सभाओं के उन अधिवेशनों के पश्चात् पूरा हो जाना चाहिये, जो महत्त्वपूर्ण कार्यों के लिए बुलाये जायँगे। ३१ अक्टूबर सन् १९३९ तक सब त्यागपत्रों को पहुँच जाना चाहिये। (२) मध्य-प्रांत और उड़ीसा की विधान-सभाओं के अधिवेशन नवंबर के आरंभ में बुलाये गये हैं। इन प्रांतों की सरकारें ऊपर निर्धारित अवधि के पश्चात् भी अपने पदों पर रह सकेंगी। (३) विधान-सभाओं के प्रमुख, उप-प्रमुख और सदस्य और कौंसिलो के प्रधान, उप-प्रधान और सदस्य अपने पदों और स्थानों पर बने रहेंगे। इस अवसर पर केवल मंत्रियों और पार्लमेंटरी सेक्रेटरियों से त्यागपत्र देने की आशा की जाती है। (४) विधान-सभाओं में युद्ध के उद्देश्यों के संबंध में जो प्रस्ताव पेश किये जायँ उनमें परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तन कर लेना चाहिये।

इन आदेशों के पालन करने के लिए विभिन्न कांग्रेसी प्रांतों की विधान-सभाओं में युद्ध के उद्देश्यों के प्रस्ताव पेश किये गये। उनकी भाषा एक-सी[१] ही थी। मुस्लिम लीग ने उनके संबंध में जो संशोधन रखे वे सब अस्वीकृत

---

१. प्रेषित प्रस्तावों की शब्दावली इस प्रकार थी—

"यह असेंबली इस बात पर अफसोस जाहिर करती है कि ब्रिटेन और जर्मनी के बीच में होने वाली लड़ाई में, ब्रिटिश सरकार ने, भारत को उसकी जनता की इच्छा जाने बिना हिस्सेदार बना दिया है। साथ ही उसने ऐसी कार्रवाई की है और ऐसे कानून पास किये हैं जिनके कारण प्रांतीय सरकारों के कार्य-क्षेत्र और अधिकारों में कमी हो गयी है।

"यह असेंबली सरकार से सिफारिश करती है कि वह भारत-सरकार और उसके द्वारा ब्रिटिश सरकार को सूचित करे कि वर्तमान युद्ध के कथित उद्देश्यों को ध्यान में रखते

हो गये और कांग्रेसी दल का मूल प्रस्ताव अत्यधिक बहुमत से पारित हो गया। तत्पश्चात् कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने, एक के पश्चात् एक, त्यागपत्र दे दिया। १५ दिन के भीतर कांग्रेस के उस पार्लमेंटरी प्रयोग की इतिश्री हो गयी, जिसे उसने सन् १६३५ के संविधान के अंत के लिए किया था। यह असहयोग की दिशा में प्रथम पग था। भविष्य में असहयोग के अधिक व्यापक होने की आशंका सर्वथा निराधार न थी।

हुए, भारतीय जनता का सहयोग प्राप्त करने के उद्देश्य से, मुसलमानों और दूसरे अल्पसंख्यकों के लिए प्रभावपूर्ण संरक्षणों के साथ लोकतंत्र के सिद्धांतों को भारत में लागू किया जाय, भारत की नीति उसकी जनता निर्धारित करे और भारत ऐसा स्वाधीन राष्ट्र माना जाय जिसे अपने संविधान के निर्माण का अधिकार हो। जहाँ तक संभव हो, तात्कालिक भविष्य में ही इस सिद्धांत को भारत के शासन में कार्यान्वित किया जाय।

"असेंबली को अफसोस है कि सम्राट की सरकार ने भारत के बारे में जो वक्तव्य प्रकाशित करने की आज्ञा दी है, उसमें भारत की परिस्थिति को ठीक तरह नहीं समझा गया है। चूँकि ब्रिटिश सरकार भारत की इस तरह की माँग को पूरा करने में असफल हुई है, इसलिए यह असेंबली यह मत प्रकट करती है कि सरकार, ब्रिटिश सरकार के मत से सहमत नहीं है।" पट्टाभि सीतारामय्या—कांग्रेस का इतिहास, दूसरा भाग, पृष्ठ १४६।

३

१६३५ के संविधान का कार्यान्वित रूप (२)

गैर-कांग्रेसी प्रांत

(१६३७ से ४२ तक)

मुस्लिम लीग और सन् १६३५ का संविधान—मुस्लिम लीग का पार्लमेंटरी बोर्ड—निर्वाचन का नतीजा—मुस्लिम लीग के दृष्टि-कोण में परिवर्तन—गैर-कांग्रेसी मन्त्रिमंडलों की विशेषताएँ—गैर-कांग्रेसी मन्त्रिमंडलों के काम—गैर-कांग्रेसी मन्त्रिमंडल और राष्ट्र-निर्माण।

मुस्लिम लीग और सन् १६३५ का संविधान—कांग्रेस की भाँति मुस्लिम लीग भी भारतीय शासन-सबंधी सन् १६३५ के अधिनियम से असंतुष्ट थी। उसके बंबई के अधिवेशन में, सर सैयद वजीर हसन ने सभापति की हैसियत से, उस अधिनियम के संबंध में निम्नलिखित विचार प्रगट किये थे[1]—

ब्रिटिश सरकार सचमुच (Literally) हमारे ऊपर ऐसा संविधान लाद रही है जिसे कोई भी पसंद नहीं करता और जिससे कोई भी सहमत नहीं है। कई बरस तक कमीशनों, रिपोर्टों, सम्मेलनों और कमेटियों के पश्चात् एक भयंकरता (Monstrosity) की सृष्टि की गयी है और वह हमें संवैधानिक अधिनियम के रूप में दी जा रही है। वह लोक-तंत्र से विमुख है। उसके कारण प्रतिक्रियावादी अंशों को शक्ति बढ़ेगी। प्रगतिशील विकास की ओर ले जाने की अपेक्षा वह हमारी उन शक्तियों को दबा तथा शृंखला-बद्ध कर देगा जो हमें लोकतंत्र तथा स्वतंत्रता की ओर अग्रसर कर रही हैं।

अतः कांग्रेस की भाँति मुस्लिम लीग ने भी सन् १६३५ के भारतीय शासन-

---

1. Indian Annual Register 1936 Vol. I P. 294

संबंधी अधिनियम की निंदा की। अंतर केवल इतना ही था कि कांग्रेस समस्त अधिनियम के विनाश पर दृढ़-संकल्प थी और मुस्लिम लीग संरक्षणों की निंदा करते हुए भी उसके प्रांतीय भाग को (जैसा कुछ वह था) कार्य रूप में परिणत करने को तैयार थी।

मुस्लिम लीग का पार्लमेंटरी बोर्ड—सन् १६३५ के अधिनियम के प्रति उक्त मनोवृत्ति के कारण मुस्लिम लीग ने आगामी चुनाव में भाग लेने का निश्चय किया। बंबई के अधिवेशन में उसने मिस्टर जिन्ना को, अपनी अध्यक्षता में, कम से कम ३५ सदस्यों के एक पार्लमेंटरी बोर्ड की स्थापना का अधिकार दिया। कालांतर में यह बोर्ड स्थापित हो गया। ११ जून सन् १६३६ को उसने अपनी चुनाव-घोषणा प्रकाशित की। इसमें सन् १६०६ से सन् १६३५ तक मुस्लिम राजनीति की समीक्षा के पश्चात् निम्नलिखित कार्य-क्रम पर जोर किया गया था—(१) मुसलमानों के धार्मिक अधिकारों की रक्षा; (२) दमनकारी कानूनों के निरसन के लिए सब प्रकार के प्रयत्न; (३) उन सब प्रस्तावों को अस्वीकार करना, जो भारत के हित में न हों, जो नागरिकों की मूल स्वतंत्रताओं का अतिक्रमण करते हों और जो देश के आर्थिक शोषण की दिशा में हों; (४) केंद्रीय और प्रांतीय सरकारों के शासन-व्यय को घटाना और-राष्ट्र-निर्माण विभागों के लिए अधिक धन देना; (५) सेना का राष्ट्रीय-करण और सैनिक व्यय में कमी; (६) घरेलू उद्योगों सहित भारतीय दस्तकारियों का प्रोत्साहन; (७) मुद्रानीति, विनिमय और मूल्य का भारत के आर्थिक विकास के अनुकूल नियमन; (८) देहाती जनता के शैक्षिक, सामाजिक और आर्थिक उत्थान के पक्ष को ग्रहण करना; (६) उन प्रस्तावों को प्रेषित करना जो किसानों की कर्जदारी को कम करते हों; (१०) निःशुल्क और अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था; (११) उर्दू भाषा और लिपि का संरक्षण; (१२) मुसलमानों की सामान्य अवस्था के सुधारने का प्रयत्न; (१३) ऐसे प्रयत्न करना कि टैक्स-भार में कमी हो जाय और देश में सच्चे लोकमत और राजनीतिक जागृति का उदय हो।

निर्वाचन का नतीजा—मुस्लिम लीग के पार्लमेंटरी बोर्ड ने प्रायः सभी मुस्लिम स्थानों के लिए उम्मीदवार खड़े किये। उनकी कुल संख्या ४८२ थी। यद्यपि कांग्रेस अपने को समस्त देश की प्रतिनिधि संस्था समझती थी, तो भी उसने केवल ५८ मुस्लिम स्थानों के लिए अपने अभ्यर्थी खड़े किये और उनमें से २६ उसके हाथ आये। शेष समस्त स्थान मुस्लिम लीग या अन्य मुस्लिम

दलों द्वारा जीते गये। ये समस्त भारत में बिखरे हुए थे। मद्रास, बिहार, मध्य-प्रांत, संयुक्त-प्रांत, सीमा-प्रांत और बंबई की असेंबलियों में कांग्रेसी सदस्यों की संख्या कुल सदस्यों की संख्या के आधे से अधिक थी। शेष पाँच प्रांतों में भी उसके सदस्य थे। मुस्लिम लीग के सदस्य किसी भी प्रांतीय असेंबली में आधे से अधिक न थे। परिणाम-स्वरूप जब कांग्रेस ने मंत्रि-पद ग्रहण करना स्वीकार किया[1] तो वह छः प्रांतों में किसी दूसरे दल की सहायता के बिना अपने स्थायी मंत्रिमंडलों के बनाने की स्थिति में थी, पर भारत के किसी भी प्रांत में मुस्लिम लीग की स्थिति इस प्रकार की न थी।[2] यह स्थिति मुस्लिम लीग को असह्य थी। उसने कांग्रेस के सम्मुख मिले-जुले मंत्रिमंडलों की स्थापना का सुझाव रखा; पर उत्तरदायी सरकार के आधार-भूत सिद्धांतों के कारण, कांग्रेस, मुस्लिम लीग के इस सुझाव को उस समय तक स्वीकार करने में असमर्थ थी, जब तक वह कांग्रेस की चुनाव-घोषणा को स्वीकार न कर ले। मुस्लिम लीग के लिए यह करना कुछ कठिन-सा था। इसका परिणाम अंततः मुस्लिम लीग का कांग्रेस में विलीन होना होता। अतः गैर-कांग्रेसी प्रांतों में मिले-जुले मंत्रि-मंडल बने। ये न तो स्थायी थे और न कांग्रेसी मंत्रिमंडलों की निर्भीकता से अपनी नीति का निर्धारण तथा कामों का संचालन कर सकते थे।

मुस्लिम लीग के दृष्टि-कोण में परिवर्तन—निर्वाचन के उक्त परिणाम तथा कांग्रेस के प्रति उसकी दूषित मनोवृत्ति के कारण, मुस्लिम लीग के दृष्टि-कोण में एक महान परिवर्तन हो गया। अपने लखनऊ के अधिवेशन में,

---

१. यह निर्णय जुलाई सन् १९३७ में कांग्रेस-कार्य-समिति के वर्धा के अधिवेशन में किया गया था।

२. बंगाल की असेंबली में कुल सदस्यों की संख्या २५० थी। निर्वाचन में परिणाम स्वरूप ६० स्थान कांग्रेस के हाथ आये, ४१ स्वतंत्र मुसलमानों के हाथ, ४० मुस्लिम लीग के हाथ, ३५ प्रजापार्टी के हाथ, २५ युरोपियनों के हाथ, २३ स्वतंत्र अनुसूचित जाति-समूह के हाथ और १४ सजातीय स्वतंत्र हिंदुओं के हाथ। पंजाब की असेंबली में कुल १७५ स्थानों में से ९६ स्थान यूनियनिस्ट पार्टी द्वारा जीते गये। आसाम की असेंबली में कुल सदस्यों की संख्या १०५ थी। इनमें से ३५ स्थान कांग्रेस, ३४ मुस्लिम दलों, १० स्वतंत्र हिंदुओं तथा शेष अन्य दलों के हाथ आये। सिंध की असेंबली के कुल ६० सदस्यों में, १८ स्थान सिंध युनाइटेड पार्टी, ११ सिंध हिंदू सभा, ९ स्वतंत्र मुस्लिम पार्टी, ८ कांग्रेस पार्टी, ४ सिंध मुस्लिम पार्टी, ३ सिंध आजाद पार्टी, २ स्वतंत्र हिंदुओं, १ स्वतंत्र मजदूर और ४ ऐसे अभ्यर्थियों द्वारा जीते गये थे जो किसी भी दल के न थे।

जो ११ अक्टूबर सन् १६३७ को आरंभ हुआ था, उसने अपना ध्येय निर्धारित निर्बंधनों के सहित, भारत की स्वतंत्रता निश्चित किया—"अखिल भारतीय मुस्लिम लीग का उद्देश्य संघ-राज्य के रूप में भारत की पूर्ण स्वतंत्रता का प्राप्त करना है। संघ-राज्य स्वतंत्र लोकतंत्रात्मक राज्यों के मेल से बनेगा और उसमें मुसलमान और दूसरे अल्प-संख्यकों के अधिकारों और हितों के लिए पर्याप्त और प्रभावशाली संरक्षण सम्मिलित किये जायँगे।"[1] इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मुस्लिम लीग ने विशिष्ट साधनों का निर्धारण नहीं किया। संभवतः वह परिस्थिति के अनुकूल साधनों के अपनाने के पक्ष में थी और कांग्रेस की भाँति सत्याग्रह, अहिंसा, आदि के साधनों से सीमाबद्ध होना नापसंद करती थी। एक दूसरे प्रस्ताव द्वारा उसने मुसलमानों की आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति का कार्यक्रम अपनाया। इसके द्वारा वह कुछ बुद्धिवादियों तक ही सीमित न रह कर, मुस्लिम जनता से संपर्क स्थापित करना चाहती थी। इस कार्यक्रम की महत्त्वपूर्ण बातें इस प्रकार हैं—[2] फैक्टरियों में काम करने वाले तथा अन्य श्रमिकों के लिए काम के घंटों का निर्धारण; कम से कम वेतन का निर्धारण; श्रमिकों के मकानों और स्वास्थ्य-संबंधी वातावरण का सुधार; अस्वस्थ और गंदे निवास-क्षेत्रों की सफाई; देहाती और शहराती ऋणों की कमी और अत्यधिक ब्याज की दर का अंत; जबरदस्ती लिये जाने वाले श्रम का अंत; ग्रामों के उत्थान के काम; घरेलू दस्तकारियों का प्रोत्साहन; स्वदेशी वस्तुओं, विशेषकर हाथ से बुने कपड़ों के प्रयोग, का प्रोत्साहन; बेकारी के दूर करने के साधन; अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा; मद्य-निषेध; पूर्ण स्वतंत्रता की प्राप्ति के साधनों का निर्धारण और इस उद्देश्य से भारत के अन्य राजनीतिक दलों का सहयोग प्राप्त करना। जनता के संपर्क द्वारा मुस्लिम लीग भारत के समस्त मुसलमानों को लीग के मंच पर लाना चाहती थी। चुनाव के परिणाम जानने के पश्चात्, अलीगढ़ विश्वविद्यालय में भाषण देते हुए, मिस्टर जिन्ना ने इस संबंध में अपने विचारों को निम्नलिखित शब्दों में प्रगट किया था—

"मेरी आप लोगों से अपील है कि आप लीग के मंच पर आ जायँ। यदि मुसलमान मिल जायँगे तो समझौता आपकी आशा के पहले हो

---

1. M. Noman : Muslim India P. 354
2. Ibid PP. 356-57

जायगा। कुछ ही दिनों के काम के पश्चात् लीग का नाम भारत के कोने-कोने में विख्यात हो गया है। लोग लाखों की संख्या में उसमें सम्मिलित हो रहे हैं। वे लोग भी जो हमारे विरुद्ध हैं अपने भ्रम को समझ जायँगे और इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि उन्हें लीग में सम्मिलित होना तथा समस्त मुसलमानों को एक स्वर से बोलना चाहिये।''[१]

लखनऊ के अधिवेशन के पश्चात् इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मिस्टर जिन्ना ने भारत के विभिन्न भागों का दौरा किया और बंगाल के मिस्टर फजलुल हक और उनकी पार्टी तथा पंजाब के सर सिकंदर हैयात खां और उनकी पार्टी को लीग में सम्मिलित कराने में सफल हुए। चुनाव के परिणाम जानने तथा लखनऊ के अधिवेशन के पश्चात् मुस्लिम लीग और उसके नेताओं ने कांग्रेस और उसके नेताओं को बदनाम करने का कार्यक्रम अपनाया। उन्होंने कांग्रेस-राज को हिंदू-राज बतला कर कांग्रेस और उसके नेताओं के विरुद्ध हिंदुओं के प्रति पक्षपात, तथा मुसलमानों के प्रति अत्याचार का लांछन लगाया।

"कांग्रेस के काम और उसके आंदोलन हिंदू-विचारों से उत्पन्न होते हैं। कांग्रेस गांधी-जयंती, तिलक-दिवस आदि बड़ी तेजी से मना लेती है। उसकी समस्त बातों जैसे आश्रम, वंदे मातरम् आदि के हिंदू नाम हैं। राष्ट्रीय संगठन से यह आशा की जाती है कि वह प्रत्येक वर्ग की भावनाओं का प्रतिनिधित्व करें। किंतु उसका संपूर्ण नेतृत्व हिंदुओं और उनके पिट्ठुओं के हाथ में हैं।''[२]

कालांतर में मुस्लिम लीग का यह कार्य-क्रम इतना अधिक विस्तृत हुआ कि उसने कांग्रेस के विरुद्ध मुसलमानों पर अत्याचार[३] करने का दोषारोपण किया, और जब कांग्रेसी मंत्रिमंडल, द्वितीय महासमर के आरंभ होने पर, त्यागपत्र देकर शासन-भार से मुक्त हुए तो मुस्लिम लीग के अध्यक्ष मिस्टर जिन्ना ने मुसलमानों को मुक्ति-दिवस और प्रार्थना-दिवस मनाने का आदेश दिया।

गैर-कांग्रेसी मंत्रिमंडलों की विशेषताएँ—सन १९३५ के भारतीय

---

1. M Noman : Muslim India P. 338
2. Ibid P. 359
३. अखिल भारतीय मुस्लिम लीग ने इन अत्याचारों की जाँच के लिए एक कमेटी नियुक्त की थी जिसके अध्यक्ष पीरपुर के राजा मोहम्मद मेहदी थे।

शासन-संबंधी अधिनियम के अंतर्गत, भारत के पाँच प्रांतों अर्थात् बंगाल, पंजाब, सिंध, आसाम और उड़ीसा में गैर-कांग्रेसी मंत्रिमंडलों की स्थापना हुई थी। इनकी निम्नलिखित विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—

(१) ये सब मंत्रिमंडल मिले-जुले मंत्रिमंडल थे। कभी-कभी इनमें से कुछ, कांग्रेसी सदस्यों को भी अपने में सम्मिलित कर सके थे, पर साधारणतया इन प्रांतों की असेंबलियों में कांग्रेस विरोधी दल की हैसियत से काम करती थी।

(२) इन मंत्रिमंडलों की दूसरी विशेषता उनका अस्थायीपन था। उन्हें बार-बार आंतरिक संकटों का सामना करना पड़ता था। पंजाब का मंत्रिमंडल ही इस दुर्बलता से कुछ सीमा तक मुक्त था। फ्रांस के मंत्रिमंडलों के विषय में कहा जाता है कि उनके जन्म का समय एक शिशु के जन्म के समय से भी कम होता है। इन मंत्रिमंडलों का कार्य-काल बिल्कुल ही इस प्रकार का तो न था किंतु न्यूनाधिक इससे मिलता-जुलता अवश्य था।

(३) इन मंत्रिमंडलों के ऊपर किसी प्रकार के हाई-कमांड का अस्तित्व न था। कुछ समय तक मुस्लिम लीग ने हाई-कमांड का स्थान अवश्य ग्रहण किया था, किंतु अधिकांश काल तक ये विधान-सभा के प्रति उत्तरदायी हो कर अपने समस्त कामों को करते रहे थे। मिस्टर कूपलैंड के मतानुकूल इन मंत्रिमंडलो की स्थिति उत्तरदायी सरकार के अनुकूल था। उन्होंने कांग्रेस हाई-कमांड की आलोचना यह कह कर की थी कि किसी के प्रति उत्तरदायी हुए बिना वह उत्तरदायी मंत्रिमंडलों को अपने इशारे के अनुसार चलाता था।[1]

(४) इन मंत्रिमंडलों की स्थिति कांग्रेसी मंत्रिमंडलों की स्थिति से मुख्यत: इस बात में भिन्न थी कि ये सन् १९३५ के संविधान को कार्यान्वित करना चाहते थे और कांग्रेसी मंत्रिमंडल उसके अंत पर तुले हुए थे। फल-स्वरूप, जब द्वितीय युरोपीय महासमर छिड़ा, कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने सहयोग करने से इनकार करके पद-त्याग कर दिया और इन मंत्रिमंडलों ने सरकार के साथ सहयोग करने का वचन दिया। बंगाल के मुख्य मंत्री[2] ने लड़ाई के छिड़ने पर, बंगाल की जनता से, मित्र-राष्ट्रों को सहायता करने को कहा और स्वयं उन्होंने और उनके सहयोगियों ने, युद्ध-प्रयत्नों में केंद्रीय सरकार के साथ सहयोग करने में तत्परता दिखलायी। पंजाब के मुख्य मंत्री ने इसी प्रकार का आश्वासन

---

1. Coupland : Indian Politics 1936-42 Vol. II P. 157
2. Ibid P. 29

दिया और पजाब की विधान-सभा ने इसी आशय का एक प्रस्ताव[1] पारित किया।

(५) इन मंत्रिमंडलों के कामों के संबंध में गवर्नर अपने विशेष उत्तरदायित्व के अधिकारों का प्रयोग करते रहे। कांग्रेसी मंत्रिमंडलों की भाँति, इन मंत्रिमंडलों ने पद-ग्रहण के समय गवर्नरों से विशेष उत्तरदायित्व के अधिकारों के प्रयोग के संबंध में किसी प्रकार का आश्वासन न लिया था। परिणाम-स्वरूप सन् १९३५ के संविधान के अनुच्छेदों के अनुसार गवर्नर अपने समस्त अधिकारों का प्रयोग करते रहे। कांग्रेसी बहुमत प्रांतों के मंत्रिमंडलों ने गवर्नरों के विशेष उत्तरदायित्व के अधिकारों से बचने के लिए संवैधानिक संकट का सहारा पकड़ा और अंत में मुख्यतः अपनी ही बात रखने में सफल हुए।

गैर-कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के काम—प्रायः सभी गैर-कांग्रेसी मंत्रिमंडल मिले-जुले मंत्रिमंडल थे। जिन दलों के मेल से वे बने थे, उन्होंने अपने निर्वाचन-घोषणा-पत्रों में अपने कार्यक्रम पर प्रकाश डाला था, पर उन सबको मिला कर किसी समन्वयात्मक कार्य-क्रम की घोषणा न की गयी थी। परिणाम-स्वरूप विभिन्न प्रांतों के कार्यक्रम में पूर्ण एकरूपता का अभाव था। फिर भी उन्होंने जो काम किये उनके आधार पर यह निष्कर्ष अनिवार्य हो जाता है कि उन सब का झुकाव एक ही ओर था और वे सब उसी प्रकार के कामों को कर रहे थे जिस प्रकार के कामों को कांग्रेसी मंत्रिमंडल कांग्रेस-बहुमत प्रांतों में।

इन मंत्रिमंडलों का पहला काम युद्ध-प्रयत्नों में सरकार का साथ देना था। ऊपर हम इस विषय पर कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। दूसरा काम शांति और व्यवस्था की रक्षा करना था। कांग्रेसी प्रांतों की भाँति इनमें भी क्रांतिकारियों का अस्तित्व था और सांप्रदायिक उपद्रव हुआ करते थे। इन मंत्रिमंडलों ने इन दोनों कठिनाइयों का सामना किया और उसमें बहुत-कुछ सफल भी हुए।

बंगाल और पंजाब में क्रांतिकारियों की समस्या अन्य प्रांतों की अपेक्षा अधिक गंभीर थी। जिस समय मिस्टर फजलुल हक के नेतृत्व में बंगाल का मंत्रिमंडल बना था उस समय बंगाल के विभिन्न जेलों में कम से कम २३०४ ऐसे बंदी थे जिन पर मुकदमा न चलाया गया था और जो बंगाल क्रिमिनल लॉ एमेंडमेंट ऐक्ट या पुराने रेग्यूलेशनों के अधीन बंदी बनाये गये थे। अनुमान लगाया जाता है कि ये समस्त कैदी या तो क्रांतिकारी थे या गुप्त सोसाइटियों

1. Coupland : Indian Politics 1936-42 Vol. II P. 43

के सदस्य। इनमें से ११५२ विभिन्न कारागारों में थे और शेष अपने घरों या गाँवों में निरुद्ध कर दिये गये थे। इनके अतिरिक्त सन् १९३८ के आरंभ में ३८७ ऐसे वंदी थे जिन पर क्रांतिकारी अपराधों के कारण मुकदमें चलाये गये थे और जिन्हें न्यायालय द्वारा दंडादेश मिला था। इनमें से ६५ कैदियों को हत्या के कारण दंड मिला था, १० को हत्या के प्रयत्न के कारण और १०२ को डकैती और हत्या के प्रयत्न के कारण। बंगाल के मंत्रिमंडल ने इन वंदियों को उनके अपराध की गंभीरता के अनुसार, विभिन्न श्रेणियों में विभक्त किया और सबको एक साथ न छोड़कर, उनके क्रमशः मुक्त करने की नीति को अपनाया। २५ अगस्त सन् १९३८ तक वे सब वंदी छोड़ दिये गये जो जेलों या अपने घरो या गाँवों में निरुद्ध किये गये थे। इन रिहाइयों से ही बंगाल और भारत का लोकमत संतुष्ट न था। वह उन अभियुक्तों की भी रिहाई के पक्ष में था जिन्हें न्यायालय द्वारा दंडादेश दिया गया था। बंगाल के मंत्रिमंडल ने इनके संबंध में निम्नलिखित नीति का निर्धारण किया—(१) उन सब कैदियों की तुरंत रिहाई जो बीमार थे और जिनकी बीमारी स्थायी अथवा गंभीर थी; (२) उन सब कैदियों की यथाशीघ्र रिहाई, जिन्हें हत्या या गंभीर हिंसा के लिए दंड मिला था और जिनकी सजा समाप्त होने के लिए १८ महीने का समय था; (३) अन्य अभियुक्तों के लिए ९ सदस्यों की एक परामर्श-दात्री समिति की नियुक्ति की गयी। जाँच के पश्चात् यह कमेटी इन अभियुक्तों के संबंध में सरकार के पास सिफारिश भेजने को थी। इस नीति को कार्यान्वित करने के परिणाम-स्वरूप, अक्टूबर सन् १९३९ तक, ४१ के अतिरिक्त अन्य समस्त अभियुक्त मुक्त कर दिये गये।

बंगाल की अपेक्षा पंजाब में राजनीतिक वंदियों की समस्या कम गंभीर थी। वहाँ पर लगभग ४४ ऐसे अभियुक्त थे, जो न्यायालय द्वारा दी गयी सजा को भोग रहे थे। इनमें से १६ को हत्या के अपराध के कारण सजा मिली थी, २ को हत्या के प्रयत्न के कारण और ७ को डकैती और हत्या के प्रयत्न के कारण। इनकी रिहाई के लिए एक राजनीतिक वंदी-मुक्ति सोसाइटी (Political Prisoners Release Society) स्थापित की गयी और सन् १९३८ के आरंभ में वंदियों ने स्वयं अपनी रिहाई के लिए अनशन करना आरंभ किया। गांधीजी को रिहाई के लिए अनशन का साधन पसंद न था। उनके हस्तक्षेप के परिणाम-स्वरूप वंदियों ने अनशन को समाप्त कर दिया। इसके कुछ दिनों पश्चात मार्च सन् १९३८ में ७ ऐसे वंदी, जो हिंसा के अप-

राधी न थे और ५ क्रांतिकारी बंदी इस शर्त पर मुक्त कर दिये गये कि भविष्य में, यदि वे इसी प्रकार के अपराध करेंगे, तो पुनः गिरफ्तार कर लिये जायंगे।

बंगाल और पंजाब की सरकारों को, उन लोगों का भी सामना करना पड़ा, जो विद्रोह फैलाने वाले भाषणों को देते थे। इनमें अधिकतर, साम्यवादियों और कांग्रेसी नेताओं की गणना की जाती थी। कांग्रेसी नेता, कांग्रेसी सरकारों से तुलना करके, इस बात पर जोर देते थे कि गैर-कांग्रेसी प्रांतों में जनता को स्वतंत्रता-संबंधी उतने अधिकार प्राप्त न थे जितने कांग्रेसी प्रांतों में। इन प्रांतों के मंत्रिमंडलों ने इन लोगों का भी सफलतापूर्वक सामना किया।

शांति और व्यवस्था की दूसरी समस्या का संबंध सांप्रदायिकता से था। बंगाल में सन् १६३६ तक, इस समस्या के कारण किसी प्रकार की कठिनाई नहीं हुई थी किंतु, कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के पद-त्याग और मिस्टर जिन्ना द्वारा मुक्ति-दिवस और प्रार्थना-दिवस मनाने के आदेश के पश्चात, इस समस्या ने विकराल रूप धारण किया और सन् १६४० से सांप्रदायिक उपद्रव होने लगे। अगस्त सन् १६४० में ढाका का सांप्रदायिक दंगा हुआ; सितंबर में बर्दवान के जिले में सांप्रदायिक उत्पात उठ खड़े हुए और मार्च सन् १६४१ में खुलना की बारी आयी। बंगाल की सरकार ने इन सब उपद्रवों का सफलतापूर्वक सामना किया। मिस्टर कूपलैंड के मतानुकूल बंगाल के मंत्रियों ने जिस ढंग से शांति और व्यवस्था के संरक्षण का काम किया उसके आधार पर सत्ता के हस्तांतरण के विरुद्ध कुछ भी नहीं कहा जा सकता[1]।

पंजाब में सांप्रदायिकता की समस्या बंगाल की अपेक्षा कहीं अधिक गंभीर थी। मंत्रिमंडल के बनने के पश्चात ही मुसलमानों और हिंदुओं और मुसलमानों और सिक्खों में सांप्रदायिक दंगे हुए। सन् १६३८ के आरंभ में शहीदगंज मस्जिद के स्वामित्व का मामला उठा। उसे मुसलमानों के अधीन रखने के अहरारों[१] ने सविनय अवज्ञा का मार्ग अपनाया। परिणाम-स्वरूप लगभग

1. Coupland : Indian Politics 1936-42 Vol. II P. 37

१. इस दल की उत्पत्ति सन् १६३० में हुई थी। इसके संस्थापकों में मुख्य मौलाना जफर अली खाँ, चौधरी अफजल हक, सैयद अताउल्ला शाह बोखारी, मौलाना मुहम्मद दाउद गजनवी; मौलवी मजहर अली आदि थे। यह दल कांग्रेस के कार्य-क्रम को दब्बू एवं अधमना समझता था और समाजवादियों की भाँति अधिक क्रांतिकारी कार्य-क्रम के पक्ष में था।

२०० गिरफ्तारियाँ हुईं और १५८ मनुष्यों को कारागार का दंड मिला। खाकसारों[1] के संगठन ने भी जोर पकड़ा। सन् १९३९ के आरंभ में उनकी संख्या लगभग ७००० के थी और उनका संगठन सैनिक संगठन था। कालांतर में उनकी संख्या में और भी अधिक वृद्धि हुई और उनका संगठन देश व्यापी हो गया। उनकी कार्रवाइयों के कारण, दूसरे संप्रदाय के लोगों का भयभीत होना अनिवार्य था। अत: पंजाब की सरकार ने उनके संगठन को गैर-कानूनी घोषित कर दिया और उनके नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। अगस्त सन् १९३९ में केंद्रीय सरकार ने 'प्राइवेट सेनाओं' के विरुद्ध एक ऑर्डीनेंस जारी की। इससे पंजाब की सरकार को बड़ी सहायता मिली। उसने समझौते के द्वारा भी खाकसारों की समस्या के सुलझाने का प्रयत्न किया और इसमें सफल भी हुई। सितंबर सन् १९३९ में, सदाचरण का वचन देने पर खाकसारों के विरुद्ध निषेधाज्ञा उठा ली गयी। किंतु उन्होंने अपने संगठन को कायम रखा और कुछ दिनों पश्चात् पुनः अपने कामों में लग गये। ५ जून सन् १९४१ को, केंद्रीय सरकार का आदेश पाकर खाकसार संगठन पुनः गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। इन बातों से यह स्पष्ट है कि बंगाल की गैर-कांग्रेसी सरकार की भाँति, पंजाब की गैर-कांग्रेसी सरकार भी शांति और व्यवस्था बनाये रखने में सफल हुई।

पंजाब की भाँति सिंध में भी, सांप्रदायिक शांति की समस्या एक कठिन समस्या थी। यहाँ का सांप्रदायिक उत्पात मंजिलगाह नामी दो भवनों के कारण आरंभ हुआ। ये सक्कर नगर में स्थित थे और अति काल से सरकार के कब्जे में थे। मुसलमानों का कहना था कि इनमें से कम से कम एक भवन, एक समय मस्जिद था। अतः सरकार को चाहिये कि वह उसे मुसलमानों को दे दे। सिंध का मंत्रिमंडल इस विषय में एकमत न था। अतः १ अक्टूबर सन् १९३९ को मुसलमानों ने सविनय अवज्ञा आंदोलन चलाने का निश्चय किया और ३ अक्टूबर को मुसलमानों की एक भीड़ ने, पुलिस को निकाल कर उस भवन पर कब्जा कर लिया। सिंध के हिंदू इस कार्रवाई के विरुद्ध थे। उनका

---

१. इस दल की स्थापना इनायतुल्ला खाँ मशरिकी ने सन् १९३० में की थी। इसका संगठन सैनिक था और प्रत्येक खाकसार अपने साथ एक बेलचा रखता था। इसका संगठन न्यूनाधिक देश व्यापी हो गया था। इसके आधार पर इसके संस्थापक की इच्छा थी कि समस्त भारत पर उसका राज स्थापित हो जाय और अपने अधीन १४ अधिकारियों को नियुक्त करके वह उनकी सहायता से उस पर शासन करे।

मत था कि समझौते का प्रयत्न न करके, उन लोगों को दंड देना चाहिये जिन्होंने कानून का उल्लंघन किया है। इसी बीच एक हिंदू कवि की हत्या कर दी गयी। परिणाम-स्वरूप हिन्दू-मुस्लिम दंगा हुआ। सिंध के अन्य नगरों में भी यह उपद्रव फैल गया और अल्पसंख्यक हिंदुओं पर तरह तरह के अत्याचार होने लगे। अतः सिंध के मंत्रि-मंडल के दो हिंदू सदस्यों ने अपने त्याग-पत्र दे दिये। मंजिलगाह का मामला न्यायाधीश वेस्टन के अधीन उनके निर्णय के लिए कर दिया गया। उन्होंने अपने निर्णय में बतलाया कि पश्चिमी भवन मस्जिद की भांति प्रयोग के लिए बनवाया गया था। इस निर्णय के पश्चात् सरकार ने मंजिलगाह को एक बोर्ड के अधीन कर दिया। मुस्लिम लीग मुसलमानों की अर्द्धगति से संतुष्ट न थी। वह मंजिलगाह को मुसलमानों के अधीन करने के पक्ष में थे। ओम्-मंडली[1] और हूरों[2] के उत्पात के कारण भी सिंध के मंत्रिमंडल को शांति और व्यवस्था की रक्षा में कुछ कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, पर अंत में अन्य गैर-कांग्रेसी सरकारों की भांति वह शांति और व्यवस्था की रक्षा में सफल हुई।

सारांश यह कि जहाँ तक शांति और व्यवस्था की रक्षा का प्रश्न था, वहाँ तक यह कहना अनुचित नहीं, कि गैर-कांग्रेसी मंत्रिमंडल इस काम में उतने ही प्रयत्नशील थे जितने कांग्रेसी मंत्रिमंडल। यदि इस संबंध में उनकी सफलता कांग्रेसी मंत्रिमंडलों से कुछ कम थी तो इसका कारण यह न था कि वे कम प्रयत्नशील थे, वरन् यह कि वे मिले-जुले मंत्रिमंडल थे, जो अपनी किसी नीति का दृढ़ता से अनुसरण न कर सकते थे।

गैर कांग्रेसी मंत्रिमंडल और राष्ट्र-निर्माण—शांति और व्यवस्था की रक्षा के अतिरिक्त, गैर कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने, कांग्रेसी मंत्रिमंडलों की भाँति

---

१. ओम्-मंडली, आधुनिक विचारों के मनुष्यों का एक समाज था। इसका कोई सांप्रदायिक आधार न था। पर अधिकांश सदस्य हिंदू थे। स्त्री-सदस्यों की संख्या भी काफी थी। कहा जाता था कि मंडली के कारण अनैतिकता का प्रचार हो रहा था। सरकार ने ओम्-मंडली के मामलों की जाँच के लिए एक न्यायालय नियुक्त किया। उसकी सिफारिश के अनुसार ओम्-मंडली एक गैर-कानूनी संस्था घोषित कर दी गयी।

२. यह कट्टर कबाइली लोगों का एक संगठन था, जो पीरों के आदेशानुकूल अपने समस्त काम करते थे। इनके कारण सिंध में बड़ा उत्पात मचा, पर अंत में सिंध की सरकार ने लगभग २००० हूरों को पकड़ कर उन पर मुकदमा चलाया। ४५ को फाँसी की सजा दी गयी। अतः यह आंदोलन समाप्त हो गया।

राष्ट्र-निर्माण के कार्य-क्रम को भी अपनाया। बंगाल की सरकार ने मालगुजारी के प्रश्नों की जाँच के लिए एक कमीशन की नियुक्ति की। किसानों की दशा सुधारने के लिए बंगाल टिनेंसी ऐक्ट में संशोधन करके जमींदारों के अधिकार घटाये गये और साहूकारों के लाइसेंसों की व्यवस्था करके ब्याज की दर अधिक से अधिक १० प्रतिशत निर्धारित की गयी। बंगाल शाप और इस्टैब्लिशमेंट्स अधिनियमों के द्वारा दूकानों के बंद करने के समय तथा नौकरों की छुट्टी की व्यवस्था की गयी। कलकत्ता म्युनिसिपिल्टी के संविधान में संशोधन करके मुसलमानों और आंग्ल-भारतीयों के लिए पृथक निर्वाचन की व्यवस्था की गयी और अनुसूचित जातियों के लिए स्थान सुरक्षित कर दिये गये। शिक्षा और मद्य-निषेध के विषय में बंगाल के मंत्रिमंडल ने जो कुछ किया वह नगण्य-सा था। पंजाब के गैर-सरकारी मंत्रिमंडल ने राष्ट्र-निर्माण के जो काम किये वे न्यूनाधिक बंगाल के कामों के समान थे। पंजाब एलियेनेशन आफ् लैंड (Alienation of Land) अधिनियम को तीन नये अधिनियमों द्वारा संशोधित करके कृषि की भूमि का बेचना या गिरवी रखना अधिक कठिन कर दिया गया। दि रेस्टीट्यूशन आफ् मारगेजड् लैंड्स (The Restitutioen of Mortgaged Lands) अधिनियम के द्वारा सुविधापूर्ण शर्तों पर उस भूमि की वापसी की व्यवस्था की गयी जो सन् १९०१ के पहले गिरवी रखी गयी थीं। एग्रीकल्चरल मारकेट्स प्राडक्ट्स (Agricultural Markets Products) अधिनियम के द्वारा भोलेभाले किसानों को धोखेबाजों से बचाने का प्रयत्न किया गया। बंगाल की भाँति पंजाब में भी साहूकारों की रजिस्ट्री का अधिनियम बना, और कर्जदारों को ऋण-भार से मुक्त करने अथवा उसे घटाने, अथवा ऋण संबंधी दुष्परिणामों से बचाने का प्रयत्न किया गया। सरकार ने नगरों में स्थित अचल संपत्ति पर टैक्स लगाया, किराये की वृद्धि को रोका और बिक्री-कर संबंधी एक अधिनियम पारित किया। शिक्षा-प्रचार के प्रयत्नों में पंजाब के मंत्रिमंडल का काम बंगाल से श्रेष्ठतर था, पर मद्यनिषेध के संबंध में उसका काम बंगाल से भी ढीला था।

गैर-कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के राष्ट्र-निर्माण के कामों के उक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कांग्रेसी और इन मंत्रिमंडलों के कार्य-क्रम में विशेष अंतर न था। यदि अंतर था तो कार्य-संपादन के उत्साह एवं उसके ढंग में था। कांग्रेसी मंत्रिमंडल, देश-प्रेम की भावना से प्रेरित हो, अपने कामों को जिस उत्साह एवं लगन से करते थे उसका गैर-कांग्रेसी मंत्रिमंडलों में अभाव था।

गैर-कांग्रेसी मंत्रिमंडलों की कठिनाइयाँ—कांग्रेसी मंत्रिमंडलों की भाँति गैर-कांग्रेसी मंत्रिमंडलों की भी कुछ कठिनाइयाँ थीं। उनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—(१) गैर-कांग्रेसी मंत्रिमंडल एक प्रकार से अस्थायी से थे। वे कई दलों के मेल से बने थे, जिन्हें मिला कर हमेशा एक सूत्र में बाँधना कठिन था। फल-स्वरूप थोड़े-थोड़े समय में नये-नये मंत्रिमंडल बने अथवा पुराने मंत्रिमंडलों में परिवर्तन किये गये। यह स्थिति दृढ़ उत्तरदायी-शासन के अनुकूल न थी। (२) दूसरी कठिनाई राजनीतिक दलों की थी। उत्तरदायी सरकार और राजनीतिक दलों में घनिष्ट संबंध होता है। सफल उत्तरदायी सरकार के लिए यह आवश्यक है कि राजनीतिक दलों की संख्या कम और उनकी शक्ति सतुलित हो। गैर-कांग्रेसी प्रांतों में राजनीतिक दलों की संख्या अत्यधिक थी। पंजाब के निर्वाचन में १५, बंगाल के निर्वाचन में ११, आसाम के निर्वाचन में १४ और सिंध के निर्वाचन में ८ राजनीतिक दलों ने भाग लिया था। यह स्थिति दृढ़ उत्तरदायी-शासन के अनुकूल न थी। (३) तीसरी कठिनाई बाहरी हस्तक्षेप की थी। इन मंत्रिमंडलों पर जब कभी मुस्लिम लीग का प्रभाव बढ़ता था, तब उन्हें मुस्लिम लीग के आदेशों को मानना पड़ता था। सिंध के मंत्रिमंडल को एक समय न्यूनाधिक वही कार्य-क्रम अपनाना पड़ा था जो कांग्रेसी मंत्रिमंडलों का था। आसाम के मंत्रिमंडल में कभी-कभी कांग्रेसी मंत्रियों को भी सम्मिलित करना पड़ा था। (४) गैर-कांग्रेसी मंत्रिमंडलों में कभी-कभी योग्य मंत्रियों की कमी थी। यदि उन्हें योग्य सिविल सर्विस की सहायता न मिलती, तो बहुत संभव था कि वे अपने काम में सर्वथा असफल होते। (५) गैर-कांग्रेसी प्रांतों में, विरोधी दल या तो कांग्रेसवादियों का था या उनके नेतृत्व में था। कांग्रेसी पार्टी अन्य पार्टियों की अपेक्षा अधिक अनुशासित एवं संगठित थी। इसके विरोध का नैतिक प्रभाव इतना अधिक था कि सरकारी दल के लिए उसका सामना करना कुछ कठिन सा हो गया था। (६) गैर-कांग्रेसी प्रांतों में सांप्रदायिक समस्या कांग्रेसी प्रांतों से भी अधिक गंभीर थी। अतः इनकी सरकारों को अपना अधिकांश समय शांति और व्यवस्था की रक्षा में व्यतीत करना पड़ा था।

४

कांग्रेस की आंतरिक स्थिति

अग्रगामी दल की स्थापना

प्रस्तावना—भारत में मजदूर आंदोलन—कांग्रेस समाजवादी दल का उदय—कांग्रेस वामपक्षी की अध्यक्षता में भारत में किसान आंदोलन—हरिपुरा अधिवेशन और सुभाषचंद्र बोस—त्रिपुरी अधिवेशन की अध्यक्षता—अध्यक्ष संबंधी मतभेद की समीक्षा—अग्रगामी दल की उत्पत्ति और उसका कार्य-क्रम—अंतिम दृश्य, अनुशासन की कारंवाई।

प्रस्तावना—आरंभ ही से कांग्रेस का कार्य-क्रम रचनात्मक और विध्वंशात्मक दोनों ही था। एक ओर वह ब्रिटिश सरकार से संघर्ष करके देश को स्वतंत्र बनाना चाहती थी और दूसरी ओर अपने रचनात्मक कार्य-क्रम को कार्यान्वित करके, भारतीय जनता की सामाजिक और आर्थिक उन्नति के लिए प्रयत्नशील थी। सन् १९३५ के अधिनियम के अंतर्गत निर्वाचन में भाग लेकर और तत्पश्चात मंत्रि-पद-ग्रहण की अनुमति देकर, कांग्रेस ने इसी दोहरे कार्य-क्रम को अपने सामने रखा था। वह सन् १९३५ के संविधान के विनाश पर तुली हुई थी। वह विधान-मंडलों में सहयोग के लिए नहीं वरन् लड़ाई के लिए प्रविष्ट हुई थी। साथ ही साथ वह अपने रचनात्मक कार्य-क्रम को पूरा करना चाहती थी। सन् १९३५ से १९३९ तक इस कार्य-क्रम तथा उसके कार्यान्वित करने के लिए अपनाये गये साधनों के कारण, कांग्रेस के सदस्यों में आधारभूत मतभेद हो गया। वे उग्र और नरम वर्गों में विभक्त दिखलायी पड़ने लगे। लोक-मान्य तिलक का यह कथन चरितार्थ होता दिखलायी पड़ता था कि "वे लोग जो आज गरम हैं, कल नरम हो जाते हैं।" एक समय था जब भारत के उदार नेता उग्र समझे जाते थे। सन् १९०७ में ऐसा प्रतीत हुआ कि वे

सुधारवादी हो गये थे। अतः लोकमान्य तिलक और उनके अनुयायी उग्र कहे जाने लगे। सन् १९२० में असहयोगियों के उदय के कारण, लोकमान्य तिलक और उनके अनुयायी भी नरम कहे जाने लगे। सन् १९३५ तक गांधी-जी और उनके असहयोगी अनुयायियों को भी नरम दल का बतलाया गया और कांग्रेस समाजवादियों, साम्यवादियों और रायवादियों को उग्रदलों की उपाधि मिली। इन्हें सामूहिक रूप में दक्षिण-पक्षी और वाम-पक्षी भी कहा जाता था।

भारत में मजदूर-आंदोलन—भारत में वामपक्षी (Leftist) विचारों की उन्नति उद्योग-धंधों की उन्नति के साथ साथ हुई। प्रथम महासमर के काल में, जब युरुप के कल-कारखाने युद्ध-सामग्री के तैयार करने में लगे थे, भारत को अपनी व्यावसायिक और व्यापारिक उन्नति का शुभ अवसर मिला और महँगाई के कारण मिल मालिकों को श्रमजीवियों के वेतन, बोनस आदि की माँगों को स्वीकार करना पड़ा। सन् १९२० में अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस की स्थापना हुई। यहीं से भारत में श्रमजीवियों के आंदोलन एवं उनके संगठन का श्रीगणेश हुआ। महासमर के पश्चात्, भारतीय और विदेशी उद्योग-धंधों की प्रतिस्पर्धा के कारण भारतीय मिल मालिकों के मुनाफे में कुछ कमी हुई और उन्होंने इस कमी की पूर्ति के लिए श्रमजीवियों के वेतन और बोनस में कटौती करना चाहा। इसके उत्तर में श्रमजीवियों ने हड़ताल की धमकी दी। समझौते के प्रयत्नों को आशातीत सफलता न मिली। अतः वे लोग जो मजदूरों की समस्या को सुधारवादी ढंग से सुलझाना चाहते थे, विफल-मनोरथ हुए। इसी काल में भारत में समाजवादी विचारों का भी प्रचार हुआ और कांग्रेस के अनेक सदस्य समाजवादी विचारों के हो गये।

सन् १९२७ में मजदूर-आंदोलन ने राजनीतिक क्षेत्र में पदार्पण किया। भारत की अन्य संस्थाओं की भांति मजदूर-संगठन ने भी साइमन कमीशन का विरोध एवं बहिष्कार किया। इसी साल कम्यूनिस्ट पार्टी के लोग भी संगठित रूप से मजदूर-आंदोलन में सम्मिलित हुए। वे लोग सुधारवादी ढंग के विरोधी थे और श्रेणी-संघर्ष (Class-war) के द्वारा श्रमजीवियों की अवस्था को सुधारना चाहते थे। कुछ कांग्रेस के सदस्य भी मजदूर-आंदोलनों की सहायता करने लगे। सन् १९२७ में कम्यूनिस्टों और उपर्युक्त कांग्रेस के सदस्यों का ट्रेड-यूनियन-कांग्रेस की नीति के निर्धारण में पर्याप्त हाथ था। किंतु सुधार-वादियों, साम्यवादियों और कांग्रेसवादियों का, सैद्धांतिक मतभेद के कारण,

एक साथ मिल कर काम करना असंभव था। अतः सन् १६३० तक भारतीय मजदूरों की तीन अखिल भारतीय संस्थाएँ बन गयीं—(१) अखिल भारतीय ट्रेड-यूनियन कांग्रेस, जो कांग्रेस के प्रभाव में थी; (२) अखिल-भारतीय ट्रेड यूनियन फेडेरेशन, जो दक्षिण पथ की ओर झुकी हुई एवं सुधारवादियों के प्रभाव में थी और (३) लाल ट्रेड यूनियन कांग्रेस जो साम्यवाद की ओर झुकी हुई थी।

कांग्रेस समाजवादी दल का उदय—सन् १६३२ में सविनय अवज्ञा आंदोलन के स्थगित होने पर कांग्रेस के कुछ सदस्य मार्क्सवाद की ओर झुक गये। कम्यूनिस्ट पार्टी और इनमें एक एक महत्वपूर्ण अंतर यह था कि ये कांग्रेस के अंतर्गत अपने कामों को करना चाहते थे और कम्यूनिस्ट पार्टी के लोग कांग्रेस के विरोधी थे। कांग्रेस के इस दल के सदस्यों में वे लोग भी सम्मिलित थे जो सन् १६२७ से मजदूर आंदोलन में भाग ले रहे थे। क्रमशः इस दल का प्रभाव बढ़ता गया। सन् १६३४ में जब कांग्रेस के अनेक दक्षिण-पथ के अनुगामी, स्वराजपार्टी की स्थापना और कौंसिल-प्रवेश पर जोर दे रहे थे, उस समय समाजवादी विचारों के लोग इन दोनों बातों के विरुद्ध थे। अतएव तत्कालीन परिस्थिति पर विचार करने के लिए १७ मई सन् १६३४ को आचार्य नरेंद्रदेव की अध्यक्षता में, पटना में समाजवादियों का प्रथम अखिल भारतीय सम्मेलन हुआ। इसके द्वारा स्वीकृत दूसरे प्रस्ताव के अनुसार कांग्रेस के अंतर्गत समाजवादी दल की स्थापना का निश्चय किया गया। इस प्रकार कांग्रेस समाजवादी दल का उदय हुआ। नाम के साथ कांग्रेस शब्द के जोड़ने के मुख्यतः दो कारण थे—(१) साम्य-वादी दल की भाँति यह दल कांग्रेस का विरोधी न था और (२) यह कांग्रेस के अंतर्गत अपने कार्य-क्रम को पूरा करना चाहता था। सम्मेलन में यह भी निश्चित हुआ कि समाजवादी दल का कोई भी सदस्य न तो स्वराजपार्टी का सदस्य होगा और न किसी सांप्रदायिक संगठन का। कुछ समाजवादी कांग्रेस से पूर्णतया स्वतंत्र संस्था की स्थापना के पक्ष में थे, पर सम्मेलन में सम्मिलित अधिकांश समाजवादी कांग्रेस से पूर्णरूपेण संबंध-विच्छेद के विरोधी थे। सम्मेलन ने समाजवादी कार्य-क्रम भी निर्धारित किया। उसकी निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—(१) जनता के हाथ में समस्त सत्ता का हस्तांतरण; (२) देश के आर्थिक जीवन के विकास का राज्य द्वारा आयोजन और नियंत्रण; (३) मुख्य दस्तकारियों जैसे लोहा, कपास, जूट, रेलों, जहाजों, खानों, बंकों

आदि का समाजीकरण ताकि उत्पादन, वितरण और विनिमय के समस्त साधनों का उत्तरोत्तर समाजीकरण होता जाय; (४) आर्थिक जीवन के जिस अंश का समाजीकरण न हो उसमें विदेशी व्यापार, उत्पादन, वितरण और साख पर राज्य का अधिकार, (५) नरेशों, जमींदारों और अन्य शोषक वर्गों का अंत; (६) भूमि का किसानों में पुनर्वितरण; (७) सहकारी सामूहिक कृषि की वृद्धि और विकास ताकि अंत में समस्त कृषि का समष्टीकरण किया जा सके; (८) किसानों और मजदूरों के ऋण का अंत; (६) कार्यात्मक आधार पर वयस्क मताधिकार।

कांग्रेस के अनेक दक्षिण पक्षी नेता नये दल के विरोधी थे। १८ जून सन् १६३४ को कांग्रेस-कार्य-समिति तक ने अपने एक वक्तव्य में, कांग्रेस के अंतर्गत विभिन्न विचार-धाराओं के समूहों के निर्माण का स्वागत करते हुए समाजवादियों के व्यक्तिगत संपत्ति के अपहरण तथा श्रेणी-संघर्ष की असंगत बातों को करांची और बंबई में स्वीकृत कांग्रेस की अहिंसात्मक कार्य-पद्धति से असंगत बतलाया था। समाजवादियों ने कार्य-समिति के वक्तव्य के खंडन में अपने वक्तव्य प्रकाशित किये और विरोध पर विशेष ध्यान न देकर अपने कार्य-क्रम को पूरा करने में लगे रहे। २१ और २२ अक्टूबर सन् १६३४ को बंबई में अखिल भारतीय समाजवादी सम्मेलन का प्रथम खुला अधिवेशन हुआ। इसमें समाजवादी दल का संविधान स्वीकृत हुआ। इन दिनों आचार्य नरेंद्रदेव, श्री जयप्रकाश नारायण, श्रीमती कमलादेवी चट्टोपाध्याय, डाक्टर राममनोहर लोहिया, श्री मोहनलाल गौतम, श्री अच्युत पटवर्धन, श्री एम० आर० मसानी, श्री श्रीप्रकाश, श्री सम्पूर्णानंद, श्रीमती अरुणा आसफ अली आदि मुख्य समाजवादी नेता थे और पं० जवाहरलाल नेहरू और श्री सुभाषचंद्र बोस भी समाजवादी समझे जाते थे।

कांग्रेस वामपक्षी की अध्यक्षता में—अप्रैल सन् १६३६ में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन लखनऊ में हुआ था और दिसंबर सन् १६३६ में फैज़पुर में। दोनों में पं० जवाहरलाल नेहरू ने अध्यक्ष के पद को सुशोभित किया था। अपनी धर्मपत्नी श्रीमती कमला नेहरू के शरीरांत के पश्चात् व मार्च सन् १६३६ मे युरुप से लौटे थे और साम्यवादी (Communist) विचार-धारा से भली भाँति प्रभावित हो चुके थे। कांग्रेस की विचार-धारा उससे भिन्न थी। अतः नेहरूजी को एक भयंकर मानसिक द्वंद्व का सामना करना पड़ा। अपनी भावना और विश्वास में वे कांग्रेस के साथ थे किंतु बुद्धि और

कर्तव्य में साम्यवाद के साथ। इस विकट स्थिति के सभालने के लिए उन्होंने नवीन और प्राचीन के मिलाने का प्रयत्न किया। वे गांधीवाद और साम्यवाद के बीच में एक पुल की तरह थे। अतः लखनऊ में कांग्रेस के अध्यक्ष के पद को ग्रहण करने के लिए सर्वोत्तम व्यक्ति थे। उन्होंने अपनी कार्य-समिति में तीन समाजवादियों, श्री जयप्रकाश नारायण, आचार्य नरेंद्रदेव और श्री अच्युत पटवर्धन को रखा। कार्य-समिति के अन्य दस सदस्य दक्षिण-पक्षी थे और उन्हें गांधीजी का सहयोग प्राप्त था। अवशिष्ट ग्यारहवें सदस्य, श्री सुभाषचंद्र बोस, का अपना पृथक व्यक्तित्व और कार्य-क्रम था। नेहरूजी को यह स्थिति कुछ खटकती सी थी। किंतु वे दिये गये काम से विचलित होने को तैयार न थे। इस संघर्ष के काल में उनके साम्यवादी विचार समाजवादी विचारों में बदल गये, और कुछ दिनों पश्चात् उनका समाजवाद, गांधीवाद के निकट जा पहुँचा। अपने पिछले कुछ महीनों के कामों की समीक्षा करते हुए उन्होंने अपने समाजवाद का चित्रण निम्नलिखित शब्दों में किया था—

"मैं जिस चीज को चाहता हूँ वह यह है कि समाज से मुनाफे का भाव निकल जाय और उसकी जगह समाज-सेवा की भावना आ जाय। प्रतिद्वंद्वता की जगह सहयोग ले ले। उत्पादन लाभ के लिए न होकर उपभोग के लिए हो। वजह यह है कि मैं हिंसा से घृणा करता हूँ और उसे निंद्य समझता हूँ। वर्तमान व्यवस्था हिंसा पर खड़ी हुई है। मैं उसे स्वेच्छा से सहन नहीं कर सकता। इसलिए मैं एक ऐसी स्वेच्छापूर्ण सुदृढ़ और समर्थ व्यवस्था चाहता हूँ जिसमें से हिंसा की जड़ें निकाल दी गयी हों, जहाँ घृणा लुप्त हो गयी हो और उनकी जगह श्रेष्ठतर भावनाओं ने ले ली हो। इस सबको मैं समाजवाद कहता हूँ।"[1]

नेहरूजी के उक्त विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके समाजवाद की गहराई कितनी थी। वे वास्तव में गांधीवादी थे और उसका परित्याग करके पूर्ण-रूपेण मार्क्सवादी न बन सकते थे।

फैजपुर के अधिवेशन के अध्यक्ष के लिए नेहरूजी का नाम पुनः प्रस्तावित किया गया। दूसरा नाम सरदार वल्लभ भाई पटेल का था। किंतु उन्होंने अपना नाम वापस कर लिया था। वे पं० जवाहरलालजी से सब बातों में सहमत न थे। वास्तव में उनके और पं० जवाहरलाल नेहरू के विचारों में भारी मतभेद

---

१. पट्टाभि सीतारामय्या—कां० इ०, दूसरा भाग, पृष्ठ २६।

था। किंतु, देश की तत्कालीन परिस्थिति में, वे पं० जवाहरलाल नेहरू को ही अध्यक्ष-पद के लिए सर्वोत्तम व्यक्ति समझते थे। "इसीलिए मैं प्रतिनिधियों को यह बताता हूँ कि देश में जो विभिन्न शक्तियाँ काम कर रही हैं उनका ठीक दिशा में नियंत्रण और निर्देशन करने और साथ ही राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करने के लिए जवाहरलालजी ही सर्वोत्तम व्यक्ति हैं।"[1] पं० जवाहरलाल नेहरू भी अपने को सर्वथा उपयुक्त मानने से इनकार करते थे। इस संबंध में उनके विचार निम्नलिखित थे—

"मैं एक विचित्र स्थिति में हूँ और विवाद में नहीं पड़ना चाहता। मैं फिर राष्ट्रपति चुना जाना नहीं चाहता था और मैंने यह कहा था कि जिस किसी दूसरे आदमी का चुनाव होगा उसको मैं सहर्ष सहयोग दूँगा। बड़े योग्य और सम्मान्य साथियों के नाम इस पद के लिए पेश किये गये हैं और उनमें से किसी का भी चुनाव उपयुक्त होता। लेकिन जैसा मैं पहले कह चुका हूँ वर्तमान परिस्थितियों में मैं 'नहीं' नहीं कह सकता।"[2]

नेहरूजी के उक्त दृष्टिकोण के कारण उनका पुनर्निर्वाचन अनिवार्य हो गया। दूसरे कार्य-काल में उनका समाजवाद पहले की अपेक्षा कुछ और शिथिल हो गया। अध्यक्ष-पद से दिये गये अपने भाषण में उन्होंने निम्नलिखित विचार प्रगट किये थे—

"कांग्रेस आज भी हिंदुस्तान में पूरी तरह लोकतंत्र लाना चाहती है और उसीके लिए लड़ती है। वह साम्राज्यवाद के विरुद्ध है और राजनीतिक और सामाजिक ढाँचे में बड़े-बड़े परिवर्त्तनों की कोशिश में है। मेरी ऐसी आशा है कि घटनाओं के प्रवाह में समाजवाद आ जायगा, क्योंकि मुझे ऐसा लगता है कि हिंदुस्तान की आर्थिक बीमारी का सिर्फ वही एक इलाज है।"

भारत में किसान-आंदोलन—भारत में मजदूर आंदोलन का विवरण ऊपर दिया जा चुका है। सन् १९३६ और १९३७ में वह पूर्ववत् चलता रहा। इन्हीं दिनों भारत में किसान-आंदोलन ने भी जोर पकड़ा। अखिल-भारतीय किसान कांग्रेस का पहला अधिवेशन लखनऊ में और दूसरा फैजपुर में हुआ। किसान-आंदोलन के समर्थक भी उग्रवादी कहे जाते थे। उनमें से अनेक कांग्रेस समाजवादी दल के साथ थे। किसान-आंदोलन के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित थे—

---

१. वहीं पृ० ३४। २. वहीं पृ० ३५।

(अ) आर्थिक शोषण से पूर्ण मुक्ति प्राप्त करना और किसान, मजदूर एवं अन्य शोषित वर्गों को आर्थिक एवं राजनीतिक शक्ति दिलाना ;

(ब) किसानों को संगठित करना और तत्कालीन आर्थिक और राजनीतिक माँगों के लिए लड़ना ताकि अंत में वे सब प्रकार के शोषण से बरी हो जायँ ;

(स) स्वाधीनता के युद्ध में भाग लेकर अंत में उत्पादन करने वाले वर्गों को आर्थिक और राजनीतिक शक्ति दिलाना ।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किसान-आंदोलन चाहता था कि बकाया लगान और मालगुजारी माफ कर दी जाय, अपना ऋण चुकाने के लिए किसानों को उचित मोहलत मिले, ऋण के लिए गिरफ्तारी और जेल में भेजा जाना बंद कर दिया जाय, ब्याज की दर निर्धारित की जाय, पोस्टकार्ड का दाम एक पैसा कर दिया जाय इत्यादि । अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किसान-सभाएँ जलूस निकालती थीं, लगान-बंदी की धमकी देती थीं और कभी कभी सत्याग्रह आरंभ करने की घोषणा करती थीं ।

मजदूर और किसान-आंदोलन, ट्रेड यूनियन कांग्रेस और अखिल-भारतीय किसान कांग्रेस, तथा अनेक संबंधित संस्थाएँ इस बात की परिचायक थीं कि भारत की राष्ट्रीय जागृति अब मध्यम श्रेणी के मनुष्यों तक ही सीमित न रह कर मजदूरों और किसानों तक फैल गयी थी । यह परिवर्तन समाजवाद के अनुकूल ही था । इसे अधिक से अधिक चरितार्थ करने के लिए कांग्रेस के अधिवेशन, बड़े-बड़े नगरों और शहरों में न होकर देहातों में होने लगे थे । मजदूरों और किसानों की अधिकांश माँगें कांग्रेस की चुनाव-घोषणा में सम्मिलित कर ली गयी थीं ।

हरिपुरा अधिवेशन और सुभाषचंद्र बोस—सन् १९३८ में श्री सुभाषचंद्र बोस हरिपुरा कांग्रेस के अध्यक्ष निर्वाचित हुए । ये भी वामपक्षी थे और जिस गति से कांग्रेस आगे बढ़ रही थी, उससे असंतुष्ट थे । इनकी कार्य-समिति भी न्यूनाधिक वही थी जो पं० जवाहरलाल नेहरू की । कार्य-समिति के अधिकांश सदस्य इनके साथ न होकर गांधीजी के साथ थे । चुनाव के पश्चात् इन्होंने अपनी नीति का स्पष्टीकरण निम्नलिखित शब्दों में किया—

"कांग्रेस के अध्यक्ष के रूप में मेरे कार्य-काल में संघ-योजना व उसकी अराष्ट्रीय व अलोकतंत्रीय विशेषताओं का विरोध किया जायगा । यह विरोध शांतिपूर्ण व जायज उपायों द्वारा, जिनमें आवश्यकता पड़ने पर अहिंसात्मक असहयोग भी शामिल किया जा सकता है, किया जायगा । साथ ही योजना

का सामना करने के लिये देश के संकल्प को दृढ़तर बनाने का भी प्रयत्न किया जायगा।"[1]

इस स्पष्टीकरण से ही श्री सुभाषचंद्र बोस की उग्रता का कुछ आभास हो जाता है। वे कांग्रेस के सबसे कम उम्र वाले अध्यक्ष थे। अपने देश-प्रेम के लिए उन्होंने नाना प्रकार की यातनाएँ भोगी थीं। अतः उनके लिए उग्रवादी होना स्वाभाविक था।

श्री सुभाषचंद्र बोस के कार्य काल में कांग्रेस को अनेक बाह्य और आभ्यांतरिक समस्याओं का सामना करना पड़ा। उनके संबंध में उसने जो प्रस्ताव पारित किये उनको उग्रवादी नहीं कहा जा सकता। संयुक्त-प्रांत और बिहार के मंत्रिमंडलों के त्याग-पत्र के संबंध में उसने गवर्नर जनरल को फिर से अपने फैसले पर विचार करने के लिए आमंत्रित किया था और अन्यप्रांतों के त्याग-पत्रों को रोक दिया था। वह भारतीय रियासतों के राष्ट्रीय आंदोलन का भार अपने ऊपर लेने को तैयार न थी, यद्यपि उसने रियासतों में कांग्रेस समितियाँ स्थापित करने की अनुमति दे दी थी। उसका यह निर्णय बीच के मार्ग पर आधारित था।[2] उसकी किसानों के आंदोलन से सहानुभूति थी पर वह उसके उन कामों से सहमत न थी जो कांग्रेस की नीति से असंगत थे। किसानों ने कितनी ही जगह लाल झंडा फहराया तथा कांग्रेस के प्रति अपने विरोध का परिचय दिया था। वे व्यग्रता दिखला कर ऐसे कार्यों में सहयोग दे रहे थे जो कांग्रेस के स्पष्ट आधार-भूत सिद्धांतों के विरोधी थे और इस प्रकार कांग्रेस की नीति और सिद्धांतों के विरुद्ध वातावरण तैयार करने मे सहायक हुए थे। हरिपुरा कांग्रेस ने, प्रांतीय कांग्रेस कमेटियों को, इन तथ्यों को ध्यान में रखने तथा

---

१. पट्टाभि सीतारामय्या – कांग्रेस का इतिहास, दूसरा भाग, पृष्ठ ७३।

२. इस संबंध मे कांग्रेस द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव का संबद्ध अंश इस प्रकार है—"इसलिए यह कांग्रेस आदेश देता है कि रियासतो की कांग्रेस समितियाँ कार्य-समिति के निर्देशन तथा नियंत्रण में रह कर कार्य करें और कभी कांग्रेस के नाम पर या उसकी तरफ से किसी पार्लमेंटरी काम या प्रत्यक्ष कार्य मे ही मैं भाग न लें। रियासतों की कोई भीतरी लड़ाई कांग्रेस के नाम पर न लड़ी जानी चाहिये। इसके अलावा कांग्रेस-समितियों के संगठन का कार्य आरंभ किया जा सकता है और जहाँ समितियां पहले से ही चल रही हों वहाँ उनके काम को जारी रखा जा सकता है। पट्टाभि सीतारामय्या–कांग्रेस का इतिहास, दूसरा भाग, पृष्ठ ८०।

उपर्युक्त कार्रवाई करने का आदेश दिया था। एक प्रस्ताव द्वारा उसने उन विदेशी कंपनियों की निंदा की थी जो युद्ध की तैयारी के लिए भारत के प्राकृतिक साधनों का दुरुपयोग कर रही थीं। "यदि भारतीय उद्योगों के वर्तमान विस्तार के परिणाम-स्वरूप विदेशी औद्योगिक संस्थाओं की, इस देश के प्राकृतिक साधनों के उपयोग के लिए, भरमार हो जाती थी तो कार्य-समिति औद्योगिक उन्नति मुल्तवी करना ही उचित समझेगी।" कांग्रेस के उक्त प्रस्तावों में से एक भी ऐसा न था जो श्री सुभाषचंद्र बोस के व्यक्तिगत विचारों से मेल खाता हो। फिर भी वे साल भर तक कांग्रेस की अध्यक्षता करते रहे।

त्रिपुरी अधिवेशन की अध्यक्षता—सन् १६३६ में कांग्रेस का अधिवेशन त्रिपुरी में हुआ। अध्यक्ष के पद के लिए, प्रांतीय कांग्रेस कमेटियों ने श्री सुभाषचंद्र बोस, मौलाना अबुल कलाम आजाद और पट्टाभि सीतारामय्या के नाम प्रस्तावित किये। गाँधी जी मौलाना आजाद के समर्थक थे। देश की सांप्रदायिक समस्या, मुस्लिम लीग द्वारा, कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के विरुद्ध लगाये गये आरोपों के कारण, पहले की अपेक्षा जटिलतर हो गयी थी। मौलाना आजाद से इस बात की आशा की जाती थी कि वे सांप्रदायिक समस्या के हल में सहायता पहुँचा सकेंगे। किंतु वे निर्विरोध निर्वाचन के पक्ष में थे। अतः उन्होंने अपना नाम डा० पट्टाभि सीतारामय्या के पक्ष में वापस कर लिया। २४ जनवरी सन् १६३६ को कांग्रेस कार्य-समिति के सात सदस्यों ने, कार्य-समिति में इस प्रश्न पर विचार हुए बिना, एक वक्तव्य निकाला जिसमें अध्यक्ष, कार्य-समिति, निर्वाचन आदि कई महत्वपूर्ण बातों की विवेचना की गयी थी और डा० पट्टाभि सीतारामय्या के निर्विरोध निर्वाचन के लिए श्री सुभाषचंद्र बोस से अपने निर्णय पर पुनर्विचार करने की प्रार्थना की गयी थी। वक्तव्य की निम्नलिखित बातें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

(१) अध्यक्ष का निर्वाचन बहुत दिनों से निर्विरोध होता आया है।

(२) जब तक कोई विकट परिस्थिति उत्पन्न न हो जाय, तब तक अध्यक्ष को दुबारा न चुना जाना चाहिये।

(३) कांग्रेस की नीति और कार्य-क्रम को या तो स्वयं कांग्रेस निर्धारित करती है या कांग्रेस कमेटी। अध्यक्ष का स्थान केवल संवैधानिक अध्यक्ष-सा है। वह केवल राष्ट्र की एकता का प्रतीक है। इस वक्तव्य से सहमत न होकर श्री सुभाषचंद्र बोस ने अपने वक्तव्य में निम्नलिखित बातों पर जोर दिया—

(१) अध्यक्ष का निर्वाचन निश्चित समस्याओं और कार्य-क्रम के आधार पर लड़ा जाना चाहिये।

(२) कांग्रेस के इतिहास में कितने ही व्यक्ति एक से अधिक बार अध्यक्ष चुने गये हैं।

(३) अध्ययक्ष का स्थान केवल संवैधानिक अध्यक्ष का सा न होकर संयुक्त-राज्य-अमरीका के अध्यक्ष का सा है।

(४) सन् १९३४ के पश्चात एक वामपक्षी, दोनों पक्षों के समर्थन से राष्ट्रपति चुना गया है। संघ-राज्य के विरोध के कारण इस बार भी वाम-पक्षी का चुना जाना आवश्यक है।

मतभेद की इन महत्वपूर्ण बातों पर अन्य नेताओं ने भी अपने विचार प्रगट किये। श्री सुभाषचंद्र बोस ने भी उनका प्रत्युत्तर दिया। महात्मा गांधी तक ने श्री सुभाष बोस के पास उम्मेदवार न रहने के लिए एक तार भेजा। पर वे अपने निश्चय पर दृढ़ रहे। वे उसी अवस्था में उम्मीदवार न रहने के लिए तैयार थे यदि कोई ऐसा व्यक्ति उम्मेदवार बनाया जाता जो निश्चित रूप से संघ का विरोधी था। फलस्वरूप वोट पड़ना अनिवार्य हो गया। श्री सुभाष-चंद्र बोस को १५८० वोट मिले और डा० पट्टाभि सीतारामय्या को १३७७। २०३ अधिक वोटों से श्री सुभाषचंद्र बोस राष्ट्रपति चुने गये।

निर्वाचन का फल तो श्री सुभाष बोस के पक्ष में हुआ, पर इसके कारण कांग्रेस के वातावरण में उलझन उत्पन्न हो गयी। गांधीजी ने उसके संबंध में निम्नलिखित वक्तव्य निकाला—

"श्री सुभाषचंद्र बोस ने अपने प्रतिद्वंदी, डा० पट्टाभि सीतारामय्या पर निश्चय ही विजय प्राप्त की है। मैं यह मानता हूँ कि कुछ कारणों से, जिन्हें बत लाना उपयुक्त नहीं, मैं उनके पुनर्निवाचन का विरोधी था। मैं उनके घोषणा-पत्रों में बतलायी गयी बातों तथा दलीलों से सहमत नहीं हूँ। मैं समझता हूँ कि अपने सहयोगियों के विषय में उन्होंने जो बातें कही हैं न तो वे युक्तियुक्त हैं और न कहने योग्य ही हैं। तो भी मैं उनकी विजय से प्रसन्न हूँ। चूँकि मौलाना साहब के हट जाने पर, डा० पट्टाभि सीतारामय्या द्वारा नाम वापस न लिये जाने में मेरी जिम्मेदारी है इसलिए उनकी हार उनकी नहीं, मेरी है। यदि मैं निश्चित सिद्धांतों और नीति का प्रतिनिधित्व नहीं करता, तो मैं कुछ भी नहीं हूँ। इसलिए मुझे यह स्पष्ट है कि डेलीगेट लोग

मेरी नीति और सिद्धांतों से सहमत नहीं है। मैं अपनी इस पराजय में प्रसन्न हूँ।''[1]

तत्पश्चात् पुरानी कार्य-समिति के १३ सदस्यों ने अपने त्यागपत्र दे दिये[2]। यह आशा कि गांधी जी अथवा पं० जवाहर लाल नेहरू समझौता करा सकेंगे, निर्मूल सिद्ध हुई। त्रिपुरी कांग्रेस का अधिवेशन मेघाच्छादित वातावरण में हुआ। गांधी जी उसमें सम्मिलित न हो सके थे। अध्यक्ष, सुभाष बोस, स्वयं रोग-ग्रसित थे। उनके विरुद्ध अविश्वास के प्रस्ताव की भी सूचना दी गयी थी। परिस्थिति को संभालने के लिए, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में पं० गोविंद वल्लभ पंत ने निम्नलिखित प्रस्ताव प्रेषित किया और उसे कमेटी ने पास भी कर दिया—

''कमेटी कांग्रेस की उन आधारभूत नीतियों के प्रति अपना विश्वास प्रगट करती है, जिन पर महात्मा गांधी के नेतृत्व में, पिछले वर्षों में कांग्रेस का कार्य-क्रम आधारित रहा है। कमेटी का यह निश्चित मत है कि इन नीतियों में कोई अंतर न पड़ना चाहिये और भविष्य में भी कांग्रेस का कार्य-क्रम इन्हीं पर आधारित रहना चाहिये।

''कमेटी उस कार्य-समिति के कार्यों पर अपना विश्वास प्रगट करती है जिसने पिछले वर्ष कार्य किया था और इस बात पर खेद प्रगट करती है कि उसके सदस्यों पर आक्षेप किये गये हैं।

''चूँकि आगामी वर्ष में विकट परिस्थिति उत्पन्न हो सकती है और चूँकि ऐसे संकट के समय केवल महात्मा गांधी ही कांग्रेस तथा देश को विजय के पथ पर ले जा सकते हैं, इसलिए यह आवश्यक है कि कार्य-समिति में उनका पूर्ण विश्वास हो। अतः कमेटी अध्यक्ष से अनुरोध करती है कि वे आगामी वर्ष की कार्य-समिति का चुनाव गांधीजी की इच्छा के अनुसार करें।''[3]

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने इस प्रस्ताव को बहुमत से पास कर

---

1. Indian Annual Register 1939 Vol. II P. 320
२. फरवरी सन् १९३९ में।
३. अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के जिस अधिवेशन में यह प्रस्ताव पास हुआ था उसमें न तो गांधीजी उपस्थित थे और न सुभाष बोस। अतः कुछ लोगों के मतानुकूल कमेटी ने आवश्यकता से अधिक जल्दीबाजी से काम किया था। The Modern Review, April 1939 PP 379-384.

दिया। कांग्रेस का समाजवादी दल इस प्रस्ताव पर तटस्थ रहा, यद्यपि उसके अधिकांश सदस्य अध्यक्ष के निर्वाचन में श्री सुभाष बोस के समर्थक थे। श्री जयप्रकाश नारायण और आचार्य नरेंद्रदेव ने, इस संबंध में समाजवादियों की स्थिति को स्पष्ट करते हुए, अपने अपने वक्तव्य प्रकाशित किये। श्री जयप्रकाश नारायण के वक्तव्य के संबद्ध अंश इस प्रकार हैं—

"हमने श्री सुभाष बोस को इस लिए वोट दिया था कि हम उन्हें दूसरे अभ्यर्थी डा० पट्टाभि सीतारामय्या से श्रेष्ठतर समझते थे। किंतु हमारा यह अनुमान न था कि इसके कारण कांग्रेस में फूट हो जायगी।........... हमने यथासंभव फूट रोकने का प्रयत्न किया........हम दोनों पक्षों से मिले। ....यदि दोनों पक्ष हमसे सहयोग करते तो समझौता हो सकता था। हम इस झगड़े में भाग नहीं लेना चाहते। अतः हम लोगों ने तटस्थ रहने का निश्चय किया है।"[1]

आचार्य नरेंद्रदेव ने अपने वक्तव्य में वाम पक्षियों की दुर्बलता पर प्रकाश डाला और इस बात पर जोर दिया कि पंतजी के प्रस्ताव को अस्वीकृत न कराया जा सकता था। अतः समाजवादी तटस्थ रहे।

पंतजी के प्रस्ताव का अर्थ, अपने व्यावहारिक रूप में, अध्यक्ष को नगण्य करना था। श्री सुभाष बोस, कांग्रेस के अध्यक्ष को, संयुक्त-राज्य-अमरीका के अध्यक्ष के समान समझते थे। प्रस्ताव के व्यावहारिक रूप में वह संवैधानिक अध्यक्ष से भी गिरा हुआ हो जाता। गांधी जी पुरानी कार्य-समिति पर अवश्य ही जोर देते। श्री सुभाष बोस और उसमें भयंकर मतभेद था।[2] उन्होंने इस दिशा में कुछ प्रयत्न भी किया, पर उसका कुछ परिणाम न निकला। अंत में अध्यक्ष को अपना त्यागपत्र देना पड़ा और उनके स्थान पर डा० राजेंद्र-प्रसाद अध्यक्ष चुने गये।

अध्यक्ष संबंधी मतभेद की समीक्षा—अध्यक्ष के निर्वाचन संबंधी उपरिवर्णित मतभेद को जानने के पश्चात यह आवश्यक है कि हम वास्तविक परिस्थिति का थोड़ा-बहुत ज्ञान प्राप्त कर लें। इसके लिए सर्व प्रथम हमें

---

१. कन्हैयालाल वर्मा—भारत का समाजवादी दल, पृ० ६।

२. गांधीजी ऐसी कार्य-समिति के पक्ष में थे जिसमें एकरूपता हो। श्री सुभाषचंद्र बोस मिली-जुली कार्य-समिति के पक्ष में थे। वे अन्य लोगों की भाँति गांधीजी के पूर्णरूपेण अनुगामी भी न थे।

इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि गांधी-युग के आरंभ के पश्चात, कांग्रेस एक ओर तो अपने संविधान द्वारा संचालित होती थी और दूसरी ओर गांधी जी के व्यक्तित्व द्वारा। इन दोनों के प्रभावों को समझे बिना, इस काल के कांग्रेस के इतिहास का समझना कठिन है। श्री सुभाष बोस गांधी जी के असीमित प्रभाव से अपरिचित न थे। किंतु अपने पुनर्निर्वाचन में उन्होंने गांधी जी के प्रभाव की अपेक्षा कांग्रेस के संविधान और उससे संबद्ध प्रथाओं को अधिक महत्वपूर्ण समझा। फलस्वरूप ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हुई, जिसमें गांधी जी और उनके अनुयायी श्री बोस के विरोधी हो गये, समाजवादियों ने तटस्थ रहने का निश्चय किया और श्री सुभाष बोस का अकेले गांधी जी और उनके अनुभवी साथियों का सामना करना पड़ा। आश्चर्य नहीं, कि संवैधानिक दृष्टि से सुदृढ़ स्थिति में होते हुए भी उन्हें पराजय मिली, विशेष कर इसलिए कि अपनी रुग्णावस्था तथा गांधी जी से मतभेद के कारण वे कांग्रेस-कार्यसमिति तक बनाने में असमर्थ रहे। इसके कारण कांग्रेस की राजनीति में गतिरोध होने की आशंका थी, जो समकालीन महत्वपूर्ण समस्याओं के कारण अवांछनीय थी। अतः श्री सुभाष बोस के लिए त्यागपत्र देना कुछ अनिवार्य सा था।

श्री सुभाष बोस के दूसरी बार अध्यक्ष न बने रहने में गांधी जी का प्रधान हाथ था। उन्होंने पहले तो सुभाष बोस को उम्मेदवार होने के लिए मना किया। उनके न मानने पर उन्होंने डा० पट्टाभि सीतारामय्या को अपना उम्मेदवार बनाया और जब पट्टाभि सीतारामय्या हार गये, तो उन्होंने उनकी पराजय को अपनी पराजय समझा। परिणाम-स्वरूप उन्होंने तथा पुरानी कार्य-समिति के सात सदस्यों ने सुभाष बोस तथा उन लोगों के साथ असहयोग का निश्चय किया जिन्होंने सुभाष बोस के पक्ष में अपना वोट दिया था। वे चाहते थे कि सुभाष बोस को अपनी कार्य-समिति के बनाने की पूर्ण स्वतंत्रता हो। उधर अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने, अपने स्वीकृत प्रस्ताव द्वारा, सुभाष बोस को ऐसी कार्य-समिति के बनाने का आदेश दिया था जिसमें गांधी जी का विश्वास हो। श्री सुभाष बोस ने इस प्रस्ताव के कार्यान्वित करने के हेतु, गांधी जी का परामर्श माँगा, किंतु वे तटस्थ रहे। इस घटना-चक्र के कारण एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गयी जिसमें अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ऐसी कार्य-समिति की नियुक्ति के पक्ष में थी जिसमें गांधी जी का विश्वास हो और गांधी जी स्वयं परामर्श

देने को तैयार न थे। गांधी जी के इस दृष्टि-कोण के कारण, सुभाष बोस का त्यागपत्र अनिवार्य था।

कांग्रेस कार्य-समिति के सात सदस्यों ने इस घटना में जो भाग लिया, वह कांग्रेस की परंपरा के अनुकूल न था। इसके पूर्व कांग्रेस की किसी भी कार्य-समिति के सदस्यों ने अपने अध्यक्ष के संबंध में ऐसा वक्तव्य न निकाला था जैसा कि सुभाष बोस द्वारा नियुक्त कार्य-समिति के सात सदस्यों ने। अध्यक्ष ने भी अपनी कार्य-समिति के सदस्यों के संबंध में ऐसी बातें न कही थीं जैसी श्री सुभाष बोस ने अपनी कार्य-समिति के सदस्यों के संबंध में कहीं। उसका मुख्य कारण अध्यक्ष की स्थिति का वास्तविक मूल्यांकन था। कार्य-समिति के सात सदस्य इस बात पर जोर देते थे कि अध्यक्ष की वास्तविक स्थिति संवैधानिक प्रमुख की सी थी और सुभाष बोस के मतानुकूल अध्यक्ष के अधिकार, संयुक्त-राज्य-अमरीका के राष्ट्रपति की भाँति, वास्तविक थे। व्यावहारिक दृष्टि से इनमें से एक भी पक्ष ठीक न था। अब तक अध्यक्ष और कार्य-समिति के सदस्य एक टीम (Team) की भाँति मिल-जुल कर काम करते आये थे। श्री सुभाष बोस के दूसरे कार्य-काल में ऐसा न हो सका। परिणाम-स्वरूप, प्रभाव में निर्बल पक्ष होने के कारण, श्री सुभाष बोस को त्यागपत्र देना पड़ा।

पंत प्रस्ताव[1] के संबंध में समाजवादियों ने जो रुख लिया वह अशोभनीय था। वे गांधी जी के प्रभाव से अनभिज्ञ न थे और यह भी जानते थे कि डा० पट्टाभि सीतारामय्या उनके उम्मेदवार थे। अपने उम्मेदवार की पराजय की स्थिति में वे गांधी जी की प्रतिक्रिया का अनुमान लगा सकते थे। फिर भी उन्होंने सुभाष बोस के पक्ष में मतदान करके, उन्हें अध्यक्ष निर्वाचित होने में सहायता पहुँचायी। इसका स्वाभाविक परिणाम पंत प्रस्ताव का विरोध था। किंतु उसके संबंध में वे तटस्थ रहे। श्री जयप्रकाश नारायण और आचार्य नरेंद्रदेव ने इस संबंध में जो वक्तव्य दिये, वे संतोष-प्रद न थे। जटिल स्थिति उत्पन्न करने के पूर्व श्री जयप्रकाश नारायण कांग्रेस में विच्छेद की कल्पना कर सकते थे। आचार्य नरेंद्रदेव पंत प्रस्ताव के नतीजे का अनुमान कर सकते थे। कोई भी उन्हें इस अधिकार से वंचित न कर सकता था। पर नतीजे से भयभीत होकर समाजवादियों के लिए यह उचित न था कि वे उस व्यक्ति का साथ न देते जो उनकी सहायता से अध्यक्ष निर्वाचित हुआ था। वास्तविक

---

१. देखिये पृष्ठ ८१–८२ पूर्व।

कारण तो गांधी जी का प्रभाव था। समाजवादी गांधी जी को अपना विरोधी बनाने के लिए तैयार न थे। अतः उन्होंने पंत प्रस्ताव के संबंध में तटस्थ रहने का अशोभनीय निश्चय किया।

जब अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी श्री सुभाष बोस के त्यागपत्र पर विचार कर रही थी, पं० जवाहर लाल नेहरू ने स्थिति के सँभालने का अंतिम प्रयत्न किया। उन्होंने एक प्रस्ताव द्वारा यह सुझाव प्रस्तुत किया कि श्री सुभाष बोस अपना त्यागपत्र वापस ले लें, और उन्हीं लोगों की कार्य-समिति बनायें जो सन् १९३८ में कार्य-समिति के सदस्य थे। नये सदस्यों को सम्मिलित करने के संबंध में उन्होंने यह स्पष्ट किया कि श्री जमनालाल बजाज और श्री जयराम दास दौलतराम अच्छे स्वास्थ्य में न होने के कारण शीघ्र ही त्यागपत्र दे देंगे। अतः उनके रिक्त स्थानों को, श्री सुभाष बोस, अपने सहयोगियों के परामर्श से, दूसरे दलों के सदस्यों से भर सकेंगे। यह सुझाव पंत प्रस्ताव के सर्वथा अनुकूल न था। अतः श्री सुभाष बोस ने इसके संबंध में जो उत्तर दिया वह कुछ अनिश्चित सा था। फलस्वरूप पं० जवाहर लाल नेहरू का सुझाव, कांग्रेस कमेटी की अनुमति से वापस और श्री सुभाष बोस का त्यागपत्र स्वीकृत हो गया। तत्पश्चात् श्री राजेंद्र प्रसाद अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा अध्यक्ष निर्वाचित हुए और उन्होंने अपनी कार्य-समिति की भी घोषणा कर दी।

अग्रगामी दल की उत्पत्ति और उसका कार्य-क्रम—अध्यक्ष पद से त्यागपत्र देने के पश्चात् श्री सुभाष बोस ने ३ मई सन् १९३९ को कांग्रेस के अंतर्गत एक अग्रगामी दल (Forward Block) के बनाने की घोषणा की। अपने कलकत्ते के भाषण में उन्होंने कहा कि "इस दल का उद्देश्य उन लोगों को एकत्र करना है जो उग्र विचार वाले एवं साम्राज्यवाद के विरोधी हैं।...........यह दल कांग्रेस का अंग रहेगा, उसके वर्तमान संविधान, लक्ष्य, नीति और कार्यक्रम मानेगा, महात्मा गांधी के व्यक्तित्व का सम्मान करेगा और उनके अहिंसात्मक असहयोग के राजनीतिक सिद्धांत में पूर्ण विश्वास रखेगा।" जून के अंतिम सप्ताह में बंबई में अग्रगामी दल का प्रथम सम्मेलन हुआ और उसमें उसका कार्य-क्रम निर्धारित किया गया। राजनीतिक कार्य-क्रम की निम्नलिखित बातें ध्यान देने योग्य हैं—

(१) कांग्रेस को स्थिर स्वार्थ वाले धनी लोगों से बचाना।

(२) ऐसा प्रयत्न करना कि कांग्रेसी मंत्रिमंडलों का प्रभुत्व कांग्रेस पर स्थापित न होने पावे ;

(३) कांग्रेस को जनतावादी तथा उग्रवादी बनाना ;

(४) किसान-आंदोलन को सहायता पहुँचाना ;

(५) कांग्रेस और अन्य साम्राज्यशाही विरोधी संस्थाओं में एकता स्थापित करना ;

(६) अखिल भारतीय स्वयंसेवक-दल का बनाना ;

(७) भारतीय रियासतों की जनता के आंदोलनों को सहायता पहुँचाना ;

(८) संघ-शासन का, किसी प्रकार का समझौता किये बिना, विरोध करना ;

(९) साम्राज्यवादी युद्ध में भारत को सम्मिलित न होने देने का प्रचार करना ;

(१०) विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार करना ;

(११) स्वतंत्रता की लड़ाई को शीघ्र ही आरंभ करने की तैयारी करना ;

अग्रगामी दल के इस कार्य-क्रम से श्री सुभाष बोस की मनोवृत्ति का आभास मिलता है। उनका मत था कि कांग्रेस के दक्षिण पक्षी नेता क्रांतिवादी न रह कर सुधारवादी हो गये थे। वे संवैधानिक आंदोलनों में विश्वास करने लगे थे, क्रांति को तिलांजलि दे चुके थे और लड़ाई का नाम तक न लेना चाहते थे, यद्यपि समय लड़ाई के लिए अनुकूल था और राष्ट्र इसके लिए तैयार था। तैयारी की कमी केवल नेताओं में ही थी। भविष्य की घटनाओं ने निश्चित रूप से यह सिद्ध कर दिया कि श्री सुभाष बोस ने वास्तविक स्थिति के समझने तथा अपनी शक्ति के अनुमान में भूल की थी।

अंतिम दृश्य, अनुशासन की कार्रवाई—जुलाई सन् १९३९ के प्रथम सप्ताह में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की एक महत्वपूर्ण बैठक बंबई में हुई। अन्य प्रस्तावों के अतिरिक्त उसने निम्नलिखित दो महत्वपूर्ण प्रस्ताव पारित किये—

"भारतीय कांग्रेस कमेटी की यह बैठक निश्चय करती है कि कोई कांग्रेस-जन, संबद्ध प्रांतीय कांग्रेस कमेटी की पूर्ण अनुमति के बिना, भारत के प्रांतों में न तो सत्याग्रह करे और न उसके लिए संगठन करे"।

"यह कमेटी इस बात पर बार बार जोर दे रही है कि मंत्रिमंडल, कांग्रेस पार्टी और प्रांतीय कांग्रेस कमेटियों में परस्पर सहयोग हो। सहयोग के बिना भ्रांति उत्पन्न होगी और कांग्रेस का प्रभाव घटेगा। शासन संबंधी मामलों में प्रांतीय कांग्रेस कमेटी को मंत्रियों को स्वाधीनता देनी चाहिये, परंतु वह

निजी तौर पर मंत्रियों का ध्यान किसी भी गलती एवं कठिनाई की ओर आकृष्ट कर सकती है। नीति के विषय में यदि मंत्रिमंडल तथा प्रांतीय कांग्रेस कमेटी में मतभेद हो तो पार्लमेंटरी बोर्ड को उसका हवाला देना चाहिये। ऐसे मामलों की सार्वजनिक चर्चा नहीं करना चाहिये"।

कांग्रेस के कुछ उग्र सदस्यों ने इन प्रस्तावों का अर्थ जनता के अधिकारों पर कुठाराघात समझा। उनका मत था कि उपरिलिखित दूसरे प्रस्ताव के परिणाम-स्वरूप प्रांतीय कांग्रेस कमेटियाँ, मंत्रियों और विधान-मंडलों में पार्टी के सदस्यों के अधीन हो जायँगी। अतः इन लोगों ने उक्त प्रस्ताव के विरोध का निश्चय किया। श्री सुभाष बोस, इन लोगों में सम्मिलित ही नहीं, वरन् उनका नेतृत्व कर रहे थे। ९ जुलाई सन् १९३९ को समस्त भारत में विरोध दिवस मनाने की घोषणा की गयी। कांग्रेस ने इसे अनुशासन-भंग समझा और उसके अध्यक्ष श्री राजेंद्र प्रसाद ने, १८ जुलाई सन् १९३९ को, श्री सुभाष बोस के नाम, एक पत्र भेज कर, उनसे अपनी सफाई देने को कहा। ७ अगस्त सन् १९३९ के अपने पत्र में उन्होंने अपनी सफाई के संबंध में निम्नलिखित बातें लिखीं—

"पहली बात तो यह है कि किसी प्रस्ताव का विरोध करने और उसकी अवज्ञा या उसके विरुद्ध कार्रवाई में हमें भेद करना चाहिये। अभी तक केवल इतना ही हुआ है कि मैंने अखिल-भारतीय कांग्रेस-कमेटी के दो प्रस्तावों के विरुद्ध केवल विरोध ही प्रगट किया है।

"अखिल भारतीय कांग्रेस-कमेटी द्वारा पास किये गये किसी प्रस्ताव पर मत प्रगट करना मेरा वैध अधिकार है। आप कदाचित स्वीकार करेंगे कि कांग्रेस का अधिवेशन समाप्त होने पर कांग्रेस-जनों में, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में पास हुए प्रस्तावों के संबंध में, मत प्रगट करने का रिवाज सा चला आया है। यदि आप अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में पास हुए प्रस्तावों के संबंध में विचार प्रगट करने का अधिकार कांग्रेस-जनों को देते हैं तो आप यह नहीं कह सकते कि केवल अनुकूल-मतों को ही प्रगट करने दिया जायगा और प्रतिकूल-मतों को रोक दिया जायगा। यदि हमें विचार प्रगट करने का वैध अधिकार प्राप्त है तो विचारों के अनुकूल या प्रतिकूल होने का प्रश्न नहीं उठता। आपके पत्र से यह ध्वनि निकलती है कि सिर्फ प्रतिकूल-मतों पर रोक लगायी गयी है।"

"हम इतने दिनों से ब्रिटिश सरकार से अन्य बातों के अतिरिक्त नागरिक

स्वतंत्रता के लिए लड़ रहे हैं। मैं यह भी मान लेता हूँ कि नागरिक स्वतंत्रता में भाषण की स्वतंत्रता सम्मिलित है। आपका दृष्टि-कोण तो यह है कि यदि हमारा अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी या कांग्रेस के बहुमत से विरोध है तो हम भाषण की स्वतंत्रता का दावा न करना चाहिये........"

"आप अनुशासन शब्द का जो अर्थ लगा रहे हैं उसे मैं स्वीकार नहीं कर सकता। मैं अपने को कड़ा अनुशासक मानता हूँ, किंतु आप तो अनुशासन के नाम पर उचित आलोचना को रोक रहे हैं। अनुशासन का मतलब यह तो नहीं है कि किसी व्यक्ति से वैध और लोकतंत्रीय अधिकार छीन लिये जायें।

"इस संबंध में मैं आपका ध्यान सन् १९२२ की गया कांग्रेस तथा उसके पश्चात् की कतिपय घटनाओं की ओर आकृष्ट किये बिना नहीं रह सकता। कृपया यह न भूलिये कि उन दिनों स्वराज पार्टी ने क्या किया था। कृपया यह भी न भूलिये कि जब अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने गया कांग्रेस के प्रस्ताव में संशोधन किया, तो गुजरात प्रांतीय कांग्रेस कमेटी ने उसकी अवज्ञा करने का निश्चय किया था।"

"अंतिम बात यह है कि महात्मा गांधी ने यंग इंडिया में लिखा था कि अल्प-संख्यक समुदाय को विद्रोह करने का अधिकार है.......।"

"............मुझे आशा है कि आपको मेरी सफाई संतोष-जनक जान पड़ेगी।........यदि ९ जुलाई को अखिल भारतीय दिवस का मनाना अपराध था तो मैं मानता हूँ कि मुझसे बड़ा अपराधी कोई और न था।"

कांग्रेस कार्य-समिति ने श्री सुभाष बोस की सफाई पर उत्सुकतापूर्वक विचार किया। उसका मत था कि श्री सुभाष बोस को अध्यक्ष के आदेशों का पालन राष्ट्र के सेवक के रूप में करना चाहिये, चाहे उनका उनसे विरोध ही क्यों न हो। कांग्रेस संसार की सबसे शक्तिशाली साम्राज्यवादी शक्ति से टक्कर लेने को थी। ऐसी स्थिति में कार्य-समिति श्री सुभाष बोस का यह तर्क मानने में असमर्थ थी कि प्रत्येक सदस्य को कांग्रेस के संविधान के मनमाने अर्थ लगाने की स्वतंत्रता थी। ऐसा करने से कांग्रेस में अराजकता फैल जाने तथा उसके समाप्त हो जाने की आशंका थी। इसलिए कार्य-समिति ने श्री सुभाष बोस को बंगाल कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष-पद के लिए तथा अगस्त सन् १९३९ से तीन बरस के लिए किसी भी निर्वाचित कांग्रेस कमेटी में चुने जाने के लिए अयोग्य ठहरा दिया।

५

समझौते के प्रयत्न

१९३९–४२

एक व्यक्ति का शासन—समझौते की नीति—पहली नवंबर सन् १९३९ का प्रयत्न—कांग्रेस कार्य-समिति की प्रतिक्रिया—समझौते की मनोवृति जारी—सर स्टैफर्ड क्रिप्स की भारत-यात्रा—कार्य-समिति का वर्धा अधिवेशन—५ फरवरी सन् १९४० का पुनर्मिलन—रामगढ़ कांग्रेस—ब्रिटेन की सरकार में परिवर्तन—सामरिक स्थिति में परिवर्तन—अहिंसा और हिंसा—समझौते का नवीन प्रयत्न—८ अगस्त सन् १९४० की घोषणा—कांग्रेस की प्रतिक्रिया—व्यक्तिगत सत्याग्रह—कार्य-समिति का बारदोली अधिवेशन।

एक व्यक्ति का शासन—कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के त्यागपत्र के पश्चात्, कांग्रेसी बहुमत प्रांतों में गवर्नरों का शासन स्थापित हुआ। उत्तरदायी सरकार के सिद्धांतों के अनुसार ऐसी परिस्थिति में नये निर्वाचन द्वारा लोकमत को जानना चाहिये था। सरकार ने यह काम संभवतः इसलिए नहीं किया कि नये निर्वाचन के परिणाम-स्वरूप परिस्थिति के बदलने की संभावना न थी। उसने कांग्रेस द्वारा आपेक्षित युद्ध के उद्देश्यों और वे किस सीमा तक भारत पर लागू होंगे, इसकी भी संतोषप्रद उद्घोषणा नहीं की। विपरीत इसके निरंकुशता का नग्न तांडव होने लगा। अध्यादेश जारी किये गये और सार्वजनिक सेवाओं के सदस्यों और पुलिस के अधिकारियों की शक्तियों में अत्यधिक वृद्धि हुई। कांग्रेसी सरकारों की स्थापना के पहले, इन अधिकारियों की जो स्थिति थी, अब उससे भी अधिक बिगड़ गयी। निर्वाचित विधान-मंडल एक प्रकार से

समाप्त समझे गये और गवर्नरों की अध्यक्षता में सरकारी अधिकारी मनमाना आचरण करने लगे। युद्ध की ओट में समस्त काम ठीक समझे गये। कांग्रेसवादी कारागारों में बंद किये जाने लगे। मुस्लिम लीग तथा लीगी प्रांतों ने कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के त्यागपत्र के पश्चात् मुक्ति-दिवस[1] मनाया। कांग्रेस और मुस्लिम लीग के आपसी मत-भेद का यह एक ज्वलंत उदाहरण था।

समझौते की नीति—कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों के त्यागपत्र के पश्चात् भी कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार के प्रति पूर्णरूपेण विरोध की नीति को नहीं अपनाया। वह स्वाधीनता और लोकतंत्र की समर्थक थी और कई बार इसकी स्पष्ट घोषणा कर चुकी थी। धुरी-राष्ट्रों के साथ न तो उसकी विचार-धारा में साम्य था और न आदर्शों में एकरूपता। कांग्रेसी मंत्रिमंडलों द्वारा दिये गये त्यागपत्रों को, कांग्रेस के साथ सहानुभूति रखने वाले अनेक देश-भक्त अप्रत्याशित और देश के लिए अहितकर समझते थे। अनेक कांग्रेसवादी भी इसी मत के थे। अतः कांग्रेस के लिए यह स्वाभाविक था कि वह देश के आत्म-सम्मान के साथ साथ, समझौते के लिए तैयार रहती। वह प्रथम महासमर काल के होमरूल लीगियों[2] की भांति इस सिद्धांत पर काम करने को तैयार न थी कि इंगलैंड का संकट भारत का अवसर था। सत्याग्रह में विरोधी की असहाय अवस्था से लाभ उठाना वर्जित था। ब्रिटिश सरकार भी समझौते के लिए प्रयत्नशील थी पर अपनी ही शर्तों पर। वह चाहती थी कि युद्ध के प्रयत्नों में भारत मित्रराष्ट्रों के साथ सहयोग करे और युद्ध के काल में छोटे-मोटे परिवर्तनों के अतिरिक्त, स्वाधीनता संबंधी समस्त बातों को युद्ध के अंत के पश्चात् के लिए छोड़ दे। अतः समझौते की प्रत्येक चर्चा पर उसकी तदनुकूल प्रतिक्रिया होती थी। कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार की उक्त

---

१. यह २२ दिसंबर सन् १९४० को मुस्लिम लीग के सभापति मिस्टर मुहम्मद अली जिन्ना के आदेशानुकूल मनाया गया था।

२. प्रथम युरोपीय महासमर (१९१४–१८) के काल में भारत में होम रूल आंदोलन चलाया गया था। इसके मुख्य नेता श्रीमती एनीबेसेंट और लोकमान्य बालगंगाधर तिलक थे। इनका मत था कि जब तक ब्रिटेन संकट में न हो तब तक उससे किसी काम का कराना असंभव था। अतः ये इंगलैंड के संकट को भारत का अवसर कहते थे। सत्याग्रह की लड़ाई में विरोधी की असहाय अवस्था से लाभ उठाना मना था।

मनोवृत्तियों के अतिरिक्त युद्ध की परिस्थिति, ब्रिटेन की सरकार में परिवर्तन[1] और अंतर्राष्ट्रीय दबाव का भी समझौते के प्रयत्नों पर गहरा प्रभाव पड़ा था।

१ नवंबर सन् १९३९ का प्रयत्न—कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के त्यागपत्र के पश्चात्, १ नवंबर सन् १९३९ वाइसराय और गांधीजी की भेंट हुई। गांधीजी के साथ कांग्रेस के अध्यक्ष श्री राजेंद्र प्रसाद भी थे। मिस्टर जिन्ना भी बुलाये गये थे और वे पहले ही से वाइसराय के भवन में उपस्थित थे। सामान्य बातचीत के पश्चात्, वाइसराय ने नेताओं के सम्मुख निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किया—"जिस समस्या पर मैंने आप (गांधीजी) तथा कांग्रेस और मुस्लिम लीग के उपस्थित नेताओं को विचार करने के लिए आमंत्रित किया है वह यह है कि केंद्र में मेल-जोल और सहयोग के साथ काम करने के महत्व को स्वीकार करते हुए, आप लोगों को यह जानने के लिए भी विचार-विनिमय करना चाहिये कि, क्या प्रांतीय क्षेत्र में काम करने के बारे में आप लोगों में कोई समझौता हो सकता है या नहीं? इसके पश्चात् आप मेरे समक्ष वे सुझाव प्रस्तुत करें जिनके परिणाम-स्वरूप शीघ्र ही दोनों संगठनों (कांग्रेस और मुस्लिम लीग) के प्रतिनिधि केंद्रीय सरकार की कार्यपालिका कौंसिल के सदस्यों के रूप में भाग ले सकें।"[2]

वाइसराय का उक्त सुझाव ब्रिटेन की उस चिरकालीन नीति के अनुसार था जिसकी सहायता से वह उन स्थलों में मतभेद उत्पन्न करने में सफल हुआ था जहाँ उसका पहले सर्वथा अभाव था। इसके कारण भारतीय समस्या का रूप ही बदल गया। कांग्रेस ने अपनी माग में निम्नलिखित बातें सम्मिलित की थीं (१) युद्ध के उद्देश्यों की घोषणा की जाय, (२) यह बतलाया जाय कि वे भारत पर किस प्रकार लागू होंगे, (३) बाह्य प्रभाव से मुक्त संविधान-सभा का आयोजन किया जाय (४) भारत को एक स्वतंत्र राष्ट्र घोषित किया जाय और उसकी वर्तमान स्थिति को उसी पद के अनुरूप परिवर्तित कर दिया जाय, (५) भारतीय स्वतंत्रता, लोकतंत्र, एकता

---

१. इंगलैंड के कुछ राजनीतिक दल, दूसरे दलों की अपेक्षा, भारत के राष्ट्रीय उत्थान से अधिक सहानुभूति रखते थे। अतः सरकार में परिवर्तन के साथ-साथ इंगलैंड की भारतीय नीति में परिवर्तन होते थे।

२. पट्टाभि सीतारामय्या—कांग्रेस का इतिहास, दूसरा भाग, पृ० १५०।

और समस्त अल्प-संख्यकों के अधिकारों की स्वीकृति एवं संरक्षण पर आधारित हो। वाइसराय के सुझाव ने इन आधारभूत बातों को गौण स्थान देकर प्रांतीय स्तर पर सांप्रदायिक समझौते की समस्या को मुख्य स्थान दिया। इसके पश्चात् ही केंद्रीय कार्यपालिका कौंसिल के पुनर्निर्माण संबंधी सुझाव उनके समक्ष प्रस्तुत किये जा सकते थे।

प्रांतीय स्तर पर सांप्रदायिक विचार-विनिमय और समझौते का वास्तविक लक्ष्य क्या था, यह बतलाना कठिन है। मिस्टर जिन्ना प्रांतों में मिलेजुले मंत्रिमंडल बनाना चाहते थे। उत्तरदायी सरकार के आधारभूत सिद्धांतों के कारण कांग्रेस इसके विरुद्ध थी। त्यागपत्र देने के पश्चात् मंत्रिमंडल बनाने का आधार ही समाप्त हो गया था।[1] अतः कांग्रेस के लिए यह असंभव था कि वह मुस्लिम लीग से विचार-विनिमय करके मिले-जुले मंत्रिमंडलों का बनाना स्वीकार करती। मिस्टर जिन्ना ने वाइसराय के सुझाव और उसके संबंध में दिये गये वक्तव्य के अनुसार कांग्रेसी नेताओं से बातचीत की, पर कुछ परिणाम न निकला। ४ नवंबर सन् १९३९ को उन्होंने वाइसराय को यह लिख भेजा कि उन्होंने कांग्रेसी नेताओं से बातचीत की और उन्होंने (कांग्रेसी नेताओं ने) उन्हें केवल इतना ही बतलाया कि वे उन बातों के विषय में कोई बातचीत नहीं करना चाहते थे जिनका उल्लेख वाइसराय के २ नवंबर के पत्र में किया गया था। फल-स्वरूप ५ नवंबर को वाइसराय का वक्तव्य प्रकाशित हुआ। इसमें घटनाओं की ऐतिहासिक समीक्षा कर के दोनों संगठनों में गहरे मतभेद के कारण, वार्ता की विफलता की घोषणा की गयी थी। वाइसराय के इस वक्तव्य में भारतीय नरेशों की ओर भी संकेत किया गया गया था। इसके कारण समस्या के अधिक जटिल हो जाने की आशंका सर्वथा निर्मूल न थी।

---

१. कांग्रेस ने कांग्रेसी बहुमत प्रांतों में संवैधानिक स्पष्टीकरण के पश्चात् मंत्रिमंडल का निर्माण किया था। युरोपीय महासमर के कारण दिये गये आश्वासन एक प्रकार से समाप्त से हो गये थे। भारतीयों के अनुमति के बिना भारत युद्धरत देश बन गया था और सरकारी अधिकारियों की शक्तियाँ असीमित रूप से बढ़ायी गयी थीं। ऐसी स्थिति में उत्तरदायी सरकार का चलना असंभव था। अतः कांग्रेसी मंत्रिमंडल त्याग-पत्र देकर शासन-भार से मुक्त हो गये थे। सरकार के दृष्टि-कोण में परिवर्तन के बिना प्रांतीय मंत्रिमंडलों का पुनर्निर्माण अब एक प्रकार से असंभव सा था।

कांग्रेस कार्य-समिति की प्रतिक्रिया—१६ नवंबर से २३ नवंबर सन १९३९ तक कांग्रेस कार्य-समिति का अधिवेशन इलाहाबाद में हुआ। देश की राजनीतिक परिस्थिति तथा वाइसराय के वक्तव्य पर विचार करने के पश्चात्, उसने इस बात पर जोर दिया कि स्वतंत्रता के प्रश्न के साथ सांप्रदायिकता के प्रश्न का मिलाना ठीक न था। "कांग्रेस की मांगों को पूरा करने में किसी प्रकार के सांप्रदायिक प्रश्न नहीं उठते।"[१] कमेटी के मतानुकूल ब्रिटेन की नीति से साम्राज्यवाद को निकालने तथा भविष्य में कांग्रेस के सहयोग को प्राप्त करने के लिए यह आवश्यक था कि भारत की स्वतंत्रता तथा उसकी जनता द्वारा अपने संविधान के निर्माण के अधिकार की घोषणा की जाय। कमेटी ने इस बात पर भी जोर दिया कि ब्रिटिश सरकार की घोषणाओं के अपर्याप्त होने के कारण, कांग्रेस ने सरकार के प्रति असहयोग की नीति अपनायी थी। उसका प्रथम पग कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के त्यागपत्र द्वारा उठाया गया था। "असहयोग की नीति अब भी कांग्रेस की नीति है और यह नीति उस समय तक बनी रहेगी जब तक सरकार अपनी नीति में परिवर्तन करके कांग्रेस की मांग को स्वीकार नहीं करती।"[२] अतः कार्य-समिति ने सविनय अवज्ञा की तैयारी पर जोर दिया। उसके लिए यह आवश्यक था कि कांग्रेसी व्यक्ति चर्खा चलावें, खादी पहनें और विभिन्न संस्थाओं में मेल-मिलाप स्थापित करना अपना कर्तव्य समझें।

समझौते की मनोवृत्ति जारी—सरकार और कांग्रेस में उक्त गहरे मतभेद तथा वार्ता की विफलता के होते हुए भी दोनों पक्षों ने समझौते का द्वार खुला रखा। वाइसराय अपनी विफलता से हतोत्साह न हुए थे। "मैं तो इस समय सिर्फ यही कहना चाहता हूँ कि मैं इस असफलता से हार कर बैठने वाला नहीं हूँ। मैं उचित समय पर पुनः इन बड़े दलों के नेताओं और नरेशों से परामर्श करके, यह कोशिश कर देखना चाहता हूँ कि क्या अब भी इनमें एकता कायम हो सकने की संभावना है।...अब तक मैं भले ही असफल रहा, लेकिन मैं फिर प्रयत्न करूँगा।"[३] कांग्रेस कार्य-समिति ने असहयोग की नीति को

1. Indian Quarterly Register 1935 Vol. II. PP. 252
२. पट्टाभि सीतारामय्या-कांग्रेस का इतिहास, दूसरा भाग, पृष्ठ १५८–१७०।
३. ५ नवंबर सन् १९३९ को वाइसराय का ब्रोडकास्ट। Indian Quarterly Register 1939 Vol. II P. 245.

अपनाते हुए भी, सत्याग्रह के संबंध में अपने विचारों को इस प्रकार प्रकट किया था—"अगर अहिंसात्मक लड़ाई कभी शुरू हो तो सत्याग्रही उसके लिए हमेशा तैयार रहता है। पर वह शांति के लिए अपने प्रयत्नों में कभी शैथिल्य नहीं आने देता और उसके प्राप्त करने के लिए सदा तत्पर रहता है।"[१] सत्याग्रही, विरोधियों के साथ समझौता करने में कोई प्रयत्न उठा नहीं रखता। इसलिए "कार्य-समिति सम्मानपूर्ण समझौते के लिए प्रयत्नशील रहेगी, यद्यपि सरकार ने कांग्रेस के लिए समझौते का दरवाजा बंद कर दिया है।"[१] सरकार और कांग्रेस की उक्त मनोवृत्तियों के कारण भविष्य में समझौते की चर्चा का होना अनिवार्य था।

सर स्टैफर्ड क्रिप्स की भारत-यात्रा—समझौते की उक्त मनोवृत्ति को सर स्टैफर्ड क्रिप्स के वक्तव्यों से भी प्रोत्साहन मिला। ये ८ दिसंबर सन् १९३९ को करौंची में पहुँचे थे। उसी दिन अपनी पहली मुलाकात में उन्होंने यह कह कर गांधी जी की प्रशंसा की थी कि उन्होंने व्यग्रता न दिखला कर वार्ता का द्वार खुला रखा था। सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने यह भी बतलाया कि ब्रिटेन के लोगों की यह धारणा हो गयी है कि भारत से समझौता कर लिया जाय। अनुदार दल का दृष्टिकोण भी भारत के संबंध में स्पष्ट रूप से बदल गया है। इस समय कोई भी व्यक्ति भारत की सहानुभूति को खोना नहीं चाहता। १० दिसंबर सन् १९३९ को इलाहाबाद में पत्र संवाददाताओं के सम्मेलन में उन्होंने बतलाया कि पार्लमेंट के सदस्य भारतीय मामलों में अधिक दिलचस्पी लेने लगे हैं और कॉमन सभा के उन समूहों की शक्ति में वृद्धि हो रही है जो भारत की आकांक्षाओं के अनुकूल हैं। सर स्टैफर्ड ने भारतीय नेताओं से भी भेंट की और उन्हें इस बात की सूचना दी कि भारतीय स्थिति के अध्ययन के लिए एक सर्वदलीय प्रतिनिधि-मंडल शीघ्र ही भारत आने वाला है। ब्रिटिश राजनीतिज्ञों की उक्त प्रकार की बातों से भारतीय नेता अनभिज्ञ न थे। वे उनके वास्तविक अर्थ को भलीभाँति समझते थे। पर सर स्टैफर्ड क्रिप्स के व्यक्तित्व के कारण उनकी बातों और वक्तव्यों में विशेष रूप से विश्वास किया गया और फलस्वरूप समझौते की मनोवृत्ति बनी रही।

कार्य-समिति का वर्धा अधिवेशन—इलाहाबाद अधिवेशन के लग-

---

१. कांग्रेस-कार्य-समिति द्वारा २३ नवंबर सन् १९३९ को पारित प्रस्ताव। Indian Quarterly Register 1939 Vol. II P. 238.

भग एक महीने पश्चात कांग्रेस कार्य-समिति का अधिवेशन १८ दिसंबरसे २२ दिसंबर सन् १६३६ तक वर्धा में हुआ। देश की राजनीतिक परिस्थिति में किसी प्रकार का अंतर न हुआ था। १४ दिसंबर सन् १६३६ को भारत-मंत्री लॉर्ड जेटलैंड ने, लॉर्ड-सभा में दी गयी एक वक्तृता में भारतीय परिस्थिति और कांग्रेस की व्यंग आलोचना करते हुए न्यूनाधिक उन्हीं बातों को दोहराया था जिनका उल्लेख वाइसराय ने अपने ५ नवंबर सन् १६३६ के वक्तव्य में किया था।[1] अतः कार्य-समिति की कार्रवाई में नवीनता का अभाव था। उसके द्वारा स्वीकृत प्रस्तावों में निम्नलिखित बातों पर ज़ोर दिया गया था—(१) भारत-मंत्री की वक्तृताओं पर खेद-प्रकाश; (२) सांप्रदायिक समस्या पर जोर देने की निंदा। जब तक विभिन्न दल तीसरे दल पर आश्रित रहेंगे, संतोषजनक हल का होना असंभव सिद्ध होगा; (३) संविधान-सभा का मार्ग ही एक ऐसा मार्ग था जिसके अनुसरण द्वारा समझौता हो सकता था। (४) सविनय अवज्ञा की तैयारी पर जोर। देश की संकटमय परिस्थिति के कारण कार्य-समिति ने यह अनुभव किया कि सन् १६४० में की जाने वाली स्वाधीनता दिवस की प्रतिज्ञा इस प्रकार निर्धारित की जाय कि उससे सविनय अवज्ञा की तैयारी में सहायता मिल सके। कार्य-समिति ने यह भी स्पष्ट कर दिया था कि यदि प्रतिज्ञा में सम्मिलित बातों में किसी की आस्था न हो तो वह केवल दिखाने के लिए प्रतिज्ञा न करे। कार्य-समिति किसी अनिच्छुक व्यक्ति पर प्रतिज्ञा को लादना नहीं चाहती थी। संशोधित प्रतिज्ञा इस प्रकार थी—

"हमारा विश्वास है कि संसार के दूसरे लोगों की भाँति भारतीय जनता का भी यह जन्मसिद्ध अधिकार है कि उसे आजादी मिले। वह अपनी मेहनत का फल भोगे और जीवन के लिए आवश्यक चीजें उसे इतनी मिले जिससे उसे अपने विकास की पूरी सुविधा हो जाय। हमारा विश्वास है कि यदि कोई सरकार प्रजा के इन अधिकारों को छीने और सताये, तो प्रजा का भी यह हक हो जाता है कि वह उस सरकार को बदल दे या मिटा दे। हिंदुस्तान (भारत) की अंगरेजी सरकार ने भारतीय प्रजा से उसकी आजादी ही नहीं छीनी हैं, बल्कि जनता के शोषण पर अपनी बुनियाद रखी है और हिंदुस्तान (भारत) को आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक दृष्टियों से तबाह कर

---

१. देखिये पृ० ६१ पूर्व।

दिया है इस लिए हमारा विश्वास है कि भारत को अंगरेजों से नाता तोड़ कर पूर्ण स्वराज्य हासिल करना चाहिये।

"हम जानते हैं कि आजादी हासिल करने का सबसे अधिक प्रभावशाली उपाय हिंसा नहीं है। शांतिपूर्ण और वैध साधनों के बल पर ही भारत ने बल और स्वावलंबन प्राप्त किया और स्वराज्य का बहुत सा रास्ता तय कर लिया है। इन्हीं तरीकों पर दृढ़ रहने से हमारा देश स्वाधीनता प्राप्त कर सकेगा।

"हम भारत की स्वाधीनता का फिर नये सिरे से अहद करते हैं और पूरी गंभीरता से शपथ लेकर निश्चय करते हैं कि जब तक पूर्ण स्वराज्य न प्राप्त हो जायगा, तब तक हम अहिंसात्मक तरीके पर अपनी आजादी की लड़ाई को जारी रखेंगे।

"हमारा यकीन है कि आमतौर पर किसी अहिंसात्मक कार्रवाई के लिए और खास कर अहिंसात्मक सविनय भंग जैसी सीधी लड़ाई के लिए खादी, कौमी एकता और अस्पृश्यता-निवारण के रचनात्मक कार्य-क्रम का सफलतापूर्वक संचालन आवश्यक है। हम जात-पांत या धर्म का भेद-भाव छोड़कर अपने देशवासियों में सद्भाव फैलाने का कोई मौका हाथ से नहीं जाने देंगे। जिन लोगों की आज तक किसी ने परवाह नहीं की है, उनको अज्ञान और दरिद्रता से बाहर निकालने और जो पिछड़े हुए या दबाये हुए समझे जाते हैं उनके हितों की सब प्रकार से रक्षा करने की भरसक चेष्टा करेंगे। हम जानते हैं कि यद्यपि हम साम्राज्यवादी प्रणाली का अंत कर देने पर तुले हुए हैं, तो भी हमारा अंगरेजों से कोई झगड़ा नहीं है, चाहे वे सरकारी कर्मचारी हों अथवा गैर-सरकारी व्यक्ति हों। हम जानते हैं कि सवर्ण हिंदुओं और हरिजनों के बीच में भेदभाव को अवश्य मिटा देना चाहिये और हिंदुओं को अपने प्रतिदिन के आचरण में इस भेदभाव को भूल जाना चाहिये। ऐसे भेदभाव अहिंसात्मक आचरण के मार्ग में बड़ी रुकावट हैं। हमारे धार्मिक विश्वास भले ही अलग अलग हों, तो भी आपसी व्यवहार में हम भारत-माता के संतान की भांति काम करेंगे, क्योंकि हम सब का एक ही राष्ट्र है और सबके राजनीतिक तथा आर्थिक हित समान हैं।

"भारत के सात लाख गांवों में फिर से नवीन जीवन डालने और आम जनता की कमर तोड़ गरीबी मिटाने के लिए चर्खा और खादी हमारे रचनात्मक कार्य-क्रम के अटूट अंग हैं। इसलिए हम नियमपूर्वक चर्खा कातेंगे और अपनी

निजी आवश्यकताओं के लिए केवल खादी का ही इस्तेमाल करेंगे, और जहाँ तक हो सकेगा गाँव की हाथ की बनी हुई वस्तुएं ही अपने काम में लायेंगे और दूसरों से भी ऐसा ही कराने का यत्न करेंगे।

"हम प्रतिज्ञा करते हैं कि हम कांग्रेस के सिद्धांतों और नीतियों का कड़ाई के साथ पालन करेंगे और भारत की स्वतंत्रता के संग्राम के लिए जब कभी कांग्रेस हमें बुलावेगी, हम सदा उसकी आज्ञा को मानने के लिए तैयार रहेंगे।"[1]

स्वाधीनता-दिवस के उक्त प्रतिज्ञापत्र में खादी, चर्खा, कौमी एकता, धार्मिक सहिष्णुता और अस्पृश्यता के अंत पर विशेष जोर दिया गया था। गांधीजी के मतानुकूल इनके बिना सविनय अवज्ञा की सफलता असंभव थी।

५ फरवरी सन् १९४० का पुनर्मिलन—५ फरवरी सन् १९४० को वाइसराय और गांधीजी का पुनर्मिलन हुआ। इसके पूर्व १० जनवरी सन् १९४० को, बंबई के ओरियंटल क्लब के भाषण में वाइसराय ने राजनीतिक परिस्थिति से संबद्ध निम्नलिखित विचार प्रगट किये थे—(१) प्रांतीय स्वायत्त शासन का गतिरोध अस्थायी था। (२) भारत में उनका उद्देश्य वेस्टमिंस्टर स्टेच्यूट (Westminster Statute) में परिभाषित औपनिवेशिक स्वराज्य का स्थापित करना था। (३) यदि मुख्य दलों में समझौता हो जाय तो वे, केंद्रीय कार्यपालिका में कुछ भारतीय नेताओं को सम्मिलित करके उसके बढ़ाने के लिए तैयार थे। (४) भारत-सरकार और सम्राट की सरकार औपनिवेशिक स्वराज्य की अवधि को कम से कम करने में कोई भी कसर न उठा रखेंगी। (५) सद्भावना की अपील।[2] "प्रस्ताव आपके सामने हैं। राजनीतिक दलों और उनके नेताओं पर बहुत गंभीर उत्तरदायित्व आ पड़ा है। उन्होंने भूतकाल में मेरी सहायता की है और आज मैं उनसे पुनः अपनी और भारत की सहायता करने की प्रार्थना करता हूँ। यथासंभव शीघ्र ही वर्तमान स्थिति को समाप्त करने के लिए मैं उनकी सहायता और सहयोग को माँगता हूँ। संवैधानिक प्रगति में आस्था रखने वाले सभी व्यक्तियों को वर्तमान स्थिति की निंदा करनी चाहिये। उससे प्रत्येक मान-प्रिय और भारत-हितैषी व्यक्ति को निराशा होती है।" ५ फरवरी की मुलाकात में वाइसराय ने

---

१. प० सीतारामय्या—कां० का इ० भाग २, पृष्ठ १९७–९८।

२. वही पृष्ठ १८९।

इन सब बातों को गांधीजी के सम्मुख रखा। दोनों में लगभग २।। घंटे तक बातचीत होती रही। वाइसराय के सुझावों से कांग्रेस की माँगों की पूर्ति न होती थी। देश में सांप्रदायिक समस्या के हलके प्रयत्न हो रहे थे। अतः गांधी जी ने वाइसराय को बातचीत के स्थगित करने का परामर्श दिया और उन्होंने गांधीजी के परामर्श को स्वीकार कर लिया। वाइसराय के सुझाव वास्तव में अपर्याप्त थे। गांधीजी के मतानुकूल सुझावों का आधार भारत के भाग्य का अंतिम निर्णय ब्रिटिश सरकार के हाथों में रखना था और कांग्रेस का ध्येय स्वभाग्य-निर्णय के सिद्धांत को कार्यान्वित करना था।

रामगढ़ कांग्रेस—मार्च सन् १६४० में कांग्रेस का साधारण अधिवेशन रामगढ़ में हुआ। श्री राजेंद्र प्रसाद स्वागत-समिति के अध्यक्ष थे और मौलाना अबुल कलाम आजाद कांग्रेस के। दोनों के भाषण-विद्वत्तापूर्ण तथा समकालीन राजनीतिक परिस्थिति पर सारगर्भित प्रकाश डालने वाले थे। मौलाना आजाद के भाषण[1] के दो मुख्य आधार थे—(१) ३ सितंबर को युद्ध की घोषणा के पश्चात् कांग्रेस ने जो कदम उठाया था वह देश को किधर लिये जा रहा था? और (२) वतमान समय में देश की क्या स्थिति थी? अपने भाषण में उन्होंने फासिस्टवाद, नाजीवाद और साम्राज्यवाद का विरोध करके, कांग्रेस की माँग पर प्रकाश डाला और यह बतलाया कि वास्तविकता की कसौटी के पहले ही प्रहार से इंगलैंड और फ्रांस के उत्तरदायी राज विज्ञों की घोषणाएँ और वक्तव्य चकनाचूर हो गये थे। "हमारी स्थिति बिल्कुल साफ है। हम ब्रिटिश साम्राज्यवाद को विजयी और मजबूत होता हुआ नहीं देखना चाहते और इस तरह अपनी गुलामी की अवधि को भी बढ़ाना नहीं चाहते। हम ऐसा करने से कतई इनकार करते हैं। हमारा रास्ता बिल्कुल ही दूसरी दिशा में है।" इसके पश्चात् मौलाना आजाद ने सन् १६३७ के सहयोग की ओर संकेत करके निम्नलिखित आशय के विचार प्रगट किये—सन् १६३७ में हमने अस्थायी और आंशिक सहयोग का जो हाथ बढ़ाया था, उसे युद्ध की घोषणा के पश्चात् हमने खींच लिया है। स्पष्ट है कि हमारी इच्छा असहयोग की दिशा में आगे बढ़ने की है। जिस स्थिति में हम आज हैं उसके संबंध में हमें यह निर्णय करना है कि हमें इस दिशा में आगे बढ़ना चाहिये या पीछे की ओर कदम उठाना चाहिये। एक बार पग उठा लेने के पश्चात् उसे पीछे की

---

१. प० सीतारामय्या—कां० का इ० भाग २, पृष्ठ १७८–८०।

ओर नहीं हटाया जा सकता। पग रोकना भी ठीक नहीं है। उसका तात्पर्य पीछे की ओर हटना है और हम पीछे हटने से इनकार करते हैं। इसलिए हम सिर्फ आगे ही की ओर पग उठा सकते हैं।

रामगढ़ के अधिवेशन में कांग्रेस ने राजनीतिक स्थिति के संबंध में वही प्रस्ताव पारित किया जिसे उसकी कार्य-समिति ने अपने पटना के अधिवेशन में २८ फरवरी सन् १९४० को पारित किया था। उसके द्वारा कांग्रेस का यह निश्चय उद्घोषित किया गया कि वह निस्संदेह उस समय सविनय अवज्ञा आरंभ कर देगी जब उसका संगठन इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उपयुक्त समझा जायगा या जब परिस्थिति उसे ऐसा करने के लिए विवश कर देगी। उसमें यह भी उद्घोषित किया गया कि पूर्ण स्वतंत्रता से निम्नतर कोई भी बात भारत के लोगों को स्वीकार्य न होगी। "साम्राज्यवाद के अंतर्गत भारत की स्वतंत्रता असंभव है। साम्राज्यवादी संगठन के अंतर्गत डोमीनियन का दर्जा या कोई दूसरा दर्जा भारत के लिए उपयुक्त नहीं हो सकता। वह उसकी राष्ट्रीय गरिमा से असंगत होगा और उसे ब्रिटेन के राजनीतिक और आर्थिक संगठन से संबद्ध रखेगा।" पारित प्रस्ताव में इस बात पर भी जोर दिया गया था कि "भारत के लोग वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित संविधान-सभा द्वारा स्वयं ही अपने लिए ठीक ठीक संविधान को बना सकते और संसार के दूसरे राष्ट्रों से अपना संबंध निश्चित कर सकते हैं।"[१]

रामगढ़ का अधिवेशन कांग्रेस का सब से छोटा अधिवेशन था, पर उसका वातावरण विरोधात्मक विचार-धाराओं के कारण पर्याप्त मात्रा से क्षुब्ध था। देश में सांप्रदायिक दंगे हो चले थे और भारत में दो राष्ट्रों के सिद्धांत पर आधारित पाकिस्तान की कल्पना मूर्तिमान स्वरूप धारण कर रही थी। कांग्रेस के कुछ सदस्य शीघ्रातिशीघ्र सविनय अवज्ञा आरंभ करने के लिए उतावले हो रहे थे, पर गांधी जी के विचार इसके विरुद्ध थे। रामगढ़ में देश और कांग्रेस की स्थिति तथा सविनय अवज्ञा के संबंध में उन्होंने जो विचार प्रगट किये उनमें से निम्नलिखित विचारणीय हैं[२]—"इस बार मैं देखता हूँ कि पहले की अपेक्षा आज हम लोग चारों ओर कठिनाइयों से कहीं ज्यादा घिरे हुए हैं। कठिनाइयां भीतरी और बाहरी दोनों प्रकार की हैं।" उन्हें बाहरी कठिनाइयों से विशेष

---

1. Coupland : Indian Politics 1936-42 Part II P. 237
२. प० सीतारामय्या—कां० का इ०, भाग २, पृष्ठ १८४–८५।

भय न था। "मैंने अक्सर कहा है कि अगर आंदोलन ठीक आधार पर चले तो बाहरी कठिनाइयों से सत्याग्रही को डरने की जरूरत नहीं है"। किंतु भीतरी कठिनाई अधिक कष्टदायिनी है। "कांग्रेस के रजिस्टर ऐसे सदस्यों से भरे हैं जो यह जानकर भर्ती हो गये हैं कि कांग्रेस में घुसने का अर्थ सत्ता का प्राप्त करना है।........कांग्रेस में कोई अनुशासन नहीं है। लोग दलों में बँटे हुए हैं और उनमें लड़ाई झगड़े हैं।...........हमारी संस्था लोकतंत्रात्मक और लड़ाकू दोनों ही है। हमारी लड़ाई अभी समाप्त नहीं हुई है। जब हम सेना के रूप में आगे बढ़ते हैं तब हम लोकतंत्रवादी नहीं रह जाते।........सेना में जो कुछ सेनापति कहे वही कानून होता है।........मैं आपका सेनापति हूँ........मेरे पास कोई अधिकार नहीं है। मेरा एकमात्र बल आपका प्रेम है। जब आपने मुझे अपना सेनापति बनाया है तो आपको मेरे आदेश का पालन करना ही पड़ेगा"। गांधी जी ने सफल सैन्य-संचालन के लिए कुछ आदेश भी जारी किये। उनका भावार्थ इस प्रकार है[1]—(१) प्रत्येक कांग्रेस कमेटी को सत्याग्रह कमेटी में बदल देना चाहिये और उन सब लोगों के नाम लिख लेना चाहिये जो नियमित रूप से कातते हों, आदतन खादी पहनते हों, सबके प्रति सद्भाव पैदा करने में विश्वास रखते हों, और जिनमें किसी भी रूप में छुआछूत न हो। (२) नाम लिखाने वाले सत्याग्रहियों को रोजनामचा रखना चाहिये। इसमें उन्हें उन सब कामों को लिखना चाहिये जो वे नित्य करें। अपनी कताई के अतिरिक्त उन्हें कांग्रेस के चवन्नी सदस्यों के पास जाना चाहिये और उन्हें खादी के प्रयोग, कताई करने और अपना नाम लिखाने के लिए समझाना चाहिये। ये सदस्य चाहे ऐसा करें या न करें, पर उनके साथ संपर्क बनाये रखना चाहिये। (३) हरिजनों के घर भी जाते रहना चाहिये और जहाँ तक हो सके उनकी तकलीफों को दूर करना चाहिये। (४) उन्हीं लोगों को अपना नाम लिखाना चाहिये जो जेल के कष्ट उठाने के लिए तैयार तथा समर्थ हों। (५) सत्याग्रही कैदियों को अपने या अपने आश्रितों के लिए किसी तरह की आर्थिक सहायता की आशा न रखनी चाहिये। उक्त पांचों आदेश उन लोगों लिए थे जिन्हें गांधी जी ने सक्रिय सत्याग्रहियों के वर्ग में रखा था। इसके अतिरिक्त उन्होंने निष्क्रिय सत्याग्रहियों का एक वर्ग बनाया था। इनमें उन लोगों की गणना थी जो चाहे कातते या न कातते, जेल जाते अथवा न जाते,

१. प० सीतारामय्या—कां० का इ०, भाग २, पृष्ठ १८९–९० ।

पर जिनका सत्याग्रह के दोनों सिद्धांतों में विश्वास था, जो संघर्ष का स्वागत करते तथा उसकी सफलता चाहते थे। गांधी जी चाहते थे कि वे व्यग्रता दिखला कर लड़ाई के प्रवाह में हस्तक्षेप न करें। उनकी इस प्रकार की सहायता सक्रिय सत्याग्रहियों की सहायता के बराबर समझी जायगी। गांधी जी सफल संग्राम के लिए उक्त आदेशों का पालन अनिवार्य समझते थे। "आने वाली लड़ाई में—अगर लड़ाई आनी है तो—अधकचरी वफादारी से काम न चलेगा"। शंकाशील और बे-तैयार सिपाहियों को लेकर यदि कोई सेनापति रणक्षेत्र की ओर बढ़ेगा तो उसकी पराजय निश्चित है।

रामगढ़ में, कांग्रेस के संगठन की दुर्बलता के कारण गांधी जी ने एक ऐसी मनोवृत्ति का परिचय दिया जिसका अभी तक किसी को ज्ञान न था। वे कांग्रेस के नेतृत्व को छोड़, चंपारन और अहमदाबाद की भाँति, अकेले सत्याग्रह करने की समस्या पर गंभीरतापूर्वक विचार कर रहे थे। गांधीजी की उक्त मनोवृत्ति का उत्तरदायित्व उन लोगों पर था जो संघर्ष के लिए उतावले से हो रहे थे। वे गांधीजी से पूछते थे कि "आंदोलन कब आरंभ होगा?" और गांधी जी का उत्तर था "जब आप तैयार हो जायँगे"। गांधीजी ने रामगढ़ में इस मनोवृत्ति को कार्यान्वित न करने का निश्चय किया।

रामगढ़ में गांधीजी ने उन लोगों की भी आलोचना की जो उनके कार्य-क्रम को मानने को तैयार न थे। इनमें साम्यवादियों, समाजवादियों, राय-वादियों और अग्रगामी दल के सदस्यों की गणना थी। ये चर्खे और कताईसे असंतुष्ट थे। गांधीजी के मतानुकूल चर्खे और सत्याग्रह में शरीर और प्राण का संबंध था। "मेरे विश्वास का जितना विरोध होता है उतना ही वह और पक्का होता जाता है।" वे अहिंसा और सत्य पर पहले ही की भाँति अटल थे। "आपका मार्ग सत्य और अहिंसा से अलग हो सकता है। पर मेरा तो वही पुराना रास्ता है।"[१] ऐसे लोगों को गांधीजी ने यह परामर्श दिया कि वे कांग्रेस में रह कर उसके नेतृत्व के इच्छुक न हों। वे कांग्रेस से अलग अपना आंदोलन चला सकते थे। पर कांग्रेस में रहकर उनके (गांधी जी के) नेतृत्व को चाहने वाले लोगों के लिए यह अनिवार्य था कि वे उनके अनुशासन को स्वीकार तथा आदेशों का पालन करें।

ब्रिटेन की सरकार में परिवर्तन—रामगढ़ के अधिवेशन के पश्चात्

---

१. प० सीतारामय्या कां० का इ०, दू० भाग पृ० १८५।

ब्रिटेन की सरकार में परिवर्तन हुआ। चैंबरलेन के स्थान पर चर्चिल प्रधान-मंत्री नियुक्त हुए और लॉर्ड जेटलैंड के स्थान पर मिस्टर एमरी भारत-मंत्री। भारत के निवासी, इनके भारत संबंधी विचारों से भली-भाँति परिचित थे। उन्हें इनसे किसी प्रकार की विशेष आशा न हो सकती थी। किंतु कुछ युरोपीय विद्वान, इनके चरित्र से इस बात की आशा करते थे कि ये बहुत शीघ्र भारतीय परिस्थिति पर काबू पा लेंगे। युद्ध के कारण यह आशा सर्वथा निर्मूल न थी। 'मार्चलास्ट' नामी अपनी पुस्तक में मिस्टर एमरी ने भारत के संबंध में निम्नलिखित विचार प्रगट किये थे—"भारत अब ऐसी स्थिति में पहुँच गया है जब कि वह स्वाधीनता पाने के योग्य है। अब उसे (युरोपीय) महाद्वीप का एक सदस्य समझा जा सकता है। जहाँ तक मानसिक या बौद्धिक प्रगति का सवाल है, आम एशियाई देशों में भारत का स्थान सबसे ऊँचा है।"[१] किंतु भारत-मंत्री नियुक्त होने के पश्चात् उनके विचार बदल गये। अब वे पुरानी सरकार की नीति का राग अलापने लगे। "पिछली सरकार की भाँति हमारी नीति का उद्देश्य भी ब्रिटिश कॉमनवेलथ (राष्ट्र-मंडल) के अंतर्गत भारत को स्वतंत्र और बराबरी का दर्जा देना है।"[२] भारत-मंत्री ने यह स्वीकार किया कि भारतीय दृष्टिकोण के अनुरूप संविधान बनाने का उत्तरदायित्व स्वयं भारतीयों का है। किंतु अन्य सब बातों में उनके विचार न्यूनाधिक वे ही थे जो लॉर्ड जेटलैंड के। अतएव नयी सरकार के निर्माण के कारण भारतीय परिस्थिति के बदलने की विशेष आशा न थी। मिस्टर एमरी के उक्त विचारों की पं० जवाहरलाल नेहरू पर निम्नलिखित प्रतिक्रिया हुई थी—"भारत मंत्री के भाषण से यह स्पष्ट है कि उनके विचार मेल-मिलाप की ओर झुके हुए हैं किंतु उनके भाषण की बातों का भारत या युरुप की स्थिति से कोई संबंध नहीं है। .... हम संसार की मौजूदा स्थिति में निहित बातों और भारत पर उनके परिणामों से भली भाँति परिचित हैं। मैं चाहता हूँ कि ब्रिटिश सरकार भी उन्हें उसी प्रकार समझे जिस प्रकार हम भारत में समझते हैं और अपने मार्ग को, साम्राज्य और आधिपत्य की भावनाओं को परित्यक्त करके, निर्धारित करे।"[३]

सामरिक स्थिति में परिवर्तन—मई सन् १९४० तक सामरिक स्थिति

---

१ प० सीतारामय्या—कां० का इ० दू० भाग पृ० २०० ।

२. वही पृ० १९९ ।

3. Indian Quarterly Register, 1940 Vol. I P. 72

बड़ी भयंकर हो गयी थी। डेंजिग का पतन हो चुका था, चेकोस्लोवाकिया और पोलैंड हार चुके थे, हॉलैंड, बेलजियम और नार्वे पर आक्रमण कर दिया गया था और फ्रांस का पतन सन्निकट प्रतीत होता था। १७ जून को फ्रांस के पतन का समाचार सारे संसार में फैल गया। ऐसा विदित होने लगा कि इंगलैंड पर बहुत शीघ्र आक्रमण होगा। भारत की जनता और नेताओं को सामरिक स्थिति के इस विद्युत-परिवर्तन की आशा न थी। वे फ्रांस की पराजय से दुखी थे और इंगलैंड पर आक्रमण के प्रभावों को गंभीरतापूर्वक अध्ययन कर रहे थे। आगे क्या होगा, इस बात पर विचार करने के कारण, भारतीय कांग्रेस में एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई जिसके परिणाम-स्वरूप गांधीजी के कांग्रेस से अलग होने की चर्चा व्यापक रूप से होने लगी।

अहिंसा और हिंसा—फ्रांस के पतन के पश्चात् कांग्रेस कार्य-समिति के अधिवेशन १७ जून से २१ जून सन् १९४० तक वर्धा में, और ३ जुलाई से ७ जुलाई सन् १९४० तक दिल्ली में हुए। वर्धा के अधिवेशन में कार्य-समिति ने युद्ध की सामरिक स्थिति पर खेद प्रगट किया और अहिंसा की नीति में गांधीजी के साथ उनकी सीमा तक जाने में असमर्थता के कारण, उन्हें कांग्रेस के कार्य-क्रम और कार्रवाइयों से किंचित काल के लिए मुक्त कर दिया। इस संबंध में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के पूना के अधिवेशन[१] में कांग्रेस के अध्यक्ष मौलाना आजाद ने एक सारगर्भित वक्तव्य प्रकाशित किया था।[२] उसके महत्त्वपूर्ण भागों का तत्त्वांश इस प्रकार है—वर्धा के अधिवेशन के पूर्व भी गांधीजी ने अहिंसा के प्रश्न को उठाया था। दो बरस पूर्व सितंबर सन् १९३८ में यह प्रश्न पहले-पहल उठाया गया था। गांधीजी चाहते थे कि कांग्रेस ऐसी घोषणा करे कि स्वतंत्र भारत में हिंसा का स्थान न रह जायगा और बाह्य आक्रमण से देश की रक्षा के लिए किसी प्रकार की सेना न रहेगी। कांग्रेस कार्य-समिति गांधीजी के विचारों को स्वीकार करने में असमर्थ थी। उसने अपनी कठिनाइयों को उनके सम्मुख रखा। उस समय म्युनिक के समझौते[३] के कारण,

---

१ अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का अधिवेशन पूना में २७ और २८ जुलाई को हुआ था।

2. Indian Annual Register, 1940 Vol. II PP 192-94

३. म्यूनिक का समझौता इंगलैंड और जर्मनी में चेकोस्लोवाकिया के विषय में हुआ था। इसके परिणाम-स्वरूप किंचित काल के लिए महासमर टल गया था।

समस्या विकट रूप न धारण कर सकी। पिछले सितंबर में युरोपीय महासमर के छिड़ने पर महात्माजी ने इस प्रश्न को पुनः उठाया। रामगढ़ के अधिवेशन में यह प्रश्न तीसरी बार उठाया गया, किंतु मेरे आग्रह पर गांधीजी ने अंतिम निर्णय को कुछ दिनों के लिए स्थगित कर दिया। कार्य-समिति के वर्धा के अधिवेशन में गांधीजी ने आग्रह किया कि इस बार कमेटी अपना अंतिम निर्णय कर ले। कांग्रेस में एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं है, जो यथाशक्ति गांधीजी के साथ रहने को इच्छुक न हो। किंतु हम वास्तविकता की ओर से अपनी आँखें बंद नहीं कर सकते। हम जानते हैं कि अस्त्र-शस्त्र और गोला-बारूद फ्रांस, हॉलैंड, बेल्जियम और नार्वे की स्वतंत्रता की रक्षा करने में असफल सिद्ध हुए थे। हम यह भी जानते हैं कि मानव-प्रकृति, सशस्त्र विरोध को निरर्थक समझते हुए भी, सेना को छोड़ने के लिए तैयार नहीं है। हम में यह घोषित करने का साहस नहीं है कि हम सशस्त्र सेना के बिना इस देश में एक नवीन राज्य का संगठन करेंगे। सारांश यह कि हम गांधीजी के साथ उस सीमा तक जाने को तैयार नहीं है जिस सीमा तक वे हमें ले जाना चाहते हैं। मैंने इस प्रश्न को कार्य-समिति के सम्मुख रख दिया। हम में से अधिकाश का यह मत था कि आंतरिक विप्लव और विदेशी आक्रमण की स्थिति में हम हिंसा का पूर्ण-रूपेण परित्याग नहीं कर सकते। देश की स्वतंत्रता की लड़ाई में अहिंसा का वही स्थान बना रहेगा जा विगत २० साल से रहा है। महात्मा गांधी अब कांग्रेस की नीति के लिए उत्तरदायी न होंगे किंतु कांग्रेस और कार्य-समिति को अपना परामर्श देते रहेंगे। हमारा संबंध उनके साथ उनके जीवन पर्यंत बना रहेगा और मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि वे हमारे पथ-प्रदर्शन के लिए दीर्घायु हों।

समझौते का नवीन प्रयत्न—कांग्रेस-कार्य-समिति ने, किंचित काल के लिए, कांग्रेस को गांधीजी के नेतृत्व से ही वंचित नहीं किया, उसने संवैधानिक समस्या के सुलझाने का एक नवीन प्रयत्न भी किया। ३ जुलाई से ७ जुलाई सन् १९४० तक किये गये दिल्ली के अधिवेशन में उसने राजनीतिक परिस्थिति से संबद्ध जो प्रस्ताव पारित किया, उसमें तीन मुख्य बातों का समावेश था। (१) ब्रिटेन और भारत की समस्याओं को सुलझाने के लिए भारत की पूर्ण स्वाधीनता की माँग की स्वीकृति। (२) इसे तत्काल कार्य-रूप में परिणत करने के लिए केंद्र में अस्थायी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना, जिसे केंद्रीय विधान-सभा के सभी निर्वाचित वर्गों का विश्वास प्राप्त हो और जिसके साथ प्रांतों की उत्तरदायी सरकारें सहयोग कर सकें। (३) यदि उक्त दोनों प्रस्ताव स्वीकार

किये जायँगे तो कांग्रेस देश की रक्षा के लिए प्रभावशाली संगठन के रूप में अपना पूरा-पूरा सहयोग देने की स्थिति में हो जायगी। कार्य-समिति के उक्त प्रस्ताव की संपुष्टि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा पूना के अधिवेशन में की गयी थी। उक्त प्रस्ताव के भिन्न-भिन्न लोगों ने भिन्न-भिन्न अर्थ लगाये। भारत-मंत्री को उनमें पूर्ण उत्तरदायी सरकार का आभास हुआ। गांधीजी, कांग्रेस की प्राचीन स्थिति के कारण, पूरे-पूरे सहयोग का अर्थ केवल नैतिक बल ही लगाते थे। किंतु कार्य-समिति के अधिकाश सदस्य उनके मत के न थे। अतः उन्होंने अहिंसा में जीती जागती श्रद्धा रखने वाले लोगों को यह सलाह दी कि वे कांग्रेस की इस नीति से अलग रहें। उन्होंने ब्रिटिश सरकार को भी यह सलाह दी कि कांग्रेस ने दोस्ती का जो हाथ उसकी तरफ बढ़ाया है उसे वह ठुकरा न दे।"

८ अगस्त सन् १९४० की सरकारी घोषणा—कांग्रेस के उक्त प्रस्ताव के उत्तर में ८ अगस्त सन् १९४० की सरकारी घोषणा, सम्राट की सरकार की अनुमति से, वाइसराय द्वारा की गयी। महात्मा गांधी और कांग्रेस के अध्यक्ष मौलाना आजाद को इसकी अग्रिम सूचना दी गयी थी और वाइसराय ने इन दोनों नेताओं को घोषणा के संबंध मे मिलने को आमंत्रित किया था। घोषणा के महत्त्वपूर्ण अंशों का भावार्थ इस प्रकार[1] है—(१) गवर्नर जनरल की कार्य-पालिका कौंसिल बढ़ायी जायगी और उसमें कुछ प्रतिनिधि भारतीय सम्मिलित किये जाएँगे। (२) एक युद्ध-परामर्शदात्री-कौंसिल स्थापित की जायगी। इसमें भारतीय रियासतों और देश के अन्य अंगों के भी प्रतिनिधि होंगे और निश्चित समय पर इसके अधिवेशन हुआ करेंगे। (३) युद्ध के काल में ब्रिटिश सरकार भारतीय शांति और व्यवस्था का उत्तरदायित्व किसी ऐसी सरकार के हाथ में देने में असमर्थ थी जिसकी सत्ता भारतीय जनता के महत्वपूर्ण अंश मानने को तैयार न थे, और वह यह भी न चाहती थी कि इन अंशों से जबरदस्ती ऐसी सत्ता स्वीकार करायी जाय। (४) युद्ध के पश्चात्, सम्राट की सरकार, कम से कम समय में, भारतीय राष्ट्रीय जीवन के प्रधान अंगों के प्रतिनिधियों की एक ऐसी सभा बुलाने की अनुमति देगी जिसका काम भारत के लिए नया संविधान बनाना होगा और यथाशक्ति उसके शीघ्रातिशीघ्र निर्णय करने में सहायता पहुँचावेगी।

---

1. Indian Year Book 1941-42 PP 890-91

कांग्रेस की प्रतिक्रिया—इस घोषणा में कांग्रेस की माँगों को स्थान न दिया गया था। अतः कांग्रेस अध्यक्ष ने वाइसराय को तार द्वारा यह सूचना दी कि मिलने से किसी लाभ की आशा न थी। १८ से २२ अगस्त सन् १९४० तक कांग्रेस कार्य-समिति ने वर्धा के अधिवेशन में सरकारी घोषणा पर विचार किया। उसके संबध में उसके द्वारा पारित प्रस्ताव का भावार्थ इस प्रकार है—कार्य-समिति को इस बात का क्षोभ था कि गतिरोध को समाप्त करने और कांग्रस के सहयोग को देने के लिए कार्य-समिति ने दोस्ती का जो हाथ बढ़ाया था, ब्रिटिश सरकार ने उसे ठुकरा दिया था। उसे इस बात का विश्वास हो गया था कि साम्राज्यवादी घेरे में रह कर भारत अपने उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकता। अतः उसे स्वतंत्र राष्ट्र का पद प्राप्त करना चाहिये। संविधान-सभा की माँग भारत की प्रगति में एक दुस्साध्य कठिनाई बना दी गयी थी। ब्रिटिश सरकार किसी भी भाँति सत्ता छोड़ने को तैयार न थी यहाँ तक कि युद्ध प्रयत्न में सहयोग प्राप्त करने के लिए भी नहीं। वह ऐसे लोगों और दलों की मदद से अपना काम जारी रखना चाहती थी जो भारत के बहुमत का विरोध कर रहे थे। अतः कार्य-समिति घोषणांतर्गत बातों को स्वीकार करने में असमर्थ थी। उसने जनता को सार्वजनिक सभाओं एवं अन्य साधनों तथा प्रांतीय विधान-मंडलों में निर्वाचित अपने प्रतिनिधियों द्वारा सरकारी घोषणा की निंदा करने के लिए आदेश जारी किया। परिस्थिति की गंभीरता के कारण, दूसरे प्रस्ताव द्वारा, उसने १५ सितंबर को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन बुलाने का निश्चय किया।

१५ और १६ सितंबर सन् १९४० को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का अधिवेशन बंबई में हुआ। ब्रिटिश सरकार के दृष्टिकोण पर खेद प्रगट करने के पश्चात उसने उसके (ब्रिटिश सरकार) विरुद्ध यह आरोप लगाया कि भारतीय जनता के सम्मान और सामान्य अधिकारों की रक्षा के लिए, वह उसे (कांग्रेस को) युद्ध छेड़ने के लिए बाध्य कर रही थी। गांधी जी के नेतृत्व में, भारत की स्वतंत्रता के लिए, कांग्रेस अहिंसात्मक लड़ाई के लिए वचन-बद्ध थी। अतः राष्ट्रीय स्वतंत्रता के आंदोलन में तत्कालीन गंभीर परिस्थिति के कारण उसने गांधीजी से यह प्रार्थना की कि वे कांग्रेस द्वारा किये जाने वाले कामों में उसका पुनः पथ-प्रदर्शन करें। दिल्ली के प्रस्ताव द्वारा, वे इस काम से मुक्त कर दिये गये थे। अब वह प्रस्ताव लागू न था। वह शून्य हो गया था। कमेटी ने सत्याग्रह के उस अंतर्भाव पर भी प्रकाश डाला जिसके कारण

कांग्रेस ब्रिटिश सरकार को उलझन में डालने वाली कोई बात न कर सकती थी। किंतु स्वतः लगाया गया यह प्रतिबंध स्वतः विनाश की सीमा तक नहीं बढ़ाया जा सकता था। अहिंसा के आधार पर कांग्रेस अपनी नीति के संबंध में पूर्ण रूपेण स्वतंत्र थी। जनता की स्वतंत्रता के संरक्षण के अतिरिक्त उस समय उसका इरादा अहिंसात्मक अवज्ञा को बढ़ाने का न था।

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के इस प्रस्ताव के कारण, गांधी जी पुनः कांग्रेस का नेतृत्व करने लगे। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी में उन्होंने सरकारी घोषणा और अपने नेतृत्व के संबंध में निम्नलिखित विचार प्रगट किये थे—"कांग्रेस ने युद्ध के प्रयत्नों में सहयोग करने के लिए अपना हाथ बढ़ाया था। सरकार के लिए इस सहयोग का स्वीकार करना सरल था। दोस्ती का हाथ बढ़ाने के समय कांग्रेस ने आंतरिक विप्लव और बाह्य आक्रमण से बचाव के लिए अहिंसा के आदर्श तक का परित्याग कर दिया था। यह बात भी सरकार को स्वीकार न थी।........आपने मुझे पुनः कांग्रेस के पथप्रदर्शन का उत्तरदायित्व दिया है। इसका अर्थ सविनय अवज्ञा या असहयोग हो सकता है। किंतु इस समय मैं आपको यह नहीं बतला सकता कि मैं क्या करूँगा। मैं स्वयं अंधकार में हूँ। स्मरण रखिये कि आप उस व्यक्ति के नेतृत्व को स्वीकार कर रहे हैं जो स्वयं अपना मार्ग टटोल रहा है।......आपको मैं यह नहीं बतला सकता कि आपको क्या करना होगा। किंतु यह अवश्य बतला सकता हूँ कि आपको क्या न करना होगा। सामूहिक सविनय अवज्ञा का प्रश्न हमारे सामने नहीं है। व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा हो सकती है, पर इस पर भी मेरा दृढ़ मत नहीं है।"[1]

व्यक्तिगत सत्याग्रह—सरकार ने केवल कांग्रेस की माँग को ही नहीं ठुकराया उसने देश में दमन का भी चक्र चलाया। राष्ट्रवादी एवं श्रमजीवी नेता, वाक्-स्वतंत्र के अधिकार के प्रयोग के कारण, चुन-चुन कर कारागार में बंद किये जाने लगे। ऐसी अवस्था में चुपचाप बैठना दुर्बलता का परिचायक होता। अतः १७ अकटूबर सन् १९४० को व्यक्तिगत सत्याग्रह आरंभ किया गया। इसकी तैयारी में गांधीजी को एक बरस से अधिक लगा। इसी से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे व्यग्रता के साथ आंदोलन चलाने के पक्ष में न थे। अनुशासित तैयारी के पश्चात् भी जब उन्होंने आंदोलन का सूत्रपात किया, तब

---

1. Indian Annual Register 1940 Vol. II PP 213-16

भी सामूहिक सत्याग्रह के रूप में नहीं, वरन् व्यक्तिगत् सत्याग्रह के रूप में। सत्याग्रह के संघर्ष में शत्रु की उलझनों से लाभ उठाना वर्जित था। सामूहिक सत्याग्रह के कारण इंगलैंड की तकलीफों के बढ़ने की आशंका थी। जिन लोगों को सत्याग्रह करने की अनुमति मिली, वे भी गांधीजी द्वारा चुने जाते थे। सत्याग्रह करने का ढंग भी विलक्षण था। सत्याग्रही, सत्याग्रह करने से पहले ही उसकी सूचना मैजिस्ट्रेट और पुलिस को भेज देता था। वह जनता के सामने इस बात की घोषणा करता था कि उसका युद्ध के प्रयत्न में सहायता न करने का दृढ़ विश्वास था। जिस स्थान और जिस समय उसे सत्याग्रह करना होता था उसकी सूचना भी वह अधिकारियों को पहले ही से दे देता था। संभावित सत्याग्रहियों की सूची गांधीजी को भेज दी जाती थी। वे खूब छानबीन के पश्चात् यह आदेश देते थे कि कौन व्यक्ति सत्याग्रह कर सकता था। सत्याग्रहियों का चुनाव स्वयं गांधीजी करते थे। श्री विनोबा भावे सर्व प्रथम सत्याग्रही चुने गये थे। आंदोलन के परिणाम-स्वरूप लगभग १,२०,००० व्यक्ति कृष्ण-मंदिर के अतिथि बने थे।[१] गांधीजी को आंदोलन से पूर्ण संतोष था। "मैं फिलहाल ज्यादा तेज कदम नहीं उठाना चाहता। इसका मतलब यह नहीं कि मैं कोई तेज कदम उठाना ही नहीं चाहता, लेकिन अहिंसा के कानून के मुताबिक उसमें खुद ब खुद तेजी आ जायगी। अगर लोग फौरन ही कोई आश्चर्य-जनक घटना या परिणाम देखना चाहते हैं तो यह मुमकिन नहीं है। अहिंसा उस परम-पिता प्रभु का स्वरूप है और उस सर्व-नियंता के तरीके अवर्णनीय हैं। वाणी उनका वर्णन नहीं कर सकती।"[२]

आंदोलन की प्रगति से गांधीजी तो संतुष्ट थे, किंतु कुछ लोग उसको व्यर्थ समझते थे। अंतराष्ट्रीय जगत में भी भयंकर परिवर्तन हो रहे थे। जर्मनी ने रूस पर आक्रमण करके एक नवीन स्थिति उत्पन्न कर दी थी। भारत के कुछ वामपक्षी नेता रूस की सहायता करने के पक्ष में थे। पर उनकी यह मनोवृत्ति थोड़े ही समय तक रही। निर्दलीय नेता सत्याग्रह से असंतुष्ट होकर गांधीजी से यह प्रार्थना कर रहे थे कि वे आंदोलन को वापस ले लें। स्वयं कांग्रेसवादी विधान-मंडलों में अपने स्थान को बनाये रखने, तथा बर्मा और लंका में भारतीयों के प्रवास के संबंध में कुछ विचाराधीन समस्याओं पर अपने विचार प्रगट

---

१. प० सीतारामय्या—कां० का इ०, भाग २, पृष्ठ ३१४।

२. वही पृ० ३१५।

करने के लिए, विधान-मंडलों के अधिवेशन में उपस्थित होने की अनुमति चाहते थे। कुछ लोग उनके नये निर्वाचन के पक्ष में थे। सरकार ने भी आंदोलन को सांकेतिक-मात्र समझ कर, अक्टूबर सन् १६४१ से सत्याग्रही बंदियों को मुक्त करने की बातचीत छेड़ दी थी। कुछ दिनों के पश्चात् उनकी रिहाई भी होने लगी। इसके कारण आंदोलन को धक्का पहुँचा। गांधीजी भी इसे स्वीकार करते थे। "सरकार द्वारा सत्याग्रही बंदियों की मुक्ति के कारण सत्याग्रह का संचालन कठिन अवश्य हो गया है।" फिर भी वे उसमें शिथिलता आने देने के विरोधी थे। २१ अक्टूबर सन् १६४१ तक गांधीजी ने इस बात पर जोर दिया था कि कारागार से मुक्त सत्याग्रहियों को एक सप्ताह के भीतर पुनः सत्याग्रह करना चाहिये। रिहाइयों के संबंध में अपने विचार प्रगट करते हुए उन्होंने कहा था कि "मैं इन रिहाइयों का सिर्फ एक ही मतलब समझ सका हूँ और वह यह कि सरकार यह उम्मीद करती है कि उनके विचार बदल जायँगे। मुझे उम्मीद है कि इस बारे में सरकार को निराश होना पड़ेगा।"[1] पं० जवाहरलाल नेहरू के विचार भी इसी प्रकार के थे। "एक विदेशी हुकूमत के कहने पर जेल जाने और उससे बाहर आने में मुझे किसी किस्म की खुशी नहीं हो रही है। जेल की तंग चहारदीवारी से निकल कर भारत जैसे विशाल कैदखाने में आना कोई खुशी की बात नहीं है।"[2] फिर भी आंदोलन-बंदी की माँग तथा सरकार द्वारा की गयी रिहाइयों की प्रतिक्रिया इतनी प्रभावशाली थी कि गांधीजी ने मौलाना अबुल कलाम आजाद से कांग्रेस कार्य-समिति और अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन बुलाने के लिए कहा, और साथ ही साथ यह भी स्पष्ट कर दिया कि जब तक कांग्रेस का निश्चय बदला नहीं जाता तब तक सत्याग्रह आंदोलन जारी रहेगा।

कार्य-समिति का बारदोली अधिवेशन—२३ दिसंबर सन् १६४१ को कांग्रेस कार्य-समिति का अधिवेशन बारदोली में आरंभ हुआ। उसने राजनैतिक परिस्थिति पर विचार करके इस बात पर जोर दिया कि "भारत की जनता के लिए पूर्ण स्वाधीनता नितांत आवश्यक है विशेष कर संसार के वर्तमान संकट के समय।" ब्रिटेन के दृष्टि-कोण पर प्रकाश डालते हुए कमेटी

---

१. प० सीतारामय्या—कां० का इ० भाग २, पृष्ठ ३२४—२५।

२. वही पृष्ठ ३२७।

ने बतलाया कि ब्रिटेन की "नीति जान-बूझ कर भारतीय राष्ट्रवाद का अपमान करने, स्वेच्छाचारी शासन को कायम रखने तथा विनाशकारी और प्रतिगामी वर्गों को प्रोत्साहन देने की रही है। उसने न केवल कांग्रेस द्वारा सम्मानपूर्ण समझौते के लिए की गयी कोशिशों को ही ठुकराया है वरन् उसने नरम दल के लोगों की राय का भी अपमान किया है।" राजनीतिक बंदियों की रिहाई को कार्य-समिति ने महत्वहीन बतला कर यह स्पष्ट कर दिया कि "इस संबंध में सरकारी तौर पर जो घोषणा हुई है उससे साफ जाहिर है कि इसका संबंध नीति में किसी परिवर्तन से नहीं है।" फिर भी कार्य-समिति "उस नयी परिस्थिति पर पूरी तरह से ध्यान देना चाहती है जो इस लड़ाई के विश्व-व्यापी रूप धारण कर लेने तथा उसके भारत के द्वार तक आ पहुँचने के कारण पैदा हो गयी है।" कमेटी की राय में भारत का सारा वातावरण अंगरेजों के विरोध और उनके प्रति अविश्वास की भावना से ओत-प्रोत था। बड़े-बड़े वादों और घोषणाओं से भी इस परिस्थिति में किसी प्रकार का अंतर न हो सकता था। अतः कमेटी की राय थी कि १६ सितंबर सन् १९४० को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने जो प्रस्ताव पास[१] किया था और उसमें कांग्रेस की जो नीति बतायी गयी थी वह अभी तक कायम है।"

कार्य-समिति में तत्कालीन परिस्थिति में अहिंसा के प्रश्न पर भी विचार किया। जापान के युद्ध में प्रवेश के कारण, भारतीय नगरों पर हवाई हमलों की आशंका सर्वथा निराधार न थी। अतः कांग्रेस के अनेक नेता इस परिस्थिति को सँभालने की समस्या पर विचार कर रहे थे। वे अहिंसा का प्रयोग उस सीमा तक करने के लिए तैयार न थे जिस सीमा तक गांधी जी चाहते थे। गांधी जी स्वयं अहिंसा के सिद्धांत पर अटल थे। पर वे तत्कालीन परिस्थिति में कांग्रेस को अपने विचारों के मानने के लिए बाध्य करने को अनुचित समझते थे। अतः कार्य-समिति ने उन्हें उस उत्तरदायित्व से पुनः मुक्त कर दिया जो बंबई के अधिवेशन में उन्हें सौंपा गया था। जनवरी के अधिवेशन में कार्य-समिति ने स्वाधीनता-दिवस की प्रतिज्ञा से व्यक्तिगत सत्याग्रह से संबंध रखने वाले भागों हटाकर उसमें आवश्यक संशोधन कर दिया।[२]

कांग्रेस के इन निश्चयों की भारत और इंगलैंड दोनों देशों में प्रतिक्रिया

१. प० सीतारामय्या—कां० का इ०, भाग २, पृष्ठ ३३२-३३३।

२. प्रतिज्ञा-पत्र के लिए देखिये पृष्ठ ६५-६७ पूर्व।

हुई। इसके परिणाम-स्वरूप यह आशा बिल्कुल निराधार न थी कि शांति-स्थापना का पुनः प्रयत्न किया जायगा। कुछ दिनों पश्चात् युद्धकालीन मंत्रि-मंडल ने सर स्टेफर्ड क्रिप्स को भेज कर भारतीय समस्या के हल का एक नवीन प्रयत्न किया। किंतु मनोवृत्ति में परिवर्तन न होने के कारण वह उतना ही असफल रहा जितना पहले के प्रयत्न।

६

पाकिस्तान आंदोलन

(१९३५-१९४१)

प्राक्कथन—अखंड भारत—मुसलमानों के पार्थक्य का सिद्धांत—वाहाबी आंदोलन, सिपाही-विद्रोह; कांग्रेस की स्थापना; सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली; बंग-विच्छेद का रद किया जाना; लखनऊ-पैक्ट; खिलाफत और असहयोग आंदोलन; मुस्लिम लीग का पुनरुत्थान; सांप्रदायिक निर्णय—पार्थक्य के आधार—दो राष्ट्रों का सिद्धांत—पाकिस्तान आंदोलन—सर मुहम्मद इकबाल की योजना—अब या कभी भी नहीं—चौधरी रहमत अली की योजना—डा० अब्दुल लतीफ की योजना—एक पंजाबी की योजना—अलीगढ़ योजना—सर सिकंदर हैयात खां की योजना—अब्दुल्ला हारून कमेटी की योजना—मुस्लिम लीग और पाकिस्तान की माँग।

प्राक्कथन—सांप्रदायिक समस्या आधुनिक भारतीय राजनीति की एक जटिल समस्या थी। उसके हल के जितने प्रयत्न भूतकाल में किये गये थे, वे सब निष्फल सिद्ध हुए थे और समस्या की जटिलता बढ़ती गयी थी। सन् १९३५ से १९४१ तक इस समस्या ने ऐसा रूप धारण किया जिसकी पहले कल्पना तक न की गयी थी। भारत में दो राष्ट्रों के सिद्धांत के कारण, देश के विभाजन की चर्चा आरंभ हुई। मुस्लिम लीग ने पहले इस चर्चा पर विशेष ध्यान न दिया था किंतु कालांतर में उसने पाकिस्तान की विचारधारा को अपना लिया और उसकी स्थापना पर इतना अटल हो गयी कि अंत में देश का विभाजन करना ही पड़ा।

अखंड भारत—पाकिस्तान संबंधी विचारधारा के उदय के पूर्व भारत के समस्त निवासी अखंड भारत के समर्थक थे। वे देश की एकता में विश्वास

करते थे। उनके मतानुकूल प्रकृति ने ही भारत को एक भौगोलिक इकाई बनाया था। विदेशी विद्वान भी इसी मत के थे। रैमसे मैकडॉनल्ड के मतानुसार "हिमालय से अंतरीप कुमारी और बंगाल की खाड़ी से बंबई तक का समस्त प्रदेश प्रकृति ने एक सरकार के लिए बनाया है। भारत के मान-चित्र को देखते ही यह स्पष्ट हो जाता है।" विंसेंट स्मिथ का मत भी इसी प्रकार था। "समुद्र और पर्वतों द्वारा आच्छादित भारत निर्विवाद रूप से एक भौगोलिक इकाई है। अतएव इस समस्त भूभाग का एक ही नाम से पुकारा जाना सर्वथा ठीक है। इसकी सभ्यता में भी कुछ ऐसी विशेषताएं हैं जो संसार के किसी अन्य भाग में नहीं पायी जातीं और जो समस्त भारत में इतनी मात्रा में विद्यमान हैं कि उनके कारण मानव-समाज के सामाजिक, धार्मिक और बौद्धिक विकास के इतिहास में इस सभ्यता का विशिष्ट एवं पृथक स्थान बन गया है।" जे॰ टी॰ संडरलैंड के विचारानुकूल "यदि संसार में कोई ऐसा देश है जिसकी एकता सहस्रों साल पुरानी एवं इतनी व्यापक है कि वह लोगों के बौद्धिक एवं नैतिक विकास में प्रविष्ट एवं उनके जीवन का एक आवश्यक आधार है तो वह देश भारत है। इसकी एकता के सामने युरुप और अमरीका के राष्ट्रों की एकता दिखावटी एवं क्षणिक प्रतीत होती है।" बहिन निवेदिता के मतानुकूल भारत की ऊपरी विभिन्नताएं उसकी एकता की प्रमाण थीं। "किसी सचेतन प्राणी के कोई भी दो अंग एक ही प्रकार के नहीं होते। प्रत्युत प्रत्येक अंग अपने ही ढंग से उसकी सेवा एवं रक्षा करता है। इसी प्रकार भारत का कोई भी प्रदेश न तो किसी दूसरे प्रदेश के समान है और न उसके कामों का प्रतिद्वंद्वी। अपनी विभिन्नता के कारण बंगाली मराठों की और मराठे बंगालियों की समान रूप से सेवा करते हैं। हिंदू और मुसलमान एक दूसरे के पूरक हैं और पंजाबी और मद्रासी समान रूप से समस्त देश के लिए आवश्यक हैं।

केवल भौगोलिक और प्राकृतिक दृष्टि से ही भारत एक देश न था, उसके निवासियों के सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन से भी समस्त देश के एक होने की बात सिद्ध होती थी। आधुनिक भारत का आर्थिक ढांचा समस्त देश को एक इकाई मान कर खड़ा किया गया था। कांग्रेस, मुस्लिम लीग, हिंदू महा सभा आदि समस्त देश के एक इकाई होने के आधार पर बनायी गयी थीं। यातायात की सुविधा के कारण, आधुनिक काल में भारत की राजनीतिक एकता इतनी अधिक स्थापित हो गयी थी जितनी पहले कभी भी न हो सकी

थी। धार्मिक मतभेद अवश्य था, किंतु इसके कारण देश की एकता में किसी प्रकार की बाधा न पड़ी थी। भारतीय गांवों में रहने वाले हिंदू और मुसलमान एक ही भाषा बोलते, एक ही प्रकार के वस्त्र पहनते और एक ही प्रकार के सांसारिक आदर्शों से प्रभावित होते थे। विदेशी शासन का कुप्रभाव समस्त देश पर समान रूप से पड़ रहा था। उसके समस्त निवासी उससे मुक्त होकर, देश को स्वतंत्र बनाना चाहते थे। खिलाफत और असहयोग आंदोलनों के काल में हिंदुओं और मुसलमानों ने जिस मेल-मिलाप का परिचय दिया तथा जिस सहयोग से विदेशी सरकार को निकालने का प्रयत्न किया था उसके विवरण को पढ़कर आज भी शरीर रोमांचित हो जाता है। उन दिनों गांधी जी, मौलाना मुहम्मद अली, मौलाना शौकत अली तथा अनेक अन्य हिंदू और मुस्लिम नेता सहयोग से काम करके भारत को स्वतंत्र बनाने के लिए प्रयत्नशील थे। सार्वजनिक सभाओं में वंदे मातरम् का गीत गाया जाता था, राष्ट्रीय झंडा सबका झंडा था, सब लोग एक दूसरे की धार्मिक भावनाओं का आदर करते थे और किसी के हृदय में दूसरे के प्रति संदेह न था। मिस्टर जिन्ना को भारतीय राष्ट्रीयता के 'प्रभात-तारा' की उपाधि दी गयी थी। वे हिंदू-मुस्लिम एकता के समर्थक थे। कालांतर में मिस्टर जिन्ना के दृष्टिकोण में परिवर्तन हो गया। वे भारत के विभाजन के समर्थक बन गये। उनके नेतृत्व में, मुस्लिम लीग भी भारत के विभाजन की माँग को प्रस्तुत करने लगी और कालांतर में उस पर अड़ गयी। किंतु भारत के अधिकांश नेता अखंड भारत का समर्थन करते तथा उसके पक्ष में अपने विचारों को प्रगट करते रहे। भारत की अधिकांश संस्थाओं का भी मत इसी प्रकार का था।[1]

---

१. इस संबंध में गांधीजी के विचार इस प्रकार थे—"मैं इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण नहीं पाता, जो यह प्रकट करता हो कि धर्म बदलने वालों के किसी गिरोह और उनकी संतान ने अपने मूल पूर्वजों से अलग राष्ट्र होने का दावा किया हो।" "मैं दो राष्ट्रों के सिद्धांत के बारे में जितना ही अधिक सोचता हूँ, उतना ही अधिक भय-प्रद वह मुझे दिखायी देने लगता है।......मैं इस प्रस्ताव को स्वीकार करने में असमर्थ हूँ कि भारत के मुसलमान शेष भारत-वासियों से भिन्न हैं। ......एक बार इस सिद्धांत के स्वीकार कर लिये जाने पर भारत को अनेक भागों में विभाजित करने के दावों का कोई अंत नहीं रह जायगा, जिसका अर्थ का विनाश होगा।" डा० एम० आर० जयकर भारत

मुसलमानों के पार्थक्य का सिद्धांत—पाकिस्तान की विचार-धारा के के उदय के पश्चात् इस बात पर अधिकाधिक जोर दिया जाने लगा कि मुसलमान हिंदुओं से सर्वथा पृथक थे और उन दोनों को मिलाकर एक राष्ट्र का बनाना असंभव था। अपने मत के समर्थन के लिए ऐसे विचार के लोगों ने ऐतिहासिक छान-बीन करके निम्नलिखित बातों को प्रस्तुत किया—

१. वाहाबी आंदोलन—यह आंदोलन उन्नीसवीं सदी की प्रथम दो दशाब्दियों में चलाया गया था। भारत में अंगरेजी राज्य की स्थापना के कारण, देश का सामाजिक और आर्थिक जीवन विकृत हो गया था। मुसलमानों पर इसका प्रभाव विशेष रूप से पड़ा था। राजनीतिक सत्ता उनके हाथ से निकल तथा उनकी आर्थिक स्थिति बिगड़ गयी थी। अतः उन्होंने विदेशियों से मुक्ति-लाभ के लिए एक आंदोलन चलाया जिसका नाम अरब में चलाये गये इसी प्रकार के आंदोलन के नाम पर वाहाबी आंदोलन पड़ा। आरंभ में सैयद अहमद (आगे चल कर सर सैयद अहमद) भी, इसमे प्रभावित हुए थे। वाहाबियों ने मुसलमान कृषकों को "वाहाबी-रफीक-मंडल" में संगठित करके विद्रोह का झंडा खड़ा किया और उसके लिए उन्हें कालेपानी तक का दंड मिला। कुछ इतिहासकारों के मतानुकूल भारत में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध, स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए यह प्रथम विद्रोह था।[१]

जब कि वाहाबी लोग विदेशी-शासन के विरुद्ध विद्रोह कर रहे थे, हिंदू

और सर तेज बहादुर सप्रू का मत विभाजन के संबंध में इस प्रकार था—"हम किसी ऐसे कार्य का समर्थन नहीं करते जिसका प्रभाव भारत की एकता का विनाश हो।" अखिल भारतीय आजाद मुस्लिम सम्मेलन द्वारा इस संबंध में निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किया गया था—"भारत भौगोलिक तथा राजनीतिक सीमाओं की दृष्टि से एक अविभाज्य इकाई है। अतः धर्म और जाति का ख्याल न करके वह सब नागरिकों की मातृभूमि है। वे उसकी संपत्ति के संयुक्त स्वामी हैं। देश के कोने कोने में मुसलमानों के घर तथा उनके धर्म एवं संस्कृति संबंधी ऐसे प्रिय ऐतिहासिक संस्मरण है जो कि उन्हें अपने प्राणों से भी अधिक प्यारे हैं।...राष्ट्रीय दृष्टि से प्रत्येक मुसलमान भारतीय हैं।"

1. "In the History of India's National Movement, the spectacle of muslims in those early days courageously trying to break the British fetters needs to be gratefully recorded." Amit Sen : Notes on the Bengal Renaissance, quoted in N. Ahmad's The Basis of Pakistan P.

लोग, विशेषकर मध्य-वर्गीय हिंदू, अंगरेज शासकों के साथ सहयोग कर रहे थे। राजा राममोहन राय ने बंगाल के हिंदुओं को, मध्यकालीन मनोवृत्ति से मुक्ति दिला कर, पाश्चात्य सभ्यता की ओर अग्रसर कर दिया था। उनका बौद्धिक विकास हुआ था और उनमें से अनेक भारत की प्राचीन सभ्यता के पुनरुत्थान के लिए प्रयत्नशील थे। हिंदू-सुधारकों में से कुछ ने अपने वीरों की प्रशंसा की थी। अनेक स्थलों पर यह प्रशंसा मुसलमानों की निंदा पर अवलंबित थी। अतः हिंदू और मुसलमान, विदेशी-शासन से समान रूप से कुप्रभावित होते हुए भी, विपरीत दिशाओं में चल रहे थे। वे एक दूसरे से पृथक थे और उनके व्यवहार द्वारा यह आभास न होता था कि वे स्वार्थैक्य की भावना के सूत्र से बँधे हुए एक ही राष्ट्र के सदस्य थे।

२. सिपाही-विद्रोह—सन् १८५७ के सिपाही-विद्रोह तथा उसके पश्चात् की घटनाओं के कारण इसी प्रकार का निष्कर्ष निकाला गया। सिपाही-विद्रोह में हिंदुओं और मुसलमानों दोनों का हाथ था। संभवतः यह कहना अनुचित न होगा कि इसमें दोनों ने सहयोग की भावना से काम किया था। पर मुसलमान इतिहासकारों के मतानुकूल, भारत के अंगरेज शासकों ने विद्रोह का सारा उत्तरदायित्व मुसलमानों के सिर पर मँढ़ दिया था। फलस्वरूप उनके साथ जान-बूझ कर ऐसा बर्ताव किया गया जो सर्वथा अनुचित था।[1] अतः वे अंगरेजों और अंगरेजी सभ्यता से खिन्न हो उसकी ओर से और भी खिंच गये। विपरीत इसके हिंदू लोग पाश्चात्य सभ्यता, संस्कृति और शिक्षा को अपनाते गये। फलस्व-रूप अनेक सरकारी पद उनके हाथ में आ गये। मुस्लिम उच्च तथा मध्यम वर्ग की इतिश्री हो गयी और उसके स्थान पर मध्यम वर्ग के हिंदुओं का उत्थान हुआ। दोनों वर्गों के उक्त विरोधी दृष्टिकोणों तथा सरकारी व्यवहारों के कारण दोनों की एकता का आभास न होकर उनकी पृथकता ही सिद्ध होती है।

३. कांग्रेस की स्थापना—कांग्रेस की स्थापना के समय मुसलमानों ने उसके प्रति जिस मनोवृत्ति का परिचय दिया इससे भी उनकी पृथकता सिद्ध

1. According to Huntur, in a part of India, where formerly the muslims enjoyed the priveleges of wealth and power, they were reduced to dire circumstances. Huntur : Indian Musalmans, PP 160-70

होती है। इसमें संदेह नहीं कि आरंभ ही से कुछ मुसलमान कांग्रेस के साथ थे, और उसके तीसरे अधिवेशन में एक मुसलमान (बदरुद्दीन तैयबजी) को अध्यक्ष बनाया गया था। पर इससे इस सत्य पर कोई कुप्रभाव नहीं पड़ता कि अधिकाश मुसलमान उससे अलग रहे। उनके प्रभावशाली नेता, सर सैयद अहमद खां ने, राष्ट्रीय भावनाओं[1] से युक्त होने पर भी, अपने को उससे अलग रखा और अपने सहयोगियों को भी उन्होंने इसी प्रकार का परामर्श दिया। सन् १८८५ से १६०५ तक कांग्रेस शासन-सुधार के लिए लोकमत को शिक्षित कर तथा भारत और इंगलैंड दोनों देशों में सरकार पर दबाव डाल रही थी और सर सैयद अहमद और उनके साथी अलीगढ़ कॉलेज की स्थापना द्वारा मुस्लिम नव युवकों को शिक्षित करने में लगे थे। सन् १८६३ मे मोहम्मेडन-एंग्लो-ओरियंटल-डिफेंस-एसोसियेशन[2] की स्थापना की गयी। इसका एक उद्देश्य ब्रिटिश शासन-सत्ता को दृढ़ करने वाले साधनों का समर्थन था। सन् १६०५ में बंग-विच्छेद के कारण, समस्त देश की हिंदू जनता स्वदेशी, बहिष्कार, और राष्ट्रीय शिक्षा के कार्य-क्रम में संलग्न थी और मुसलमान सन् १६०६ में मुस्लिम लीग की स्थापना द्वारा अपने राजनीतिक अधिकारों और हितों की रक्षा में। हिंदु लोग सक्रिय आंदोलन का अवलंबन करके बंग-विच्छेद

---

१. सर सैयद अहमद खाँ को इन दिनों उन मनुष्यों को देख कर दुख होता था जो मुसलमानों को हिंदुओं से अलग रखना चाहते थे। उनके मतानुकूल हिंदू और मुसलमान एक ही हवा में साँस लेते थे, पवित्र गंगा और जमुना का जल पीते थे, ईश्वर ने जो वस्तुएँ देश को दी थीं उन्हीं को खाते थे, साथ जीते थे और साथ मरते थे। एक ही देश की संतान होने के कारण वे दोनों एक ही थे, अलग अलग नहीं। "मैंने सदैव कहा है कि भारत-भूमि एक नव-विवाहिता वधू के समान है। हिंदू और मुसलमान उसकी दो सुंदर आँखें हैं। यदि दोनों एक दूसरे से मिल जुल कर रहेंगे तो वधू सदैव कांतिमयी और सुंदर बनी रहेगी किंतु यदि उन्होंने एक दूसरे को नष्ट करने की बात सोची तो उसका विकृत नेत्रवाली हो जाना अनिवार्य है।"

२. एसोसियेशन के उद्देश्य इस प्रकार थे—(१) अंगरेजों को विशेषकर अंगरेजी सरकार को मुसलमानों के विचारो से परिचित कराना; (ब) मुसलमानों के राजनीतिक अधिकारों की रक्षा करना; ब्रिटिश सत्ता को दृढ़ बनाने वाले साधनों का समर्थन करना; (स) जनता में राज-भक्ति का प्रचार करना; (द) राजनीतिक आंदोलन को मुसलमानों मे फैलने से रोकना।

के मिटाने के लिए नाना प्रकार की यातनाएं भोगने को तैयार तथा आतंकवादी सरकारी अधिकारियों की हत्या कर रहे थे और मुस्लिम लीग में संगठित मुसलमान "आदर पूर्वक अपनी आवश्यकताओं और आकांक्षाओं को सरकार के सम्मुख" उपस्थित करने में। इन घटनाओं से, मुसलमानों के मतानुकूल, मुसलमानों का प्रार्थक्य भली भांति स्थापित हो जाता है।

(४) **सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली**—सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली की मांग से भी यह सिद्ध हो जाता है कि मुसलमानों का एक महत्वपूर्ण अंश बहु-संख्यक हिंदुओं के आधिपत्य से सशंकित तथा उनसे अलग रहने के पक्ष में था। सन् १६०६ में मुसलमानों का एक शिष्ट-मंडल हिज़ हाईनेस दि आगा खां की अध्यक्षता में तत्कालीन गवर्नर जनरल लॉर्ड मिंटो से मिला था। उसने उनके सम्मुख केवल सांप्रदायिक निर्वाचन नहीं वरन् मुसलमानों के प्रतिनिधित्व के लिए भार के सिद्धांत के अपनाने पर भी जोर दिया था[१]। शिष्ट-मंडल का आदि श्रोत[२] चाहे कुछ ही हो, पर उसकी मांग, स्पष्ट थी और गवर्नर जनरल की भी उसके साथ सहानुभूति थी। शिष्ट-मंडल की मांगों के उत्तर में लॉर्ड मिंटो ने अन्य बातों के साथ साथ, यह कहा था कि "तुम्हारी यह मांग न्यायपूर्ण है कि तुम्हारा महत्व तुम्हारी संख्या पर ही निर्धारित नहीं होना चाहिये अपितु तुम्हारे संप्रदाय की राजनीतिक महत्ता और तुम्हारी साम्राज्य के लिए की गयी सेवाओं पर भी ध्यान रखना चाहिये...मैं तुमसे सहमत हूं।" कांग्रेस सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली और भार के सिद्धांत दोनों की विरोधिनी थी और उनकी स्वीकृति के लिए सरकार की आलोचना करती थी। निर्वाचन-प्रणाली संबंधी मुसलमानों और कांग्रेस के उक्त विरोधी दृष्टिकोणों से यह स्पष्ट है कि वे दोनों एक दूसरे से सर्वथा पृथक थे।

(५) **बंग-विच्छेद का रद्द किया जाना**—सन् १६१२ में दिल्ली-दरबार के अवसर पर शाही घोषणा द्वारा बंग-विच्छेद को रद्द कर दिया गया। इसका प्रभाव मुसलमानों और हिंदुओं पर अलग अलग था। हिंदू लोग, विशेषतया बंगाल के हिंदू, इस घोषणा से संतुष्ट थे। वे आरंभ ही से बंग-विच्छेद

---

१. मुसलमानों का प्रतिनिधित्व जन-संख्या के अनुपातानुसार नहीं वरन् उनकी वास्तविक महत्ता और साम्राज्य की रक्षा मे उनकी सेवाओं के आधार पर होना चाहिये।

२. कुछ लोगों के मतानुकूल शिष्ट-मंडल की माँगों के अंतरतल में अलीगढ़ कालेज के अंगरेज प्रधान मिस्टर आर्चबोल्ड का प्रभाव विद्यमान था।

का विरोध कर तथा उसके रद्द करने का आंदोलन चला रहा रहे थे। उसकी सफलता के लिए उन्होंने स्वदेशी, बहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा का कार्य-क्रम अपनाया था। मुसलमान लोग बंग-विच्छेद से प्रसन्न थे। अतः पूर्वकालीन घोषणाओं के होते हुए भी जब बंग-विच्छेद रद्द कर दिया गया, तो उन्हें बहुत बड़ा धक्का लगा। लॉर्ड मिंटो ने लॉर्ड-सभा के सम्मुख वक्तृता देते हुए, इस संबंध में अपने विचार इस प्रकार प्रगट किये थे—"हमने मुसलमानों से कहा था कि बंग-विच्छेद निश्चयता के साथ कर दिया गया है। बारंबार हमने इस बात पर भी जोर दिया था कि विच्छेद सदा के लिए था। हमने पूर्वी बंगाल की मुस्लिम जनता की उसकी राजभक्ति के लिए प्रशंसा की थी और उसे अपने इस निश्चय की सूचना दी थी कि हम उसके हितों की रक्षा करेंगे। मेरे विचार में सिविल सर्विस का शायद ही कोई ऐसा सदस्य हो जिसने यह घोषणा न की हो कि ब्रिटिश सरकार के लिए बंग-विच्छेद का रद्द करना असंभव था।"[1] फिर भी बंग-विच्छेद रद्द कर दिया गया। इसके कारण मुसलमानों की आशाओं पर पानी फिर गया। बंग-विच्छेद के कारण उनमें कुछ स्फूर्ति आ गयी थी। ढाका के नवाब के शब्दों में "हमें (मुसलमानों को) विश्वास हो गया था कि पूर्वी बंगाल के लोगों, विशेषतया मुसलमान लोगों, को सहानुभूति-मय शासन से बड़ा लाभ पहुँचेगा। वे सरकार के पास सुगमता से पहुँच सकेंगे और सरकार अपने समस्त समय और ध्यान को उनकी भलाई के कामों में लगावेगी।........हमारा भला न चाहने वाले लोगों को अब यह विदित हो गया था कि पूर्वी बंगाल के मुसलमानों के वे दावे अब सम्मुख आ जायंगे जिनकी तब तक अवहेलना की गयी थी। हमे अपने न्यायपूर्ण भाग से अधिक तो न मिला था, पर जो कुछ मिला था वह उन लोगों से छिन गया था। अतः वे आंदोलन चला कर बंग-विच्छेद के रद्द के लिए प्रयत्नशील थे। सरकार ने उनके राजद्रोहात्मक कार्यों के परिणाम-स्वरूप बंग-विच्छेद को रद्द करके इस बात का प्रमाण दिया है कि वैधानिक सरकार के विरुद्ध आंदोलनों द्वारा वह नत-मस्तक की जा सकती है।" बंग-विच्छेद के संबंध में मुसलमानों और हिंदुओं की उक्त प्रतिक्रिया से उनका पार्थक्य सिद्ध हो जाता है।

---

1. Quoted in A. B. Rajput : Muslim League P. 23

2. Quoted by Mohammad Ali : Letters and Specehes PP 73-74 ff

(६) **लखनऊ-पैक्ट**—सन् १६१६ में लखनऊ-पैक्ट द्वारा कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों एक दूसरे के निकट आ गयी थीं। सन् १६१३ में मुस्लिम लीग के उद्देश्यों में परिवर्तन हुए थे कि सांप्रदायिक बातों को छोड़ कर कांग्रेस और उसका कार्य-क्रम न्यूनाधिक एक-सा हो गया था। अतः दोनों ने मिलकर कांग्रेस-लीग योजना नामक शासन-सुधार की एक योजना तैयार की थी। यह मेल केवल दिखावटी था। मुस्लिम लीग ने मुसलमानों का पृथक अस्तित्व कायम रखा था। न तो सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली परित्यक्त की गयी थी और न भार का सिद्धांत। मुसलमानों को मिलाने के लिए कांग्रेस आदर्श-च्युत अवश्य हो गयी थी। मुस्लिम लीग के प्रति उक्त सद्भावना को दिखला कर उसे आशा थी कि भविष्य में सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली के स्थान पर संयुक्त निर्वाचन-प्रणाली स्वीकार हो जायगी। कालांतर में उसका अनुमान गलत निकला। मुस्लिम लीग ने सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली को परित्यक्त न करके अपनी सांप्रदायिक माँगों को पहले से भी अधिक प्रभावशाली बनाने की कोशिश की।

(७) **खिलाफत और असहयोग आंदोलन**—लखनऊ-पैक्ट द्वारा आरंभित कांग्रेस और मुस्लिम लीग का मेल सन् १६२१–२२ तक चलता रहा था। इन दिनों खिलाफत की समस्या और उसके हल संबंधी सक्रिय आंदोलन के कारण मुस्लिम लीग कुछ दब सी गयी थी और उसके स्थान पर खिलाफत सम्मेलन की प्रधानता थी। गांधीजी ने खिलाफत के प्रश्न को अपना लिया था और असहयोग आंदोलन सर्व प्रथम उसी के हल के लिए चलाया गया था। मौलाना मोहम्मद अली और उनके भाई मौलाना शौकत अली, गांधी जी के साथ-साथ रहते तथा उनके नेतृत्व में काम करते थे। ऐसा विदित होता था हिंदू और मुसलमान एकता के सूत्र में बँध जायँगे। पर वास्तविकता ऐसी न थी। मौलाना मोहम्मद अली, जहाँ तक ईश्वर के आदेश का संबंध था आदि से अंत तक मुसलमान थे और जहाँ तक भारत का संबंध था आदि से अंत तक भारतीय।[१] कालांतर में जब खिलाफत की समस्या हल हो गयी, वे अपने को

---

१. मौलाना मोहम्मद अली के मतानुकूल उनके जीवन के दो मूल मंत्र थे—
"Wherever God commands, I am a muslim first, a muslim second, a muslim last and nothing but a muslim. But where India is concerned, I am an Indian first, an Indian second an Indian last and nothing but an Indian."

कांग्रेस के अनुकूल न पाने लगे। अतः कांग्रेस और खिलाफती मुसलमानों के मेल का अंत होने लगा। यही बात मुस्लिम लीग के संबंध में भी हुई। असहयोग आंदोलन के कारण, जिसका निश्चित परिणाम जेल-यात्रा और कष्ट-सहन था, बहुत से मुसलमान कांग्रेस से अलग हो गये। इनमें से मुख्य नाम मिस्टर मोहम्मद अली जिन्ना का है। मुस्लिम लीग और कांग्रेस की मित्रता का अंत ही नहीं हुआ, वरन् समस्त देश में सांप्रदायिक दंगे हुए जिनके परिणाम-स्वरूप यह सिद्ध कर दिया गया कि हिंदू और मुसलमान एक दूसरे से इतना पृथक थे कि वे निष्ठुरता के साथ एक दूसरे की हत्या कर सकते थे।

(८) **मुस्लिम लीग का पुनरुत्थान**—सांप्रदायिक दंगों के कारण मुस्लिम लीग का पुनरुत्थान हुआ और उसी रूप में जिसमें वह पहले थी। उसकी सांप्रदायिक माँगें पहले की अपेक्षा अधिक दृढ़ हो गयी थीं और उसका रुख पहले की अपेक्षा अधिक तना हुआ था। उसके अंतर्गत मौलाना मोहम्मद अली और मिस्टर मोहम्मद अली जिन्ना अभी तक संयुक्त-निर्वाचन और साइमन कमीशन के बहिष्कार के पक्ष में थे पर सर मोहम्मद शफी और सर मोहम्मद इकबाल सांप्रदायिक निर्वाचन और साइमन कमीशन के साथ सहयोग के पक्ष में। अतः सन् १९२८ में मुसलमानों के सर्व दलों का एक सम्मेलन हुआ जिसमें सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली के जारी रखने, केंद्रीय विधान-मंडल में मुसलमानों को एक तिहाई स्थान देने, मुस्लिम बहुमत प्रांतों में उनका बहुमत बनाये रखने, सिंध के अलग प्रांत बनाने तथा सीमांत प्रदेश और ब्रिटिश बिलोचिस्तान को अन्य प्रांतों की-सी सरकार के देने के पक्ष में प्रस्ताव स्वीकृत हुए। इसके लगभग तीन महीने पश्चात् मिस्टर जिन्ना की चौदह शर्तों का ऐलान हुआ जो सर्व-मुस्लिम-दलों के सम्मेलन में स्वीकृत प्रस्तावों पर अवलंबित थीं। शर्तें इस प्रकार थीं—

१—भारतीय संविधान संघात्मक हो और अवशिष्ट विषय प्रांतों के अधीन हों।

२—सब प्रांतों में समान रूप से प्रांतीय स्वायत्त शासन स्थापित हो।

३—सब अल्प-संख्यकों का विधान-सभाओं और विधान-मंडलों में उचित एवं प्रभावशाली प्रतिनिधित्व हो किंतु इस शर्त पर कि बहुसंख्यक अल्पसंख्यक न बन जायँ।

४—केंद्रीय विधान-मंडल में मुसलमानों के स्थान कम से कम एक तिहाई हों।

५—सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली कायम रखी जाय। किंतु यदि कोई संप्रदाय, सांप्रदायिक निर्वाचन-प्रणाली को छोड़कर, सम्मिलित निर्वाचन के पक्ष में हो, तो उसे सम्मिलित निर्वाचन स्वीकार करने का अधिकार हो।

६—प्रांतों के निर्माण में कोई ऐसा परिवर्तन न किया जाय जिसका पंजाब बंगाल और सीमांत प्रांत की मुस्लिम बहु संख्या पर कुप्रभाव पड़े।

७—पूर्ण धार्मिक स्वतंत्रता की व्यवस्था की जाय।

८—यदि किसी संप्रदाय के २५ प्रतिशत सदस्य किसी प्रस्ताव या उसके किसी अंश का इस आधार पर विरोध करें कि उसका उनके धर्म पर कुप्रभाव पड़ता है तो वह प्रस्ताव या उसका संबद्ध अंश विधान-सभा में न पेश किया जाय।

९—बंबई से अलग सिंध का पृथक प्रांत बनाया जाय।

१०—उत्तरी-पश्चिमी सीमांत प्रांत तथा ब्रिटिश बिलोचिस्तान में अन्य प्रांतों के समान शासन-सुधार किये जायँ।

११—प्रशासकीय योग्यता को ध्यान में रखते हुए, सरकारी नौकरियों में मुसलमानों को यथेष्ट स्थान दिये जायँ।

१२—मुसलमानों के धर्म, संस्कृति और वैयक्तिक कानून की रक्षा तथा मुस्लिम शिक्षा, भाषा, धर्म, वैयक्तिक कानून और दातव्य संस्थाओं के परिवर्द्धन तथा उनकी सहायता आदि के विषय के उपबंध संविधान में सम्मिलित किये जायँ।

१३—किसी मंत्रिमंडल में चाहे वह केंद्रीय हो या प्रांतीय, मुस्लिम सदस्यों की संख्या कम से कम एक तिहाई हो।

१४—संघांगों की अनुमति के बिना केंद्रीय विधान-मंडल द्वारा संविधान में किसी प्रकार का संशोधन न किया जाय।

इन शर्तों के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मिस्टर जिन्ना और मुस्लिम लीग, जिसने इन शर्तों को अपना लिया था मुसलमानों को भारत के अन्य निवासियों से पृथक समझते थे। उपरिलिखित बारहवीं शर्त से यह बात स्पष्ट हो जाती है। उन्हें भारत के अन्य निवासियों का विश्वास न था। अतः वे बंगाल, पंजाब और सीमा प्रांत को मुस्लिम बहु-संख्यक प्रांत बनाये रखना चाहते थे और इसी आधार पर सिंध के नये प्रांत के निर्माण के पक्ष में थे। वे सांप्रदायिक निर्वाचन के समर्थक थे, सरकारी नौकरियों में मुसलमानों के एक तिहाई प्रतिनिधित्व पर जोर देते थे और किसी विधान-मंडल द्वारा किसी ऐसे

सांप्रदायिक प्रस्ताव पर विचार करने के विरोधी थे जिसका कुप्रभाव किसी संप्रदाय पर पड़ता हो और उसके २५ प्रतिशत सदस्य उसका विरोध करते हों। मिस्टर जिन्ना की इन शर्तों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे, मुस्लिम लीग और उसके समर्थक मुसलमान, मुसलमानों को अवशिष्ट भारतीयों से पृथक जन-समाज समझते थे।

(९) **सांप्रदायिक निर्णय**—दूसरी गोलमेज परिषद् में सम्मिलित भारतीय प्रतिनिधियों ने सांप्रदायिक समस्या के भी सुलझाने का प्रयत्न किया पर कोई सर्वमान्य समझौता न हो सका। अंत में उन्होंने इंगलैंड के प्रधान-मंत्री को साम्प्रदायिक निर्णय देने के लिए पंच नियुक्त किया। गांधीजी भी इससे सहमत थे, किंतु इस शर्त पर कि प्रधान-मंत्री का निर्णय मुसलमानों और सिक्खों तक ही सीमित रहे। १७ अगस्त सन् १९३२ को प्रधान मंत्री का निर्णय प्रकाशित हुआ। इसके अनुसार भारतीय निर्वाचक बारह[1] प्रकार के पृथक निर्वाचक-संघों में विभाजित किये गये थे। मुसलमानों के संबंध में मिस्टर जिन्ना की १४ शर्तों की संबद्ध बातें न्यूनाधिक स्वीकार कर ली गयी थीं। अधिकांश मुसलमानो को निर्णय से संतोष था, पर कांग्रेस उसके संबंध में तटस्थ थी। इसके अतिरिक्त, तत्कालीन परिस्थिति में, वह और कुछ कर भी न सकती थी। सांप्रदायिक निर्णय का स्वीकार करना भारतीय राष्ट्रीयता पर कुठाराघात करना था। उसे अस्वीकार करना सांप्रदायिक अग्नि का भड़काना था। कांग्रेस और मुस्लिम लीग के उक्त दृष्टिकोणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुसलमान अपने को भारत के अन्य निवासियों से पृथक् समझते थे।

(१०) **सन् १९३७ के निर्वाचन**—भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ के अधिनियम को कार्य रूप में परिणत करने के लिए सन् १९३७ में जो निर्वाचन किये गये थे, कांग्रेस ने उनमें भाग लेने का निश्चय किया था। मुस्लिम लीग का निश्चय भी इसी प्रकार का था। निर्वाचन में कांग्रेस की शानदार विजय हुई। छः प्रांतों में उसका बहुमत था और दो में कांग्रेसी सदस्यों की संख्या सब से अधिक थी। कुल ४८५ मुस्लिम स्थानों में से केवल ५८ के लिए, कांग्रेस ने अपने अभ्यर्थी खड़े किये थे, और इनमें से २६ स्थान उसके हाथ आये थे। निर्वाचन के परिणाम से यह स्पष्ट था कि देश की गैर-मुस्लिम जनता पर कांग्रेस का पूर्ण प्रभाव था, पर मुस्लिम जनता पर नहीं।

---

१. कन्हैया लाल वर्मा—भारतीय राजनीति और शासन-पद्धति (१८५८—१९३५) पृ. ३०५.

उसके संबंध में मुस्लिम लीग का प्रभाव कांग्रेस या कांग्रेसी मुसलमानों की अपेक्षा कहीं अधिक था।

निर्वाचन के पश्चात् कांग्रेस ने मंत्रिपद ग्रहण करने का निश्चय किया। यह बात मुस्लिम लीग को खल गयी। कांग्रेस छः प्रांतों मे, लीग तथा अन्य राजनीतिक दलों की परवा न करके अपने मंत्रिमंडल बना और अपनी नीति को कार्य रूप में परिणत कर सकती थी। इसके विपरीत मुस्लिम लीग बहु-संख्यक मुस्लिम प्रांतों में भी, गैर-मुस्लिम सहायता के बिना, एक भी मंत्रिमंडल न स्थापित कर सकती थी। इस परिस्थिति के कारण मुस्लिम लीग को यह आभास हुआ कि यदि सत्ता भारतीयों के हाथ में आ जायगी, तो कांग्रेस स्थान स्थान पर इसी प्रकार बहुमत प्राप्त कर लेगी और मुस्लिम लीग का कोई स्थान ही न रह जायगा। मुस्लिम लीग की उक्त मनोवृत्ति मुसलमानों के पार्थिक्य की परिचायक थी।

मंत्रिमंडल-निर्माण के पूर्व कांग्रेस ने मुस्लिम लीग के सहयोग को प्राप्त करने के लिए बातचीत आरंभ की थी। उसका सुझाव यह था कि विधान-मंडलों में कांग्रेस और मुस्लिम लीग मिल कर कांग्रेस-लीग पार्टी का निर्माण करें और इस पार्टी की एक ही नीति तथा कार्यक्रम हो। कांग्रेस के मतानुकूल उत्तरदायी सरकार की सफलता के लिए ऐसा करना आवश्यक था। मुस्लिम लीग इससे सहमत न थी। वह अपने पृथक् अस्तित्व को बनाये रखते हुए शासन-कार्य मे भाग लेना चाहती थी। अतः कांग्रेस ने अपने मंत्रिमंडलों में ऐसे मुसलमानों को सम्मिलित किया, जो उसके साथ सहयोग करने को तैयार थे। कांग्रेस का यह काम जले पर नमक छिड़कने के समान समझा गया। कांग्रेस के साथ सहयोग करने वाले मुसलमानों की निंदा यह कह कर की गयी कि वे न तो मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करते थे और न मुसलमानों की ओर से बोल ही सकते थे। कांग्रेस के प्रतिकूल भी जली-भुजी बातें कही गयीं और उसके विरुद्ध भयंकर प्रचार-कार्य किया गया। सन् १९३७ में, मुस्लिम लीग के लखनऊ के अधिवेशन में सभापति के पद से भाषण देते हुए, मिस्टर जिन्ना ने इस संबंध में निम्नलिखित विचार प्रगट किये थे—"मुसलमानों को अधिकाधिक विरोधी बनाने का उत्तरदायित्व कांग्रेस के नेताओं पर हैं, विशेष कर पिछले दस वर्षों के, क्योंकि उन्होंने पूरी तौर पर हिंदू नीति का अनुसरण किया है। जब से उन्होंने छः प्रांतों में, जहाँ वे बहुमत में हैं, अपनी सरकारें स्थापित की हैं उन्होंने अपने वचनों, कार्यों एवं कार्यक्रम से यह और भी

अधिक स्पष्ट कर दिया है कि मुसलमान उनसे किसी प्रकार के न्याय अथवा ईमानदारी की आशा नहीं कर सकते। जहाँ कहीं भी वे बहुमत में हैं और जब कभी उन्हें यह ठीक प्रतीत हुआ है उन्होंने मुस्लिम लीग से सहयोग करना अस्वीकार कर दिया है और पूर्ण-रूपेण आत्म-समर्पण तथा अपने प्रतिज्ञा-पत्रों पर हस्ताक्षर कराने की माँग प्रस्तुत की है।" अपने भाषण में मिस्टर जिन्ना ने इस बात पर भी जोर दिया कि अब "हिंदी भारत की राष्ट्रभाषा होगी और वदे मातरम् राष्ट्रीय गीत होगा। कांग्रेस के झंडे को प्रत्येक व्यक्ति को स्वीकार करना पड़ेगा और उसका आदर करना पड़ेगा। जो थोड़ी सी शक्ति और उत्तरदायित्व उनके हाथ में आया है, उसके प्रारंभ में ही इन बहुमत वालों ने अपनी यह करामात दिखा दी है कि हिंदुस्तान हिंदुओं के लिए है। कांग्रेस, राष्ट्रीयता का केवल बहाना करती है और हिंदू महासभा के कोमल शब्दों तक का प्रयोग नहीं करती।" मुस्लिम लीग और उसके नेता मिस्टर जिन्ना ने कांग्रेस के विरुद्ध विष-वमन ही नहीं किया, उन्होंने जाँच कमेटी[1] नियुक्त करके, यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि कांग्रेसी बहुमत प्रांतो की सरकारें मुसलमानों पर वास्तव में अत्याचार कर रही थीं। कांग्रेस और मुस्लिम लीग का विरोध इतना अधिक बढ़ा कि दूसरे युरोपीय महासमर के छिड़ने पर, जब कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दिया तो मिस्टर जिन्ना ने मुस्लिम लीग को 'मुक्ति दिवस' और 'प्रार्थना दिवस' मनाने का आदेश दिया। कांग्रेस और मुस्लिम लीग के उक्त पारस्परिक संबंध से मुसलमानों के पार्थक्य की पुष्टि होती है।

पार्थक्य के आधार—उपरिलिखित बातों से यह निष्कर्ष निकालना कठिन नहीं कि भारतीय मुसलमान अपने को भारत के अन्य निवासियों से भिन्न समझते आये हैं। उनके पार्थक्य के निम्नलिखित आधार विचारणीय हैं—

(१) ऐतिहासिक आधार—मध्यकालीन भारतीय इतिहास के अध्ययन से पाठकों के मन में यह भावना उत्पन्न होती है कि मुसलमान बादशाहों और शासकों ने अपनी हिंदू प्रजा के साथ वैसा बर्ताव नहीं किया था जैसा उन्हें करना चाहिये था। मुहम्मद इब्न कासिम, महमूद गजनवी और मोहम्मद गोरी जैसे आक्रमणकारियों और अलाउद्दीन खिलजी, मुहम्मद तुगलक और औरंगजेब ऐसे बादशाहों का हिंदुओं के प्रति व्यवहार अनुचित के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कहा जा सकता। इसमें संदेह नहीं कि इतिहासकार संवादी

---

१. इस कमेटी के अध्यक्ष पीरपुर के नवाब थे।

स्वरों की अवहेलना करके विवादी स्वरों पर अधिक जोर देते हैं, पर विवादी स्वर सर्वथा आधार-विहीन नहीं होते। भारतीय मुसलमान स्वयं अपने पूर्वजों के कामों से परिचित थे। उन्हें इस बात का गौरव था कि कुछ दिन पहले वे हिंदुओं पर शासन करते और उन्हें दबाकर रखते थे। अतः उनमें इस बात की आशंका का होना स्वाभाविक था कि यदि गैर-मुसलमानों के हाथ में शासन सत्ता आ जायगी तो संभवतः उन्हें अपने पूर्वजों के कामों का फल भोगना पड़ेगा। फल-स्वरूप वे अपने को शेष भारतियों से अलग रख कर अपने लिए स्वतत्र शासकीय इकाइयों के माँगने के लिए प्रयत्नशील हुए।

(२) सांस्कृतिक भेद—हिंदुओं और मुसलमानों में सांस्कृतिक विभेद भी था। यह मुसलमानों के पार्थक्य का दूसरा आधार था। दोनों के रहन-सहन का ढंग अलग-अलग था और सामाजिक जीवन में दोनों विभिन्न आदर्शों से प्रभावित होते थे। जिन वीरों की वे पूजा करते थे वे भी अलग-अलग और प्रायः विरोधात्मक थे। हिंदू लोग महाराणा प्रताप सिंह और छत्रपति शिवाजी को अपना उद्धारक समझते थे और मुसलमान उनको विपरीत दृष्टिकोण से देखते थे। हिंदुओं में गोहत्या पाप समझा जाता था और मुसलमान गऊ की कुरबानी अपना धार्मिक अधिकार समझते थे। भाषा में भी विभेद था। मुसलमान हिंदुस्तानी को, जो उर्दू का दूसरा नाम था, समस्त भारत की भाषा बनाना चाहते थे, और हिंदू लोग हिंदी के समर्थक थे। इस सांस्कृतिक विभिन्नता के कारण, भारतीय मुसलमानों के लिए यह स्वाभाविक था कि वे अपने को भारत के अन्य निवासियों से पृथक एक स्वतंत्र इकाई समझते।

(३) अर्थिक आधार—पार्थक्य के तीसरे आधार का संबंध आर्थिक बातों से था। भारत के कुछ भागों जैसे पूर्वी बंगाल के अधिकांश मुसलमान अल्पांश हिंदुओं के आर्थिक दासत्व में थे। हिंदू या तो जमींदार थे या साहूकार। अतः मुसलमानों को उनके अधीन रहना तथा उनकी आर्थिक दासता को स्वीकार करना पड़ता था। इस आर्थिक विभेद के कारण भी मुसलमान अपने को हिंदुओं से पृथक् समझने लगे थे।

(४) छुआछूत की भावना—हिंदुओं की छुआछूत की भावना मुसलमानों को खटकती थी। मुसलमान, गैर-मुसलमानों को काफिर समझते थे। हिंदू लोग उन्हें अछूतों की श्रेणी में रखते, तथा उनके साथ उसी प्रकार का व्यवहार करते थे। वे उनके साथ न तो सामाजिक संबंध रखते थे और खान-पान का संबंध। बड़े से बड़ा और योग्य से योग्य मुसलमान भी छोटे से छोटे ब्राह्मण के

लिए अछूत के समान था। वह उसके छुए हुए भोजन को खाने से इनकार करता था। वह उसका छुआ पानी तक न पी सकता था। कुछ हिंदू दूकानों में मुसलमान ग्राहकों के हाथ से पैसा तक न लिया जाता। कुछ मुसलमानों के मतानुकूल हिंदुओं की छुआछूत की उक्त भावना मुसलमानों के पार्थक्य के लिए उत्तरदायी थी।

(५) हिंदू प्रतिक्रिया का विरोध—मुसलमान, आगमन के पश्चात् से ही जबरदस्ती, या समझा-बुझाकर या प्रलोभन देकर हिंदुओं को मुसलमान बनाते रहे थे। कभी-कभी हिंदुओं का अंध-विश्वास ही धर्म-परिवर्तन के लिए उत्तर-दायी था। कालांतर में इसके विरुद्ध हिंदू-प्रतिक्रिया हुई। आर्य-समाज की स्थापना हुई और उसने शुद्धि और संगठन का कार्य आरंभ किया। हिंदू महा-सभा भी हिंदू हितों की रक्षा के प्रयत्न करने लगी। हिंदू मुस्लिम दंगों के पश्चात हिंदुओं की आत्म-रक्षा संबंधी भावना और भी दृढ़ हो गयी। पं० मदन मोहन मालवीय ने अमृतसर के दंगे के पश्चात हिंदुओं को निम्निलिखित आशय का उपदेश दिया, "प्रिय बंधुओं, स्त्रियों का सा जीवन मत व्यतीत करो।" लाहौर की एक सभा में उन्होंने कहा कि "यदि मैं जीवित रहा तो हिंदू जाति की प्रत्येक स्त्री तथा बालिका को शीघ्रातिशीघ्र पिस्तौल चलाना सिखला-ऊँगा।" अनेक अन्य हिंदू नेताओं के विचार भी इसी प्रकार थे। सांप्रदायि-कता-प्रिय मुसलमानों की दृष्टि में, इस प्रकार के उपदेश, अक्षम्य अपराध के समान थे। आत्म-रक्षा के लिए बल का प्रयोग किसी भी सभ्य समाज में वर्जित नहीं समझा जाता। किंतु भारत के मुस्लिम नेताओं की मनोवृत्ति दूसरे प्रकार की थी। वे चाहते थे कि वे हिंदुओं को मुसलमान बनाते जायँ किंतु हिंदू लोग न तो आत्म-रक्षा के लिए संगठित हों और न खोए हुए हिंदुओं को पुनः हिंदू बनाने का प्रयत्न करें। इस प्रकार हिंदू-प्रतिक्रिया, मुसलमानों और हिंदुओं के पार्थक्य का एक आधार बन गयी।

(६) विदेशी सरकार—कुछ लोगों का कहना है कि भारत की अंगरेजी सरकार हिंदुओं और मुसलमानों के पार्थक्य के लिए उत्तरदायी थी। भेद और शासन की नीति के कारण, भारत के ब्रिटिश शासकों ने, हिंदुओं और मुसलमानों को एक दूसरे से अलग रखने की नीति का आश्रय लिया था। कभी वे मुसलमानों का पक्षपात करते थे और कभी हिंदुओं का। बंग-विच्छेद द्वारा, लार्ड कर्जन ने, पूर्वी बंगाल के मुसलमानों के लिए एक ऐसे प्रांत को बनाया था जहाँ वे बहुसंख्यक थे और जहाँ वे अपनी संस्कृति

के अनुसार अपनी उन्नति कर सकते थे। सांप्रदायिक निर्वाचन का संकेत दे कर तथा उसे स्वीकार करके लॉर्ड मिंटो ने मुसलमानों को भारत के शेष निवासियों से पूर्ण-रूपेण पृथक कर दिया था। भारत के विभाजन तक अंगरेजी सरकार की यह नीति किसी-न-किसी रूप में बनी रही। अतः यह कहना अतिशयोक्ति नहीं कि भारत के हिंदुओं और मुसलमानों के पार्थक्य का एक महत्वपूर्ण आधार भारत में अंगरेजी सरकार का अस्तित्व था।

दो राष्ट्रों का सिद्धांत—मुसलमानों के पार्थक्य की उपरिवर्णित बातों के आधार पर इस निष्कर्ष के निकालने में कोई कठिनाई नहीं रह जाती कि उनका एक पृथक राष्ट्र था। १७ सितंबर सन् १९४२ को गांधी जी के पास भेजे गये अपने पत्र में मिस्टर जिन्ना ने मुसलमानों के पृथक राष्ट्र होने का दावा निम्नलिखित तर्कों से किया था—''हम समझते हैं और कहते हैं कि राष्ट्र की किसी भी व्याख्या से देखिये मुसलमान और हिंदू भारत के दो प्रधान राष्ट्र हैं। दस करोड़ की जनसंख्या का हमारा राष्ट्र है। इससे भी अधिक महत्व की बात यह है कि हमारी अपनी संस्कृति और सभ्यता है और अपनी भाषा और अपना साहित्य है। कला, स्थापत्य, नाम और नामकरण का ढंग, वस्तुओं का माप और मूल्यांकन, वैयक्तिक कानून और नैतिक नियम, रीतिरिवाज और पंचांग, इतिहास और परंपराएँ, अभिरुचियाँ और आकांक्षाएँ सब अपनी हैं। संक्षेप में कहें तो जीवन के बारे में तथा जीवन का हमारा अपना दृष्टिकोण है अंतर्राष्ट्रीय विधान के सब नियमों के अनुसार हम एक राष्ट्र हैं। इसके बहुत पहले से भी भारत के कुछ मुसलमान इसी प्रकार के दावे करते थे। मिस्टर जिन्ना और उनके समर्थकों के इन तर्कों को महात्मा गांधी तथा भारत के अनेक नेता स्वीकार करने में असमर्थ थे।

भारत के मुसलमान एक पृथक राष्ट्र थे अथवा नहीं, इस बात के निर्णय के लिए हमें राष्ट्र शब्द की ठीक-ठीक परिभाषा का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। अनेक विदेशी विद्वानों ने राष्ट्र की परिभाषा करने का प्रयत्न किया है। उनकी परिभाषाएँ दो विभिन्न समूहों में रखी जा सकती हैं। पहले समूह में उन परिभाषाओं की गणना की जाती है जिनमें भाषा, जाति, धर्म, प्रदेश आदि बाह्य समानताओं पर जोर दिया जाता और इन्हीं के आधार राष्ट्र की परिभाषा की जाती है।[1]

---

१. बाह्य चिह्नों पर आधारित राष्ट्रीयता के सिद्धांत को, Objective Theory of Nationality कहते हैं।

प्रो० बर्गेस के अनुसार राष्ट्र वह जन-समूह है जो जातीय एकता के सूत्र में बँध कर किसी निश्चित भौगोलिक सीमा के अंतर्गत निवास करता हो। जातीय एकता के अंतर्गत भाषा और साहित्य, परंपरा और इतिहास, एक ही तरह की रीतियों और भावनाओं का समावेश होता है। दूसरे समूह[1] में उन परिभाषाओं की गणना की जाती है जिनमें आंतरिक भावनाओं पर अधिक जोर दिया जाता है। इनके अनुसार राष्ट्र का निर्माण मनोवृत्तियों का परिणाम होता है। रेनन (Renan) के मतानुकूल जाति और भाषा की एकता से राष्ट्र का निर्माण नहीं होता। इसके लिए विजय और गौरव तथा भूतकाल में सहे गये कष्टों एवं किये गये महान त्यागों पर अवलंबित सामान्य पैतृक स्मृति की भावनाओं, एक राज्य में एक साथ रहने, तथा परंपरागत प्राप्त वस्तुओं को आगे आने वाली पीढ़ी को प्रदान करने की इच्छा की आवश्यकता होती है। डुगुई (Duguit) के अनुसार एक जाति से उत्पत्ति ही राष्ट्र-निर्माण के लिए पर्याप्त नहीं होती। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि आत्म-निर्भरता की भावना समूह के सभी व्यक्तियों में पूर्णरूप से व्याप्त हो गयी हो, चाहे वे सबल हों या निर्बल, धनी या निर्धन, विद्वान या मूर्ख।

राष्ट्र की ऊपर दी गयी परिभाषाओं के आधार पर यदि हम मिस्टर जिन्ना के तर्क की परीक्षा करें तो हमें यह विदित होता है कि वे उक्त दूसरे आधार पर भारत के मुसलमानों को हिंदुओं से अलग एक पृथक राष्ट्र समझते थे। हिंदुओं और मुसलमानों में जातीय अंतर न था। भारत के ८०% मुसलमान स्वयं ऐसे अथवा ऐसे लोगों के वंशज थे जो पहले हिंदू थे। जातीय मिश्रण के कारण भी यह न कहा जा सकता था कि वे अलग-अलग जातियों के थे। वे एक ही देश में रहते थे, और उस देश की एक ही सरकार थी। यदि यह सरकार चाहती तो हिंदुओं और मुसलमानों का समन्वय करके भारत में एक राष्ट्र का निर्माण कर सकती थी। किंतु वह भेद और शासन की नीति की समर्थक थी। अतः इन वर्गों का मेल उस सीमा तक न हो सका जिस तक वह अन्यथा हो सकता था। वे एक ही भाषा बोलते थे, पर शिक्षित मुसलमानों की भाषा अरबी की ओर झुकी हुई थी और शिक्षित हिंदुओं की भाषा संस्कृत की ओर। उनके धर्म अलग-अलग थे पर केवल धर्म के आधार पर पृथक राष्ट्र की कल्पना नहीं की जा सकती। पर उनके स्वार्थ कुछ मात्रा में अलग-अलग

---

1. R. Symonds : The Making of Pakistan P. 36

थे। मुख्यतः इन्हीं के आधार पर पृथक मुस्लिम राष्ट्र की कल्पना की और उसके लिए एक स्वतंत्र देश पाकिस्तान की माँग की प्रस्तुत की गयी।

पाकिस्तान आंदोलन; (१) सर मोहम्मद इकबाल की योजना— पाकिस्तान की सर्व-प्रथम कल्पना का श्रेय सर मोहम्मद इकबाल को है। इनका जन्म सन् १८७३ में हुआ था और परलोकवास सन् १६३८ में। ये सोलह आना मुसलमान थे। जीवन के संध्या काल में इन्होंने दो ऐसे भाषण दिये जिनसे भविष्य के पाकिस्तान का संकेत मिलता है। पहला भाषण[1] सन् १६३० में इलाहाबाद के मुस्लिम लीग के अधिवेशन में सभापति के पद से दिया गया था। "मैं चाहता हूँ कि पंजाब, उत्तरी-पश्चिमी सीमांत प्रांत, सिंध और बिलोचिस्तान को मिला कर एक राज्य बनाया जाय। इसे ब्रिटिश साम्राज्य के अंदर अथवा बाहर स्वायत्त-शासी होना चाहिये। उत्तरी-पश्चिमी भारत के मुसलमानों के भाग्य का अंतिम निबटारा सुदृढ़ उत्तरी-पश्चिमी भारतीय मुस्लिम राज्य के द्वारा होगा।.... ...

"भारतीय हिंदुओं को इस विचार से भयभीत न होना चाहिये।....... सांस्कृतिक दृष्टि से इस देश में इस्लाम का जीवन, बहुत बड़ी सीमा तक निश्चित प्रदेश में केंद्रीकरण पर निर्भर करता है।

"मुसलमानों की माँग स्वतंत्र विकास की वास्तविक इच्छा का परिणाम है। यह विकास उस एकात्मक सरकार में न्यूनाधिक असंभव है जिसकी कल्पना राष्ट्रवादी हिंदू-राजनीतिज्ञ समस्त भारत में सांप्रदायिक आधिपत्य बनाये रखने के लिए करते हैं।

"हिंदुओं को इस बात से भी भयभीत न होना चाहिये कि इस प्रकार के स्वायत्तशासी मुस्लिम राज्यों का अर्थ, इन राज्यों में धार्मिक शासन है।

"यह सिद्धांत कि प्रत्येक समूह अपने इच्छानुकूल अपना स्वतंत्र विकास कर सके, सांप्रदायिकता की किसी संकुचित भावना से अनुप्राणित नहीं हुआ है।.......मैं दूसरे वर्गों के चलनों, विधियों और धार्मिक और सामाजिक संस्थाओं का अधिक से अधिक आदर करता हूँ। कुरान की शिक्षाओं के अनुसार, आवश्यकता पड़ने पर, उनकी रक्षा करना मेरा कर्तव्य है।"

इस भाषण के दो बरस पश्चात्, गोलमेज परिषद से लौटने पर सर मोहम्मद इकबाल ने अखिल भारतीय मुस्लिम सम्मेलन में दिये गये भाषण में, मुसल-

---

1. R. Symonds : The Making of Pakistan

मानों को यह परामर्श दिया कि उन्हें न तो हिंदुओं का भरोसा करना चाहिये और न अँगरेजों का। उन्हें अपने लोगों को शिक्षित करके उन्हीं का भरोसा करना चाहिये। "भारत के समस्त मुसलमानों का, प्रांतीय और जिलों की शाखाओं के सहित, एक ही राजनीतिक संगठन होना चाहिये। उन्हें ५० लाख रु० जमा करके एक निधि का निर्माण करना चाहिये, और केंद्रीय संगटन के नियंत्रण और संचालन में समस्त देश में नवयुवकों की लीगों और सुसज्जित स्वयं-सेवक दलों का संगठन करना चाहिये।"[1]

सर मोहम्मद इकबाल के उक्त विचार आदर्शवादी के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कहे जा सकते। उनके संबंध में मिस्टर जिन्ना का निम्नलिखित मत उल्लेखनीय है—"यह भली-भाँति विदित है कि पाकिस्तान का विचार स्वर्गीय हज़रत अल्लामा इकबाल की मस्तिष्क की उपज है। उस समय इसका विरोध किया गया और कटु आलोचनाएँ की गयीं। कहा गया कि इस्लाम के कवि-दार्शनिक का तर्क और बुद्धि उनकी कवि-कल्पना के साथ कल्पना-लोक में विचरण कर रही है। उस प्रकार के विचार कवि-कल्पना और अव्यवहार्य हैं। यह बड़ी सुगमता से विस्मरित कर दिया गया कि पाकिस्तान का सुझाव केवल कवि-कल्पना ही नहीं था, वरन् उसके गर्भ में कुछ और ही बात थी। इकबाल अपने युग की प्रगति के दर्पण थे। वे अपनी संस्कृति और राष्ट्रीय भावनाओं के संदेश-वाहक थे।"

सर मोहम्मद इकबाल के पाकिस्तान संबंधी विचारों का उनके भाषण के पश्चात् चाहे कुछ अर्थ निकाला गया हो किंतु जिस समय वे प्रगट किये गये थे वे व्यक्तिगत विचारों के अतिरिक्त और कुछ भी न थे। वे मुस्लिम बहुसंख्यक प्रांतों को भारतीय संघ के अंतर्गत् स्वायत्तशासी इकाई के रूप में देखना चाहते थे। अतः वे भारत को दो राज्यों में विभाजित करने के पक्ष में न थे। कुछ लोगों का मत है कि मुस्लिम लीग के अध्यक्ष होने के नाते उन्होंने उक्त विचार प्रगट किये थे। एडवर्ड टामसन ने अपनी पुस्तक "Enlist India for Freedom" इस संबंध में इस प्रकार लिखा है—"इकबाल हमारे मित्र थे। पाकिस्तान के संबंध में उन्होंने हमारा भ्रम दूर किया। अपनी उदासीनता और निराशा की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि उन्हें यह स्पष्ट दीख रहा था कि उनकी विस्तृत भूमि बुभुक्षित और अनियंत्रित हो रही थी और एक महा-विक-

---

1. R. Symonds : The Making of Pakistan P. 36

राल तूफान अपना मुँह बाये हुए था। उन्होंने यह भी कहा कि पाकिस्तान की योजना अंगरेजी सरकार के लिए विनाशकारी होगी और हिंदुओं और मुसलमानों के लिए भी संहारक होगी। किंतु मैं मुस्लिम लीग का अध्यक्ष हूँ। इसलिए हमारा यह कर्तव्य है कि हम उसका समर्थन करें।"

(२) **'अब या कभी भी नहीं'**—पाकिस्तान की परि-कल्पना में दूसरा स्थान कैंब्रिज विश्वविद्यालय के चार विद्यार्थियों का है जिनके नाम थे मोहम्मद अस्लम खाँ, रहमत अली, शेख मुहम्मद सादिक और इनायतुल्ला खाँ। जिन दिनों संयुक्त पार्लमेंटरी कमेटी भारत के भावी संविधान पर विचार कर रही थी, उन्हीं दिनों इन्होंने चार पृष्ठ की एक पुस्तिका प्रकाशित की थी जिसमें पहली बार भारत को दो स्वतंत्र भागों में बाँटने का विचार प्रतिपादित किया गया था। उनका मत था कि भारत के मुसलमान, गैर-मुसलमानों से सब तरह से, (अर्थात् खान-पान, पहराव, रीति-रिवाज, विवाह के ढंग आदि) भिन्न थे। अतः उनका एक राष्ट्र था और वे एक स्वतंत्र राज्य के अधिकारी थे। प्रकृति ने पंजाब, काश्मीर, सिंध, सीमाप्रांत के प्रांतों को इसके लिए निर्धारित किया है।

कैंब्रिज विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों में इस प्रकार की भावना कैसे आयी और कैंब्रिज पाकिस्तान की जन्म-भूमि कैसे बना, ये कुछ विचारणीय बातें हैं। भारत में अँगरेजी राज "भेद और शासन' की नीति पर आधारित था। सांप्रदायिक निर्वाचन के आरंभ, तथा मुस्लिम लीग की स्थापना के संकेत सरकारी अधिकारियों से मिले थे। पाकिस्तान की कल्पना के संबंध में इसी प्रकार का संकेत सर्वथा निराधार नहीं प्रतीत होता। सन् १९३२ में तीसरी गोल-मेज परिषद के समय, मिस्टर कोटमैन ने निम्नलिखित विचार प्रगट किये थे—सुदृढ़ संयुक्त भारत, जिसमें ब्रिटिश भारत, भारतीय रियासतें और उत्तर-पश्चिम के सीमांत प्रदेश (जिसका शामिल करना भारत की राष्ट्रीयता का प्रथम और अनिवार्य आधार है) सम्मिलित हों दिन पर दिन असंभव होता जा रहा है और ऐसा विदित होता है कि उसके स्थान पर उत्तर-पश्चिम में एक शक्तिशाली मुस्लिम राज्य की स्थापना होगी जिसकी आँखें भारत से फिरी हुईं, तथा उस अवशिष्ट मुस्लिम जगत की ओर होंगी जिसकी सीमा पर वह होगा। उसके विपरीत दक्खिन और पूर्व की तरफ एक संयुक्त, एक रूपता-युक्त भारत होगा।"[1] संभवतः कोटमैन के इस संकेत पर ही कैंब्रिज विश्वविद्यालय

1. R. Prasad : India Divided P. 194

के विद्यार्थियों ने अपनी योजना बनायी थी। पर इसके संबंध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

कैंब्रिज विश्व-विद्यालय के इन विद्यार्थियों ने अपनी योजना को प्रतियों को पार्लमेंट और गोलमेज परिषद के सदस्यों में बँटवाया था। उस समय प्रायः सभी लोगों ने उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखा था। कुछ के मतानुकूल वह केवल विद्यार्थियों की योजना थी। कोई भी उत्तरदायी व्यक्ति उसे प्रस्तुत न कर सकता था। कुछ उसे अव्यावहारिक समझते थे। कुछ ने यह कहकर उसकी आलोचना की थी कि उस प्रकार की योजना को अब तक न तो किसी प्रतिनिधि व्यक्ति ने प्रस्तुत किया था और न समुदाय ने। मुस्लिम नेताओं की प्रतिक्रिया तो उक्त प्रकार की थी, पर गोलमेज परिषद के अधिवेशन में अँगरेज सदस्यों ने इस विषय में अधिक दिलचस्पी लेकर तत्संबंधी जाँच-पड़ताल आरंभ की थी। इससे भी पाकिस्तान के जन्मदाताओं का कुछ संकेत मिलता है।

चौधरी रहमत अली की योजना—उपरिलिखित पुस्तिका के अतिरिक्त चौधरी रहमत अली ने दूसरी पुस्तिकाओं के द्वारा भी भारत के विभाजन का समर्थन किया। सन् १९३५ में पुराने तर्कों को दोहराते हुए उन्होंने पाकिस्तान के निर्माण पर पुनः जोर दिया। यदि भारत से पृथक् बर्मा का एक स्वतंत्र राज्य बन सकता था तो पाकिस्तान के निर्माण में किसी प्रकार की कठिनाई न हो सकती थी।

सन् १९४० में चौधरी रहमत अली ने बंगिस्तान और उस्मानिस्तान की भी माँग प्रस्तुत की।[1] पाकिस्तान, बंगिस्तान और उस्मानिस्तान को मिला कर भारत से स्वतंत्र मुस्लिम मिल्लत की स्थापना होने को थी। चौधरी रहमत अली भारत और मिल्लत के पूर्ण पार्थक्य के पक्ष में थे। वे मुस्लिम लीग को अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के नाम से पुकारना तक नापसंद करते थे। "हमें निश्चित रूप से भारत का परित्याग करना चाहिये।" "यदि हम वास्तव में भारतीयता से मुक्त होना और अपने राष्ट्रीय प्रदेशों को परस्पर और दक्षिणी पूर्वी एशिया से संबद्ध करना चाहते हैं तो हमें मौजूदा अखिल भारतीय मुस्लिम लीग को मिटा देना चाहिये और उसके स्थान पर पाकिस्तान, बंगिस्तान और

---

१. इस योजना का प्रतिपादन उनकी पुस्तिका The Millat of Islam and the Menace of Indianism में किया गया था।

उस्मानिस्तान की मिल्लत का निर्माण करना चाहिये।''[1] चौधरी रहमत अली के उक्त विचारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे भारत के विभाजन पर कटिबद्ध थे।

सन् १९४२ में चौधरी रहमत अली ने एक और पुस्तिका प्रकाशित की जिसका नाम दि मिल्लत एंड दि मिशन (The Millat and the Mission) था। इसमें पाक योजना के अन्य भागों तथा 'दीनिया' के सातवें महाद्वीप के लिए सात आदेशों का उल्लेख था। भारत का नाम बदल कर 'दीनिया' किया जाने को था।[2] सात आदेश इस प्रकार थे—(१) अल्पसंख्यकवाद (Minorityism) का अंत। मुसलमानों को हिंदू प्रदेशों में अपने अल्पसंख्यकों को न छोड़ना चाहिये, चाहे हिंदू और अँगरेज उनके लिए सवैधानिक संरक्षण का वादा क्यों न करें (२) राष्ट्रीयता के सिद्धात की उद्घोषणा। दीनिया के हिंदू-बहुसंख्यक प्रदेशों में मुसलमानों के साथ राष्ट्रीय अल्प-संख्यकों का सा बर्ताव हो और पाकिस्तान, बंगिस्तान और उस्मानिस्तान में हिंदू और सिख अल्पसंख्यकों का यही स्थान हो। (३) जनसंख्या के अनुपातानुसार प्रदेश की माँग करके हिंदू बहुसंख्यक क्षेत्रों में सिद्दीकिस्तान, फारुकिस्तान, हिंदुस्तान, मोमिनिस्तान, मोपलाइस्तान, सफीइस्तान, और नासरिस्तान की स्थापना। इस आदेश का मंशा यह था कि दीनिया के महाद्वीप में मुसलमानों को अपनी जनसंख्या के अनुपातानुसार भूमि का दावा करके, हिंदू बहुसंख्यक सात प्रदेशों में उपरिलिखित सात मुस्लिम प्रदेशों का निर्माण करना चाहिये। (४) व्यक्तिगत राष्ट्रों को सुदृढ़ बनाना। दीनिया और लंका में मुसलमानों को छितरा हुआ न रखकर जनसंख्या के अनुपातानुसार प्राप्त क्षेत्रों में, सुदृढ़ राष्ट्रीय इकाइयों के रूप में रखना। (५) इन राष्ट्रों को मिला कर पाक राष्ट्रमंडल का निर्माण। (६) भारत के महाद्वीप का नाम बदल कर दीनिया कर देना। (७) दीनिया और उसके अधीन प्रदेशों को पाकेशिया के अंतर्गत संगठित करना।

(४) डा० अब्दुल लतीफ की योजना—सन् १९३९ में पाकिस्तान की योजना ने वैज्ञानिक क्षेत्र में पदार्पण किया। उस्मानिया विश्वविद्यालय के

1. R. Prasad : India Divided P. 174
2. Ibid 175-76

भूतपूर्व प्राध्यापक डा० अब्दुल लतीफ ने, अपने ग्रंथों[1] में इस मत का प्रतिपादन किया कि भारत में एक राष्ट्र के विचार का परित्याग कर देना चाहिये। अतः उन्होंने भारत को पाँच सांस्कृतिक क्षेत्रों में विभिक्त करने की योजना प्रस्तुत की। पहला क्षेत्र उत्तरी-पश्चिमी क्षेत्र था। इसमें भारत के मुस्लिम बहुसंख्यक प्रांत अर्थात् पंजाब, सिंध, बिलोचिस्तान, सीमांत प्रांत तथा खैरपुर बहावलपुर आदि भारतीय रियासतें सम्मिलित की जाने को थीं। यह क्षेत्र स्वयं स्वादत्त शासी तथा अन्य मुस्लिम क्षेत्रों से संघीय आधार पर संबद्ध होने को था। इसकी कल्पना मुस्लिम संघ के केंद्र के रूप में की गयी थी। इसकी मुस्लिम जनसंख्या लगभग २ करोड़ ५० लाख थी। दूसरा क्षेत्र उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र था। इसमें कलकत्ता सहित पूर्वी बंगाल तथा आसाम के प्रदेश सम्मिलित किये जाने को थे। इसकी मुस्लिम जनसंख्या लगभग ३ करोड़ अनुमानित की गयी थी। इसे भी स्वायत्त शासन का अधिकार दिया जाने को था। तीसरा क्षेत्र दिल्ली-लखनऊ क्षेत्र था। इसकी मुस्लिम जन-संख्या १ करोड़ २० लाख अनुमानित की गयी थी। यह क्षेत्र पटियाला रियासत की पूर्वी सीमा से आरंभ होकर दिल्ली और रामपुर को सम्मिलित करता हुआ लखनऊ तक विस्तृत होने को था। इस खंड के निकटवर्ती मुसलमानों को इस बात के लिए प्रोत्साहित किया जाने को था कि वे अपने पुराने स्थानों को छोड़ कर इस क्षेत्र में बस जायँ। चौथा क्षेत्र दक्षिणी क्षेत्र था। इसमें उन १ करोड़ २० लाख मुसलमानों की व्यवस्था की जाने को थी जो दक्षिण भारत के विभिन्न भागों में बसे हुए थे। इनके लिए हैदराबाद की रियासत इस प्रकार बढ़ायी जाने को थी कि करनूल, कडप्पा, चित्तूर, उत्तरी अर्काट् और चिंगलपेट के जिले इसमें आ जायँ। मद्रास का नगर भी इसी क्षेत्र में सम्मिलित किया जाने को था। दक्षिण भारत के मुसलमान इसी क्षेत्र में बसने को थे। इन क्षेत्रों के अतिरिक्त राजपूताना, गुजरात, मालवा और पश्चिमी भारत की रियासतों के मुसलमान भूपाल, टोंक, जूनागढ़ आदि मुस्लिम रियासतों तथा अजमेर के स्वतंत्र नगर में जनसंख्या के विनिमय के आधार पर बसने को थे।

मुस्लिम सांस्कृतिक क्षेत्रों की भाँति डा० अब्दुल लतीफ ने हिंदू सांस्कृतिक क्षेत्रों की कल्पना की थी। वे इस प्रकार थे—(१) बंगाल और बिहार के उन

---

१. डा० अब्दुल लतीफ के मुख्य दो ग्रंथों के नाम है 1. Cultural Future of India 2. Muslim Problem in India.

जिलों को मिला कर जहाँ के निवासियों का रहन-सहन और भाषा बंगालियों के समान थी, बंगाल का हिंदू क्षेत्र। (२) उड़िया बोलने वालों के लिए उड़ीसा का क्षेत्र। (३) हिंदुस्तान का क्षेत्र। इसमें पश्चिमी बिहार और लखनऊ-दिल्ली क्षेत्र तक उत्तर-प्रदेश के भाग तथा मध्यभारत की रियासतों के सहित हिमालय से विंध्याचल तक के समस्त प्रदेश सम्मिलित किये जाने को थे। इसमें हिंदुओं के प्रमुख तीर्थ नगर अयोध्या काशी, मथुरा, प्रयाग, हरिद्वार आदि आ जाते। इस क्षेत्र के निवासियों की भाषा हिंदी थी। (४) राजपूताने की हिंदू रियासतों का क्षेत्र। (५) गुजरात और काठियावाड़ की हिंदू रियासतों का क्षेत्र। यहाँ की भाषा गुजराती थी। (६) मराठों का क्षेत्र। (७) कन्नड़ भाषा-भाषियों का क्षेत्र। इसमे मैसूर के अतिरिक्त वे प्रदेश सम्मिलित किये जाने को थे जिनके निवासी कन्नड़ भाषा बोलते थे। (८) तामिल भाषा-भाषियों का क्षेत्र। (६) मलयालम भाषा भाषियों का क्षेत्र। (१०) आंध्र का क्षेत्र। (११) उत्तरी पश्चिमी मुस्लिम क्षेत्र में सिक्खों और हिंदुओं का क्षेत्र। मुस्लिम और हिंदू क्षेत्रों की उक्त सीमाएँ संकेत मात्र थीं। उनके वास्तविक निर्धारण के लिए डा० अब्दुल लतीफ ने एक शाही कमीशन की स्थापना पर जोर दिया था।

हिंदुओं, सिक्खों और मुसलमानो के अतिरिक्त, डा० लतीफ की योजना में भारत की अन्य जातियों की भी व्यवस्था थी। उनके मतानुकूल ईसाइयों, पारसियों, अंगरेजों और बौद्धों की समस्या का अस्तित्व ही न था। अतः जब तक उनके अलग होने का समय न आवे, वे हिंदू और मुस्लिम क्षेत्रों में रहने को थे। उनके आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक अधिकारों की रक्षा की यथेष्ट व्यवस्था की गयी थी। अछूतों के संबंध में डा० लतीफ का मत था कि उनकी अपनी संस्कृति और सभ्यता ही न थी। अतः उन्हें इस बात की स्वतंत्रता थी कि वे जिस धर्म को चाहें ग्रहण करें, और हिंदू या मुस्लिम क्षेत्रों में जहाँ चाहें वहाँ बस जायँ। प्रत्येक क्षेत्र में दूसरे धर्म वालों की रक्षा की यथोचित व्यवस्था थी। उनके धार्मिक स्थानों, स्मारकों आदि की रक्षा का उत्तरदायित्व केंद्रीय सरकार पर था।

डा० अब्दुल लतीफ ने भारत के लिए एक संविधान की भी कल्पना की थी। यह भारतीय शासन-संबंधी सन् १६३५ के अधिनियम का स्थान लेने को था। समस्त भारत के एक संघ की कल्पना की गयी थी। संघांतरित अंगों की एक-रूपता के कारण संघ के अधिकारों का सीमित होना अनिवार्य था। रक्षा,

पर-राष्ट्र-संबंध, वाणिज्य, यातायात के साधन तथा इसी प्रकार के अन्य विषय संघ के अधीन किये गये थे और अवशिष्ट विषय सघांतरित इकाइयों के अधीन। क्षेत्रीय बोर्डों की भी व्यवस्था थी। इनमें वे अपनी उन समस्याओं पर विचार करने को थे जो उनके संबंध में थी।

डाक्टर लतीफ की योजना की आलोचना के संबंध की निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—(१) इसमें भारत को सांस्कृतिक क्षेत्रों में विभक्त करके, समस्त भारत की एकता के बनाये रखने की व्यवस्था थी। (२) जन-संख्या की अदला-बदली इस योजना की सब से बड़ी दुर्बलता थी। अपार व्यय के अतिरिक्त इसमें उस भावना का बलिदान कर दिया गया था जो प्रत्येक मनुष्य में अपने निवास-स्थान के प्रेम के कारण होती है। इसमें संदेह नहीं कि आरंभ में उक्त अदला-बदली लोगों की इच्छा पर निर्भर थी। किंतु यह आशंका निर्मूल न थी कि कालांतर में जबरदस्ती अदला-बदली की जाय। (३) योजना में भारतीय राज्यों को, न्यूनाधिक अपने मौजूदा रूप में, स्थायी बना दिया गया था। जिस संघ की कल्पना की गयी थी वह अंगरेजों के अधीन था और शासकों और शासितों के राजनीतिक संबंध का निर्धारण भविष्य में जनता के निर्णय पर छोड़ दिया गया था। संप्रदाय एवं संस्कृति के लिए राजनीति का यह बलिदान अक्षम्य था।

(५) एक पंजाबी की योजना—भारत के विभाजन के दूसरी योजना 'एक पंजाबी' की योजना[1] के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें भारत को पाँच संघ-राज्यों में विभाजित करके उन सबको मिला कर एक राज्य-संघ (Confederacy) के बनाने का प्रयत्न किया गया था। पृष्ठ १३८ की तालिका से हमें संघ-राज्यों के नाम, उनके क्षेत्रफल तथा उनमें निवास करने वाले हिंदुओं और मुसलमानों की जन-संख्या के अनुपात का पता चलता है।

इंडस्तान संघ-राज्य में पंजाब (पूर्वी पंजाब के हिंदू भाग के अतिरिक्त), सिंध, उत्तरी-पश्चिमी सीमांत प्रदेश, बिलोचिस्तान, बहावलपुर, स्वात, चितराल, खैरपुर, कलात, कपूरथला, मलेरकोटला आदि के प्रदेश सम्मिलित किये गये थे; हिंदुस्तान संघ-राज्य में संयुक्त-प्रदेश, मध्य-भारत, बिहार (बंगाल

---

१. अनुमान है कि सर शाह नवाज ने अपनी विभाजन की योजना को 'एक पंजाबी' के नाम से प्रकाशित किया था।

	वर्ग मील में क्षेत्रफल	जन-संख्या	हिंदु प्रतिशत	मुसलमान प्रतिशत
इंडस्तान	२,६८,८३६	३,३०,००,०००	८+सिक्ख६	८८
हिंदुस्तान	७,४२,१७३	२१,६०,४१,५४१	८३·७२	११
राजिस्तान	१,८०,६५६	१,७८,५८,५८२	८६·३६	८·०६
दक्षिणी रियासतें	१,२५,०८६	२,१५,१८,१७१	८५·२८	८·६०
बंगाल	७०,०००	३,१०,००,०००	३२ ६	६६·१

के कुछ भागों के सहित) उड़ीसा, आसाम, मद्रास, बंबई और कुछ भारतीय रियासतों के प्रदेश; राजिस्तान के संघ-राज्य में राजपूताना और मध्यभारत की की समस्त भारतीय रियासतों के प्रदेश; दक्खिन संघ-राज्य में हैदराबाद, मैसूर और बस्तर की भारतीय रियासतों के प्रदेश; बंगाल के संघ-राज्य में पूर्वी बंगाल, गोलपारा और सिलहट के प्रदेश। उक्त विभाजन में दो ऐसे संघ-राज्यों की व्यवस्था है जिनमें मुसलमान बहु-संख्यक हैं, और तीन ऐसे जिनमें हिंदू बहु-संख्यक हैं। ये पाँचों प्रदेश मिल कर भारत के राज्य-संघ (Confederacy) का निर्माण करने को थे। इसके सर्वोत्तम अधिकारी को वाइसराय की उपाधि दी गयी थी और उसकी सहायता के लिए एक असेंबली की व्यवस्था थी जिसके सदस्य विभिन्न संघ-राज्यों द्वारा भेजे जाने को थे। राज्य-संघ के निम्नलिखित विषय निर्धारित किये गये थे—पर-राष्ट्र-संबंध, रक्षा, प्राकृतिक श्रोतों से पानी लेने के संबंध की समस्त बातें, भारतीय नरेशों और क्राउन के संबंध-संबंधी समस्त बातें। अंतिम विषय संघ-राज्यों के गवर्नर-जनरलों के अधीन रखा गया था और वे वाइसराय के प्रति उत्तरदायी होकर उसकी देख-भाल करने को थे। उपरिवर्णित योजना की आलोचना के संबंध की निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं—(१) योजना में भारत की भौगोलिक एकता को खंडित करने का प्रयत्न नहीं किया गया था। उसका उद्देश्य भारतीय उप-

महाद्वीप को सांस्कृतिक आधार पर उसके दो मुख्य संप्रदायों में विभाजित करना, और तत्पश्चात उन्हें मिला कर एक इकाई का निर्माण करना था। (२) योजना में इस बात पर जोर दिया गया था कि भारत, हिंदुओं और मुसलमानों दोनों का घर था। अतः दोनों संप्रदायों में देश के बाहर देखने वाले दृष्टि-कोण[1] का अभाव था। (३) भारत का विभाजन केवल बहु-संख्यक जन-समुदाय के आधार पर किया गया था। इसके कारण हिंदू बहु-संख्यक संघ-राज्यों के प्रदेशों के एक दूसरे से मिले होने पर लेशमात्र भी ध्यान नहीं दिया गया था। यही दुर्बलता मुस्लिम संघ-राज्यों के विषय में थी। (४) यदि सब हिंदू बहु-संख्यक प्रदेशों को मिला कर, जिनमें मुसलमानों की संख्या मिला कर २ करोड़ के लगभग थी, एक संघ-राज्य बन सकता था तो शेष मुसलमानों को मिला कर समस्त भारत का भी संघ-राज्य स्थापित किया जा सकता था। (५) योजना का लक्ष्य एक आदर्श इस्लामिक राज्य का स्थापित करना था। योजना के निर्माण के काल में हिंदू और मुस्लिम संघ-राज्यों को मिला कर भारतीय राज्य-संघ की व्यवस्था अवश्य थी, किंतु मुस्लिम बहु-संख्यक संघ-राज्यों की पूर्ण स्वाधीनता की भावना का सर्वथा अभाव न था। हिंदू बहु-संख्यक प्रदेशों से पार्थक्य, आदर्श मुस्लिम राज्य की स्थापना का, साधन-मात्र था।

(६) **अलीगढ़ योजना**[2]—विभाजन की तीसरी योजना अलीगढ़ योजना के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें भारत को निम्नलिखित छः प्रभुत्व-संपन्न स्वतंत्र राज्यों में विभाजित किया था—(१) पाकिस्तान—इसमें पंजाब, उत्तरी-पश्चिमी प्रदेश, सिंध, बिलोचिस्तान, के प्रांत तथा जम्मू और काश्मीर, मांडी, चंबा, कपूरथला, मलेरकोटला, चितराल, कलात, बहावलपुर आदि की भारतीय रियासतें सम्मिलित की जाने को थीं। इसमें मुस्लिम जन-संख्या का अनुपात ६०.३ प्रतिशत था। (२) बंगाल इसमें हावड़ा और मिदनापुर जिलों के अतिरिक्त बंगाल, बिहार का पुर्णिया जिला, तथा आसाम की सिलहट कमिश्नरी सम्मिलित की गयी थी। इसमें मुसलमानों की जन-संख्या का अनुपात

१. यही कारण था कि बहु-संख्यक मुस्लिम संघ-राज्य को पाकिस्तान का नाम न देकर इंडस्तान का नाम दिया गया था।

२. इस योजना को अलीगढ़ के दो प्राध्यापकों, जिनके नाम सैयद जफरुल हसन और मुहम्मद अफजल हुसेन कादिरी थे, बनाया था।

५७·० प्रतिशत था। (३) हिंदुस्तान—इसमें हैदराबाद, पाकिस्तान, बंगाल और इनमें सम्मिलित भारतीय रियासतों के अतिरिक्त, अवशिष्ट भारत सम्मिलित किया गया था। हिंदू बहु-संख्यक थे और मुसलमानों का अनुपात समस्त जन-संख्या का ६·७ प्रतिशत था। (४) हैदराबाद—इसमें हैदराबाद, बरार और कर्नाटक के प्रदेश सम्मिलित थे। इसमें मुसलमानों की जनसंख्या ७·५ प्रतिशत थी। (५) दिल्ली का प्रांत—इसमें दिल्ली, मेरठ और रुहेलखंड की कमिश्नरियाँ तथा अलीगढ़ का जिला सम्मिलित किया गया था। इसमें मुसलमानों की जन-संख्या का अनुपात २८ प्रतिशत था। (६) मलाबार....इसमें मलाबार और दक्षिणी केनारा सम्मिलित किया गया था। मुसलमानों की जन-संख्या का अनुपात २७ प्रतिशत था। (७) भारत के समस्त नगर जिनकी जन-संख्या ५०,००० से अधिक थी, स्वतंत्र नगर समझे गये थे। उनको अत्यधिक स्वायत्त-शासन दिया गया था।

योजना में पाकिस्तान, बंगाल और हिंदुस्तान के स्वतंत्र राज्यों के परस्पर संबंध की निम्नलिखित व्यवस्था की गयी थी—(१) तीनों राज्यों द्वारा एक दूसरे का अभिज्ञात करना, तथा एक दूसरे के प्रति समानता का व्यवहार करना; (२) पाकिस्तान और बंगाल को मुसलमानों और हिंदुस्तान को हिंदुओं का देश समझना। प्रत्येक संप्रदाय के सदस्य अपने इच्छानुकूल, जब चाहें तब, अपने देश के एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में आ-जा सकते थे (३) हिंदुस्तान के मुसलमान मुस्लिम राष्ट्र के अल्प-संख्यक सदस्य समझे जाने को थे। वे पाकिस्तान और बंगाल में रहने वाले मुस्लिम राष्ट्र की शाखा-मात्र थे। (४) हिंदुस्तान के मुस्लिम और पाकिस्तान के गैर-मुस्लिम अल्प-संख्यकों को उनकी जन-संख्या के अनुपातानुसार प्रतिनिधित्व दिया गया था। तीनों राज्यों में, प्रत्येक क्षेत्र में, अल्प-संख्यकों के प्रथक निर्वाचन और प्रतिनिधित्व तथा प्रभावशाली संरक्षण की व्यवस्था थी। (५) हिंदुस्तान में मुसलमानों के एक राजनीतिक संगठन की व्यवस्था। वह भारत में रहने वाले मुसलमानों का एक-मात्र प्रतिनिधि-संगठन समझा जाने को था।

पाकिस्तान, बंगाल और हिंदुस्तान के राज्य ब्रिटिश सरकार से अलग अलग संधियाँ करने को थे। उनके आपसी तथा सम्राट के प्रतिनिधि से झगड़ों के निबटाने के लिए एक संयुक्त पंचायती न्यायालय की व्यवस्था थी।

योजना में हैदराबाद की अनोखी व्यवस्था की गयी थी। वह ब्रिटिश सरकार के मित्र की भाँति अभिज्ञात किया गया था। योजना-निर्माताओं के

मतानुकूल, संधियों के आधार पर उसका वास्तविक स्थान प्रभुता-संपन्न राज्यों का सा था। बरार और कर्नाटक के प्रदेश प्रशासकीय सुभीते के कारण उससे छीन लिये गये थे। अतः योजना में उनके लौटाने की व्यवस्था थी। कर्नाटक के लौटाये जाने के कारण हैदराबाद का राज्य समुद्र तट तक विस्तृत हो जाता। यह मुस्लिम भारत के दक्षिणी भाग के समान था।

इस योजना की आलोचना की निम्नलिखित बातें विचारणीय है—(१) समस्त योजना एकांगी थी। मुसलमानों को जो अधिकार हिंदुस्तान में दिये गये थे, वे ही अधिकार पाकिस्तान में गैर-मुसलमानों को न दिये गये थे। उदाहरणार्थ हिंदुस्तान के मुसलमान, पाकिस्तान और बंगाल के मुस्लिम राष्ट्र के अल्प-संख्यक समझे गये थे पर पाकिस्तान के हिंदू, हिंदुस्तान के हिंदू राष्ट्र के अंग समझे जाने से वंचित कर दिये गये थे। हिंदुस्तान में मुसलमानों के लिए एक प्रतिनिधि-संगठन की व्यवस्था थी, पर पाकिस्तान और बंगाल के हिंदुओं के लिए इस प्रकार की व्यवस्था का अभाव था। (२) स्वतंत्र नगरों की व्यवस्था के कारण प्रस्तावित राज्यो की शांति के भंग होने की आशंका थी। युरुप में डैंजिग के स्वतंत्र नगर का अनुभव इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण था। (३) हैदराबाद का विशिष्ट स्थान योजना के मूल सिद्धांतों से असंगत था। हैदराबाद की अधिकांश जन-संख्या हिंदू थी और शासक मुसलमान। अतः वह मुस्लिम राज्य समझा गया था। काश्मीर की अधिकांश जन-संख्या मुसलमान थी और शासक हिंदू, पर हैदराबाद के आधार पर वह हिंदू राज्य न समझा जाकर, पाकिस्तान मे सम्मिलित कर लिया गया था। डा० राजेंद्र प्रसाद के मतानुकूल योजना का मूलमंत्र था "सन तुम हारे मच्छी मैं जीता।"[१] (४) योजना उन समस्त दुर्बलताओं से परिपूर्ण थी जिनका उल्लेख 'एक पंजाबी' की योजना की आलोचना के संबंध में किया गया है।

(७) सर सिकंदर हैयात खाँ की योजना—भारत के विभाजन की चौथी योजना सर सिकंदर हैयात खाँ की थी। इसमें देश को सात भू-खंडों में विभाजित करके, उसकी शासन-व्यवस्था के निर्धारण का प्रयत्न किया था। सात भू-खंड निम्नलिखित थे—(१) आसाम और कुछ पश्चिमी जिलों के अतिरिक्त बंगाल; बंगाल की भारतीय रियासतें और सिकिम। (२) बिहार

---

2. "Heads you lose, tails we win" Dividid India P. 175

और उड़ीसा। उड़ीसा में वे जिले भी सम्मिलित थे जो उसे बंगाल से मिले थे। (३) संयुक्त-प्रांत और संयुक्त-प्रांत की भारतीय रियासतें। (४) मद्रास और ट्रावनकोर, मद्रास की भारतीय रियासतें और कुर्ग। (५) बंबई और हैदराबाद ; पश्चिमी भारत और बंबई की भारतीय रियासतें ; मध्य-प्रांत की रियासतें और मैसूर। (६) बीकानेर और जैसलमेर को निकाल कर राजपूताना की रियासतें ; ग्वालियर और मध्य-भारत की रियासतें ; बिहार और उड़ीसा की रियासतें ; मध्य-प्रांत और बरार। (७) पंजाब और सिंध ; उत्तरी-पश्चिमी सीमांत प्रांत और काश्मीर; पंजाब की भारतीय रियासतें और बिलोचिस्तान; बीकानेर और जैसलमेर। देश का उक्त विभाजन सुझाव-मात्र था और उसमे परिवर्तन किया जा सकता था।

देश की शासन-व्यवस्था के निर्धारण में सर सिकंदर हैयात खां ने तीन स्तरों की व्यवस्था की थी। पहला स्तर समस्त भारत का संघ-राज्य था। इसके सर्वोच्च कार्यपालिका अधिकारी को वाइसराय की उपाधि दी गयी थी। यह सम्राट के प्रतिनिधि की भांति काम करने को था। उसकी सहायता के लिए कम से कम सात और अधिक से अधिक ११ मंत्रियों की व्यवस्था थी। इनमें प्रधान मंत्री की भी गणना थी। प्रधान मंत्री की नियुक्ति का अधिकार वाइसराय को था। वे इस पद पर संघीय विधान-मंडल के किसी सदस्य को नियुक्त कर सकते थे। निम्नलिखित शर्तों के अंतर्गत अन्य मंत्री प्रधान-मंत्री की मंत्रणा पर वाइसराय द्वारा नियुक्त होने को थे (अ) प्रत्येक भू-खंड का एक मंत्री अवश्य हो ; (ब) कम से कम एक तिहाई मंत्री मुसलमान हों ; (स) यदि कुल संख्या ९ से अधिक हो तो कम से कम तीन मंत्री भारतीय रियासतों के हों ; (द) संघीय योजना के कार्यान्वित होने के पश्चात् प्रथम बीस (या १५) बरस तक वाइसराय द्वारा मनोनीत दो मंत्री रक्षा और पर-राष्ट्र-संबंध के विषयों के प्रशासन के लिए हों। वाइसराय को ऐसे मंत्रियों को भी मनोनीत करने का अधिकार था जो विधान-मंडल के सदस्य न थे, पर इस अवधि की समाप्ति के पश्चात् कोई भी ऐसा व्यक्ति मंत्री न नियुक्त किया जा सकता था, जो विधान-मंडल का सदस्य न था। संघीय विधान-मंडल के सदस्यों की संख्या ३७५ निर्धारित की गयी थी। इनमें से २५० ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि थे और १२५ भारतीय रियासतों के। मुसलमान सदस्यों की संख्या कुल सदस्यों की एक तिहाई निश्चित की गयी थी। अन्य अल्प-संख्यकों के स्थान सन् १९३५ के अधिनियम के आधार पर निश्चित किये गये थे। भूखंडों

के विधान-मंडल, संघीय विधान-मंडल को उन विषयों के भी कानून बनाने का अधिकार दे सकते थे, जो भूखंडों की अथवा प्रांतीय सूचियों में थे। इस अधिकार का प्रयोग तभी हो सकता था जब चार भूखंड इस प्रकार की प्रार्थना करते। यदि सातो भूखंडों के विधान-मंडल इन कानूनों की संपुष्टि न करते तो संबद्ध कानून उन्हीं भूखंडों में लागू होने का था जिन्होंने उसके लिए प्रार्थना की थी। इस प्रकार के कानूनों के निरसन के लिए यह आवश्यक था कि कम से कम तीन भूखंडों के विधान-मंडल उनके निरसन की प्रार्थना करते।

मंत्रियों का कार्यकाल वही था जो विधान-मंडल का। संघीय विधान-मंडल द्वारा अविश्वास के प्रस्ताव के पारित होने पर मंत्रिमंडल के त्याग-पत्र की व्यवस्था थी। अविश्वास के प्रस्ताव का वाइसराय द्वारा मनोनीत मंत्रियों की अवधि पर किसी प्रकार का प्रभाव न पड़ सकता था। यदि किसी भूखंड का विधान-मंडल अपने संघीय मंत्री के प्रतिकूल अविश्वास का प्रस्ताव पास करता था, तो वह मंत्री संघीय मंत्रि-मंडल से अलग कर दिया जाने को था। मंत्री लोग वाइसराय के प्रसाद पर्यंत (During Pleasure) ही अपने पद पर रह सकते थे।

शासन-व्यवस्था का दूसरा स्तर उन भूखंडों का था जिनमें सर सिकंदर हैयात खां ने देश को विभाजित किया था। इनमें से प्रत्येक के लिए एक विधान-मंडल की व्यवस्था थी। उसका निर्वाचन उसकी इकाइयों के विधान-मंडल द्वारा उसी आधार पर होने को था जिसकी व्यवस्था सन् १९३५ के संविधान में की गयी थी। भारतीय रियासतों के प्रतिनिधियों के चुनाव की निम्नलिखित विशिष्ट व्यवस्था की गयी थी—(१) संघीय और भूखंडों के विधान-मंडलों के आरंभ से १० बरस तक $\frac{3}{4}$ सदस्य नरेशों द्वारा मनोनीत किये जाने को थे और $\frac{1}{4}$ उस पंचमंडल से, नरेशों द्वारा, चुने जाने को थे जो रियासत के विधान-मंडल या ऐसी ही दूसरी संस्थाओं द्वारा निर्वाचित होता (२) अगले ५ बरस में $\frac{2}{3}$ सदस्य नरेशों द्वारा मनोनीत होते और शेष एक तिहाई नरेशों द्वारा पंचमंडल से चुने जाते। (३) १५ बरस के पश्चात् आधे नरेशों द्वारा मनोनीत होते और शेष आधे नरेशों द्वारा पंचमंडल से चुने जाते ; बीस बरस के पश्चात् एक तिहाई नरेशों द्वारा मनोनीत किये जाते और और शेष $\frac{2}{3}$ नरेशों द्वारा पंचमंडल से चुने जाते।

शासन-व्यवस्था का तीसरा स्तर उन इकाइयों का था जिन्हें मिलाकर

भूखंडों का निर्माण किया गया था। योजना में इनके प्रशासकीय संगठन का विवरण न दिया गया था।

सर सिकंदर की योजना में रक्षा के संबंध में वाइसराय को परामर्श देने के लिए एक रक्षा-कमेटी, और पर-राष्ट्र-संबंध-संचालन में परामर्श देने के लिए एक पर-राष्ट्र-कमेटी की व्यवस्था थी। वाइसराय दोनों कमेटियों के सभापति थे। उनके अतिरिक्त रक्षा-कमेटी में संघीय प्रधान-मंत्री, रक्षा मंत्री, पर-राष्ट्र मंत्री, अर्थ-मंत्री और यातायात मंत्री, प्रधान सेनापति, चीफ आफ दि जनरल स्टाफ (Chief of the General Staff), एक सीनियर नैवल आफीसर (A Senior Naval Officer), एक सीनियर एयर फोर्स आफीसर (A Senior Air Force Officer), सात भूखंडों के सात प्रतिनिधि, वाइसराय द्वारा मनोनीत पाँच सरकारी विशेषज्ञ, तथा दो गैर-सरकारी व्यक्ति और रक्षा-विभाग का सचिव, सम्मिलित किये गये थे। पर-राष्ट्र-समिति की रचना इस प्रकार थी—वाइसराय, पर-राष्ट्र-मंत्री, सात भूखंडों के सात प्रतिनिधि (इन्हें मनोनीत करने का अधिकार भूखंडों के विधान-मंडलों के सभापति को था और ये विधान-मंडलों के सदस्यों में से मनोनीत किये जाने को थे), वाइसराय द्वारा मनोनीत दो सरकारी और दो गैर-सरकारी, व्यक्ति, तथा पर-राष्ट्र-विभाग का सचिव। संघीय रेलवे अथारिटी का भी उल्लेख था। इसमें भी प्रत्येक भूखंड से एक सदस्य का लेना अनिवार्य कर दिया गया था।

सर सिकंदर की योजना में निम्नलिखित प्रभावशाली संरक्षणों का भी उल्लेख था—(१) अल्प-संख्यकों के न्यायोचित अधिकारों की रक्षा; (२) जन्मजात ब्रिटिश प्रजाजनों में जातीय आधार पर भेद-भाव का अभाव ; (३) भारतीय रियासतों की संधियों तथा दूसरे इकरारनामों की उल्लंघन से रक्षा ; (४) ब्रिटिश भारतीय और भारतीय रियासतों की इकाइयों के प्रदेश तथा उनके स्वायत्त शासन की संघीय कार्य-पालिका या संघीय अथवा भूखंडीय विधान-मंडलों के हस्तक्षेप से रक्षा ; (५) समस्त देश और उसकी इकाइयों की शांति और व्यवस्था की तथा देश की विदेशी आक्रमण से सुरक्षा ; (६) किसी इकाई या भूखंड के नागरिकों की उन क्रांतिकारी कार्रवाइयों पर रोकथाम जो वे दूसरे भूखंड या इकाई के विरुद्ध करें ; (७) अल्प-संख्यकों की संस्कृति तथा उनके धार्मिक अधिकारों का संरक्षण।

सर सिकंदर की उपरिवर्णित योजना में, भारत को दो स्वतंत्र राज्यों में

विभाजित न करके, एक भारतीय संघ की कल्पना की गयी थी। उसका उद्देश्य भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ के अधिनियम को संशोधित करना था, पर प्रस्तावित संशोधन में कहीं पर भी भारत की स्वतंत्रता का उल्लेख न था। वह भारतीय रियासतों को पृथक इकाइयों के रूप में संघ-राज्य में सम्मिलित करके उन्हें प्रस्तावित भूखंडों में सम्मिलित करना और इन भूखंडों को मिला कर भारतीय संघ-राज्य की स्थापना करना चाहती थी। इस परिवर्तन के कारण रियासतों के पार्थक्य के मिट जाने की संभावना अवश्य थी, पर रियासतों में लोकतंत्रात्मक प्रणाली को पूर्ण रूप से न अपनाया गया था। संघीय मंत्रिमंडल में कुछ ऐसे सदस्यों की व्यवस्था थी जो विधान-मंडल के सदस्य न थे। रक्षा और पर-राष्ट्र-विभाग इसी प्रकार के मंत्रियों के अधीन रखे गये थे। संयुक्त उत्तरदायित्व का अभाव था। संघीय विधान-मंडल द्वारा अविश्वास के प्रस्ताव के पारित होने पर रक्षा और पर-राष्ट्र-मंत्री अपने अपने पद पर बने रहने को थे। मंत्रिमंडल में सांप्रदायिक और प्रादेशिक प्रतिनिधित्व के सिद्धांत के कारण उपयुक्त मंत्रियों की उपलब्धि कठिन हो सकती थी।

अब्दुल्ला हारुन कमेटी की योजना—सन् १९४० तक मुसलमानों द्वारा भारत के विभाजन और शासन-सुधार की कई योजनाएँ देश के सम्मुख थीं। सन् १९३८ में सिंध की प्रांतीय मुस्लिम लीग ने और सन् १९४० में लाहौर के अधिवेशन में अखिल भारतीय मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान को अपना लिया था। अतः फरवरी सन् १९४० में अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की पर-राष्ट्र-कमेटी ने (उपरिलिखित योजनाओं के निर्माताओं का एक सम्मेलन) यह विचार करने के लिए आमंत्रित किया कि क्या इन सबके आधार पर एक नवीन योजना तैयार की जा सकती थी। परिणाम-स्वरूप जो योजना बनी उसे हारून कमेटी की योजना कहते हैं। उसकी निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—

(१) पश्चिमोत्तर में एक मुस्लिम राज्य बने। इसमें मुसलमानों की जनसंख्या लगभग ६३% के होगी।

(२) पूर्वोत्तर में एक दूसरा मुस्लिम राज्य बने। इसमें मुसलमानों की जनसंख्या लगभग ५४%के होगी।

(३) भारतीय रियासतों की स्थिति पर विचार करने के पश्चात् कमेटी ने यह सुझाव प्रस्तुत किया कि जिन रियासतों के शासक मुसलमान हैं वे प्रभुता-संपन्न रियासतें मान ली जायँ। इसके लिए यह उचित होगा कि लीग

इस बात पर जोर दे कि हैदराबाद की रियासत को स्वतंत्र स्वीकार किया जाय और उसका राज्यक्षेत्र बढ़ा कर समुद्र तक विस्तृत कर दिया जाय। कौन कह सकता है कि समय आने पर हैदराबाद की रियासत को मुसलमान लोग अपने शक्ति का केंद्र-स्थल बनावें ?

(४) रियासतों के संबंध में कमेटी ने इस बात पर भी जोर दिया कि वे निकटवर्ती मुस्लिम राज्यों से संबंध स्थापित कर लें। ऐसा करने से पूर्वोत्तर और पश्चिमोत्तर राज्यों में लगभग ७४·०७ प्रतिशत मुसलमानों को संरक्षण प्राप्त हो जायगा।

(५) संक्रमण काल के लिए कमेटी ने यह सुझाव भी प्रस्तुत किया कि उपरिवर्णित स्वतंत्र राज्य परस्पर समझौते द्वारा एक ऐसा एजेंसी की स्थापना करें जो पर-राष्ट्र-संबंध, रक्षा, यातायात, बहिःशुल्क, अल्प-सख्यकों के संरक्षण तथा जनता द्वारा स्वतः स्थानांतरण आदि बातों की देखभाल करे।

हारून कमेटी की योजना से अनेक लोग असंतुष्ट थे। प्रो० अफजल हुसेन कादरी, (जो कमेटी के एक सदस्य थे) के मतानुकूल कमेटी की योजना द्वारा लाहौर में स्वीकृत प्रस्ताव का उल्लंघन किया गया था। डा० अब्दुल लतीफ के मतानुकूल, योजना में पश्चिमोत्तर और पूर्वोत्तर राज्यों की जो व्यवस्था की गयी थी वह असंतोषप्रद थी। उसमें राज्यों की दृढ़ता का अभाव था। मिस्टर जिन्ना ने भी कमेटी की योजना को विशिष्ट स्थान न देकर वही स्थान दिया जो अन्य व्यक्तियों या समुदायों की योजनाओं को। फलस्वरूप कालांतर में इस योजना का भी वही अंत हुआ जो अन्य योजनाओं का।

उपरिवर्णित योजनाओं के अतिरिक्त सर फीरोज खां नून और मिस्टर रिजवानुल्ला ने भी इसी आशय की योजनाएँ बनायी थीं। विशेष महत्व की न होने के कारण उनका केवल उल्लेख-मात्र ही किया जाता है।

मुस्लिम लीग और पाकिस्तान की मांग—सन् १६३५ के भारतीय शासन संबंधी अधिनियम के अंतर्गत कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ने निर्वाचन में भाग लेने का निश्चय किया। कांग्रेस स्वतंत्र मंत्रिमंडल बनाने की स्थिति में विजयी हुई, पर मुस्लिम लीग की अवस्था इससे भिन्न थी। कांग्रेस ने मुस्लिम लीग के विचारानुकूल संयुक्त मंत्रिमंडल बनाने से इनकार कर दिया। अतः मुस्लिम लीग का दृष्टिकोण कांग्रेस के

विरुद्ध हो गया। उसने कांग्रेस के सम्मुख यह मांग प्रस्तुत की कि मुस्लिम लीग मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि-संस्था थी।[1] उसने इस बात पर भी जोर दिया कि कांग्रेसी शासन में मुसलमान न तो न्याय की आशा कर सकते थे और भलमनसाहत थी। संभवतः इसी वातावरण से प्रभावित हो अक्टूबर सन् १६३८ में सिंध की प्रांतीय मुस्लिम लीग ने मिस्टर जिन्ना के सभापतित्व में पाकिस्तान संबंधी निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किया—"भारतीय महाद्वीप में स्थानीय शांति बनाये रखने, उसके हिंदू और मुस्लिम राष्ट्रों को सांस्कृतिक विकास का अवसर देने तथा उन्हें आर्थिक और राजनीतिक स्वतंत्रता की ओर अग्रसर करने के उद्देश्य से भारत को दो संघ-राज्यों में बाँट दिया जाय जिनमें से एक मुस्लिम प्रांतों का संघ हो और दूसरा गैर-मुस्लिम प्रांतों का[2]।" मुस्लिम लीग द्वारा पाकिस्तान की मांग का श्रीगणेश यहीं से होता है।

---

१. मुस्लिम लीग को सन् १६२८ में प्रतिपादित १४ शर्तों के बाद इन दिनों निम्नलिखित १३ अन्य शर्तें प्रतिपादित की गयी थीं—(१) कांग्रेस न तो सांप्रदायिक निर्णय का विरोध करे और न उसे अराष्ट्रीय कहे। (२) कानूनी अधिनियमन द्वारा सरकारी नौकरियों में मुसलमानों के स्थान निश्चित रूप से निश्चित कर दिये जायं। (३) कानून द्वारा मुसलमानों के वैयक्तिक कानून और संस्कृति की रक्षा की जाय। (४) शहीद गंज की मस्जिद के मामले को कांग्रेस अपने हाथ में ले और अपने नैतिक दबाव को इस प्रकार डाले कि वह मस्जिद मुसलमानों को मिल जाय। (५) मुसलमानों के अजान और धार्मिक रेवाजों के पालन करने में किसी प्रकार की बाधा न पड़े। (६) मुसलमानों को गो-कुशी का अधिकार हो। (७) प्रांतीय पुनर्वितरण या हेरफेर में कोई ऐसा परिवर्तन न किया जाय जिसका बहु-संख्यक मुस्लिम प्रांतों पर कुप्रभाव पड़े। (८) बंदे मातरम् का गीत परित्यक्त कर दिया जाय। (९) मुसलमान उर्दू को भारत की राष्ट्र-भाषा बनाना चाहते हैं। अतः वे इस बात की कानूनी गारंटी चाहते हैं कि उर्दू का प्रयोग न तो कम किया जायगा और न उसे किसी प्रकार की क्षति पहुचायी जायगी। (१०) स्थानीय संस्थाओं में मुसलमानों के स्थान सांप्रदायिक निर्णय के आधार पर निश्चित किये जायें। (११) तिरंगा झंडा या तो बदल दिया जाय या मुस्लिम लीग के झंडे को समान आदर दिया जाय। (१२) मुस्लिम लीग मुसलमानों की एक मात्र प्रामाणिक प्रतिनिधि-संस्था समझी जाय। (१३) संयुक्त मंत्रिमंडल स्थापित किये जायं।

२. कन्हैया लाल वर्मा—राजनीतिक भारत, पृष्ठ १८।

मार्च सन् १६४० में अखिल भारतीय मुस्लिम लीग ने भी पाकिस्तान के संबंध में अनिश्चित अर्थ वाला एक प्रस्ताव पारित किया। इसके चार भाग थे। पहले भाग में भारतीय शासन-संबंधी सन् १६३५ के अधिनियम की निंदा की गयी थी। "इस देश की विशिष्ट परिस्थिति में, भारतीय शासन-संबंधी सन् १६३५ के अधिनियम द्वारा प्रस्तावित संघ-राज्य की योजना, अनुपयुक्त और अव्यवहार्य है और मुस्लिम भारत को पूर्णतया अग्राह्य है।" दूसरे भाग मे संविधान के नये सिरे से दोहराने की चर्चा थी और यह स्पष्ट कर दिया गया था कि जब तक वह मुसलमानों की सम्मति और अनुमति से न बनाया जायगा तब तक वह उनको ग्राह्य न होगा। पूरे भाग का भावार्थ इस प्रकार है—मुस्लिम लीग का यह जोरदार मत है कि सम्राट की सरकार की ओर से वाइसराय ने १८ अक्टूबर सन् १६३६ को जो घोषणा की है वह इस अंश तक संतोषप्रद अवश्य है कि उसमें यह घोषित किया है कि जिस नीति और योजना पर भारतीय शासन-संबंधी सन् १६३५ का अधिनियम आधारित है, उस पर भारत के विभिन्न दलों, हितों और जन-समूहों के परामर्श से पुनर्विचार किया जायगा। बावजूद इसके मुस्लिम लीग तब तक संतुष्ट न होगी जब तक संवैधानिक योजना पर नये सिरे से पुनर्विचार न किया जाय। कोई भी दोहरायी गयी योजना तब तक मुसलमानों को ग्राह्य न होगी जब तक वह मुसलमानों की अनुमति एवं सम्मति से न बनायी गयी हों। तीसरे भाग में पाकिस्तान की परोक्ष चर्चा थी। "मुस्लिम लीग का यह निश्चित मत है कि कोई ऐसी संवैधानिक योजना इस देश में कार्यान्वित नहीं हो सकती और न मुसलमानों को ग्राह्य हो सकती है जिसका निर्माण निम्नलिखित आधारभूत सिद्धांत के अनुसार न किया गया हो—भौगोलिक दृष्टि से एक दूसरे के समीपस्थित इकाइयों के ऐसे क्षेत्र निश्चित किये जायँ जिनमें आवश्यक प्रादेशिक रद्दोबदल के पश्चात, जहाँ मुसलमानों का बहुमत है (जैसा भारत के पश्चिमोत्तर और पूर्वोत्तर प्रदेशों में है) वहाँ उनको मिला कर स्वतंत्र राज्यों की स्थापना की जाय और उनमें सम्मिलित इकाइयाँ भी स्वशासन भोगी तथा प्रभुता-संपन्न रहें।" प्रस्ताव के चौथे भाग में अल्प-संख्यकों के धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनीतिक, प्रशासकीय और अन्य अधिकारों के संवैधानिक संरक्षण पर जोर दिया गया था और मुस्लिम लीग की कार्य-समिति को इन आधार भूत सिद्धांतों के आधार पर संवैधानिक योजना के बनाने का अधिकार।

मुस्लिम लीग द्वारा स्वीकृत उक्त प्रस्ताव की आलोचना के संबंध की

निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं—(१) प्रस्ताव इस विषय में चुप था कि भारत के संविधान के बनाने का अधिकार किसको था। (२) संविधान किस मूल आधार पर बनाया जाने को था? धर्म-सापेक्ष, लोकतंत्रात्मक, सामंतवादी, सर्वाधिकारी या किसी अन्य आधार पर? प्रस्ताव में इस विषय का उल्लेख न था। (३) प्रस्ताव में यह भी अनिश्चित छोड़ दिया गया था कि स्वतंत्र मुस्लिम राज्यों का ब्रिटिश साम्राज्य और गैर-मुस्लिम भू-खंडों से क्या संबंध होगा। (४) यदि अल्प-संख्यकों के संवैधानिक संरक्षणों का उल्लंघन होता तो उन्हें किस प्रकार कार्यान्वित कराया जा सकता था? प्रस्ताव, इसके विषय में भी चुप था। (५) प्रस्ताव की भाषा अनिश्चित थी और उसमें मुस्लिम राज्य या राज्यों के राज्य-क्षेत्रों का उल्लेख न था।

इन दोषों के हुए भी दूसरे साल मद्रास के अधिवेशन में यह प्रस्ताव दोहराया गया और मुस्लिम लीग के ध्येय में तदनुकूल परिवर्तन कर दिये गये। सन् १९३९ में मुस्लिम लीग का ध्येय भारत की स्वतंत्रता का प्राप्त करना निश्चित हुआ था। मद्रास के अधिवेशन में पाकिस्तान की प्राप्ति मुस्लिम लीग का ध्येय हो गया।

७

क्रिप्स मिशन

१९४२

प्राक्कथन—क्रिप्स मिशन के कारण—सर स्टैफर्ड क्रिप्स ही क्यों ?—युद्धकालीन मंत्रि-मंडल की योजना—योजना की आलोचनात्मक व्याख्या ; वाइसराय की कार्य-पालिका-समिति ; रक्षा की समस्या; भविष्य की योजना; भारत के विभाजन की परोक्ष व्यवस्था; अल्प-संख्यकों की स्थिति ; भारतीय रियासतों का प्रश्न ; समझौते पर आश्रित ; केवल सुझाव, निश्चय नहीं—मुस्लिम लीग और क्रिप्स योजना—अल्प-संख्यकों द्वारा अस्वीकृत—योजना की विफलता पर सर स्टैफर्ड क्रिप्स ।

प्राक्कथन—इस पुस्तक के पाँचवें परिच्छेद में हम समझौते के उन प्रयत्नों का विवरण दे चुके हैं जो सन् १९३९ से १९४१ तक, भारत के संवैधानिक संकट को मिटाने के लिए, ब्रिटिश सरकार और कांग्रेस द्वारा किये गये थे । प्रयत्नों की विफलता के कारण गांधीजी के नेतृत्व में चलाये गये व्यक्तिगत् सत्याग्रह आंदोलन का विवरण भी दिया जा चुका है । इस आंदोलन के संबंध में सरकार ने अंत में जो नीति अपनायी और जापान के युद्ध में प्रविष्ट होने के कारण, देश की रक्षा के संबंध में कांग्रेस के दृष्टि-कोण में जो परिवर्तन हुआ, उसके आधार पर यह अनुमान लगाना कठिन न था कि समझौते का नवीन प्रयत्न अति शीघ्र किया जायगा । १ मार्च सन् १९४२ ब्रिटेन के प्रधान-मंत्री ने कॉमन सभा में निम्नलिखित घोषणा की—

"जापानियों की प्रगति के कारण भारत के लिए जो खतरा हो गया है उसे देखते हुए हम यह आवश्यक समझते हैं कि आक्रमणकारी से देश की रक्षा करने के लिए हमें भारत के सभी वर्गों का संगठन करना चाहिये ।....

हमने सोचा था कि पूर्ण स्वायत्त शासन की प्राप्ति के लिए हम भारत की कोई रचनात्मक सहायता करें; लेकिन हमें आशंका है कि यदि इस संबंध में सार्वजनिक रूप से हम अपनी घोषणा कर दें तो भलाई की अपेक्षा बुराई की अधिक संभावना है।....चुनांचे हमने युद्ध-कालीन मंत्रिमंडल के एक सदस्य को भारत भेजने का फैसला किया है जिससे कि वह वहाँ जाकर भारतीय नेताओं के साथ निजी बातचीत द्वारा इस बात की तसल्ली कर ले कि हमने जो फैसला किया है और जो हमारे ख्याल से न्यायोचित तथा इस समस्या का अंतिम हल है, सफल हो जायगा—अर्थात् भारतीय उसे स्वीकार कर लेंगे। मेरे महामाननीय मित्र लॉर्ड प्रिवी सील एवं कामन सभा के नेता (सर स्टैफर्ड क्रिप्स) ने स्वेच्छा से इस काम के करने की जिम्मेदारी अपने ऊपर ली है। उन्हें सम्राट की सरकार का पूर्ण विश्वास प्राप्त है। वे इन प्रस्तावों के लिए न केवल बहु-संख्यक हिंदुओं की ही स्वीकृति प्राप्त करेंगे बल्कि उन बड़े-बड़े अल्प-संख्यकों की भी स्वीकृति प्राप्त करेंगे जिनमें मुसलमान सबसे बड़े और प्रमुख हैं।.......ज्योंही इस संबंध में आवश्यक प्रबंध हो जायँगे और सुविधाजनक समझा जायगा, मेरे महामाननीय मित्र भारत के लिए रवाना हो जायँगे।"[1]

क्रिप्स मिशन के कारण—क्रिप्स-मिशन की ब्योरेवार बातों के बतलाने के पूर्व उन कारणों पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है जिनके परिणाम-स्वरूप इस दिशा में पग उठाया गया था। उनमें से निम्नलिखित विशेष महत्व के हैं—

(१) जापान का युद्ध में प्रवेश—जापान के युद्ध में प्रविष्ट होने के कारण एशियायी युद्ध-क्षेत्र की स्थिति पूर्ण-रूपेण बदल गयी थी। चीन और जापान की लड़ाई पहले से ही चली आ रही थी। कुछ ही दिनों में जापान ने फ्रेंच-इंडो चाइना और बर्मा को अपने अधीन कर लिया और सिंगापूर का नैवेल बेस, जो करोड़ों रुपये लगाकर बनाया गया तथा जो अजेय समझा जाता था, जापानियों के हाथ आ गया। इसके पूर्व पर्ल हारबर में अंग्रेजों के दो विशाल जहाज, जापानियों द्वारा समुद्र में डुबो दिये गये थे। युद्ध की उपरिवर्णित परिस्थिति में यह आवश्यक था कि भारतीयों को

---

१. प० सीतारामय्या—कां० का इ०, भाग २, पृष्ठ ३५७-३५६।

संतुष्ट करके, युद्ध के प्रयत्नों में उनका सहयोग प्राप्त किया जाय। अतः ब्रिटिश सरकार ने सर स्टैफर्ड क्रिप्स को अपने सुझावों के साथ भारत भेजने का निश्चय किया।

(२) भारतीय परिस्थिति—इन दिनों भारत की परिस्थिति भी समझौते के अनुकूल थी। कांग्रेस ने व्यक्तिगत सत्याग्रह को बंद, तथा अहिंसा के प्रश्न पर पुनर्विचार किया था। जापानियों द्वारा नगरों पर हवायी हमलों की आशंका के कारण वह अहिंसा के प्रयोग को उस सीमा तक ले जाने को तैयार न थी जिस सीमा तक गांधी जी चाहते थे। निर्दलीय नेता भी समझौते के लिए प्रयत्नशील थे। देश की इस अनुकूल परिस्थिति का यथोचित उपयोग न करना, राज्यविज्ञता के दिवालेपन का परिचायक होता। अतः ब्रिटिश-सरकार द्वारा इस दिशा में कदम का उठाना अनिवार्य था।

(३) पार्लमेंट के सदस्यों का दबाव—ब्रिटिश पार्लमेंट के अनेक सदस्य, सरकार पर इस बात के लिए दबाव डाल रहे थे कि भारतीय परिस्थिति को सुलझाया जाय। लॉर्ड-सभा में ३ फरवरी सन् १९४२ को इस विषय में जो वादविवाद हुआ था उसमें भाग लेने वाले सदस्यों ने भारत के संबंध में प्रभावशाली विचार प्रगट किये थे। लॉर्ड फैरिंगटन के मतानुकूल यह दुर्भाग्य की बात थी कि सम्राट की सरकार ने भारत को स्वायत्त शासन देने का जो वादा कर रखा था उसे यथार्थ रूप देने में वह असफल रही थी। अतः उन्होंने सरकार को यह घोषित करने का परामर्श दिया कि वह भारत को भविष्य में नहीं, वरन् तुरंत ही स्वराज्य देना चाहती थी। लॉर्ड हैली के मतानुकूल सरकार को सीरिया की तरह भारत के बारे में भी कोई स्पष्ट घोषणा, कर देनी चाहिये। "यह कहा गया है कि युद्ध काल में कोई संवैधानिक परिवर्तन नहीं किये जा सकते। परंतु भारतीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घोषणा—अर्थात् सन् १९१७ की घोषणा, लड़ाई के जमाने में ही की गयी थी और माटेग्यू-चेम्सफोर्ड योजना भी सन् १९१८ में तैयार की गयी थी जो लड़ाई बहुत ही नाजुक घड़ी की थी।"[१] लॉर्ड कैटो के मतानुकूल जब तक ब्रिटिश सरकार भारत की संवैधानिक समस्या को नहीं सुलझा देती और औपनिवेशिक स्वराज्य देने का अपना वादा पूरा नहीं करती तब तक युद्ध के प्रति भारतीयों की उदासीनता और उपेक्षा जारी रहेगी। लॉर्ड सभा में प्रगट किये गये उक्त विचारों का प्रभाव

१. प० सीतारामय्या—कां० का इ०, भाग २, पृष्ठ ३३९।

ब्रिटिश सरकार पर अनिवार्य रूप से पड़ा होगा, यद्यपि प्रगट तौर पर ४ फरवरी को मिस्टर एमरी ने अपने नीरस के भाषण में, उक्त वाद-विवाद के प्रत्युत्तर में, उन्हीं विचारों को दोहराया था जिन्हें वे परंपरागत प्रगट करते आये थे।

(४) अंतर्राष्ट्रीय दबाव—अंतर्राष्ट्रीय दबाव भी भारत की समस्या के हल करने के पक्ष में था। संयुक्त-राज्य अमरीका[1] और चीन चाहते थे कि भारत की समस्या को हल करके उसे युद्ध के अनुकूल बना लिया जाय। ६ फरवरी सन् १९४२ को चीन के जेनरलिस्समों च्यांग काई शेक और मदाम च्यांग काई शेक ने वाइसराय के अतिथि के रूप मे भारत में पदार्पण किया। उन्होंने सरकारी अधिकारियों के अतिरिक्त भारतीय नेताओं, जिनमें महात्मा गांधी भी सम्मिलित थे, से भी भेंट की। भारत से जाते समय उन्होंने भारतीय जनता को जो संदेश दिया उसके निम्नलिखित अंश उल्लेखनीय हैं—

"भारत में दो सप्ताह ठहरने की अवधि में मुझे सर्वोच्च सैनिक तथा शहरी अधिकारियों और भारतीय मित्रों के साथ आतंकवाद के विरुद्ध संयुक्त योजनाएँ तैयार करने तथा अपने समान युद्ध-प्रयत्नों के उद्देश्य के संबंध में स्पष्ट रूप से विचार-विमर्श करने का अवसर मिला है। मुझे प्रसन्नता है कि हममें परस्पर पूर्ण सहानुभूति है और साधारणतया पूर्णरूप से हम एकमत हैं।.......इस देश में आने के बाद मैंने बड़े संतोष के साथ यह अनुभव किया है कि भारत के निवासियों ने एक होकर अत्याचार के विरोध करने का दृढ़ निश्चय किया है।......मैं अपने भारतवासी भाइयों से यह अनुरोध करना चाहता हूँ कि सभ्यता के इतिहास के इस विकटतम काल में हमारे दोनों देशों के निवासियों को समस्त मानव-समाज की स्वतंत्रता के लिए अधिक से अधिक

---

१. संयुक्त-राज्य-अमरीका की दिलचस्पी का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता। किंतु उसके राष्ट्रपति के व्यक्तिगत प्रतिनिधि कर्नल जानसन ने ३ अप्रैल सन् १९४२ को हवाई जहाज से उतरते ही सर्व प्रथम क्रिप्स योजना के परिणाम का प्रश्न किया था। यह भी अनुमान किया जाता है कि कर्नल जॉनसन के पत्र-व्यवहार के परिणाम-स्वरूप राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने १२ अप्रैल सन् १९४२ को सर स्टैफर्ड क्रिप्स के पास इस आशय का तार भेजा था कि वे भारत मे रुके रहें। इन घटनाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि संयुक्त-राज्य-अमरीका भारत की समस्या के हल मे पर्याप्त मात्रा मे दिलचस्पी ले रहा था।

प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि स्वतंत्र संसार में ही चीन तथा भारत अपनी स्वतंत्रता प्राप्त कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त यदि चीन या भारत को स्वतंत्रता से वंचित रखा गया तो संसार में वास्तविक शांति नहीं रह सकती। ....बर्बरता और पाशविक बल के इस युग में चीनियों और उनके सहयोगी आर्य भारतीयों को चाहिये कि अटलांटिक अधिकार-पत्र (Charter) तथा २६ राष्ट्रों के संयुक्त घोषणापत्र में प्रतिपादित सिद्धांतों का वे एक होकर समर्थन करें और आतंक-विरोधी मोर्चे का साथ दें।........अंत में मुझे पूरी आशा और दृढ़ विश्वास है कि हमारा महान मित्र ब्रिटेन भारतीयों की माँग की प्रतीक्षा किये बिना उन्हें शीघ्र से शीघ्र वास्तविक राजनीतिक शक्ति प्रदान करेगा जिससे कि वे अपनी आत्मिक और भौतिक शक्तियों को और भी अधिक उन्नत कर सकें और इस प्रकार यह अनुभव कर सकें कि वे सिर्फ आतंकवाद के विरोधी राष्ट्रों की विजय के लिए ही युद्ध में सहयोग नहीं दे रहे हैं, बल्कि यह भी अनुभव करें कि उनका यह सहयोग भारतीय स्वतंत्रता के उनके संघर्ष में भी एक युगांतरकारी घटना है। क्रियात्मक दृष्टि से मेरे विचार में यह सबसे अधिक बुद्धिमत्ता पूर्ण नीति होगी जो ब्रिटिश साम्राज्य के यश को चतुर्दिक् प्रसारित कर देगी।"[१]

मार्शल च्याग काई शेक के उक्त संदेश के अंतिम अंश से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे भारतीय समस्या के हल के पक्ष में थे।

उपरिवर्णित शक्तियों के अतिरिक्त सार्वजनिक जीवन के अनेक ब्रिटिश, भारतीय और अन्य देशीय नेता भारतीय समस्या के हल पर जोर दे रहे थे और भारत और विदेशों के अनेक समाचार-पत्र भी इस दिशा में प्रयत्नशील थे। इन सबका सामूहिक परिणाम 'उचित और अंतिम हल' की योजना के साथ सर स्टैफर्ड क्रिप्स का भारत में आगमन हुआ।

सर स्टैफर्ड क्रिप्स ही क्यों ?—क्रिप्स मिशन के संबंध में इस बात पर भी विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है कि ब्रिटिश सरकार ने सर स्टैफर्ड क्रिप्स को ही इस काम के लिए क्यों चुना ? इसके निम्नलिखित चार कारण थे—(१) सर स्टैफर्ड क्रिप्स का ब्रिटिश सरकार में प्रभावशाली स्थान था। वे लॉर्ड प्रिवी सील, युद्धकालीन मंत्रि-मंडल के सदस्य तथा कॉमन सभा के

---

१. प० सीतारामय्या—कां० का इ० दूसरा भाग, पृष्ठ ३४७-४६।

नेता थे। अतः वे भारतीय समस्या के हल में प्रभावशाली भाग लेने की स्थिति में थे। (२) ब्रिटिश सरकार को उनमें पूर्ण विश्वास था। रूस के कूटनीतिक संसार में उन्होंने जो काम किया था उसके कारण उनकी कीर्त्ति और भी बढ़ गयी थी। (३) भारतीयों को भी, अन्य अँगरेजों की अपेक्षा उन पर अधिक विश्वास था।[1] वे एक बार भारत आ चुके थे और देश की समस्याओं तथा भारयीय नेताओं के दृष्टिकोण से भली भाँति परिचित थे। इंगलैंड में भारत के संबंध में उन्होंने जो भाषण दिये थे, वे भारत के प्रति सहानुभूति से भरे हुए थे। २२ फरवरी सन् १६४२ को कामनसभा में भारत के सबंध में एक महत्वपूर्ण वाद-विवाद हुआ था। उसका उत्तर देते हुए सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने निम्नलिखित विचार प्रगट किये थे—"भारत में उपस्थित खतरों को देखते हुए अन्य लोगो की तरह सरकार भी उस देश की एकता और शक्ति एवं दृढ़ता के प्रश्न पर चिंतित है और वह पूर्ण रूप से अनुभव करती है कि इस देश (इंगलैंड) का यह परम कर्तव्य है कि वह वर्तमान परिस्थितियो में उस एकता की प्राप्ति के लिए अपनी ओर से पूरा-पूरी कोशिश करे।"[2] यह भाषण कामन सभा के नेता के पद से दिया गया था। अतः पूर्वकालीन भाषणों की अपेक्षा इसमें सावधानी की मात्रा कुछ अधिक थी। फिर भी इसमें भारत के प्रति सहानुभूति का भाव विद्यमान था। (४) सर स्टैफर्ड क्रिप्स स्वयं इस काम के लिए अपनी सेवाएँ देने को तैयार थे। प्रधान मंत्री चर्चिल द्वारा कामन-सभा मे की गयी घोषणा से यह बात स्पष्ट हो जाती है। इस संबंध मे ६ फरवरी सन् १६४२ के भाषण में उन्होंने स्वयं इस संबंध में निम्नलिखित विचार प्रगट किये थे—"यदि भारतीय प्रश्न को हल करने में मैं किसी प्रकार भो सहायक हो सकूँ तो मुझे भारत जाने में बड़ी प्रसन्नता होगी।"[3] इस अवसर पर भी उन्होंने भारत के प्रति सहानुभूति के विचार प्रगट किये थे। भारत के प्रश्न का 'निबटारा हो जाना नितांत आवश्यक है। यह

---

१. भारतीय क्षेत्रों में सर स्टैफर्ड क्रिप्स एक प्रमुख वकील के रूप में प्रसिद्ध थे। मसुलीपट्टम बंदरगाह के सबंध में निजाम ने उनका परामर्श लिया था। वे मजदूर सरकार के महाधिवक्ता (Attorney general) थे। भारतीयो को उनकी सहानुभूति मे विश्वास था। किंतु लोग यह भी जानते थे कि क्रिप्स सनकी दिमाग के व्यक्ति थे।

२. प० सीतारामय्या—कां० का इ०, दूसरा भाग पृ० ३५६।

३. वही पृ० ३५५।

प्रश्न भारतीयों का ही नहीं है बल्कि सरकार का भी है। इसे सुलझाने की मुख्य जिम्मेदारी सरकार की है। इस संबंध में जब ब्रिटेन अपनी कोई राजनीतिक नीति निर्धारित कर लेगा तो मेरा ख्याल है कि भारतीयों को भी उस पर राजी कर लिया जायगा। आम तौर पर यह प्रवृत्ति पायी जाती है कि इस प्रश्न को भारतीय नेताओं के कंधों पर डाल दिया जाय। सर्व प्रथम और मुख्य बात तो यह है कि ब्रिटिश सरकार को अपनी एक दृढ़ नीति बना लेनी चाहिये और यह नीति अब तक की घोषित नीति से सर्वथा भिन्न होनी चाहिये।" सर स्टैफर्ड क्रिप्स की उक्त स्थिति के कारण यह अवश्यंभावी था कि सम्राट की सरकार उन्हें भारत की समस्या के हल करने के सर्वश्रेष्ठ व्यक्ति समझती।

युद्ध-कालीन मंत्रि-मंडल की योजना—२३ मार्च सन् १९४२ को सर स्टैफर्ड क्रिप्स दिल्ली पहुँचे और उन्होंने कांग्रेस के अध्यक्ष मौलाना अबुल कलाम आजाद को मुलाकात करने के लिए आमंत्रित किया। गांधी जी भी बुलाये गये थे। इस वार्तालाप से भारत के प्रमुख नेताओं को क्रिप्स योजना की महत्त्वपूर्ण बातों की जानकारी हो गयी थी। ३० मार्च को सर्व साधारण की जानकारी के लिए वह प्रकाशित कर दी गयी। संपूर्ण योजना का भावार्थ इस प्रकार है—[1]

"इंगलैंड और भारत में, भारत को उसके भविष्यत् संबंधी दिये गये वचन की पूर्त्ति की चिंता के कारण, सम्राट की सरकार ने स्पष्ट और निश्चित शब्दों में वे मार्ग निर्धारित किये हैं जिनको वह शीघ्रातिशीघ्र, भारत द्वारा स्वशासन-प्राप्ति के लिए अपनाना चाहती है। इनका ध्येय एक नयी भारतीय यूनियन का बनाना है जो अन्य डोमीनियनों के समकक्ष होगी। अतएव सम्राट की सरकार निम्नलिखित घोषणा करती है—

(क) युद्ध समाप्त होने के पश्चात शीघ्रातिशीघ्र एक ऐसी निर्वाचित सभा स्थापित की जायगी जिसका काम भारत के नये संविधान का निर्माण करना होगा।

(ख) इस सभा में नीचे वर्णित व्यवस्था के अनुसार भारतीय रियासतों के भाग लेने की व्यवस्था की जायगी।

(ग) नीचे लिखी हुई शर्तों की पूर्ति पर सम्राट की सरकार शीघ्रातिशीघ्र नवनिर्मित संविधान को स्वीकार तथा कार्यान्वित करने का वचन देती है—

---

१. कन्हैयालाल वर्मा—भारत का संविधान पृष्ठ ८–९।

(१) यदि ब्रिटिश भारत का कोई प्रांत नये संविधान को अपनाने के लिए तैयार न होगा तो उसे अपनी मौजूदा स्थिति के बनाये रखने का अधिकार होगा और उसके भविष्य में सम्मिलित करने की व्यवस्था की जायगी, यदि वह इसके पक्ष में निर्णय करे। सम्मिलित न होने वाले प्रांतों को, यदि वे चाहें तो, सम्राट की सरकार एक नया संविधान देने के लिए तैयार रहेगी जिसके अनुसार उन्हें भारतीय यूनियन का दर्जा मिल जायगा और उसके प्राप्त करने का वही मार्ग होगा जिसका उल्लेख यहाँ किया गया है।

(२) सम्राट की सरकार और संविधान-निर्मात्री-सभा में एक संधि होगी। उसमें उन सब बातों का उल्लेख होगा जो अंगरेजों से भारतीयों के हाथ में उत्तरदायित्व देने के संबंध में होंगी। सम्राट की सरकार द्वारा दिये गये आश्वासनों के अनुसार इसमें जातीय (Racial) और धार्मिक अल्प-संख्यकों की रक्षा की व्यवस्था होगी। किंतु भारतीय यूनियन के उस अधिकार पर कोई प्रतिबंध न लगाया जायगा, जिसके आधार पर वह ब्रिटिश राष्ट्र-समूह के अन्य सदस्यों के साथ अपना भविष्य संबंध निर्धारित कर सकती है।

भारतीय रियासतें नये संविधान के अनुसार चलना चाहें अथवा न चलना चाहें, नयी परिस्थिति को दृष्टि में रखते हुये उनकी संधियों की व्यवस्था में संशोधन करना आवश्यक होगा।

(घ) लड़ाई के अंत के पूर्व, जब तक प्रमुख भारतीय वर्गों के नेता कोई दूसरा समझौता न कर लें, संविधान निर्मात्री-सभा (Constitution making body) की रचना निम्नलिखित ढंग से की जायगी—

प्रांतीय निर्वाचनों (जिनका किया जाना महासमर के अंत के पश्चात् आवश्यक होगा) के नतीजे के मालूम न होने के पश्चात् प्रांतीय विधान-मंडलों की निम्नसभा (Lower house) का एक निर्वाचन-संघ बनेगा और वह अनुपातीय प्रतिनिधित्व की प्रणाली के अनुसार संविधान-निर्मात्री-सभा को चुनेगा। इसके सदस्यों की संख्या निर्वाचन-संघ की दशांश होगी। भारतीय रियासतें अपने प्रतिनिधियों को मनोनीत करने के लिए आमंत्रित की जायँगी। उनके सदस्यों की संख्या का जनसंख्या के साथ वही अनुपात होगा जो ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों का वहाँ की जन-संख्या के साथ। उनके अधिकार भी ब्रिटिश भारत के सदस्यों के समान होंगे।

(ङ) वर्तमान संकटमय परिस्थिति में, और जब तक नया संविधान तैयार न हो जाय, सम्राट की सरकार को भारत की रक्षा का उत्तरदायित्व तथा उसका नियंत्रण और संचालन, अपने हाथ में, तत्संबंधी संसार-व्यापी प्रयत्न के साथ साथ रखना होगा। किंतु भारतीय सैनिक, नैतिक तथा अन्य साधनों को पूर्णरूप से संगठित करने का उत्तरदायित्व, भारतीय जनता के सहयोग से, भारत-सरकार का होगा। सम्राट की सरकार की इच्छा है और वह भारतीय जनता के प्रभावशाली वर्गों के नेताओं को आमंत्रित करती है कि वे अपने देश, राष्ट्र-समूह और संयुक्त-राष्ट्रों के विचारों में शीघ्रातिशीघ्र प्रभावशाली भाग लें।''

योजना का विश्लेषण—सम्राट की सरकार की ऊपरिवर्णित योजना के अतिरिक्त सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने उसके स्पष्टीकरण के संबंध में कुछ बातें कही थीं। उनको मिलाकर, यदि हम संपूर्ण योजना के विश्लेषण का प्रयत्न करें तो हम उसे मौजूदा और भविष्य संबंधी—इन दो भागों में विभक्त कर सकते हैं। मौजूदा बातों का संबंध वाइसराय की कार्य-पालिका-समिति और देश की रक्षा से था। भविष्य की बातों का संबंध भारतीय यूनियन की स्थापना, संविधान-निर्मात्री-सभा द्वारा संविधान के बनाने और शीघ्रातिशीघ्र उसे कार्यान्वित करने तथा सत्ता-हस्तांतरण के लिए सम्राट की सरकार और संविधान-निर्मात्री सभा के बीच में संधि से था। योजना में न सम्मिलित होने वाले प्रांतों की विशिष्ट व्यवस्था की गयी थी। जातीय और धार्मिक अल्प-संख्यकों को दिये आश्वासनों की पूर्ति का उल्लेख था। भारतीय रियासतों की संधियाँ भी नयी परिस्थिति के अनुसार दोहरायी जाने को थीं।

योजना की आलोचनात्मक व्याख्या—क्रिप्स योजना की आलोचनात्मक व्याख्या के संबंध में निम्नलिखित आधारभूत बातें उल्लेखनीय हैं—

(१) वाइसराय की कार्यपालिका-समिति—क्रिप्स-योजना में, वर्तमान संकटमय परिस्थिति और जब तक नया संविधान न बन जाय तब तक के लिए, भारतीय जनता के प्रभावशाली वर्गों के नेताओं को देश, राष्ट्रसमूह और संयुक्त-राष्ट्रों के विचारों में शीघ्रातिशीघ्र प्रभावशाली भाग लेने के लिए आमंत्रित किया गया था और यह स्पष्ट कर दिया गया था कि इस काल में भारतीय सैनिक, नैतिक तथा अन्य साधनों को पूर्ण रूप से संगठित करने का उत्तरदायित्व भारतीय जनता के सहयोग से भारत-सरकार का होगा। वाइसराय

की कार्यपालिका-समिति में भारतीय प्रतिनिधियों के स्थान के संबंध में सर स्टफर्ड क्रिप्स ने अपनी पहली ही मुलाकात में, कांग्रेस के अध्यक्ष को यह बतलाया था कि "राष्ट्रीय सरकार के साथ वाइसराय का संबंध वैसा ही होगा जैसा सम्राट का ब्रिटेन के मंत्रिमंडल के साथ होता है।" यह एक महत्वपूर्ण परिवर्तन था और कांग्रेस के अध्यक्ष मौलाना अबुल कलाम आजाद के लिए इससे प्रभावित होना अनिवार्य था। इसी प्रलोभन से आकृष्ट होकर मौलाना आजाद ने कांग्रेस कार्य-समिति को बुलाने का निश्चय किया था और १० अप्रैल सन् १९४२ तक उसके अधिवेशन होते रहे थे। इस तारीख को परिस्थिति बदल गयी। जिस आधार को लेकर विभिन्न दलों में वार्तालाप आरंभ हुई थी, वही समाप्त हो गया। "निस्संदेह यह एक बड़ी विचित्र सी बात है कि जिस आधार को लेकर विभिन्न दलों में बातचीत शुरू हुई थी वही एक मृगमरीचका साबित हो और सारी बातचीत उस पर आकर टूट जाय।" सर स्टैफर्ड क्रिप्स में यह परिवर्तन कैसे हुआ, यह बतलाना कठिन है। हो सकता है ब्रिटिश सरकार ने क्रिप्स को कुछ आदेश दिया हो या क्रिप्स स्वयं छल-कपट से काम कर रहे हों।[१]

(२) रक्षा की समस्या—रक्षा के प्रश्न पर भी क्रिप्स-योजना का अस्वीकृत होना अनिवार्य था। योजना में इसके विषय में केवल इतना ही कहा गया था कि वर्तमान संकटमय परिस्थिति और जब तक नया संविधान तैयार न हो जाय, सम्राट की सरकार को भारत की रक्षा का उत्तरदायित्व तथा उसका नियंत्रण और संचालन, तत्संबंधी संसार-व्यापी प्रयत्न के साथ-साथ, अपने हाथ में रखना होगा किंतु भारतीय सैनिक, नैतिक तथा अन्य साधनों को पूर्ण रूप से संगठित करने का उत्तरदायित्व, भारतीय जनता के सहयोग से, भारत-सरकार का होगा। इस व्यवस्था से यह स्पष्ट है कि ब्रिटिश सरकार, भारत की रक्षा का उत्तरदायित्व, एक निश्चित काल तक, भारतीयों के हाथ में सौंपने को तैयार न थी। दिल्ली में, पहले ही पत्र-प्रतिनिधि सम्मेलन में सर स्टैफर्ड

---

१. क्रिप्स-योजना की असफलता के कारण लोग यह शक करने लगे थे कि क्या वास्तव में बेचारे क्रिप्स की पीठ मे ब्रिटिश सरकार ने छूरा भोंक दिया था अथवा डी० क्वेसी के शब्दों में चालाक क्रिप्स महज धोखेबाजी, छल-कपट, विश्वासघात और दोहरी चालो से काम ले रहे थे और उन्हे इस पर जरा भी पश्चाताप न था। प० सी० कां० का इ० भाग २, पृष्ठ ३८४–८५।

क्रिप्स ने स्पष्टवादिता से कह दिया था कि "अगर सभी दल एक साथ मिल कर रक्षा-विषय को भारतीयों को सुपुर्द करने की माँग करें तो भी उसे उन्हें हस्तांतरित नहीं किया जा सकता।"[१] तत्पश्चात ७ अप्रैल सन् १६४२ को कांग्रेस के अध्यक्ष के नाम लिखे गये अपने पत्र में, उन्होंने इस संबंध में निम्न-लिखित सुझाव प्रस्तुत किया[२]—

"प्रधान-सेनापति युद्ध-सदस्य के रूप में वाइसराय की शासन-परिषद (कार्य-पालिका समिति) में बने रहेंगे और युद्ध-संबधी समस्त कारवाइयों का नियंत्रण उनके हाथ में रहेगा। वाइसराय की शासन-परिषद (कार्य-पालिका समिति) में रक्षा-विभाग का सदस्य, एक भारतीय भी रहेगा जिसके अधीन ये विषय होंगे—जन-संपर्क विभाग, सैन्य-विघटन और युद्धोत्तर पुनर्निर्माण, पैट्रोल का नियंत्रण, पूर्वी देश-समूह-परिषद का प्रतिनिधित्व, सैनिकों की सुख-सुविधाओं की व्यवस्था, कैंटीन-संगठन, कुछ गैर-टेकनिकल शिक्षण-संस्थाएँ, सेना के लिए स्टेशनरी और छपाई आदि की व्यवस्था, विदेश से आने वाले सभी शिष्ट-मंडलों और अफसरों के लिए आवश्यक प्रबंध की देख-भाल (यदि वह चाहे तो उनके आगमन पर आपत्ति भी उठा सकता है), खतरेवाले इलाकों से लोगों का स्थानांतरण, सिगनल व्यवस्था का एकीकरण तथा आर्थिक सुख-सुविधा की व्यवस्था।"

कांग्रेस कार्य-समिति को सर स्टैफर्ड क्रिप्स का यह सुझाव मान्य[३] न था। इसी समय कर्नल जॉनसन ने वार्तालाप में हस्तक्षेप करके निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये—(१) रक्षा-विभाग एक प्रतिनिधि भारतीय के अधीन रहेगा। उसके अधीन वे विषय नहीं होंगे जो प्रधान-सेनापति को युद्ध-मंत्री के रूप में

१. प० सीतारामय्या—कां० का इ०, दूसरा भाग, पृष्ठ ३६३।

२. प० सीतारामय्या कां० का इ०, दूसरा भाग, पृ० ३६५।

३. डा० राममनोहर लोहिया ने रक्षा-सदस्य की व्यंग आलोचना निम्नलिखित शब्दों में की थी—" All told the Indian Defence Member would have had several faces, a marry spinster, a jolly hoteliar, a diplomatist commercial traveller, a stationer washing his hands in invisible soap, a harrased accountant and above all a demon of destruction without the power to heal." Dr. Ram Manohar Lohia : The Mystery of Sir Stafford Cripps, P 29.

सौंपे जायंगे । (२) एक युद्ध-विभाग स्थापित किया जायगा । इसके अंतर्गत रक्षा-विभाग के वे विषय होंगे जो रक्षा-मंत्री के अधीन न होंगे । इस सुझाव के संबंध में दो बातों पर विचार किया गया । उपर्युक्त कार्य-विभाजन की अवधि क्या होगी ? रक्षा-मंत्री और युद्ध-सदस्य के रूप में प्रधान-सेनापति को कौन-कौन से विषय दिये जायँगे ? पहले प्रश्न के संबंध में तो समझौता हो गया । निर्धारित अवधि थी "जब तक नया संविधान लागू नहीं हो जाता ।" किंतु दूसरे प्रश्न के संबंध में समझौता न हो सका । समस्त वार्तालाप से यह स्पष्ट हो गया था कि विदेशी आक्रमण की आशंका की अवस्था में भी ब्रिटेन अपनी पुरातनवादी नीति का परित्याग करके भारतीय समस्या को वास्तविकता की दृष्टि से हल करने के लिए तैयार न था ।

(३) भविष्य की योजना—क्रिप्स की योजना के दूसरे अंशों का संबंध भविष्यत् से था । उसका ध्येय एक नयी भारतीय यूनियन का बनाना था । इसका दर्जा ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल की अन्य डोमीनियनों के समकक्ष निर्धारित किया गया था । उसके संविधान के बनाने का उत्तरदायित्व एक संविधान-निर्मात्री-सभा को सौंपा गया था । यह युद्ध के पश्चात् निर्वाचित होने को थी । निर्धारित शर्तों की पूर्ति पर, सम्राट की सरकार, नव-निर्मित संविधान को स्वीकार तथा कार्यान्वित करने के लिए वचन-बद्ध हो गयी थी ।

उक्त सभी बातें समय के बहुत पीछे हो गयी थीं । भारत के राष्ट्रीय नेता पूर्ण स्वाधीनता पर जोर दे रहे थे और क्रिप्स की योजना में, डोमीनियन के दर्जे का उल्लेख था । भारतीय नेता तुरंत ही पूर्ण स्वाधीनता चाहते थे, और क्रिप्स की योजना में लड़ाई के पश्चात ब्रिटिश राष्ट्र-समूह से अलग होने का अधिकार भारतीय यूनियन को दिया गया था । नवीन संविधान भी भविष्यत् की वस्तु थी । उसका कार्यान्वित होना जातीय और धार्मिक अल्प-संख्यकों को दिये गये आश्वासनों की पूर्ति से सीमित था । सारांश यह कि समस्त योजना समय के बहुत पीछे थी, और वह भविष्यत् में कार्यान्वित की जाने को थी । आश्चर्य नहीं कि भारत के प्रगतिशील नेताओं ने उसका विरोध किया । इस संबंध में महात्मा गांधी के विचार उल्लेखनीय हैं । उन्होंने सर स्टैफर्ड क्रिप्स से कहा "अगर आपके वे ही प्रस्ताव थे तो आपने यहाँ स्वयं आने का कष्ट क्यों किया ? अगर भारत के संबंध में आपकी यही योजना है तो मैं आपको सलाह दूँगा कि आप अगले ही हवाई जहाज से ब्रिटेन लौट जायँ ।"

(४) भारत के विभाजन की परोक्ष व्यवस्था—युद्धकालीन मंत्रि-मंडल की योजना में भारत के परोक्ष विभाजन की व्यवस्था की गयी थी। भारत के वे प्रांत जो नवीन व्यवस्था को स्वीकार करने को तैयार न थे, अपनी मौजूदा स्थिति को कायम रख सकते थे। उनके भविष्य में सम्मिलित होने की व्यवस्था की गयी थी। किंतु यदि वे कभी भी सम्मिलित न होना चाहें तो सम्राट की सरकार उन्हें नया संविधान देकर, जो भारतीय यूनियन के संविधान से मिलता-जुलता होगा, यूनियन के समकक्ष स्थान देने को तैयार थी।

योजना की उक्त बातों से स्पष्ट है कि संदेह और परस्पर अविश्वास की भावना से प्रेरित होकर, युद्ध-कालीन मंत्रिमंडल ने वास्तविक भारत को छोड़ कर एक कल्पित भारत की कल्पना की थी। वास्तव में उसमें चार भारतों का चित्रण था—(१) उन प्रांतों का भारत जो अपनी मौजूदा स्थिति के बनाये रखने के पक्ष में थे। (२) सम्मिलित न होने वाले उन प्रांतों का भारत जो अपनी नयी यूनियन बनाना चाहते थे। (३) उन भारतीय रियासतों का भारत जो भारतीय यूनियन में सम्मिलित न होने का निश्चय करें। (४) इनके अतिरिक्त अवशिष्ट भारत जिसे योजना में भारतीय यूनियन का नाम दिया गया था। योजना के इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसके द्वारा भारत के बालकनीकरण (Balkanisation) की व्यवस्था की गयी थी। किसी देश का इस प्रकार खंडित किया जाना तर्क और न्याय की दृष्टि से ठीक नहीं कहा जा सकता। पर प्रथम महासमर के पश्चात ब्रिटिश राजनीतिज्ञ इसी नीति का अनुसरण कर रहे थे। आश्चर्य नहीं कि अपने अंतस्तल में उन्होंने भारत में इसी नीति को कार्यान्वित करने का निश्चय किया हो।

(५) अल्प-संख्यकों की स्थिति—क्रिप्स-योजना में सत्ता हस्तांतरण के लिए सम्राट की सरकार और संविधान-निर्मात्री-सभा में एक संधि का उल्लेख था। सम्राट की सरकार द्वारा दिये गये आश्वासनों के अंतर्गत ही सत्ता का हस्तांतरण होने को था। क्रिप्स की योजना के पहले भी सम्राट की सरकार ने इस बात पर जोर दिया था। यह आश्वासन इतने पवित्र क्यों थे, यह बतलाना कठिन है। सम्राट की सरकार ही इस प्रश्न का प्रामाणिक उत्तर दे सकती थी। भारत के राष्ट्रवादी नेताओं के विचारानुकूल, यह भेद और शासन की निंदनीय चाल का स्वाभाविक परिणाम था। वे अल्प-संख्यकों की समस्या को भारत की घरेलू समस्या समझते थे, जिसके संबंध में ब्रिटिश सरकार को चिंता करने की आवश्यकता न थी। ११ अप्रैल सन् १६४२ को, कांग्रेस के अध्यक्ष

मौलना अबुल कलाम आजाद ने, सर स्टैफर्ड क्रिप्स को लिखे गये पत्र में, इस संबंध में अपने विचारों को निम्नलिखित शब्दों में प्रकट किया था[1]—

"आपके साथ पहली बार्तालाप में मैंने कहा था कि इस समय सांप्रदायिक या इसी प्रकार के दूसरे प्रश्न नहीं उठते। जब ब्रिटिश सरकार, सत्ता और उत्तर-दायित्व के हस्तांतरण का निश्चय कर लेगी, तो दूसरी समस्याएँ उन लोगों द्वारा हल कर ली जायँगी जो उनसे संबद्ध हैं। आपकी बातचीत से मुझे ऐसा आभास हुआ था कि आप मेरे विचारों से सहमत थे।"

लीगी मुसलमानों और कुछ हरिजन नेताओं के अतिरिक्त भारत के सभी वर्गों के विचार मौलाना आजाद के विचारों से मिलते-जुलते थे। गांधीजी तो इस संबंध में अन्य लोगों से बहुत आगे थे। क्रिप्स की विफलता के पश्चात, सभी दलों में समझौते के संबंध में उन्होंने अपने विचारों को इस प्रकार प्रगट किया था[2]—

"आप गुलाम से कभी यह नहीं पूछते कि क्या तुम आजाद होना चाहते हो। गुलाम तो अक्सर गुलामी की जंजीरों में ही बँधा रहना चाहता है। अगर भारत का एक हिस्सा गुलामी से प्रेम करता है तो उसका यह मतलब नहीं कि सारा ही देश परतंत्रता में जकड़ा रहे। कांग्रेस की माँग है कि दोनों भागों को समान रूप से आजादी दी जाय।"

(६) भारतीय रियासतों का प्रश्न—युद्ध-कालीन मंत्रिमंडल की योजना में भारतीय रियासतों के संबंध में भी कुछ बातें सम्मिलित की गयी थी। संविधान-निर्मात्री-सभा में उनके भाग लेने की व्यवस्था की गयी थी। भारतीय रियासतें नये संविधान को स्वीकार करेंगी अथवा नहीं, इसके अनुसार उनकी संधियों में संशोधन का उल्लेख था। रियासतों के संबंध की यह व्यवस्था कुछ अनोखी सी थी। रियासतों के नरेश या उनके द्वारा मनोनीत प्रतिनिधि, संविधान-निर्मात्री-सभा के विचारों में भाग लेने के अधिकारी थे, पर उनके लिए नये संविधान का स्वीकार करना अनिवार्य न था। वे ब्रिटिश भारत के संविधान के निर्धारण में प्रभावशाली भाग लेकर, स्वयं अलग हो जाने के अधिकारी थे। उनका यह विशेष स्थान संभवतः इस लिए था कि नव-निर्मित

---

1. Indian Annual Register 194? Vol. I P 236

२. प० सी०—कां० का इ० भाग २ पृष्ठ ३८६।

संविधान अधिक उग्र न होने पावे और उनके राज्य-क्षेत्रों में ब्रिटेन का प्रभाव बना रहे। उनकी संधियों के दोहराने की व्यवस्था मुख्यतः इसी उद्देश्य से की गयी थी। भारत की संवैधानिक समस्या जटिल अवश्य थी, पर सम्राट की सरकार, उनके हल के लिए प्रयत्नशील होने का ढँकोसला करते हुए, नये-नये प्रश्नों को उठा या उनकी ओर संकेत करके, उसे जटिलतर बनाती जाती थी। शक्ति लोलुप लोग, उस समय तिनके का भी सहारा पकड़ते हैं जब शक्ति उनके हाथ से निकलती हुई प्रतीत होती है।

(७) **समझौते पर आश्रित**—युद्ध कालीन मन्त्रिमंडल की योजना समझौते पर आश्रित थी। उसमें सभी संबद्ध अंशों को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया गया था। मित्र-राष्ट्रों को प्रसन्न करने के लिए, वर्तमान संकट मय परिस्थिति में और जब तक तथा संविधान तैयार न हो जाय (योजना के दूसरे भागों के अंतर्गत संविधान युद्ध के अंत के पश्चात् ही तैयार हो सकता था) सम्राट की सरकार ने रक्षा का उत्तरदायित्व तथा नियंत्रण और संचालन, तत्संबंधी संसार-व्यापी प्रयत्न के साथ साथ अपने हाथ में रखा था। ब्रिटेन को प्रसन्न करने के लिए, भारत को पूर्ण स्वाधीनता का वचन न देकर, केवल डोमीनियन के दर्जे का वचन दिया था और भारतीय रियासतों और अल्प-संख्यकों को दिये गये आश्वासनों की रक्षा की व्यवस्था करके संसार को यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया था कि ब्रिटिश राष्ट्र अपने दिये गये वचनों को पूरा करने के लिए कितना प्रयत्नशील रहता है। भारत के राष्ट्रवादी नेताओं को प्रसन्न करने के लिए योजना में सत्ता के हस्तांतरण की बात सम्मिलित की गयी थी। योजना के पढ़ने से सर्वप्रथम यही आभास होता है कि ब्रिटिश सरकार सत्ता के हस्तांतरण के लिए कृत-संकल्प थी। उन्हें प्रसन्न करने के लिए नयी डोमीनियन को ब्रिटिश राष्ट्र-समूह के अन्य सदस्यों के साथ अपना भविष्य संबंध निर्धारित करने का अधिकार दिया गया था। इसका अंतर्निहित अर्थ यह था कि भारतीय यूनियन का, ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल से अलग होने का अधिकार स्वीकार कर लिया गया था। मुसलमानों को प्रसन्न करने के लिए, न सम्मिलित होने वाले प्रांतों तथा अल्पसंख्यकों को दिये गये आश्वासनों की रक्षा, के अनुबंध सम्मिलित किये गये थे। न सम्मिलित होने वाले प्रांतों की व्यवस्था से पाकिस्तान की स्वीकृति का आभास होता था। आश्वासनों की रक्षा की बात से यह प्रगट हो जाता था कि, जब तक मुसलमान लोग, संविधान को मानने के लिए तैयार न हो जायँ, तब तक बहुसंख्यक जन-समुदाय द्वारा निर्मित संविधान

को उन पर लादा न जा सकता था। आश्वासनों की रक्षा द्वारा दलित जातियों को भी प्रसन्न किया गया था। भारतीय रियासतों को प्रसन्न करने के लिए उनकी संधियों को दोहराने की व्यवस्था थी। नरेश स्वयं जानते थे कि उनकी संधियाँ, व्यवहार में, रद्दी कागज के टुकड़ों के समान थी। डूबता हुआ व्यक्ति दुर्बल से दुर्बल अवलंब से सहारा पाता है। नरेशों की स्थिति इसी प्रकार की थी। उन्हें भारतीय यूनियन के संविधान के निर्माण में भाग लेकर, स्वयं अलग हो जाने की व्यवस्था से भी उनके प्रसन्न करने के प्रयत्न का अनुमान लगाया जा सकता है। सारांश यह कि युद्ध-कालीन मंत्रिमंडल की योजना द्वारा, सभी संबद्ध अंशों को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया गया था।

यह एक पुरानी कहावत है कि जो सबको प्रसन्न करना चाहते हैं वे किसी को भी प्रसन्न नहीं कर पाते। युद्ध-कालीन मंत्रिमंडल की योजना का भी यही परिणाम हुआ। मित्र-राष्ट्र उसकी विफलता के कारण, उससे असंतुष्ट थे। कर्नल जॉनसेन ने तो रक्षा-मंत्री की स्थिति के संबंध में अपने सुझाव तक प्रस्तुत किये थे। ब्रिटिश सरकार, बातचीत के दौरान में, सर स्टैफर्ड क्रिप्स द्वारा किये गये अति उदार वादों से भयभीत थी। अतः अनुमान लगाया जाता है कि उसने उनकी अनियंत्रित प्रगति पर रोक थाम लगा कर, उनको आगे बढ़ने से रोक दिया था। सर स्टैफर्ड क्रिप्स द्वारा आरंभ में किये गये स्पष्टीकरण और दस दिन के पश्चात, उस स्पष्टीकरण के परित्याग से यह अनुमान लगाना गलत नहीं प्रतीत होता कि इस बीच में कुछ ऐसी बात अवश्य हो गयी थी जिसके परिणाम-स्वरूप सर स्टैफर्ड के दृष्टिकोण में महान परिवर्तन हो गया था। कांग्रेस के मतानुकूल योजना समय के बहुत पीछे और इसलिए अग्राह्य थी। स्पष्टीकरण के परिणाम-स्वरूप वाइसराय और उनकी कार्यपालिका समिति के संबंध तथा रक्षा मंत्री की स्थिति के संबंध में जो निष्कर्ष निकाले गये थे, कांग्रेस को वे भी अमान्य थे। मुस्लिम लीग इस बात से असंतुष्ट थी कि योजना में पाकिस्तान की स्पष्ट व्यवस्था न थी। भारतीय रियासतों की प्रजा की, योजना में, पूर्ण रूपेण अवहेलना की गयी थी। अतः उनका असंतुष्ट होना स्वाभाविक था। सारांश यह कि यद्यपि क्रिप्स की योजना में सबको संतुष्ट करने का प्रयत्न किया गया था, तो भी उससे किसी को संतोष न हुआ था। अंत में वह समस्त भारत द्वारा अमान्य समझी गयी और ब्रिटिश सरकार ने उसको वापस कर लिया।

(८) केवल सुझाव निश्चय नहीं—क्रिप्स योजना द्वारा उद्घोषित

व्यवस्था केवल सुझाव के रूप में थी। वह भारतीय नेताओं के सम्मुख उनके द्वारा मत प्रकाश के लिए प्रस्तुत की गयी थी। उनमे ब्रिटिश सरकार के निश्चय का अभाव था। उसका अंतिम रूप क्या होता, यह बतलाना कठिन था। भारतीयों द्वारा मत-प्रकाश के पश्चात्, ब्रिटिश सरकार उसका अंतिम रूप निश्चित करने को थी। ऐसी योजना के संबंध में उत्साह का न होना अनिवार्य था, विशेष कर उस स्थिति में, जब वह उपरिवर्णित दोषों से परिपूर्ण थी। अतः कांग्रेस के लिए उसका अस्वीकार करना अनिवार्य था।

मुस्लिम लीग और क्रिप्स योजना—मुस्लिम लीग ने भी क्रिप्स योजना को मानने से इनकार कर दिया। उसके इस निर्णय के कारण कांग्रेस के कारणों से भिन्न थे। ११ अप्रैल सन् १९४२ को मुस्लिम लीग की कार्य-समिति ने जो प्रस्ताव पास किया उसमें योजना मे सम्मिलित भविष्य की बातों को अस्वीकार कर दिया गया था। अतः वर्तमान के लिए की गयी व्यवस्था पर विचार करने से किसी प्रकार के लाभ की आशा न थी। इसके लगभग एक सप्ताह पूर्व मुस्लिम लीग के साधारण अधिवेशन के अध्यक्ष की हैसियत से मिस्टर मुहम्मद अली जिन्ना ने इस संबंध में निम्नलिखित विचार प्रगट किये थे—[1]

"मेरा यह ख्याल है कि जब मैं यह कहता हूँ कि यह स्पष्ट रूप से मुसलमानों के पृथक् राष्ट्र न मानने के कारण उनको बड़ी निराशा हुई है तब मैं आपके ही विचारों को प्रगट करता हूँ। भारतीय समस्या के हल का कोई भी प्रयत्न मूलतः गलत होगा यदि उसमें वास्तविक बातों की टाल-मटोल की गयी हो और प्रांतों के उन राज्य-क्षेत्रों पर अत्यधिक जोर दिया गया हो जो ब्रिटिश सरकार की नीति और प्रशासकीय भागों के बिना सोचे-विचारे निर्धारण पर आधारित हैं। भारतीय मुसलमान तब तक संतुष्ट न होंगे जब तक स्पष्ट शब्दों में उनके लिए राष्ट्रीय स्वभाग्य-निर्णय का सिद्धांत स्वीकार न कर लिया जायगा। सब लोगों द्वारा यह स्वीकार हो जाना चाहिये कि भारत कभी भी एक देश और एक राष्ट्र न था। इस उप-महाद्वीप में भारत की समस्या अंतर्राष्ट्रीय है। सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और आर्थिक विभिन्नताएँ इतनी आधार भूत हैं कि उनको न तो दबाया जा सकता है न

---

1. Indian Annual Register 1942, Vol I P 319

और उनके विषय में लोगों को भ्रम में डाला जा सकता है। हम सबको उन पर यथार्थवादियों को भाँति विचार करना चाहिये। योजना का यह सुझाव कि अल्प-संख्यक अलग रह सकते हैं, भ्रामक है। भारतीय हिंदू बहुसंख्यक होने के कारण सब प्रांतों में भारतीय यूनियन के पक्ष में निर्णय करा लेंगे और बंगाल और पंजाब के मुसलमान, अल्प-संख्यक हिंदुओं की दया पर निर्भर करेंगे। ये अपने प्रभाव को अधिक से अधिक और पूर्ण सीमा तक विस्तृत करके मुसलमानों को हिंदू शाही (Hindudom) के अधीन रखेंगे। इस प्रकार सब प्रांतों के मुसलमान गुलामी में जकड़ जायँगे।"

मिस्टर जिन्ना के इन उद्‌गारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुस्लिम लीग को भारत के लिए स्वभाग्य-निर्णय की विशेष चिंता न थी। वह केवल मुसलमानों के लिए स्वभाग्य-निर्णय पर जोर दे रही थी। वह निश्चित अर्थ वाले शब्दों में पाकिस्तान की स्वीकृति चाहती थी। इसके लिए यह आवश्यक था कि जो देश भौगोलिक और ऐतिहासिक दृष्टि से एक और अखंड था उसे विभाजित एवं खंडित कर दिया जाय। मिस्टर जिन्ना के उक्त विचारों को लीगी समाचार-पत्रों ने खूब प्रसारित किया। डॉन (Dawn) ने मुस्लिम नवयुवक अध्ययन-मंडल के घोषणापत्र के निम्नलिखित अंशों को अपने मुख-पृष्ठ पर स्थान दिया था—"पाकिस्तान से हमारा उद्धार होगा। वही हमारी रक्षा का गढ़ है। वही हमारा अंतिम लक्ष्य है।........किसी भी धमकी अथवा भय के कारण हम उससे विचलित नहीं हो सकते।........दीर्घकालीन घरेलू युद्ध के संकेतों को हम घृणा से धर्षित कर देते हैं।....हमारी एकमात्र माँग पाकिस्तान है........और हम ईश्वर की शपथ से कहते हैं कि हम उसे लेकर रहेंगे।"[१]

अन्य संस्थाओं द्वारा अस्वीकृत—भारत की अन्य संस्थाओं ने भी युद्ध-कालीन मन्त्रिमंडल की योजना को अमान्य ठहराया। हिंदू महासभा ने योजना को इसलिए अस्वीकार किया कि उसमें देश के विभाजन की गुंजाइश थी और वह अखंड भारत के पक्ष में न थी। "भारतीय यूनियन में किसी प्रांत का सम्मिलित न होना आत्म-निर्णय के सिद्धांत पर ठीक नहीं ठहराया जा सकता और किसी भी विदेशी शक्ति द्वारा (भारत पर) इस प्रकार का अधिकार लादा नहीं जा सकता।"[२] सिक्खों ने योजना को इस लिए अस्वीकार किया

---

1. Coupland : Indian Politics 1936-42 Vo lII P 267
2. Indian Annual Register 1942, Vol I PP 148-49

कि उसमें उनके विनाश की व्यवस्था की गयी थी। "जब से अँगरेज भारत में आये तब से साम्राज्य के प्रत्येक रण-क्षेत्र में हमने इंगलैंड के लिए युद्ध किया है। उसका पुरस्कार यह है कि पंजाब में ही जिसे इंगलैंड ने थाती की भाँति रखने का वचन दिया है, और जिसमें हमारा प्रमुख स्थान है, हमारी अंतेष्टि-क्रिया की जा रही है।"[१] दलित वर्ग का कहना था कि उसे पर्याप्त मात्रा में संरक्षण नहीं दिये गये थे। भारतीय ईसाइयों और मजदूरों ने भी योजना को अमान्य ठहराया। उनका उक्त निर्णय उन्हीं आधारों पर अवलंबित था जिन पर कांग्रेस का। अखिल भारतीय लिबरल फेडेरेशन और रियासती-प्रजा को सम्मेलन भी क्रिप्स की योजना से असंतुष्ट थे। देश के इस दृष्टिकोण के कारण योजना का वापस लिया जाना अनिवार्य था। अतः वह वापस कर ली गयी।

योजना की विफलता पर सर स्टैफर्ड क्रिप्स—ब्रिटेन लौटने के पश्चात, कॉमन सभा के वाद विवाद में, सर स्टैफर्ड क्रिप्स ने, योजना की विफलता के संबंध में दिये गये २८ अप्रैल सन् १९४२ के भाषण में, निम्नलिखित विचार प्रगट किये थे—

"कोई भी व्यक्ति समझौता न हो सकने के लिए सम्राट की सरकार को दोषी नहीं बतलाता।

"मेरा विश्वास है कि जिस ढंग से योजना प्रस्तुत की गयी थी उससे यह स्पष्ट हो गया था कि हम सच्ची नीयत से काम कर रहे थे।

"योजना के लिए चुना गया समय तीन कारणों से कठिन था। (१) उन दिनों शत्रु भारत के किनारे पर पहुँचने वाला था। (२) सुदूर पूर्व में रण-क्षेत्र की घटनाओं तथा धुरी-राष्ट्रों के मिथ्या-प्रचार के कारण भारतीय लोकमत के कुछ अंशों में पराजयवाद (Defeatism) और ब्रिटिश विरोधी भावना का अस्तित्व था। (३) सांप्रदायिक मतभेद ने निश्चित रूप धारण कर लिया था। दो भारत की कल्पना, जो कुछ दिन पहले अनिश्चित सी थी अब निश्चित हो गयी थी।

"ब्रिटिश सरकार को कुछ निश्चित और विरोधात्मक भागों का सामना करना पड़ा था। इन्हें भारतीय लोकमत के विभिन्न अंगों के नेताओं ने प्रस्तुत

---

1. Indian Annual Register 1942, Vol I P 149

किया था। विरोधात्मक दावों के कारण ब्रिटिश सरकार के लिए किसी ऐसे मार्ग का अपनाना अनिवार्य था जो भारतीय लोकमत के विभिन्न अंगों के अधिक से अधिक अंशों की मान्य हो। भूतकाल में ब्रिटिश सरकार पर यह दोषारोपण किया गया था कि अल्प-संख्यकों में समझौता न होने के बहाने वह भारत में अपना आधिपत्य स्थायी बनाये रखना चाहती थी। इस लिए योजना में ऐसी व्यवस्था की गयी थी जिसके कारण किसी भी महत्वपूर्ण अल्प-संख्यक वर्ग के असहयोग के फल-स्वरूप बहुसंख्यक वर्ग की स्वराज्य की मांग पर रुकावट न पड़े।

"सम्राट की सरकार ने घोषणा के प्रारुप की अधीन रहते हुए मुझे समझौता करने का पूर्ण अधिकार दिया था। उसे ब्यौरेवार समझाने तथा उसके स्पष्टीकरण के लिए भारतीय नेताओं के सम्मुख जो कुछ रखा गया था उसका उत्तरदायित्व सिर्फ मेरे ही ऊपर है।

"हमारी कठिनाइयाँ तीन प्रकार की थीं। पहली वे जिनका संबंध नये संविधान के निर्धारण से था, दूसरी वे जो रक्षा से संबद्ध थीं; और तीसरी वे जिनका संबंध अंतः कालीन सरकार की रूप-रेखा से था।

"मुझे दुःख है और ब्रिटिश सरकार को इस बात का दुख है कि हमारे प्रयत्न विफल हो गये हैं। इसके कारण सभा तथा इस देश की जनता को यह न समझना चाहिये कि युद्ध-कालीन मंत्रिमंडल की कार्रवाई से केवल हानि ही पहुँची है। मैं साहस के साथ यह कह सकता हूँ कि उससे लाभ भी पहुँचा है।

"भारत से लौटते समय मैंने यह कहा था कि यदि घोषणा का प्रारूप स्वीकार न होगा तो वह वापस लिया हुआ समझा जायगा। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हमने उस सहयोग का द्वार बंद कर दिया है जिसके हम, भारत की रक्षा तथा युद्धोपरांत स्वशासन की समस्या के हल के लिए, इच्छुक है।"

संयुक्त-राज्य-अमरीका के लिए किये गये ब्रॉडकास्ट में सर स्टफर्ड क्रिप्स ने इसी प्रकार की बातें कहीं। साथ ही उन्होंने यह मिथ्या-प्रचार भी किया कि "हमने प्रतिनिधि भारतीय राजनीतिक नेताओं को वाइसराय की कार्यपालिका-समिति में ऐसा प्रतिनिधित्व देने का प्रस्ताव किया जैसा कि आप के उन मंत्रियों को प्राप्त है जो आपके राष्ट्रपति को परामर्श देते हैं।"

सर स्टफर्ड क्रिप्स की भारतीय नेताओं से की गयी बातचीत तथा उपरिवर्णित भाषण और प्रसारण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें अपने काम की

कठिनाइयों का वास्तविक पता न था। वे समझते थे कि दोहरी चालों, और मृदु-भाषण से भारतीय समस्या हल हो जायगी। मृदु-भाषी राजनीतिक साधारण मिथ्यावादी भी होता है। सर स्टैफर्ड के समस्त व्यवहार से खीझ कर उनके मित्र पं० जवाहर लाल नेहरू को उनके विषय में यह कहना पड़ा था कि "मुझे यह देखकर बड़ा दुःख हो रहा है कि क्रिप्स जैसे व्यक्ति ने भी अपने को शैतान का प्रवक्ता (Advocate) बना लिया है।"[1]

---

1. Coupland : Indian Politics 1936-42 Vol II P 288

८

अगस्त सन् १९४२ की क्रांति

प्राक्कथन—क्रांति के दूरवर्ती कारण; तोड़े गये वादे; दमन की नीति; जबरदस्ती युद्ध में घसीटा जाना; क्रिप्स मिशन की विफलता—निकटवर्ती कारण; भारत छोड़ो विचार का उदय; कांग्रेस कार्य-समिति का इलाहाबाद अधिवेशन; कांग्रेस कार्य-समिति का वर्धा अधिवेशन; अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का बंबई अधिवेशन; प्रस्ताव पारित होने के पश्चात् गांधी जी का भाषण—सरकार की तैयारियाँ—नेताओं की गिरफ्तारी—अगस्त की क्रांति—दमन की ओर—हिंसात्मक क्रांति के लिए उत्तरदायी कौन—? गांधी जी का उपवास—क्रांति के उत्तरदायित्व की समीक्षा—क्रांति के परिणाम।

प्राक्कथन—यदि हम संसार की क्रांतियों का अध्ययन करें तो हमें यह मालूम होता है कि वे यकायक पैदा नहीं हो जातीं। उनके अधिकांश कारण दूरवर्ती होते हैं। देखने में तो ऐसा विदित होता है कि वातावरण शांत है। किंतु भीतरी आग सुलगती रहती है और उपयुक्त अवसर पाते ही वह विस्फोट की भाँति फूट कर क्रांति में परिवर्तित हो जाती है। अगस्त सन् १९४२ की भारतीय क्रांति के वास्तविक मर्म को समझने के लिए हमें उसके दूरवर्ती कारणों को जानने का प्रयत्न करना चाहिये।

क्रांति के दूरवर्ती कारण—(१) तोड़े गये वादे—अगस्त की क्रांति के दूरवर्ती कारणों में से पहला कारण यह था कि इंगलैंड ने भारत को उसके भविष्यत् के संबंध में बार-बार वचन देकर उसकी अवहेलना की थी। सन् १८३३, १८५८ और सम्राट एडवर्ड सप्तम और जार्ज पंचम के सिंहासनारूढ़ होने के अवसरों पर जो घोषणाएँ की गयी थीं, उनके कार्यान्वित करने का कोई उल्लेखनीय प्रयत्न न किया गया था। प्रथम महासमर के पश्चात् स्वभाग्य

निर्णय का सिद्धांत घोषित किया गया था, पर भारत का उसके साथ प्रत्यक्ष संबंध न था। सन् १९३५ के भारतीय शासन-संबंधी अधिनियम द्वारा भारतीयों को जो भी अधिकार दिये गये थे, वे भी संघ-राज्य की तैयारियों को स्थगित करने तथा कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के त्यागपत्र के पश्चात् समाप्त हो गये थे। दूसरे महासमर में भारत से, पाशविकता के विरुद्ध मानव-स्वतंत्रता की रक्षा में सहायता देने की, अपील की गयी थी, पर स्वयं भारत को उस स्वतंत्रता से वंचित रखने का निश्चय किया गया था। प्रधान मंत्री मिस्टर चर्चिल ने अटलांटिक[1] चार्टर के बारे में स्पष्ट रूप से यह घोषित किया था कि वह भारत पर लागू न था। तोड़े गये उक्त वचनों के परिणाम-स्वरूप यह स्वाभाविक था कि भारत का इंगलैंड से विश्वास उठ जाय और भारतीयों में उसके प्रति असंतोष हो।

(२) दमन की नीति—भारत में ब्रिटिश शासन का इतिहास दमन का इतिहास था। सन् १८५८ में सिपाही-विद्रोह को दबाने के लिए जिस निष्ठुरता का परिचय दिया था वह मानवता की दृष्टि से पूर्णतया निंदनीय थी। तत्पश्चात राष्ट्रीय उत्थान के लिए भारतीयों ने जितनी बार सिर उठाया, सरकार ने उतनी ही बार दमन का प्रयोग करके उनको दबा दिया। जलियाँ-बाग में निहत्थी जनता पर गोली चली और अमृतसर के नागरिकों के साथ अमानुषिक बर्ताव करके सरकार ने यह दिखला दिया था कि ब्रिटिश साम्राज्य को स्थायी बनाये रखने के लिए वह किस सीमा तक जा सकती थी। असहयोग और सविनय अवज्ञा के आंदोलनों को दबाने के लिए दमन की पुनरावृत्ति की गयी। अक्टूबर सन् १९४० में चलाये गये व्यक्तिगत-सत्याग्रह-आंदोलन (जो केवल सांकेतिक था) को दबाने के लिए, इसी अमोघ शस्त्र का प्रयोग किया गया। शारीरिक और आर्थिक कष्ट-सहन की भी सीमाएँ होती हैं। पर भावनाओं का कुचला जाना शारीरिक और आर्थिक कष्ट से भी अधिक कष्ट-साध्य होता है। भारतीयों की सहनशीलता पराकाष्ठा को पहुँच चुकी थी। अतः प्रतिक्रिया का होना अवश्यंभावी था।

(३) जबर्दस्ती युद्ध में घसीटा जाना—भारत को जबर्दस्ती संसार-व्यापी दूसरे महासमर में घसीटा गया था। उसकी न तो जर्मनी से दुश्मनी थी और न जापान से। पर वाइसराय ने शिमला रेडियो से की गयी भी घोषणा द्वारा भारत को जर्मनी के विरुद्ध युद्ध-रत देश बना दिया था। इसका परिणाम भारत के लिए अत्यंत हानिकर था। उसका आर्थिक जीवन बिगड़ रहा था। वस्तुओं का मूल्य बढ़ गया था, मुनाफाखोर मजा उड़ा रहे थे और चोर-बाजारी के

परिणाम-स्वरूप, मनुष्य कृत अकाल के कारण, अनेक व्यक्ति असमय ही मृत्यु के मुख में चले गये अथवा चले जा रहे थे। जापानी आक्रमण से भयभीत होकर कलकत्ता आदि कुछ प्रमुख नगरों के निवासी अपने मकानों को छोड़कर देश के भीतरी भागों को भाग रहे थे। भारत ने अपनी इस दुर्दशा के लिए क्या किया था? उसे युद्ध के परिणाम-स्वरूप किस लाभ की आशा थी? चर्चिल ने यह स्पष्ट कर ही दिया था कि अटलांटिक चार्टर भारत पर लागू न होगा। इस स्थिति में भारत का खिन्न और अपनी दुर्दशा मिटाने के लिए प्रयत्नशील होना स्वाभाविक था।

युद्ध में सम्मिलित होने के कारण भारत की आर्थिक दशा बिगड़ तो रही थी, पर सरकार द्वारा उसके सुधारने का कोई उल्लेखनीय नहीं प्रयत्न किया जा रहा था। भारत युद्ध-क्षेत्र से बाहर था। उसके प्राकृतिक साधन पर्याप्त मात्रा में प्रचुर थे। उसकी जनसंख्या आवश्यकता से अधिक थी। युद्ध की स्थिति का लाभ उठा कर उसका औद्योगिक विकास किया जा सकता था। संयुक्त-राज्य अमरीका ने ग्रेडी-मिशन[1] को भेजकर इसकी ओर संकेत किया था। ८ जून सन् १९४२ को मिशन की रिपोर्ट राष्ट्रपति रूजवेल्ट के समक्ष प्रस्तुत की गयी थी। यह अत्यंत गोपनीय रखी गयी थी। किंतु समाचार-पत्रों ने उसके कुछ अंशों का अनुमान लगा ही लिया था। उसमें यह सिफारिश की गयी थी कि युद्ध के काल में भारत में राइफलें, गोला-बारूद, विस्फोटक, बख्तरबंद गाड़ियों के ढाँचे आदि तैयार किये जायँ। मिशन ने उपलब्ध साधनों पर प्रकाश डालते हुए, भारत में यातायात और जल-विद्युत की सुविधाएँ और भारतीय कारीगरों और श्रम-जीवियों की उच्च क्षमता की प्रशंसा की थी और इस बात पर जोर दिया था कि यदि कांग्रेस और ब्रिटिश सरकार के विरोध की इति श्री हो जाय तो भारतीय रंग-रूटों और सामग्री से और भी अच्छी तरह काम लिया जा सकता था। चूँकि मिशन की रिपोर्ट गोपनीय रखी गयी और उसके संबंध में कोई कारवाई

---

१. यह मिशन, मार्च सन् १९४२ में निकट पूर्व और सुदूर पूर्व में भिन्न राष्ट्रों की रसद के प्रमुख अड्डे के रूप में, भरत के औद्योगिक साधनों को उन्नत करने में, सहायता देने के लिए भारत भेजा गया था। संयुक्त-राज-अमरीका के भूतपूर्व सहकारी सचिव मिस्टर हैनरी० एफ० ग्रेडी इसके प्रधान थे। ए० डब्ल्यू हैरिंगटन, एच० ई० वेल्टन तथा डर्क डेकर मिशन के अन्य सदस्य थे। पट्टाभि सीतारामय्या-कांग्रेस का इतिहास, दूसरा भाग, पृष्ठ ४१८-१९।

नहीं की गयी इसलिए भारतीयों को इस दिशा से भी निराश होना पड़ा। कालांतर में अगस्त क्रांति के पश्चात् यह घोषित किया गया कि फिलहाल रिपोर्ट पर कोई कार्रवाई नहीं की जायगी। इसके पश्चात् वह खटाई में पड़ गयी।

युद्ध में पराजय के परिणाम-स्वरूप ब्रिटिश सरकार, भारतीय शरणार्थियों के साथ जिस प्रकार का व्यवहार कर रही थी वह भी भारत के लिए असंतोषप्रद था। बर्मा के भारतीय शरणार्थियों को, पराजय के पश्चात, भारत आने के लिए किसी प्रकार की उल्लेखनीय सहायता न दी गयी थी। कहना अनुचित न होगा कि उन्हें अपने भाग्य पर छोड़ दिया गया था। मार्ग में इन लोगों ने जो यातनाएँ भोगीं, आज उनकी कल्पना भी सुगमता से नहीं की जा सकती। इसके विरुद्ध अंगरेजों तथा गोरे लोगों के साथ कहीं अच्छा बर्ताव किया गया था। उस युद्ध में जो मानव-स्वतंत्रता के लिए पाशविकता के विरुद्ध लड़ा जा रहा था उक्त भेदभाव अक्षम्य अपराध था। भारतीय नेताओं तथा जनता के जागरुक अंशों को अब ऐसी आशंका होने लगी कि ब्रिटिश सरकार सिंगापूर, बर्मा और मलाया की भाँति भारत को बचाने तथा भारतीयों को सुविधा प्रदान करने में असमर्थ सिद्ध होगी। भारत का युद्ध में जबरदस्ती घसीटा जाना, उसके आर्थिक जीवन का बिगाड़ना, उसकी औद्योगिक उन्नति का कोई उल्लेखनीय प्रयत्न न करना और पराजित देशों में उसके शरणार्थियों को निराश्रय और असहाय छोड़ देना आदि ऐसी कष्टदायिनी बातें थी जिनके परिणाम-स्वरूप भारतीयों में इस भावना का उदय स्वाभाविक था कि उन्हें अपनी रक्षा का भार स्वतः अपने ऊपर लेना चाहिये।

(४) क्रिप्स मिशन की विफलता—भारत की इस मनोवैज्ञानिक स्थिति में, ब्रिटिश सरकार ने क्रिप्स मिशन द्वारा भारत की संवैधानिक समस्या के हल का प्रयत्न किता। जिस योजना को लेकर सर स्टैफर्ड क्रिप्स भारत में पधारे थे, उसकी प्रशंसा करके 'उचित और अंतिम हल' बतलाया गया था। मिशन के संबंध में संयुक्त-राज्य-अमरीका और अन्य देशों का कितना हाथ था, इसका वास्तविक मूल्यांकन इस समय, उपलब्ध सामग्री की अपर्याप्तता के कारण, नहीं किया जा सकता। किंतु आरंभ में, ब्रिटिश परंपरा से अवगत होने पर भी, भारतीयों को इससे कुछ आशा अवश्य बँधी थी। जैसे जैसे युद्ध-कालीन मंत्रिमंडल की योजना अपने मौलिक और संशोधित रूपों में जनता के सम्मुख आयी और सर स्टैफर्ड द्वारा उसका स्पष्टीकरण किया गया, वैसे-वैसे यह आशा निराशा में बदलती गयी और अंत में खिन्नता और असंतोष में

परिवर्तित होती गयी। जब शत्रु भारत के दरवाजे पर खटखटा रहा था, उस समय भी ब्रिटिश सरकार उसे संदेह की दृष्टि से देखती तथा उसकी रक्षा का भार उसके हाथों में न देकर, अपने ही हाथों में रखना चाहती थी। युद्ध के उपरांत उसे डोमीनियन का दर्जा दिया जाने को था। उसके विभाजन के सिद्धांत को परोक्ष रूप से स्वीकार कर लिया गया था। कार्य-पालिका-समिति में, अंतःकाल में भी वाइसराय का स्थान संवैधानिक शासक का न हो सकता था। ब्रिटिश सरकार की मनोवृत्ति संभवतः इस प्रकार की थी कि पराजय के परिणाम-स्वरूप भारत भले ही जापानियों के अधीन हो जाय, पर अपनी रक्षा के लिए उसे भारतीयों के अधीन नहीं किया जा सकता था। ब्रिटिश सरकार की इस मनोवृत्ति की प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक था। संयमशील गांधीजी की खिन्नता का पता तो इससे चल जाता है कि उन्होंने सर स्टैफर्ड क्रिप्स को अगले हवाई जहाज से इंगलैंड लौट जाने का परामर्श दिया और सर स्टैफर्ड क्रिप्स के परम मित्र पंडित जवाहरलाल नेहरू को इस आलोचना का अवसर मिला कि क्रिप्स ऐसे व्यक्ति ने भी अपने को शैतान का प्रवक्ता बना लिया है।

निकटवर्ती कारण—इन दूरवर्ती कारणों के अतिरिक्त कुछ निकटवर्ती कारण भी थे। उनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

(१) भारत छोड़ो विचार का उदय—सर स्टैफर्ड क्रिप्स की विफलता तथा अपने जीवन-दर्शन[१] से प्रभावित होकर, अप्रैल सन् १९४२ से गांधी जी ने भारत छोड़ो (Quit India) विचार का प्रतिपादन किया। उनका यह मत हो गया था कि भारतीय जीवन की सभी कठिनाइयाँ भारत में ब्रिटेन के अस्तित्व के कारण थीं। भारत युद्ध में ब्रिटिश संबंध के कारण घसीटा गया था। ब्रिटिश संबंध के परिणाम-स्वरूप ही उस पर केवल आक्रमण की

---

१. गांधी जी के जीवन-दर्शन का मूल मंत्र असत्य पर सत्य, अंधकार पर प्रकाश तथा मृत्यु पर जीवन द्वारा विजय पाने का था। इसके लिए समाज में शक्ति के उचित बँटवारे का होना आवश्यक था। 'जब तक समाज में शक्ति का बंटवारा अनुचित अनुपात में रहेगा तब तक सामाजिक संघर्ष चलता रहेगा और समाज के सब लोगों के साथ न्याय न हो सकेगा। अतः वे ऐसे राजनीतिक साधनों का पता लगाना चाहते थे जिनसे समाज के लिए एक आध्यात्मिक तथा सामाजिक आदर्श की प्राप्ति हो सके। इसके लिए सर्व प्रथम आवश्यकता यह थी कि विदेशी शासन का अंत कर दिया जाय।

आशंका ही न थी वरन् हवाई आक्रमण हो भी रहे थे। सांप्रदायिक समस्या के हल न होने का मुख्य कारण, भारत में हिंदुओं और मुसलमानों के अतिरिक्त तीसरे दल, अंगरेजों का अस्तित्व था। अतः भारतीय समस्याओं के हल तथा कठिनाइयों को दूर करने के लिए यह आवश्यक था कि अंगरेज भारत से शासक के रूप में चले जायँ। "भारत के लिए इसका चाहे कुछ ही परिणाम क्यों न हो, उसकी और ब्रिटेन की वास्तविक सुरक्षा इसी में है कि समय रहते हुए सुव्यवस्थित रूप में अंगरेज भारत से चले जायँ।[१] सांप्रदायिक समस्या के हल के संबंध में, जिसे ब्रिटिश सरकार के अधिकारी अति महत्त्वपूर्ण समझते तथा जिसके हल के लिए पूर्वकालीन वचनों के कारण, वे आवश्यकता से अधिक प्रयत्नशील थे, गांधीजी के विचार इस प्रकार थे—"आखिर ब्रिटेन के राजनीतिज्ञ यह क्यों नहीं मान लेते, कि यह भारत का घरेलू मामला है। वे भारत से एक बार हट भर जायँ। मैं वादा करता हूँ कि कांग्रेस, लीग, और देश के दूसरे सभी दल यह अनुभव करने लगेंगे कि सबका भला इसी में है कि सब आपस में मिल जायँ।"[१] उनका विचार था कि भारत पर जापान का आक्रमण देश में अँगरेजी शासन के कारण ही हो सकता था। "ब्रिटेन के इस देश में बने रहने के कारण जापान को भारत पर आक्रमण करने का प्रोत्साहन मिलता है।" ब्रिटेन के हट जाने से आक्रमण की आशंका कम हो जाने की संभावना थी। नैतिक दृष्टि से भी वे अपने विचार को ठीक समझते थे। "यदि वास्तव में अँगरेज भारत से तत्काल और व्यवस्थित रूप में, पूर्णतयाः हट जायँ तो उससे मित्र-राष्ट्रों का लक्ष्य एक दम पूर्ण नैतिक आधार पर अधिष्ठित हो जायगा।" गांधी जी के उक्त विचार क्रमशः दृढ़ होते गये, और हरिजन में प्रकाशित लेखों द्वारा उन्होंने उनका स्पष्टीकरण भी किया। अँगरेजों के भारत से हट जाने का मतलब यह नहीं कि प्रत्येक अंगरेज अपना बिस्तर-बोरिया बाँध कर यहाँ से चला जाय। मेरा "मतलब तो अंगरेजी प्रभुत्व को हटा लेने से है। इस प्रकार हर अंगरेज अपने को भारत का मित्र बना सकता है। चले जाओ का का अर्थ है मालिकों के रूप में चले जाओ।" सब दलों में परस्पर समझौते पर, जिसकी आवश्यकता पर अंगरेज राजनीतिज्ञ अत्यधिक जोर दे रहे थे,

---

१. प० सीतारामय्या–कां० का इ० दूसरा भाग २, पृष्ठ ७३।

गांधी जी के विचार इस प्रकार थे—"आप गुलाम से कभी यह नहीं पूछते कि क्या तुम आजाद होना चाहते हो। गुलाम तो अक्सर गुलामी की जंजीरों में बँधा रहना चाहता है। अगर भारत का एक हिस्सा गुलामी से प्रेम करता है तो उसका मतलब यह नहीं कि सारा देश ही परतंत्रता में जकड़ा रहे। कांग्रेस की माँग है कि दोनों हिस्सों को समान रूप से आजादी दी जाय।" सारांश यह कि सभी दलों में समझौता होने के बहाने, भारत में ब्रिटेन का ठहरना अनुचित था। गांधीजी के इन विचारों का अर्थ यथास्थान आगे बतलाया जायगा। यहाँ पर इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि ब्रिटेन के लिए उनका वास्तविक अर्थ समझना कठिन था। आरंभ में गांधी जी के अभिन्न सहयोगी भी, जिनमें पं० जवाहर लाल नेहरू की भी गणना है, उनका वास्तविक अर्थ न समझ सके थे।

(२) कांग्रेस कार्य-समिति का इलाहाबाद अधिवेशन—२७ अप्रैल सन् १९४२ को कांग्रेस कार्य-समिति का अधिवेशन इलाहाबाद में हुआ। उसमें अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के विचारार्थ 'भारत छोड़ो' संबंधी उस प्रस्ताव पर विचार किया गया जिसका प्रारूप गांधी जी ने तैयार किया था। गांधी जी स्वयं अधिवेशन में उपस्थित न थे। प्रारूप में कहा गया था कि "अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी की राय है कि ब्रिटेन भारत, की रक्षा में असमर्थ है। यह स्वाभाविक है कि जो कुछ वह कर रहा है वह अपनी रक्षा के लिए कर रहा है। भारत और ब्रिटेन के हितों में चिरस्थायी विरोध है। अतः उनकी रक्षा की कल्पना में भी विरोध है। ब्रिटिश सरकार को भारत के राजनीतिक दलों में विश्वास नहीं है। भारतीय सेना अब तक भारत को अधीनता में जकड़े रखने के लिए रखी गयी है। उसे जनता से इस प्रकार पूर्णतया अलग रखा गया है कि किसी भी अर्थ में वह उसको अपना नहीं समझ सकती। अविश्वास की उक्त नीति अब तक जारी है। यही कारण है कि भारत की राष्ट्रीय रक्षा उसके चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथ में नहीं सौंपी जाती।"[1] इस पृष्ठ-भूमि के पश्चात् प्रारूप में निम्नलिखित बातों पर जोर दिया गया था—(१) अंगरेजों को भारत से चला जाना चाहिये। (२) ब्रिटेन के साम्राज्यवाद के कारण भारत युद्ध-क्षेत्र में घसीटा गया है। (३) इस देश की स्वतंत्रता के लिए विदेशी सहायता की आवश्यकता नहीं है।

---

1. Indian Annual Register 1942 Vol II P. 204

(४) भारत की किसी राज्य से दुश्मनी नहीं है। (५) यदि जापान भारत पर आक्रमण करेगा तो उसे अहिंसात्मक असहयोग का सामना करना पड़ेगा। प्रारूप में असहयोग की रूप-रेखा भी निर्धारित की गयी थी। (६) भारत में विदेशी सैनिकों का अस्तित्व उसकी स्वतंत्रता के लिए भयंकर खतरे के समान है।

प्रस्ताव के उक्त प्रारूप पर कार्य-समिति ने गंभीरता पूर्वक विचार किया। पं० जवाहर लाल नेहरू आरंभ में उसके पक्ष में न थे। "इस समय, 'भारत छोड़ो' का कोई अर्थ ही नहीं हो सकता? यदि वे हमारी स्वतंत्रता को स्वीकार भी कर लें तो भी विवेक के कारण वे इस समय भारत को छोड़ नहीं सकते। प्रशासनीय व्यवस्था और सेना के हटाये जाने के परिणाम-स्वरूप जो रिक्तता उत्पन्न होगी वह शीघ्र ही भरी नहीं जा सकती।"[१] पं० नेहरू ने जापान के दृष्टि कोण के संबंध में निम्नलिखित विचार प्रगट किये,—"यदि हम जापान से कहें कि उसकी लड़ाई हमसे नहीं, वरन् ब्रिटिश साम्राज्यवाद से है तो वह हमसे यह कहेगा, 'हम प्रसन्न हैं कि अंगरेजी सेनाएं हटा ली गयी हैं। हम तुम्हारी स्वतंत्रता को अभिज्ञात करते हैं। अब हमें कुछ सुविधाओं की आवश्यकता है। हम आक्रमण से तुम्हारी रक्षा करेंगे। हमें हवाई अड्डों तथा तुम्हारे देश से सैनिकों के ले जाने की स्वतंत्रता चाहिये। आत्म-रक्षा के लिए इनकी आवश्कता है।' ....जापान एक साम्राज्यवादी देश है। उसकी योजना में भारत की विजय सम्मिलित है। यदि बापू का दृष्टि कोण स्वीकार किया जाता है तो हम धुरी-राष्ट्रों के निष्क्रिय समर्थक हो जाते हैं। यह बात गत ढाई बरस में अनुसरित कांग्रेस की नीति के विरुद्ध है। मित्र-राष्ट्रों में तब ऐसी भावना का उदय होगा कि हम उनके शत्रु हैं।"[१] श्री राजगोपालाचारी के विचार भी न्यूनाधिक इसी प्रकार के थे। पर अंत में कार्य-समिति ने गांधी जी के प्रारूप को, उसके मूल रूप में तो नहीं, पर पं० जवाहर लाल नेहरू द्वारा निर्धारित उसके संशोधित रूप में स्वीकार कर लिया। पहली मई सन् १९४२ को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा भी वह स्वीकृत हो गया।

(३) कांग्रेस कार्य-समिति का वर्धा अधिवेशन—१४ जुलाई सन् १९४२ को कांग्रेस कार्य-समिति का अधिवेशन वर्धा में हुआ। इसमें 'भारत

---

१. कांग्रेस-कार्य-समिति में जवाहरलाल नेहरू के भाषण से। Indian Quarterly Register 1942 Vol II P 200

छोड़ो' संबंधी न्यूनाधिक वही प्रस्ताव पारित किया गया, जो इलाहाबाद में पारित किया गया था। अंतर केवल ब्रिटिश और मित्र-राष्ट्रों की सेनाओं के ठहरने के विषय में था। जापानियों के आक्रमण से बचने के लिए, गांधीजी ने निर्धारित शर्तों पर मित्र-राष्ट्रों की सेनाओं के ठहरे रहने की बात मान ली थी। १४ जून के 'हरिजन' में उन्होंने इस संबंध में अपने विचारों को इस प्रकार प्रस्तुत किया था—"अगर मेरी चली तो भारत की राष्ट्रीय सरकार, निर्माण के पश्चात, संयुक्त-राष्ट्रों (United Nations) की सेनाओं का निर्धारित शर्तों पर ठहरना स्वीकार कर लेगी, पर उन्हें किसी प्रकार की अन्य सहायता की आज्ञा न देगी।" उनके इस विचार-परिवर्तन से भी कार्य-समिति के कुछ लोग सहमत न थे। "आपके इस प्रस्ताव का, कि असैनिक सत्ता हटा ली जाय और भारत की काम-चलाऊ सरकार से संधि होने तक ब्रिटिश और मित्र-राष्ट्रों की सेनाएँ भारत में बनी रहें, परिणाम यह होगा कि समस्त सरकारी काम सेना के अधीन हो जायँगे। अन्य बातों के अतिरिक्त उनकी रक्षा एवं कुशलता से काम करने के लिए यह आवश्यक होगा। स्थानीय सामंतों और त्रसित जनता के दबाव के कारण भी वे ऐसा ही करेंगे। यह ब्रिटिश सरकार को निकृष्टतर रूप में पुनर्स्थापित करना होगा।" श्री राजगोपालाचारी की इस आपत्ति पर गांधीजी की क्या प्रतिक्रिया हुई, यह बतलाना कठिन है। पर वे अपने निश्चय पर दृढ़ रहे। लोगों का अनुमान है कि उन्होंने उक्त परिवर्तन को, अमरीकी लोकमत को आकृष्ट तथा अमरीका की सहायता प्राप्त करने के लिए स्वीकार किया था। कुछ का मत है कि उनका उक्त विचार-परिवर्तन कांग्रेस कार्य-समिति के विरोधी सदस्यों के तोषण का परिणाम था। कार्य-समिति द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव के वास्तव में दो उद्देश्य थे, पहला भारत को स्वतंत्र बनाना और दूसरा भारत को ब्रिटेन और जापान के सक्रिय युद्ध-क्षेत्र से अलग रखना।

कार्य-समिति द्वारा उपरिवर्णित प्रस्ताव के पारण के पूर्व, गांधीजी ने आने वाले संघर्ष के संबंध में अपने विचारों को प्रगट किया था। अनेक व्यक्ति यह पूछते थे कि नये संघर्ष को, उसके दुष्परिणामों से परिचित होने पर भी, छेड़ने की आवश्यकता थी जब युद्ध के पश्चात स्वतंत्रता का वचन दिया जा चुका था? ७ जून सन् १९४२ के 'हरिजन' में गांधीजी ने इस प्रश्न का उत्तर निम्नलिखित शब्दों में दिया था—

"मैंने अतिकाल तक इसलिए प्रतीक्षा की कि देश, विदेशी शासन से

मुक्ति-लाभ के हेतु, आवश्यक अहिंसात्मक शक्ति का विकास कर ले। किंतु मेरा दृष्टिकोण अब बदल गया है। मुझे ऐसा आभास होता है कि मैं अब अधिक प्रतीक्षा नहीं कर सकता। यदि मैं अब और प्रतीक्षा करूँ तो मुझे प्रलय के दिन तक प्रतीक्षा करनी होगी। जिस तैयारी के लिए मैंने प्रार्थना तथा काम किया है वह कभी भी पूरी नहीं हो सकती। इस बीच में संभव है कि मैं उन लपटों में लपेट लिया जाऊँ जो हम सबको डराया करती हैं। इस लिए स्पष्ट खतरों के होते हुए भी मैंने यह निश्चय किया है कि मैं जनता से दासत्व को रोकने लिए कहूँ।''

(४) अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का बंबई अधिवेशन— २७ अप्रैल से ७ अगस्त सन् १९४२ तक, जब बंबई में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का अधिवेशन हुआ, गांधीजी के विचारों की पर्याप्त मात्रा में छान-बीन हो चुकी थी। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का अधिवेशन, कांग्रेस कार्य-समिति द्वारा वर्धा के अधिवेशन में स्वीकृत प्रस्ताव की संपुष्टि के लिए बुलाया गया था। उसने केवल 'भारत छोड़ो' विचार की संपुष्टि ही नहीं की, वरन् गाधीजी को एक अहिंसात्मक आंदोलन चलाने की सत्ता भी दे दी। उसके स्वीकृत प्रस्ताव के संबद्ध कुछ अंश इस प्रकार हैं—

''अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने, कार्य-समिति के १४ जुलाई १९४२ के प्रस्ताव के विषयों पर, जो कार्य-समिति द्वारा प्रस्तुत किये गये थे, और बाद की घटनाओं पर, जिनमें युद्ध की घटनावली, ब्रिटिश सरकार के जिम्मेदार वक्ताओं के भाषण तथा भारत और विदेशों में की गयी आलोचनाएँ सम्मिलित हैं अत्यंत सावधानी से विचार किया है। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी उस प्रस्ताव को स्वीकार करते हुए उसका समर्थन करती है और उसकी राय है कि बाद की घटनाओं ने उसे और भी अधिक औचित्य प्रदान कर दिया है और इस बात को स्पष्ट कर दिखाया है कि भारत में ब्रिटिश शासन का तात्कालिक अंत भारत के लिए और मित्र-राष्ट्रों के आदर्श की पूर्ति के लिए अत्यंत आवश्यक है। इस शासन का स्थायित्व भारत की प्रतिष्ठा को घटाता और उसे दुर्बल बनाता है और अपनी रक्षा करने तथा विश्व-स्वातंत्र्य के आदर्श की पूर्ति में सहयोग देने की उसकी शक्ति में क्रमिक ह्रास उत्पन्न करता है।''

प्रस्ताव में इसके पश्चात साम्राज्यवाद के अभिशाप का उल्लेख करते हुए भारत को उसका सर्वोत्तम क्रीड़ा-स्थल बताया तथा इस बात पर जोर दिया

गया था कि उसका कलंक समस्त मित्र-राष्ट्रों के सौभाग्य को दूषित कर रहा था। "इसलिए अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी पूरे आग्रह के साथ भारत से ब्रिटिश सत्ता के हटा लेने की माँग को दोहराती है। भारत की स्वतंत्रता की घोषणा हो जाने पर एक अस्थायी सरकार स्थापित कर दी जायगी, स्वतंत्र भारत मित्र-राष्ट्रों का मित्र बन जायगा और स्वातंत्र्य संग्राम के सम्मिलित प्रयत्न की परीक्षाओं और सुख-दुख में हाथ बँटायेगा।......कमेटी का मत है कि संसार की भावी शांति, सुरक्षा और व्यवस्थित उन्नति के लिए स्वतंत्र राष्ट्रों के एक विश्व-संघ की आवश्यकता है।......स्वतंत्र भारत ऐसे विश्व-संघ में प्रसन्नतापूर्वक सम्मिलित होगा और अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के सुलझाने में अन्य देशों के समान आधार पर सहयोग करेगा।" तत्पश्चात कमेटी ने खेदपूर्वक यह अनुभव किया कि कुछ ही देशों की सरकारें विश्व-संघ के लिए प्रयत्नशील थीं। भारतीय स्वतंत्रता की स्पष्ट माँग का भी विरोध किया जा रहा था। अतः

"इस अंतिम क्षण में, विश्व-स्वातंत्र्य का ध्यान रखते हुए, अखिल भार-भारतीय कांग्रेस कमेटी फिर ब्रिटेन और मित्र-राष्ट्रों से अपील करना चाहती है। परंतु वह यह भी अनुभव करती है कि उसे, अब राष्ट्र को, एक ऐसी साम्राज्यवादी और शासन-प्रिय सरकार के विरुद्ध अपनी इच्छा प्रदर्शित करने से रोकने का कोई अधिकार नहीं है जो उस पर आधिपत्य जमाती है और जो उसे अपने तथा मानव-समाज के हित का ध्यान रखते हुए काम करने से रोकती है। इसलिए कमेटी भारत की स्वतंत्रता और स्वाधीनता के अविच्छेद्य अधिकार का समर्थन करने के उद्देश्य से अहिंसात्मक प्रणाली से और अधिक से अधिक विस्तृत परिमाण पर एक विशाल संग्राम चालू करने की स्वीकृति देने का निश्चय करती है जिससे देश गत २२ वर्षों के शांतिपूर्ण संग्राम में संचित की गयी समस्त अहिंसात्मक शक्ति का प्रयोग कर सके। यह संग्राम निश्चय ही गांधीजी के नेतृत्व में होगा और कमेटी उनसे नेतृत्व करने और प्रस्तावित कार्रवाइयों में राष्ट्र का पथ-प्रदर्शन करने का निवेदन करती है।"

प्रस्ताव में इसके पश्चात उन कठिनाइयों और खतरों की ओर संकेत किया गया था जो आंदोलन के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न होंगे। अतः कमेटी ने भारतीयों से अनुशासित सैनिकों की भाँति गांधीजी के निर्देशों को पालन करने की अपील की।

"उन्हें यह अवश्य याद रखना चाहिये कि अहिंसा इस आंदोलन का आधार है। ऐसा समय आ सकता है जब निर्देश देना अथवा निर्देशों का

हमारी जनता तक पहुँचना संभव न होगा और जब कोई कार्य-समिति कार्य न कर सकेगी। ऐसा होने पर इस आंदोलन में भाग लेने वाले प्रत्येक नर-नारी को सामान्य निर्देशों की सीमा में रहते हुए अपने आप काम करना चाहिये। स्वतंत्रता की कामना और उसके लिए प्रयत्न करने वाले प्रत्येक भारतीय को स्वयं अपना पथ-प्रदर्शक बन कर उस कठिन मार्ग पर अग्रसर होना चाहिये, जहाँ विश्राम का कोई स्थान नहीं है और जो अंत में भारत की स्वतंत्रता और मुक्ति पर जाकर समाप्त होगा।"

प्रस्ताव में यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि कांग्रेस-आंदोलन चला कर, अपने हाथ में सत्ता लेने की इच्छुक न थी। "सत्ता जब मिलेगी तो उस पर समस्त भारतीयों का समान अधिकार होगा।"

प्रस्ताव का विश्लेषण—यदि हम इस प्रस्ताव का विश्लेषण करें तो हमें उसकी निम्नलिखित आधारभूत बातें मिलेंगी—(१) भारत की स्वतंत्रता की माँग और ब्रिटेन और मित्र-राष्ट्रों द्वारा उसकी स्वीकृति। (२) संसार की शांति के लिए विश्व-संघ की स्थापना। (३) ब्रिटेन के उस अधिकार का न होना जिसके कारण वह भारतीयों को अपनी इच्छा को प्रदर्शित करने से रोक सकता था। (४) गांधीजी के नेतृत्व में एक अहिंसात्मक आंदोलन चलाने की अनुमति। (५) निर्देश न मिलने की अवस्था में आंदोलन मे भाग लेने वाले व्यक्तियों का, सामान्य निर्देश के अंतर्गत, अधिक से अधिक सीमा तक जाने का अधिकार। (६) कांग्रेस, सत्ता को अपने हाथ मे लेने की इच्छुक न थी।

प्रस्ताव पारित होने के पश्चात गांधीजी का भाषण—प्रस्ताव के पारित होने के पश्चात गांधीजी ने अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने अपना वह भाषण दिया जिसकी गणना संसार के महान भाषणों में की जाती है उसके कुछ अंश इस प्रकार है—

"मैं इस संघर्ष में आपके नेतृत्व का उत्तरदायित्व, सेनानायक या नियंत्रक के रूप में नहीं, वरन् आप सबके तुच्छ सेवक के रूप में लेता हूँ। जो कोई सबसे अधिक सेवा करेगा वही मुख्य सेवक माना जायगा। मैं राष्ट्र का मुख्य सेवक हूँ। इस संबंध में मेरा यही मत है।"

"गत कुछ सप्ताहों में मुझे भारत और उसके बाहर अपने अनेक मित्रों की मित्रता और विश्वास से हाथ धोना पड़ा है। उनमें से कुछ को मेरी बुद्धि-

मत्ता पर संदेह होने लगा है और कुछ को मेरी ईमानदारी पर भी। मेरी बुद्धिमत्ता कोई ऐसी अमूल्य वस्तु नहीं जिसे खोने के लिए मैं तैयार न हूँ किंतु जहाँ तक मेरी सचाई और ईमानदारी का सवाल है वह मेरी एक अमूल्य निधि है जिसे मैं किसी भी हालत में नहीं खो सकता।"

तत्पश्चात लॉर्ड लिनलिथगो और एंड्रयूस की मित्रता और प्रभाव का उल्लेख करते हुए गांधीजी ने कहा कि उनके लिए भी "मैं अपनी आत्मा की आवाज को दबा नहीं सकता। उसे अंतरात्मा कहिये, या किसी अन्य नाम से पुकारिये, या मेरे आधारभूत स्वभाव की दबी हुई उत्प्रेरक आवाज कहिये, मुझे इसकी चिंता नहीं है किंतु इस प्रकार की कोई वस्तु है अवश्य। मैंने मनोविज्ञान का अध्ययन किया है। मैं निश्चित रूप से जानता हूँ कि वह क्या है। संभव है कि मैं उसका विवरण आपको न दे सकूँ। वह आवाज मुझसे कहती है कि मुझे अकेले ही समस्त संसार का सामना करना पड़ेगा। वह मुझसे यह भी कहती है कि 'जब तक तुम संसार को निडर होकर देखते हो, तुम सुरक्षित हो, चाहें संसार तुम्हें लाल-लाल आँखों से ही क्यों न देखे। संसार से भयभीत न हो, और परमात्मा से डरते हुए, अपने मार्ग में दृढ़ता से बढ़ते चलो।' वह आवाज मेरे अंदर है। तुम्हें स्त्री, मित्रों, और संसार की समस्त वस्तुओं का परित्याग करना है।"

"मैं अपनी पूरी आयु तक जीवित रहना चाहता हूँ। किंतु मेरी भावना है कि मैं इतने दिनों तक जीवित नहीं रहूँगा। जब मैं न रहूँगा, भारत स्वतंत्र होगा; भारत ही नहीं समस्त संसार स्वतंत्र होगा। मुझे इस बात का विश्वास नहीं है कि अमरीकी लोग स्वतंत्र हैं या इंगलैंड स्वतंत्र है। वे अपने मतानुकूल स्वतंत्र हो सकते हैं। मैं स्वतंत्रता का वास्तविक अर्थ जानता हूँ। अंगरेज अध्यापकों ने मुझे उसका अर्थ बतलाया था। जो कुछ मैं देखता अथवा अनुभव करता हूँ उसी के अनुसार मुझे स्वतंत्रता का अर्थ लगाना चाहिये।"

कांग्रेस और अहिंसा की ओर संकेत करते हुए गांधी जी ने कहा, "आरंभ ही से कांग्रेस अनजाने ही सदा अहिंसातमक रही है। मैं यह दावा नहीं करता कि प्रत्येक कांग्रेसी, नीति के रूप में भी, अहिंसा के उच्चतम सिद्धांतों का अनुसरण करता है। मैं जानता हूँ कि बहुत से लोग दिखावे के लिए अहिंसात्मक हैं। किंतु बिना परीक्षा लिए मैं सामान्यतः उनका विश्वास कर रहा हूं। उक्त आधारभूत विश्वास ही मेरे जीवन का मूल मंत्र है। आरंभ ही से कांग्रेस

अपनी आधार भूत नीति में, जो भारत को स्वराज्य दिलाने की है, अहिंसात्मक रही है।"

विदेशियों की ओर संकेत करते हुए गांधी जी ने कहा "मैं चाहता हूं कि अंगरेज़ और समस्त संयुक्त-राष्ट्र अपने हृदयों की परीक्षा करें और उन्हें टटोलें। स्वतंत्रता की मांग प्रस्तुत करके कांग्रेस ने क्या अपराध किया है? क्या ऐसी मांग करना गल्ती है? क्या उस संस्था पर संदेह करना ठीक है? मुझे आशा है कि अंगरेज लोग ऐसा नहीं करेंगे। मुझे उम्मीद है कि संयुक्त-राज्य अमरीका के राष्ट्रपति और चीन के सर्वोच्च सेनापति मार्शल च्यांग-काई-शेक भी जो इस समय अपने अस्तित्व के लिए जापानियों से भीषण युद्ध कर रहे हैं, कांग्रेस के बारे में कोई ऐसी बात नहीं सोचेंगे।" आगे चलकर गांधी जी ने कहा, "अगर संसार के सभी संयुक्त-राष्ट्र मेरा विरोध करे, यदि समस्त भारत मुझे यह समझाने का प्रयत्न करे कि मैं गल्ती पर हैं तो भी मैं, केवल भारत के ही लिए नहीं, वरन् समस्त संसार के लिए आगे बढ़ता ही रहूंगा।"

अपनी कार्य-प्रणाली की नीति के संबंध गांधी जी ने कहा, "हम कोई जघन्य काम नहीं करेंगे। अब तक हमने बड़ी सज्जनता से काम लिया है। आगे भी हम किसी ओछी चाल के दोषी न होंगे।"........आगे चल कर अपने दृढ़ निश्चय की घोषणा करते हुए गांधी जी ने कहा "मैंने कांग्रेस को दाँव पर लगा दिया है। वह करेगी या मरेगी।"

इसके पश्चात गांधी जी ने सांप्रदायिक समस्या की विस्तृत व्याख्या करके कहा, "पाकिस्तान के प्रश्न पर मेरे मन में कोई भ्रम नहीं है। चाहे कुछ भी हो, पाकिस्तान हिंदुस्तान के बाहर नहीं बन सकता।...........मैं मौलाना साहब के इस मत मत का समर्थन करता हूँ कि ब्रिटेन भारत को उसके किसी संप्रदाय को दे दे। यदि सत्ता मुसलमानों को दे दी जाय तो मुझे उससे दुःख न होगा। भारत, भारतीय मुसलमानों का देश है।........प्रत्येक मुसलमान को कांग्रेस का साथ देना चाहिये। उनके लिए कांग्रेस का द्वार खुला है। वे उसे अपने अधीन करके उसकी नीति को बदल सकते हैं। कोई भी व्यक्ति उन्हें ऐसा करने से नहीं रोक सकता। कांग्रेस एक लोकतंत्रात्मक संस्था है। हिंदुओं को भी यह समझ लेना चाहिये कि उन्हें अल्प-संख्यकों के सहित सब के लिए लड़ना है। मुसलमानों की जीवन-रक्षा के लिए उन्हें अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ेगी। यह अहिंसा का पहला पाठ है। हमें अपने पड़ोसी के प्रति सहिष्णु होना चाहिये। मुसलमानों और दूसरों को भी मेरी यही सलाह है।'

तत्पश्चात् गांधी जी ने आने वाले संघर्ष की प्रकृति की चर्चा की। "हमारी योजना में कुछ भी गुप्त नहीं है। हमारी लड़ाई बिल्कुल खुली है। इसके विरुद्ध पकल साहब (Puckle) की गश्ती[1] चिट्ठी को देखिये। नयी नयी पार्टियों की सहायता से सरकार के लिए कांग्रेस का दबाना अथवा उसका विरोध करना असंभव है। हम एक साम्राज्य का विरोध कर रहे हैं और वह एक शक्तिशाली साम्राज्य है। हमारी लड़ाई बिल्कुल सीधी है। इसके विषय में किसी को गल्ती न करनी चाहिये। जो लुक-छिप कर काम करते हैं उन्हें पीछे पछताना पड़ता है।"

"अब हमारी लड़ाई आरंभ होने वाली है। किंतु आंदोलन आरंभ करने के पूर्व मैं वाइसराय को एक पत्र लिखूँगा और उसके उत्तर की प्रतीक्षा करूँगा। इसमें एक, दो या तीन सप्ताह लग सकते हैं। इस बीच में कांग्रेस को तेरह सूत्री योजना के अतिरिक्त निम्नलिखित व्यवहार-संहिता के अनुसार काम करना चाहिये—

"प्रत्येक भारतीय को अपने को स्वतंत्र समझना चाहिये। उसे स्वतंत्रता की प्राप्ति अथवा उसके लिए किये गये प्रयत्नों में मरने के लिए तैयार रहना चाहिये। जीवन के प्रति उसका दृष्टिकोण एक स्वतंत्र मनुष्य का होना चाहिये। केवल जेल जाने से अब काम न चल सकेगा। अब आदान-प्रदान की गुंजाइश नहीं है। पद-ग्रहण करने का सवाल भी नहीं है। स्वतंत्रता की मांग से अब कोई समझौता नहीं हो सकता। पहले स्वतंत्रता मिलनी चाहिये। उसके पश्चात् ही हम चैन लेंगे। बुजदिल मत बनो। बुजदिलों को जीवित रहने का कोई अधिकार नहीं है। स्वतंत्रता हमारा मंत्र होना चाहिये और आपको इसी मंत्र का गान करना चाहिये।

---

१. भारत-सरकार के सेक्रेटरी फ्रेडरिक पकल ने सभी प्रांतीय सरकारों के चीफ सेक्रेटरियों तथा दिल्ली, अजमेर-मेरवाड़ा, बिलोचिस्तान और कुर्ग के चीफ कमिश्नरों के नाम एक गुप्त गश्ती चिट्ठी भेजी थी, जिसमें कांग्रेस को कैसे कुचला जाय और कांग्रेस-विरोधी तत्वों को कैसे संगठित किया—इन बातों का विवरण किया गया था। यह गश्ती चिट्ठी गांधीजी के हाथ लग गयी थी और अपनी टिप्पणी के साथ उन्होंने उसे समाचार-पत्रों में छपवा दिया था। गश्ती चिट्ठी अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के बंबई अधिवेशन के पूर्व भेजी गयी थी। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सरकार बंबई में पारित प्रस्तावों के पूर्व से ही दमन की तैयारी कर रही थी।

"समाचार-पत्रों को निर्भीक होकर और स्वतंत्रतापूर्वक अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिये। उन्हें सरकार से न तो डरना चाहिये और न उससे घूस ही लेनी चाहिये। उन्हें सचाई के साथ अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिये।........उन्हें अपने आत्म-सम्मान का बलिदान करके निरादर को सहन न करना चाहिये। उन्हें नये वातावरण की सृष्टि के लिए प्रयत्नशील होना चाहिये।

"नरेशों को यह समझ लेना चाहिये कि मैं हृदय से उनका शुभ-चिंतक हूँ। मेरे पिता एक रियासत के दीवान थे। स्वयं मेरा जन्म एक रियासत में हुआ था। मैंने उनका नमक खाया है। मैं कोई ऐसा काम नहीं करना चाहता जो इसके अयोग्य हो। नरेशों को, स्थिति के अनुकूल, अपने कर्तव्य का पालन करना चाहिये। उन्हें समय की गति को पहचान कर अपने शासन की बागडोर को अपनी प्रजा को सौंप देनी चाहिये और इसकी सूचना सरकार के राजनीतिक विभाग को दे देनी चाहिये। अगर वे ऐसा करने से चूक जायेंगे तो स्वतंत्र भारत में उनके लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। भारत के भाग्य का निर्धारण पं० जवाहर लाल नेहरू तथा उन अन्य लोगों द्वारा किया जायगा जिन्हें सामंत-वाद से सहानुभूति नहीं है। उन्हें अपनी निरंकुशता का परित्याग कर देना चाहिये।

"उन्हें अपनी सत्ता का दुरुपयोग न करना चाहिये। उनके बचे रहने का एकमात्र आधार जनता की सद्भावना है। मैं नरेशों से साहस के साथ यह पूछता हूँ कि क्या वे दूसरों के समान भारत को स्वतंत्र नहीं देखना चाहते। यदि उनका उत्तर सकारात्मक है तो उन्हें आगे बढ़ना चाहिये। यदि उनका उत्तर नकारात्मक है तो मुझे यह कहने में संकोच नहीं कि अधिपति-सत्ता भी उन्हें न बचा सकेगी। उसका अस्तित्व ही न रह जायगा। उन्हें जनता को शीघ्र ही उत्तरदायी सरकार दे देनी चाहिये।

"मैं इस बात पर पुनः जोर देता हूँ कि हमें लुक-छिप कर कुछ भी न करना चाहिये। किसी गुप्त आंदोलन का चलाना मना है। यह पाप है।

"विद्यार्थियों और शिक्षकों को, स्वतंत्रता की भावना को, धारण करना चाहिये। उन्हें कांग्रेस का साथ देना चाहिये। उनमें यह कहने का साहस होना चाहिये कि वे कांग्रेस के साथ हैं। यदि संकट आ जाय तो उन्हें अपने पेशे और जीवन के क्रम को बदलने के लिए तैयार रहना चाहिये।"

गांधी जी का उक्त भाषण हृदय को छूने वाला था। उसके द्वारा समस्त राष्ट्र का, स्वतंत्रता के युद्ध के लिए आवाहन किया गया था। राष्ट्र-सेवक के नाते, उन्हों ने उसके सब अंगों को अधिक से अधिक त्याग और बलिदान करने के लिए प्रोत्साहित किया था। उनके मतानुकूल भारत एक असाध्य रोगी था। उसके रोग को दूर करने तथा स्वास्थ्य-लाभ के लिए जितना कुछ बलिदान किया जाय, वह थोड़ा था।

सरकार की तैयारियाँ—'भारत छोड़ो' विचार से भारत का वातावरण, क्रिप्स मिशन की विफलता के पश्चात, मन चार महीने से, अतिभारित (Sur charged) था। ऐसा विदित होता था कि गांधी जी, बाध्य किये गये बिना, किसी आंदोलन को न चलाना चाहते थे। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के बंबई के प्रस्तावों के पश्चात भी उन्हों ने वाइसराय को पत्र लिखने और उसके उत्तर आने तक आंदोलन न चलने निश्चय किया था। किंतु सरकार उनके समान सहनशील न थी। दूसरे महासमर की भयंकर स्थति के कारण उसके लिए यह स्वाभाविक था कि भारत में किसी प्रकार का आंदोलन न उठने पावे। अतः आंदोलन के आरंभ के पूर्व ही वह उसे दबा देने के लिए उतावली सी हो रही थी। २७ जुलाई सन् १९४२ को सर फ्रेडरिक पकल, जो भारत सरकार के सक्रेटरी थे, की गश्ती चिट्ठी से बात सिद्ध हो जाती है। चिट्ठी के संबद्ध अंश इस प्रकार हैं—

"अगस्त ७ को बंबई में होने वाले अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन के लिए अभी तीन सप्ताह और हैं। इस काल की मुख्य समस्या कांग्रेस के प्रस्ताव में वर्णित निश्चित सुझावों के विरुद्ध प्रचार, तथा उस प्रस्ताव के अंत में, गांधी जी के में, शब्दों खुले विद्रोह की जो धमकी दी गयी है उसके विरूद्ध लोकमत का तैयार करना है। (१) हमें उन सब लोगों को प्रोत्साहन देना है जिनके सहयोग में हम विश्वास कर सकते हैं (२) जो लोग दुविधा में पड़े हैं, उन्हें अपने साथ मिलाना है। (३) कांग्रेस जनों की दृढ़ भावना को रोकना है। ऐसा करने में हमारा पहला उद्देश्य तो यह है कि कांग्रेस पर दबाव डाला जाय कि वह अपना कदमा पीछे हटा ले और दूसरा यह कि अगर हमें कांग्रेस के विरुद्ध कोई कारवाई करनी ही पड़े तो हमें देश के भीतर और बाहर के लोकमत का समर्थन प्राप्त हो सके। कृपया आप लोग सभी उपलब्ध साधनों द्वारा प्रभावशाली प्रचार करें जिससे कि प्रभावशाली व्यक्ति और प्रमुख गैर-सरकारी संगठन कांग्रेस के प्रस्ताव

के अंतर्गत वर्णित योजना का खुले रूप से और तर्क के आधार पर विरोध करें।''

तत्पश्चात् गश्ती चिट्ठी में उन बातों तथा उस पद्धति का उल्लेख था जिसके अनुसार प्रचार कार्य किया जाने को था। प्रांतीय सरकारों के सेक्रेटरियों ने भी इस प्रकार की गश्ती चिट्ठियाँ सभी कलक्टरों और सब डिवीजनल अफसरों के नाम भेजी थीं। इन गश्ती चिट्ठियों से यह स्पष्ट हो जाता है सरकार संगठित रूप से आंदोलन के प्रतिकार की तैयारियाँ कर रही थीं। उक्त समस्त चिट्ठियाँ गोपनीय थीं। आंदोलन के दमन की तैयारियाँ इससे भी अधिक गोपनीय रखी गयी थीं। उनका वास्तविक पता तभी चलेगा, जब सरकारी विभागों के गोपनीय पत्र-व्यवहारों का जनता द्वारा निरीक्षण किया जायगा। किंतु जिस विद्युत-गति से आंदोलन दबाया गया, उससे इन तैयारियों का होना, अकाट्य रूप से सिद्ध हो जाता है।

नेताओं की गिरफ्तारी—८ अगस्त सन् १९४२ को रात को लगभग बारह बजे, 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव पास हुआ था। गांधीजी के इस कथन के कारण, कि वाइसराय को पत्र लिखने और उनके उत्तर के आ जाने के पश्चात ही वे आंदोलन को चलावेंगे, इस बात की आशा निमूल न थी कि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य रात्रि का अवशिष्ट भाग आराम से बिता सकेंगे। किंतु सरकार का निश्चय इसके विपरीत था। उसने विद्युत्-गति से नेताओं की गिरफ्तारी का निश्चय किया। टेलीफून कनेक्शन काट दिये गये ताकि सरकारी कामों की सूचना जनता तक न पहुँच पावे और वह नेताओं की गिरफ्तारी के विरुद्ध किसी प्रकार का प्रदर्शन न कर सके। दो बजे के पूर्व ही एक संवाददाता ने सरदार वल्लभ भाई पटेल को यह सूचना दी ''कि आपको सोने के बजाय अब जेल की तैयारी कर लेनी चाहिये।'' सरदार पटेल ने इसके उत्तर में कहा ''मगर यह तो सोचना भी कठिन है कि तैयारी इतनी शीघ्र हो जायगी।'' सरदार पटेल का अनुमान गलत था। पाँच बजे प्रातःकाल, पुलिस गांधीजी के निवास-स्थान, बिड़ला हाउस में, ताली न मिलने के कारण, दरवाजा फाँद कर घुस गयी। गांधीजी उस समय नाश्ता कर रहे थे। पुलिस से सूचना पाने पर उन्होंने ''वैष्णव-जन ते तैंने कहिये'' वाला अपना प्रिय भजन सुना और तत्पश्चात अपने बिस्तर में गीता, कुरान, कवायत उर्दू तथा भजन की एक पुस्तक बाँध कर तैयार हो गये। वे विक्टोरिया टरमिनस स्टेशन पहुँचाये गये। कार्य-समिति के अन्य सदस्य भी प्रातः होते होते गिरफ्तार

कर लिये गये थे। वे सब विक्टोरिया टरमिनस को पहुँचाये गये। केवल गोविंद वल्लभ पंत और हरेकृष्ण मेहताब ही ९ अगस्त को गिरफ्तारी से बच गये थे। गाड़ी में बैठाकर नेता लोग विभिन्न स्थानों पर उतारे गये। गांधीजी आगा खाँ महल में भेज दिये गये और अन्य नेताओं में से कुछ यरवदा मंदिर और शेष अहमद नगर के किले में बंद कर दिये गये। सरकार ने इस बात की यथाशक्ति कोशिश की कि गिरफ्तार नेताओं का निवास-स्थान गुप्त रखा जाय। पर इसमें वह विफल मनोरथ हुई। प्रातः होते-होते समस्त भारत को यह पता चल गया था कि पिछली रात्रि में कौन-कौन से कांड किये गये थे। वह किं कर्तव्यं विमूढ़ सी रह गयी, और दूसरे दिन और उसके पश्चात् उसने वे काम कर दिखाये, जिनकी करने की तिथि तक, कोई कल्पना तक न कर सकता था।

अहमद नगर किले से लिखे गये मौलाना आजाद के एक पत्र से गिरफ्तारियों और उनकी प्रतिक्रिया का प्रामाणिक आभास होता है। पत्र के महत्वपूर्ण अंश इस प्रकार हैं—"कल सुबह तब बंबई शहर की दूरी और फैलाव में मुझे दो-चार मिनट की भी फुरसत नहीं मिली.......मगर आज अहमद नगर की ऊँची दीवारों से घिरी हुई इस छोटी सी दुनिया में इतना अपनापन है कि मुझे लगाता हूँ कि मैं मजमूनों का ढेर लगा दूँ। नौ महीने पहले, दिसंबर सन् १९४१ में, नैनी सेंट्रल जेल के दरवाजे खोल कर मुझे बाहर निकाल दिया गया था। कल ९ अगस्त सन् १९४२ को अहमद नगर के किले के फाटकों ने फिर मुझे अंदर कैद कर लिया।........५ अगस्त को जब मैं पहुँचा तो मुझे हल्का बुखार और सिर दर्द था। फिर जाते ही मुझे काम में जुट जाना पड़ा........८ अगस्त को मैंने २ बजे से ११ बजे रात तक लगातार मीटिंगें की और काम खत्म कर दिया।......थका हुआ मैं घर पहुँचा।........मैं ठीक चार बजे उठ गया........सामने के आसमान में अंधेरे की धुँधली रोशनी साफ नजर आती थी।.......धीमे-धीमे कुछ आलस आने लगा। मैंने कलम रख दी और पलंग पर लेट रहा। एकाएक मालूम हुआ कि सड़क पर मोटरें आ रही हैं।........१५ मिनट के बाद किसी ने मेरा पैर दबाया। मैंने देखा कि धीरू खड़ा है। "पुलिस के कमिश्नर के साथ दो फौजी अफसर आये हैं और उन्होंने यह कागज भेजा है।" मैंने धीरू से कहा कि मुझे तैयार होने में डेढ़ घंटे लगेंगे; तब तक उनसे रुकने को कहो।...... तब तक सवा छः बज गये थे और सुबह खिलखिला कर हँस रही थी। समुद्र की लहरें अठखेलियाँ कर रही थीं। सुबह की हवा फूलों से खुशबू चुराकर

लहरों पर छितरा रही थी।........जब मोटर विक्टोरिया टरमिनस पर पहुँची तो मिलिटरी ने घेर लिया।........भीतर जाने पर मैंने देखा कि गिरफ्तारियाँ बड़े पैमाने पर हुई हैं।........कुछ लोग तो मुझसे पहले आये थे। उनके चेहरे से जागने की थकावट झलक रही थी। कुछ की शिकायत थी कि दो बजे सोने को गये और चार बजे जगा दिये गये। मैंने पूछा "सोई हुई किस्मत का क्या हाल है? कोई उसे भी जगाने गया है या नहीं?" एक रात में दुनिया कितनी बदल गयी थी। शाम को लोगों के दिलों में उमंगों की रँगीनियां थी, हसरतों की हलचल थी, कहकहों के फूल थे और अब कफस था, बेड़ियां थीं, गुलामी थी। काश कि हम अपने गुस्से को जाहिर कर पाते। इन बैठकों में फँसे रहने के बजाय, अगर हम गदर की आवाज उठा देते।.......करीब दो बजे हम अहमद नगर पहुँचे।........स्टेशन से किले तक सीधी सड़क है। मैं सोचने लगा, हमारी मंजिल की राह इतनी सीधी है। जब एक बार चल पड़े तो मुड़ने का सवाल ही नहीं उठता। हम से उतरने के लिए कहा गया। इंसपेक्टर जनरल पुलिस ने हमारे नामों की सूची मिलिटरी अफसर को दे दी। अब हमारी जिम्मेदारी पुलिस से हटकर फौज के पास चली गयी गयी और एक नयी दुनिया की शुरूआत हुई।....... आंगन के उत्तरी कोने में एक कब्र थी। उस पर कुछ पेड़ की डालें उदासी से सिर झुकाये हुए थीं। यह नहीं मालूम था कि यह कब्र किसकी थी। चाँद-बीबी की तो नहीं हो सकती, क्योंकि उसका मकबरा बाहर पहाड़ी पर था। हो सकता है कब्र में जिंदगी सो रही हो। मुझे डर था कि कहीं हम कैदियों के शोर-गुल से उसका मुर्दा उठ खड़ा न हो।"[१]

मौलाना आजाद के इस पत्र के संबंध में कुछ भी कहना उसके प्रभाव के नष्ट करने के समान होगा। किंतु इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सरकार ने आंदोलन के आरंभ होने के पूर्व उसके दमन का दृढ़ निश्चय तथा उसके लिए संगठित तैयारियां कर ली थीं।

अगस्त की क्रांति—विद्युत् गति से नेताओं की गिरफ्तारी और उनके अज्ञात स्थान में ले जाने के परिणाम-स्वरूप जनता भौचक्की एवं निस्तब्ध सी रह गयी। वह ब्रिटिश सरकार की नीति का अनुमान लगा सकती थी, पर उसके लिए यह अनुमान लगाना कठिन था कि वार इतनी शीघ्रता से किया जायगा। ९ अगस्त को बंबई, पूना और अहमदाबाद में साधारण गड़बड़ी हुई। इन नगरों के निवासी लोकप्रिय नेताओं की स्थिति से परिचित हो चुके थे।

१० अगस्त को दिल्ली और उत्तर-प्रदेश के कुछ नगरों में अशांति के चिह्न दृष्टिगोचर हुए और कुछ गड़बड़ी दिखलायी पड़ी। किंतु किसी स्थान की स्थिति खराब न कही जा सकती थी। किंतु ११ अगस्त को स्थिति बिगड़ गयी और उत्तरोत्तर बिगड़ती गयी। सरकारी नीति के विरोध में सार्वजनिक सभाएँ एवं हड़तालें की गयीं। हिंसात्मक आचरण ने अहिंसा का स्थान ले लिया, और यदा-कदा अग्निकांड, हत्या, तोड़-फोड़ (Sabotage) आदि के काम किये गये। यातायात के साधन जैसे रेल, तार, डाकखाने आदि, और पुलिस के विरुद्ध जनता विशेष रूप से कुपित थी। रेल की पटरियाँ उखाड़ी गयीं, डाकखाने लूटे गये और कुछ में आग लगा दी गयी। तारघरों के तार काट दिये गये, और टेलीफोन की लाइनों को काट कर उन्हें बेकाम कर दिया गया। थानों में आग लगा दी गयी और कुछ थानों के सिपाही और पुलिस अधिकारी भी हताहत हुए। इन सब कामों, विशेष कर रेल की पटरियों को उखाड़ने के ढंग, से विदित होता था कि क्रांतिकारी इन कामों में काफी दक्ष थे। मद्रास, बंबई, बिहार, मध्य-प्रांत और संयुक्त-प्रांत की स्थिति अन्य प्रांतों की अपेक्षा अधिक गंभीर थी। किसानों और श्रमजीवियों के अतिरिक्त, यहाँ के विद्यार्थियों ने आंदोलन में प्रमुख भाग लिया था। कभी-कभी अपने घर से तीस-चालीस मील दूरी तक वे अपने कामों को करते हुए पाये गये थे। आरंभ में क्रांतिकारियों का कार्य-क्षेत्र नगरों तक ही सीमित था, किंतु क्रमशः वह देहातों तक विस्तृत हो गया। कई स्थानों में समानांतर सरकारी संस्थाएँ स्थापित की गयीं। इस संबंध मे उत्तर-प्रदेश के बलिया नगर का उल्लेख अनिवार्य है[१]। बंदूकों का प्रयोग किया जाने लगा। उनमें से कुछ पुलिस से छीनी गयी थीं और कुछ बनायी गयी थीं। बमों के बनाये जाने की चर्चा सरकारी क्षेत्रों में बड़े व्यापक रूप से हो रही थी। इन कामों के परिणाम-स्वरूप सरकारी संपत्ति का काफी

---

१. संयुक्त-प्रांत में बलिया नगर की जनता ने जिले के संपूर्ण शासन को अपने अधीन कर लिया था। १९ अगस्त को स्वराज्य सरकार की स्थापना हुई थी जो कई दिन तक चलती रही थी। इसको मान्यता और सहायता देने के लिए जनता ने चंदा दिया था। सरकारी अधिकारी गिरफ्तार कर लिये गये थे। चित्तू पांडेय इस सरकार के अध्यक्ष थे। बलिया के कामों से प्रभावित हो कर गांधीजी ने उसके विषय में कहा था कि 'बलिया संयुक्त-प्रांत का बारदोली है। जब तक वहाँ जाकर मै स्वयं अपनी आँखों से न देखूं तब तक मै बलिया का ऋणी रहूँगा।''

नुकसान हुआ। २५ सितंबर सन् १९४२ को भारत-सरकार के गृह-मंत्री ने इस संबंध में जो प्रकाश डाला था उससे यह स्पष्ट था कि लगभग २५० रेलवे स्टेशन नष्ट कर दिये गये थे या उन्हें क्षति पहुँचायी गयी थी। २४ गाड़ियाँ पटरियों से उतार दी गयी थीं। बहुत से इंजनों और रेल के डब्बों को क्षति पहुँचायी गयी थी। ५५० डाकखानों पर हमला हुआ था। इनमें से ५० नष्ट-भ्रष्ट कर दिये गये थे और २०० को गहरी क्षति पहुँची थी। लगभग एक लाख रुपये के टिकट जला दिये गये थे। अगणित लेटर-बाक्स उखाड़ डाले अथवा पत्रों के सहित जला दिये गये थे। ३५०० स्थानों में टेलीफून और तारघरों के तार काटे गये थे। अनेक स्थानों पर सड़कें खोद डाली गयी थीं। कभी-कभी सरकारी सत्ता को मिटाने के लिए जनता एक-एक लाख की भीड़ में आगे बढ़ रही थी। यह थी अगस्त की क्रांति जो उसी विद्युत्-गति से फूट पड़ी थी जिससे सरकार ने लोकप्रिय नेताओं को गिरफ्तार करके, उन्हें किंचित काल के लिए अज्ञात कारागारों में भेज दिया था।

दमन की ओर—सरकार इस परिस्थिति को कैसे बरदाश्त कर सकती थी, विशेष कर उस समय जब महासमर की स्थिति के कारण, उसकी शांति और व्यवस्था संबंधी जिम्मेदारियां बढ़ी हुई थीं? उसने दमन का सहारा पकड़ा और उसके अंधा-धुंध प्रयोग द्वारा समस्त जनता को त्रसित करने लगी। कांग्रेस और उससे संबद्ध संस्थाएँ गैर-कानूनी घोषित की गयीं। उनको किसी भी रूप में सहायता देना अपराध निर्धारित हुआ। कांग्रेस के प्रायः सभी विख्यात नेता गिरफ्तार कर लिये तथा कारागारों में बंद कर दिये गये। सार्वजनिक सभाओं पर प्रतिबंध लगाये गये, और सरकारी आदेश के विरुद्ध जहाँ कहीं भी वे की गयीं, उन पर लाठियों के प्रहार हुए और यदा-कदा गोली भी चलायी गयी। जलूस निकालना मना कर दिया गया। कई नगरों में करफ्यू लगाया गया। कार्यपालिका और पुलिस के अधिकार असीमित रूप से बढ़ा दिये गये। छिपे हुए नेताओं को पुलिस के हवाले करने के लिए पारितोषकों की घोषणा की गयी। अखबारों पर नाना प्रकार के प्रतिबंध लगाये गये। जनता देश की वास्तविक स्थिति से वंचित रखी गयी। अपराधियों का पता लगाने में पुलिस ने कुछ भी न उठा रखा। स्थिति इतनी बिगड़ गयी कि कई स्थानों पर सेना की सहायता लेनी पड़ी। अब दमन ने पाशविकता का रूप धारण कर लिया। सरकार और उसके एजेंटों ने क्रांतिकारियों और भारतीय जनता को 'सबक सिखाने' का निश्चय किया। संयुक्त-प्रांत के

बलिया जिले में जो कुछ किया गया वह समस्त भारत का प्रतीक समझा जा सकता है[१]—

"लगभग १५० कांग्रेस जनों के घर लूट कर जला दिये गये, औरतें और बच्चे गाँवों में खदेड़ दिये गये। बहुत सी स्त्रियों के बाल काट डाले गये, उनके जेवर छीन लिये गये और वे चीथड़े पहने को मजबूर की गयीं। बहुत से परिवार बिना खाना-पीना २४ घंटों तक घरों में बंद कर दिये गये। कुछ लोगों को पेड़ों से बाँध कर बुरी तरह पीटा गया। बहुत से लोग थूक कर चाटने के लिए बाध्य किये गये और गंदी भद्दी गालियाँ दी गयीं। यह भी सूचना मिली कि कई थानों में पकड़े गये लोगों के मुँह में पेशाब डाला गया। लाठी, डंडों, बंदूकों के कुंदों और घूसों से मारना आम बात थी। थप्पड़ मारना और कभी-कभी संगीनों से घायल कर देना अनोखी घटनाएँ न थीं। लगभग १२ लाख रुपये के सामूहिक जुर्माने किये गये, लेकिन कहा जाता है कि २१ लाख रुपये से अधिक वसूल किया गया। ४६ से अधिक व्यक्ति गोलियों से शिकार हो गये और इनसे अधिक गोलियों से घायल हुए। कई सौ मकान जला डाले गये और १०० से ज्यादा मकान गिरा दिये गये।"

सामान्य जनता के साथ कैसा बर्ताव किया गया होगा इसका अनुमान उन नेताओं के वक्तव्यों से लगाया जा सकता है जिन्होंने इस क्रांति का विशेष रूप से सूत्रपात किया था। डाक्टर राममनोहर लोहिया ने, लंदन स्कूल आफ इकोनॉमिक्स के अध्यापक प्रोफेसर हेरेल्ड लास्की को भेजे गये पत्र में अपने साथ किये गये बर्ताव की निम्नलिखित बातों पर प्रकाश डाला था—"चार महीने तक मुझे एक न एक यातना दी जाती रही। मुझे दिन-रात जगाये रखा जाता। एक बार दस दिन तक बराबर जगाये रखा गया। पुलिस मुझे बराबर खड़ा रखती थी और जब-जब मैंने इसका विरोध किया तब-तब पुलिस ने मुझे हथकड़ी में जकड़े हाथों के बल फर्श पर घसीटा।" श्री जयप्रकाश नारायण ने भी इसी प्रकार के विचार प्रगट किये थे। "मुझे परेशान करने की यंत्रणा सीमा तक पहुँची जब मुझे बराबर जगाये रखे जाता। सबेरे से आधी रात तक मुझे बराबर दफ्तर में रखा जाता, फिर घंटे भर के लिए सेल (कोठरी) में भेज दिया जाता, फिर बुला लिया जाता, ऐसे ही सबेरा हो जाता।" यदि चोटी के नेताओं के साथ इस प्रकार का बर्ताव किया गया था तो साधारण जनता के

---

१. गोविंद सहाय, ४२ का रेबेलियन पृष्ठ २२४–२५।

साथ किये गये बर्ताव की कल्पना करना ही अधिक उपयुक्त होगा। पैशाचिकता के नग्न तांडव का विवरण न लिखना ही अधिक श्रेयस्कर होगा।

सरकारी दमन के परिणाम-स्वरूप जनता की कितनी हानि हुई यह बतलाना कठिन है। अभी तक किसी ने इस संबंध के अंक एकत्रित नहीं किये हैं। किंतु हताहतों और घायलों की संख्या के निर्धारण का कुछ प्रयत्न किया गया है। भारत-सरकार के अनुमान के अनुसार ९४० आदमी मरे थे, १६३० घायल हुए थे, ५३८ बार गोली चलायी गयी थी, ६०२२९ व्यक्ति गिरफ्तार हुए थे, ६० बार फौज बुलायी गयी थी और पटना, भागलपुर, नदिया, मुँगेर तालचेरा और तमलुक में ६ बार हवाई जहाजों से बम बरसाये गये थे। कांग्रेस के अनुमानानुसार पुलिस की गोली, बम और मार से १५००० से कम व्यक्ति नहीं मारे गये। जो घायल हुए थे उनकी संख्या असंख्य थी। कैद किये गये व्यक्तियों की संख्या कम से कम एक लाख थी। इनमें से कुछ नजरबंदी की थोड़ी सी अवधि के पश्चात् छोड़ दिये गये थे। शेष अनिश्चित काल के लिए कारागार में बंद रहे। गिरफ्तारियाँ पुलिस के लिए रुपया कमाने का ढंग बन गयी थीं। निरीह व्यक्ति पकड़ लिये और बड़ी-बड़ी रकमें लेकर छोड़ दिये जाते थे।

हिंसात्मक क्रांति के लिए उत्तरदायी कौन—अगस्त सन् १९४२ की हिंसात्मक क्रांति के लिए सरकार जिम्मेदार थी या कांग्रेस और गांधी जी? सरकार का मत था कि क्रांति की समस्त जिम्मेदारी कांग्रेस और गांधीजी की थी। इस संबंध में उसने जाँच कराके एक पुस्तिका भी प्रकाशित की थी। गांधीजी द्वारा लिखे गये हरिजन में प्रकाशित लेखों, तथा उनके वक्तव्यों के आधार पर यह स्थापित करने का प्रयत्न किया गया था कि यद्यपि गांधीजी अहिंसा में पूर्ण रूप से विश्वास करते थे, तो भी उक्त लेखों और वक्तव्यों से हिंसा की ध्वनि निकलती थी, और गांधीजी उससे अनभिज्ञ न थे। २४ मई सन् १९४२ को उन्होंने हरिजन में लिखा था "भारत को ईश्वर को दे दो। यदि यह अत्यधिक हो तो उसे अराजकता को समर्पित कर दो।" "अराजकता का परिणाम किंचित काल के गृह-युद्ध और अनियंत्रित डकैती हो सकता है।"[1] "इस व्यवस्थित और अनुशासित अराजकता का अंत होना चाहिये। यदि इसके परिणाम-स्वरूप भारत में पूर्ण स्वेच्छाचारिता का राज हो जाय तो मैं

---

१. हरिजन २४ मई सन् १९४२।

इस खतरे के लिए भी तैयार हूँ।''[1] "जनता में मेरी जैसी अहिंसा नहीं है, पर मेरी अहिंसा से उसे सहायता मिलेगी। मुझे विश्वास है कि मेरे चारों तरफ व्यवस्थित अराजकता है। अँगरेजों के हट जाने, या हमारी बात न मानने पर उनकी सत्ता के उल्लंघन के परिणाम-स्वरूप जो अराजकता उत्पन्न होगी, वह मौजूदा अराजकता से निकृष्टतर न होगी। जो लोग निशस्त्र हैं वे भयानक हिंसा अथवा अराजकता की सृष्टि न कर सकेंगे। और मुझे ऐसा विश्वास है कि इस प्रकार की अराजकता से विशुद्ध अहिंसा की उत्पत्ति होगी।''[2] "मैं नहीं चाहता कि दंगे हों। यदि तमाम सावधानी के बावजूद दंगे होंगे, तो मैं विवश रहूँगा।''[3] गांधीजी के इन वक्तव्यों से सरकार ने यह निष्कर्ष निकाला कि प्रत्यक्ष रूप से तो नहीं, पर परोक्ष रूप से गांधीजी हिंसात्मक आचरण की ओर संकेत कर रहे थे और आंदोलन से उत्पन्न हिंसात्मक परिणामों से भली भाँति परिचित थे।

गांधीजी और कांग्रेस के उत्तरदायित्व को सिद्ध करने के लिए सरकार ने कांग्रेस कमेटियों द्वारा दिये गये कुछ गोपनीय आदेशों को भी प्रकाशित किया। इस संबंध में आंध्र प्रांतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा दिये गये आदेश विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये २९ जुलाई सन् १९४२ को जिला कांग्रेस कमेटियों को दिये गये थे। संगठन की दृढ़ता की बातों पर प्रकाश डालने के पश्चात्, इसमें अवज्ञा के संबंध में निम्नलिखित छः विभिन्न मंजिलों के आदेश दिये गये थे—

पहली मंजिल—निषेधात्मक सरकारी आदेशों की अवज्ञा, नमक का बीनना, गैर-सरकारी संस्थाओं का खुले तौर पर सदस्य बना रहना।

दूसरी मंजिल—वकीलों को वकालत और विद्यार्थियों को शिक्षण-संस्थाओं को छोड़ देना चाहिये; जूररों और असेसरों को सम्मन की अवहेलना करनी चाहिये; सरकारी अधिकारियों को जिनमें गाँव के अधिकारी भी सम्मिलित हैं, अपना त्यागपत्र दे देना चाहिये।

तीसरी मंजिल—मजदूरों की हड़तालों की व्यवस्था करना।

चौथी मंजिल—विदेशी वस्त्रों और शराब की दूकानों और व्यापार और उद्योग-धंधों के विदेशी कारबारों पर धरना देना।

---

१. हरिजन २४ मई सन् १९४२।
२. हरिजन ७ जून सन् १९४२।
३. हरिजन १९ जुलाई सन् १९४२।

पाँचवीं मंजिल—जंजीर को खींच कर गाड़ियों का रोकना; बिना टिकट के यात्रा करना, ताड़ी देनेवाले वृक्षों का काटना, डाकखाने और तारघर के तारों का काटना। इन बातों की मनाही नहीं की गयी थी ; किंतु प्रोत्साहन भी नहीं दिया गया था। स्थायी मार्गों की अवरुद्धि तथा रेलों के हटाने की मनाही थी। जीवन का संकट न हो, इस बात के लिए सावधानी पर जोर दिया गया था।

छठी मंजिल—म्युनिसिपल टैक्सों के अतिरिक्त अन्य टैक्सों का न अदा किया जाना। यदि जमींदार आंदोलन का साथ न दें तो उन्हें मिलनेवाली रकम न दी जाय। सैनिकों पर धरना।

इन मंजिलों के पश्चात् इन आदेशों में दोष-सिद्धि के पश्चात् की कार्रवाई का भी उल्लेख था। "यदि लोग जेल में भेज दिये जायँ तो उन्हें वहाँ सदा की भाँति चुप न रहना चाहिये। उन्हें वहाँ भी अपने कामों और कार्यावरोध द्वारा अवज्ञा करनी चाहिये। अनशन भी करना चाहिये किंतु स्वतः अपने खतरे पर, क्योंकि ऐसा करने से व्यक्ति को आत्म-बलिदान का गौरव मिल सकता था।"

आदेशों में सावधानी के लिए निम्नलिखित बातें सम्मिलित की गयी थीं—"६६ सैकड़ा संभव है कि गांधीजी शीघ्र ही, संभवतः बंबई में होने वाले अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन के कुछ ही घंटों पश्चात् आंदोलन का सूत्रपात कर दें। जिला कांग्रेस कमेटियों को सावधान रहना और अपने कामों को तुरंत ही आरंभ कर देना चाहिये। कृपया इस बात का ध्यान रखिये कि जब तक गांधीजी निश्चित न करें तब तक न तो आंदोलन को शुरू करना चाहिये और न तत्संबंधी किसी काम को खुले तौर पर करना चाहिये। संभव है कि वे दूसरा निश्चय करें। इस प्रकार आप अनधिकार काम करने की गल्ती के लिए उत्तरदायी ठहराये जायँगे। तैयार हो जाओ, अपने को शीघ्र ही संगठित कर लो, सावधान रहो, पर किसी प्रकार का काम न करो।"[1]

जेल जाते समय गांधी जी ने जो निदेश दिये थे, सरकार ने उनके आधार पर भी उन्हें हिंसात्मक आंदोलन के लिए उत्तरदायी ठहराया। वे निदेश इस प्रकार थे—(१) अपने को स्वतंत्र समझो ; (२) जब तक हम अहिंसा की

1. Indian Quarterly Register 1942 Vol II P 212

सीमा का उल्लंघन न करें हमें किसी भी काम के करने की स्वतंत्रता है। (३) हड़तालों और अन्य अहिंसात्मक साधनों द्वारा सरकार के प्रशासन को शक्तिहीन कर दो। (४) सत्याग्रही को मरने के लिए, जीवित रहने की आशा के लिए नहीं, संघर्ष में सम्मिलित होना चाहिये। (५) मृत्यु के खतरे पर भी राष्ट्र को जीवित रखो। (६) करो या मरो।

इन निदेशों के पालन करने के लिए गांधी जी ने निम्नलिखित बातों पर प्रकाश डाला था—(२) जनता की शक्ति के अतिरिक्त किसी दूसरी शक्ति को अभिज्ञात न करो। (२) जब तक पूर्ण स्वाधीनता न मिल जाय, सब कारखानों, मीलों, स्कूलों और बाजारों को बंद रखो। (३) सरकार से पूर्णतया असहयोग करो। (४) सरकार के प्रशासन को पंगु कर दो। (५) सरकारी दफ्तरों में धरना दो, और प्रत्येक उपलब्ध साधन से सरकारी प्रशासन को उखाड़ दो। (६) रेल-गाड़ियों, ट्राम-गाड़ियों और मोटरों की सेवाओं को नष्ट कर डालो, (७) टेलीफोन और तारघर के तारों को नष्ट कर डालो। (८) पुलिस के सदस्यों को यह समझाओ कि वे सरकारी काम न करें। (६) जनता को स्कूलों और कालेजों के भवनों और सरकारी प्रशासन पर अधिकार कर लेने दो और यदि ब्रिटिश सरकार भारत न छोड़े तो उन्हें बद या निलंबित रखने दो। (१०) समस्त सरकारी निषेधाज्ञाओं की अवज्ञा करो। (११) प्रत्येक कोने में प्रत्येक उपलब्ध साधन से सरकार के विरुद्ध इस खुले आंदोलन का प्रचार करो (जैसे दीवारों पर लिख कर, पुस्तिकाओं को बाँट कर, भूमि पर लिख कर या बोलकर)।

ईश्वर और अपने देश के लिए इसकी दस प्रतियां लिखो और बाँटो। स्वतंत्र भारत, जिंदाबाद।

इस तथा इसी प्रकार की दूसरी सामग्री के आधार पर भारत-सरकार इस निश्चय पर पहुँची कि अगस्त की हिंसात्मक क्रांति गांधी जी और कांग्रेस के कारण हुई थी। उसने तथाकथित अपराधियों को जेल में बंद करके, अपने मत का खूब प्रचार किया। न्याय करने का उक्त तरीका न तो विधानानुकूल था और न मानवता की ही दृष्टि से ठीक।

गांधी जी और कांग्रेस का मत सरकारी मत से सर्वथा भिन्न था। बंबई के प्रस्ताव के पारण के पश्चात् छठे दिन, १४ अगस्त सन् १६४२ को गांधी जी ने वाइसराय को एक पत्र लिखकर उन्हें यह सूचना दी कि देश में जो हिंसा

हो रही थीं उससे उनका कुछ भी संबंध न था। "हिंसा की बात तो किसी मंजिल पर सोची तक नहीं गयी।" अहिंसात्मक कार्रवाई में क्या क्या शामिल था इसकी परिभाषा ऐसी कुटिलता और चालाकी से की गयी थी कि उसका अर्थ हो जाय कि कांग्रेस हिंसात्मक कार्रवाई कर रही थी।"[1] २३ सितंबर सन् १९४२ को भारत के गृह-मंत्री के नाम लिखे गये पत्र में उन्होंने इसी प्रकार के विचार प्रगट किये थे और हिंसा के लिए सरकार और उसकी दमन की नीति को दोषी ठहराया था। "मेरा दावा है कि कांग्रेस की नीति अहिंसा की है और इस बात में कोई संशय नहीं है। कांग्रेसी नेताओं की अंधाधुंध गिरफ्तारियों से जनता इतनी क्रोधित हो गयी लगती है कि वह अपना आत्म-संतुलन खो बैठी है। मेरी धारणा है कि जो विनाश हुआ हैं उसके लिए कांग्रेस नहीं, सरकार जिम्मेदार है।"[1] सरकार ने न जाने किन कारणों से गांधी जी के उक्त पत्रों को सन् १९४३ तक गुप्त रखा। इनके प्रकाशन से इतने लाभ की आशा तो अवश्य थी कि क्रांतिकारियों को यह ज्ञात हो जाता कि जो कुछ वे कर रहे थे उसमें उन्हें गांधी जी का समर्थन प्राप्त न था।

गांधी जी के इन पत्रों का सरकार पर कोई प्रभाव न पड़ा। अतः अपने को निर्दोष सिद्ध करने के लिए उन्होंने उस अग्नि-परीक्षा का निश्चय किया जो उनके मतानुकूल सत्याग्रहियों का अंतिम साधन था। ३१ दिसंबर सन् १९४२ को वाइसराय के नाम लिखे गये पत्र[1] में उन्होंने अपनी यह इच्छा प्रगट की कि वे १० फरवरी सन् १९४३ से २१ दिन का उपवास करना चाहते थे। इसका कारण यह था कि उनकी नीयत में अविश्वास किया जा रहा था। "मै अपने को उसी रूप में देख सकता हूँ जिसमें दूसरे लोग देखते हैं। किंतु इस बार मैं बिल्कुल ही असफल सिद्ध हुआ हूँ। मेरा मत है कि मेरे बारे में सरकारी हलकों में इस संबंध में (आंदोलन के) जो वक्तव्य निकाले गये हैं वे निश्चय ही सत्य से भिन्न हैं।" परीक्षा के अवसरों के लिए गांधी जी के मतानुकूल

---

१. गांधीजी ने यह पत्र लॉर्ड लिनलिथगो के पास उस प्रस्ताव के उत्तर में लिखा था जिसे सरकार ने ८ अगस्त सन् १९४२ को आंदोलन के संबंध में पहले से ही स्वीकार कर रखा था। उसमे कांग्रेस के नीति की निंदा की गयी थी और सरकारी पक्ष को ठीक ठहराया गया था। इसी पत्र में गांधीजी ने अहिंसा के संबंध मे अपने इस मत का उल्लेख किया था। Gandhiji's Correspondence with the Government 1942-44 P. 17.

अंतिम उपचार यह था कि अपने शरीर को सूली पर चढ़ा दो। उन्होंने इसके रोकने की तरकीब पर भी प्रकाश डाला। "मुझे मेरी गल्ती या गल्तियों को समझा दीजिये। मैं उन्हें ठीक करने का प्रयत्न करूँगा। आप मुझे बुला सकते हैं या किसी ऐसे व्यक्ति को मेरे पास भेज सकते हैं जो आपके मन की बात समझता तथा आपका विश्वास-भाजन हो।" वाइसराय ने अपने उत्तर में गांधी जी के निश्चय पर खेद प्रगट किया। उनके मतानुकूल गांधी जी का अनशन संबंधी निश्चय राजनीतिक धमकी के तुल्य था। कुछ के मतानुकूल, कारागार से मुक्त कराने की, यह एक चाल थी।

तत्पश्चात् गांधी जी और वाइसराय में पत्र-व्यवहार हुआ। उसमें गांधीजी ने स्पष्ट रूप से यह प्रगट किया कि हिंसात्मक आंदोलन की जिम्मेदारी सरकार की थी। वह उन्हें और कांग्रेस को, गल्ती बतलाये और अपराधियों पर अभियोग चलाये बिना कारागारों में बंद कर के, बदनाम कर रही थी। जनता पर नृशंस अत्याचार हो रहे थे। उन्हें किसी ओर से अपनी पीड़ा में सांत्वना न मिल रही थी। अतः उन्होंने अपने अनशन का निश्चय दृढ़ कर लिया। २९ जनवरी सन् १९४३ को वाइसराय के नाम लिखे गये पत्र में उन्होंने अपने निश्चय की सूचना निम्नलिखित शब्दों में दी, "यदि मुझे अपने दर्द को कम करने के लिए कोई सांत्वना-प्रदायक मलहम नहीं मिलता तो मुझे सत्याग्रहियों के लिए निर्धारित कानून का आश्रय लेना पड़ेगा, अर्थात् योग्यता के अनुसार अनशन।' तत्पश्चात् गांधी जी ने योग्यता के अनुसार अनशन की व्याख्या की। "मैं मरने के लिए अनशन नहीं कर रहा हूँ। यदि ईश्वर की इच्छा हुई तो मेरा इरादा जीवित रहने का है। यदि आप मुझे मांगी राहत दे देंगे तो अनशन का अंत अवधि के पूर्व हो सकता है।" गांधी जी के इस निश्चय का भी सरकार पर कोई प्रभाव न पड़ा। वह पूर्ववत् गांधी जी और कांग्रेस को हिंसात्मक क्रांति का दोषी ठहराती तथा उनको बदनाम करती रही।

आंदोलन के उत्तरदायित्व के संबंध में कांग्रेस के अध्यक्ष ने भी अपने अज्ञातवास से एक पत्र वाइसराय के नाम, उस पत्र-व्यवहार को पढ़ने के पश्चात्, लिखा था जो उनमें और गांधीजी में हुआ था। उसकी निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—"........१३ जनवरी के अपने पत्र में आपने इस बात पर खेद प्रगट किया है कि वर्किंग कमेटी ने हिंसा और कानून-विरुद्ध कार्रवाइयों की निंदा के बारे में अब तक एक शब्द भी नहीं कहा। साधारणतया जब तक हम जेल में नजरबंद हैं और देश की जनता और बाहरी दुनिया से हमारा संपर्क पूर्णतः

कटा हुआ है तब तक हम इस बारे में कुछ भी नहीं कहना चाहते।........मैं अपने आपको केवल एक ही प्रश्न तक सीमित रखना चाहता हूँ और यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि जहाँ तक हम लोगों का अलग-अलग और सामूहिक रूप से संबंध है, हम कांग्रेस की ओर से यह स्पष्ट घोषणा कर देना चाहते हैं कि कांग्रेस के विरुद्ध लगाया गया यह आरोप, कि उसने एक गुप्त हिंसात्मक आंदोलन का संगठन किया था, बिल्कुल निराधार और झूठा है।........सरकार की शक्तिशाली प्रचार-व्यवस्था के जरिये उन लोगों पर बिना किसी सबूत के संगीन इलजाम लगाना, जो उनका जवाब देने में असमर्थ हैं और साथ ही उन्हें वही खबरें और दृष्टिकोण पहुँचाना, जो उनके प्रतिकूल हैं, कहाँ का न्याय और ईमानदारी है ? क्या इससे यह साबित हो जाता है कि आपका पक्ष मजबूत है।.......५ फरवरी के पत्र में आपने लिखा है कि आपके पास ऐसी काफी जानकारी है जिससे यह प्रमाणित होता है कि तोड़-फोड़ का यह आंदोलन अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के नाम पर जारी की गयी गुप्त हिदायतों के अनुसार चलाया गया है। हमें नहीं मालूम कि आपकी जानकारी क्या है। लेकिन हमें यह भली प्रकार मालूम है और हम साधिकार कह सकते हैं कि किसी भी मौके पर अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने इस तरह के आंदोलन के शुरू करने की बात नहीं सोची है और न उसने इस तरह के कोई गुप्त अथवा दूसरे किस्म के आदेश जारी किये हैं। हमारी गिरफ्तारी के समय अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी को गैर-कानूनी संस्था घोषित कर दिया गया था और प्रायः सभी प्रमुख और जिम्मेदार कांग्रेसियों को, जिनमें अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य भी शामिल हैं, गिरफ्तार कर लिया गया था। साथ ही अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के दफ्तर और कांग्रेस के दूसरे दफ्तरों पर पुलिस ने कब्जा कर लिया था। प्रत्यक्ष है कि इसके पश्चात अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी अपना काम किस तरह कर सकती थी ? आपने उल्लेख किया है कि इस वक्त एक गुप्त कांग्रेस संगठन विद्यमान है और कांग्रेस वर्किंग कमेटी के एक सदस्य की पत्नी उसकी सदस्या है। हमें इस प्रकार के किसी भी संगठन की सूचना नहीं है और न हमारे पास जानने का कोई जरिया ही है।........ निस्संदेह कांग्रेस-जन कुछ परिस्थितियों में अपनी योग्यतानुसार सक्रिय प्रतिरोध-आंदोलन को जारी रखना अपना कर्तव्य समझते हैं। परंतु आपने जो इलजाम लगाया है उसका इससे किसी किस्म का संबंध नहीं है।......जिम्मेदार कांग्रेस-जन किसी बम-विस्फोट या आतंकपूर्ण कार्रवाई के लिए जनता को

प्रोत्साहन नहीं दे सकते।........कांग्रेस हमेशा से अहिंसा के अपने सिद्धांत पर अटल रही है और पिछले २३ वर्षों से वह जनता में इसी का प्रचार करती रही है।........मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि आप जरा ख्याल करके देखिये कि अगर कांग्रेस जान-बूझ कर लोगों को हिंसात्मक और तोड़-फोड़ की कार्र-वाइयाँ करने के लिए उभारती या उन्हें प्रोत्साहित करती तो उसका क्या परिणाम होता? क्योंकि कांग्रेस एक बहुत व्यापक और इतनी प्रभावशाली संस्था है कि अब तक जो हुआ है उससे भी कहीं सौ गुना अधिक संकट पैदा कर सकती थी।........अपनी गिरफ्तारी के कई सप्ताह पहले से हम वर्किंग कमेटी की बैठकों, प्रस्तावों, और अन्य तरीकों से, यह बात साफ तौर पर कहते चले आ रहे हैं कि इस देश में ब्रिटिश सरकार विरोधी-भावना अत्यधिक जोरदार और कटुतापूर्ण हो गयी है।........जिम्मेदार कांग्रेस-जनों ने इस भावना को शांतिपूर्ण एवं रचनात्मक दिशाओं में ले जाने की कोशिश की और इसमें उन्हें बहुत काफी सफलता भी मिली। उन्हें इस काम में और भी अधिक सफलता मिलती अगर ऐसी घटनाएँ न हो गयी होतीं जिनके कारण जनता एक दम बेचैन हो उठी और साथ ही उन सभी प्रमुख नेताओं को उससे अलग कर दिया गया जो संभवतः इस स्थिति पर काबू पा लेते।........हम इसका अनु-भव कर सकते हैं कि जनता को सरकारी नीति से कितना धक्का पहुँचा होगा। इन सामूहिक गिरफ्तारियों के तत्काल बाद ही, लाठी चार्जों, अश्रुगैस और गोली-वर्षा के जरिये सभी प्रकार की सार्वजनिक कार्रवाइयाँ और सार्वजनिक रूप से अपने विचार प्रगट करने के सभी साधन, निषिद्ध करार दिये गये। गण्यमान्य नेताओं को गिरफ्तार करके उन्हें अज्ञात स्थानों को भेज दिया गया। उनकी बीमारी और मृत्यु की अफवाहों ने जनता के दिलों में अपना घर कर लिया और इसके साथ ही पिछले अगस्त में जो घटनाएँ हुईं, उनके कारण जनता और भी अधिक उत्तेजित हो गयी। ....आप यह ख्याल करके देखें कि हमारी गिरफ्तारियों के बाद से सरकार की ओर से जनता पर जो कुछ बीती है उसका लोगों के दिलों पर कितना गहरा प्रभाव पड़ा होगा और वे कितने हताश हुए होंगे। हाल में जो पत्र-व्यवहार प्रकाशित हुआ है उसके साथ सरकारी विज्ञप्ति में एक गश्ती[1] चिट्ठी का जिक्र किया है जो कहा जाता है कि आंध्र-प्रांतीय कांग्रेस कमेटी की तरफ से जारी की गयी है। हमें इसके बारे में

---

१. देखिये पृष्ठ १९५–९६ पूर्व।

कोई जानकारी नहीं है ।........परंतु इस संबंध में यह उल्लेखनीय है कि सरकारी तौर पर इस बारे में जो कुछ कहा गया है वह परस्पर विरोधी है । इसका जिक्र पहले पहल मद्रास-सरकार ने २९ अगस्त को प्रकाशित की गयी विज्ञप्ति में किया था । इसमें यह बताया गया था कि इस (गश्ती) चिट्ठी में, अन्य बातों के अलावा पटरियाँ हटाने की बात कही गयी थी । इसके दो सप्ताह पश्चात कॉमन-सभा में भाषण देते हुए मिस्टर एमरी (भारत-मंत्री) ने बताया कि उक्त गश्ती चिट्ठी में यह बात साफ तौर पर कही गयी थी कि पटरियाँ न हटायी जायँ और न जान को ही नुकसान पहुँचाया जाय ।........आपने अपने ५ फरवरी के पत्र में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के प्रस्ताव का जिक्र करते हुए उसके अंतिम भाग की ओर ध्यान दिलाया है जिसमें कांग्रेस-जनों को यह अधिकार दिया गया है कि यदि आंदोलन के नेताओं को गिरफ्तार कर लिया जाय तो उन्हें खुद अपनी विवेक-बुद्धि के अनुसार काम करना चाहिये ।........ साफ जाहिर है कि आपको यह नहीं मालूम कि पिछले सविनय अवज्ञा-आंदोलनों के अवसरों पर भी ऐसे ही निर्देश जारी किये गये थे ।........यह बड़े आश्चर्य की बात है कि इतने लंबे पत्र-व्यवहार और विभिन्न सरकारी वक्तव्यों में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा पास किये गये प्रस्ताव की अच्छाइयों का जिक्र तक नहीं किया गया जिसमें राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति का विवेचन करने के साथ यह बात स्पष्ट कर दी गयी थी कि स्वतंत्र भारत अपनी सारी शक्ति लगा कर न केवल आक्रमण का ही मुकाबला करेगा, बल्कि विश्व के स्वतंत्र्य-संग्राम में अपने समस्त साधनों को लगा देगा और संयुक्त-राष्ट्रों के समकक्ष होकर उसमें भाग लेगा ।........महात्मा गांधी के नाम अपने पत्र के अंत में आपने लिखा है कि एक न एक दिन कांग्रेस को इन आरोपों का जवाब देना ही होगा । हम तो बल्कि ऐसे दिन का स्वागत करेंगे , जब हम दुनिया के लोगों के सामने इनका जवाब देंगे और इनका फैसला उन्हीं पर छोड़ देंगे । उस दिन दूसरों के अलावा ब्रिटिश सरकार को भी उस पर लगाये गये इलजामों का जवाब देना होगा । मुझे यकीन है कि वह भी उस दिन का स्वागत करेगी ।''[१]

कांग्रेस अध्यक्ष का यह पत्र बड़े ही महत्व का था । इसमें उन सब आरोपों का उत्तर आधिकारिक रूप से दिया गया था जो कांग्रेस के विरुद्ध लगाये गये

---

१. प० सीतारामय्या—कां० का इ० तीं० भाग पृ० ६–१० ।

थे और जिनका अत्यधिक प्रचार किया किया था। वाइसराय ने इस पत्र का कोई भी उत्तर न दिया। उसे प्रकाशित भी न किया गया। जब डा० सैयद महमूद अहमद नगर किले से मुक्त होकर आये तो उन्होंने १ नवंबर सन् १६४५ को यह पत्र समाचार-पत्रों में छपवाया।

गांधीजी का उपवास—वाइसराय के नाम लिखे गये पत्र में उल्लखित तारीख को गांधीजी का उपवास आरंभ हुआ। उसकी देश और विदेश में में व्यापक प्रतिक्रिया हुई। भारतीय नेताओं ने उनके छोड़े जाने की माँग की। पर लॉर्ड लिनलिथगो टस से मस न हुए। कुछ विलायती अखबारों ने उपवास को राजनीतिक चाल के रूप में देखा और कुछ ने चुप्पी साधी। अमरीका ने भारत की बातों में पुनः दिलचस्पी लेना आरंभ कर दिया। २२ फरवरी को न्यूयार्क टाइम्स ने इस संबंध में निम्नलिखित टिप्पणी लिखी—

भारत की स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए जिस व्यक्ति ने अपना सारा ही जीवन लगा दिया है उसकी चरम सीमा अब उपवास में जाकर समाप्त होती हुई प्रतीत हो रही है। पिछले सप्ताह गांधीजी की गंभीर अवस्था के कारण एक बड़ा संकट पैदा हो गया है। वाइसराय की शासन परिषद (कार्य-पालिका समिति) के तीन सदस्यों ने इस्तीफा दे दिया है। यद्यपि वाइसराय ने गांधीजी को रिहा करने से साफ इनकार कर दिया है लेकिन सभी दलों की राय है कि अगर कहीं गांधीजी की मृत्यु हो गयी तो ब्रिटेन के लिए एक बड़ी गंभीर और पेचीदा समस्या खड़ी हो जायगी। कुछ अधिकृत सूत्रों ने एकदम और अधिक हिंसात्मक कार्रवाइयों के होने की भविष्य वाणी की है और कुछ दूसरों ने यह कहा है कि लोग इतने शोकाकुल और स्तब्ध होंगे कि वे कुछ भी न कर पायेंगे।"[१]

उधर आगा खाँ के महल में गांधी जी अपना उपवास कर रहे थे। उनकी हालत दिन पर दिन बिगड़ती जा रही थी, पर उनकी रिहाई के संबंध में सरकार अपने निश्चय पर दृढ़ थी। ३ मार्च को प्रातःकाल ६ बजे गांधी जी का उपवास सफलतापूर्वक समाप्त हो गया। डा० विधानचंद्र राय के मतानुकूल गांधी जी मृत्यु के सन्निकट पहुँच गये थे। उनके मतानुकूल गांधी जी एक चमत्कार थे; वे औषधि और शरीर-विज्ञान को चकित कर देने वाले व्यक्ति थे। स्वयं

---

१. प० सीतारामय्या—कां० का इ०, भाग ३, पृष्ठ १४।

गांधी जी ने उपवास की सफल समाप्ति के संबंध में निम्नलिखित विचार प्रकट किये थे—"मैं नहीं कह सकता कि विधाता ने किस प्रयोजन से मुझे इस अवसर पर बचा लिया है। संभवतः वह मुझसे कोई और काम पूरा कराना चाहता है।"

क्रांति के उत्तरदायित्व की समीक्षा—अगस्त की क्रांति के उत्तरदायित्व के संबंध में सरकारी और गैर-सरकारी तर्कों के ज्ञान के पश्चात्, वास्तविक उत्तरदायित्व के संबंध में निम्नलिखित निष्कर्ष स्वाभाविक से प्रतीत होते हैं—

(१) ब्रिटिश सरकार के कामों, और उसकी वादा-खिलाफी से भारतीय जनता अधीर हो गयी थी। उसे सरकारी घोषणाओं में लेशमात्र भी विश्वास न रह गया था। यही बात नेताओं के विषय में भी कही जा सकती है। क्रिप्स-मिशन की योजना में जिस उचित और अंतिम दल की रूप-रेखा खींची गयी थी, उससे जनता और नेताओं की अधीरता पराकाष्ठा को पहुँच गयी थी।

(२) अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने आंदोलन चलाने का निश्चय किया था। उसके प्रस्ताव में अहिंसा पर उतना ही जोर दिया गया था जितना आंदोलन पर। आंदोलन का नेतृत्व निश्चित ही गांधी जी करने को थे। आंदोलन का क्या रूप होगा, गांधी जी ने इस पर कुछ भी प्रकाश न डाला था। वे वाइसराय को पत्र लिखना और उनके उत्तर की प्रतीक्षा करना चाहते थे। इसके लिए वे ८ अगस्त के पश्चात् ३ सप्ताह तक प्रतीक्षा करने को तैयार थे। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि गांधी जी या अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने किसी आंदोलन का सूत्रपात न किया था।

(३) सरकारी दमन विद्युत-गति से किया गया था। जब आंदोलन आरंभ ही न हुआ था, तो इतनी व्यग्रता के साथ गिरफ्तारियों की क्या आवश्यकता थी? यह तो सैन्य-नीति के उस आचरण के तुल्य था जिसके अनुसार युद्ध की घोषणा के पूर्व ही शत्रु को अधिक से अधिक हानि पहुँचाने का प्रयत्न किया जाता है। पर्ल हारबर की दुर्घटना के लिए जापान के विरुद्ध इसी प्रकार का दोषारोपण किया गया था। भारत की अंगरेजी सरकार ने कांग्रेस द्वारा आंदोलन चलाने के पूर्व ही उसके दमन का निश्चय कर लिया था। अतः रात समाप्त होते होते प्रमुख कांग्रेसी नेता गिरफ्तार कर लिये गये और उन्हें अज्ञात स्थानों को भेज दिया गया। जनता पर इसकी प्रतिक्रिया की

कल्पना करना सरकार के लिए कठिन न था। तिस पर नाना प्रकार की अफवाहें उड़ रही थीं। ऐसी स्थिति में जनता अपनी क्रोधाग्नि की शांति के लिए, क्रांति के अतिरिक्त, और कर ही क्या सकती थी ?

(४) जनता में क्रांति की प्रतिक्रिया धीरे-धीरे हुई थी। ९ अगस्त को वह निस्तब्ध सी थी। १० अगस्त को उसने कुछ होश संभाला, और ११ अगस्त को देश-व्यापी आंदोलन आरंभ हो गया। उसका नेतृत्व कौन कर रहा था यह बतलाना कठिन है। श्री जय प्रकाश नारायण, श्री अच्युत पटवर्धन और श्रीमती अरुणा आसफ अली के नाम इस संबंध में विशेष रूप से लिये जाते हैं। संभवतः प्रत्येक व्यक्ति स्वयं अपना नेतृत्व कर रहा था। गांधी जी के "करो या मरो" अथवा "प्रत्येक व्यक्ति को अधिक से अधिक दूरी तक जाने की स्वाधीनता है" के आदेशों से उन्हें प्रोत्साहन अवश्य मिला होगा, पर इसके लिए गांधी जी को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। वे तो आरंभ से अंत तक अहिंसा पर जोर दे रहे थे।

(५) आंदोलन की किसी प्रकार की गुप्त तैयारियां न थीं। क्रांति अप्रत्याशित थी। यदि कांग्रेस ऐसी प्रभावशाली एवं देश-व्यापी संस्था किसी हिंसात्मक क्रांति का आयोजन करती तो सरकार के गुप्तचर विभाग को इसका कुछ न संकेत अवश्य ही मिल गया होता। सी० आई० डी० के अधिकारी इन दिनों कांग्रेसी नेताओं का पीछा इसी प्रकार से कर रहे थे, जिस प्रकार से मनुष्य की छाया उसका पीछा करती है। मौलाना अबुल कलाम आजाद के इस कथन में विचारणीय तथ्य है कि यदि क्रांति कांग्रेस द्वारा आयोजित की जाती तो तोड़-फोड़ और हानि की मात्रा सौगुना अधिक अवश्य होती।

(६) जिन प्रमाणों के आधार पर गांधी जी और कांग्रेस, क्रांति के दोषी ठहराये जाते हैं, वे कुछ सारहीन से विदित होते हैं। इस संबंध में आंध्र प्रांतीय कांग्रेस कमेटी की गश्ती चिट्ठी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसे हम ऊपर दे चुके हैं। वह ८ अगस्त के ६ दिन पूर्व भेजी गयी थी। उसके संबंध में कांग्रेस अध्यक्ष मौलाना अबुल कलाम आजाद के विचारों का उल्लेख ऊपर किया गया है। गांधी जी के विचार उसके संबंध में निम्नलिखित थे[1]—

"आंध्र प्रांतीय कांग्रेस कमेटी की गश्ती चिट्ठी को लीजिये। अपनी गिर-

---

१. १५ जुलाई सन् १९४३ को गांधी जी का वक्तव्य।

फ्तारी के पूर्व मुझे इसके बारे में कोई ज्ञान नहीं था। इसलिए मैं उस पर निर्बाध रूप से अपने विचार नहीं प्रगट कर सकता। मेरी राय में वह कोई हानि-जनक दस्तावेज नहीं था। क्योंकि उसमें साफ तौर पर कहा गया था कि 'सारा आंदोलन अहिंसा पर आधारित रहेगा। कदापि कोई ऐसा कार्य न किया जाय तो इस आदेश के विरुद्ध हो। अवज्ञा के समस्त कार्य प्रकट होने चाहिएँ, गुप्त रूप से नहीं। यह शर्त मूल गश्ती चिट्ठी में थी। इसके अलावा इसमें निम्नलिखित चेतावनी भी दी गयी थी। ....उद्यत रहिये, तुरंत ही संगठन कीजिये, सतर्क रहिये परंतु किसी प्रकार के कार्य न कीजिये।' जहाँ तक इस गश्ती चिट्ठी में उल्लिखत बातों का संबंध है, उनमें से कुछ के लिए मैं किसी तरह से भी जिम्मेदारी नहीं ले सकता। लेकिन यह ख्याल करके कि यह चिट्ठी आधिकारिक दस्तावेज है, मैं तब तक अपनी राय नहीं प्रगट कर सकता जब तक कि मुझे समिति की राय नहीं मालूम हो जाती। मुझे आपके अभियोग-पत्र में वह कथित लिखित संशोधन नहीं मिला जिसमें रेलों की पटरियों के उखाड़ने पर से प्रतिबंध हटा लिया गया था।"

(७) इन बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिंसात्मक क्रांति की जिम्मेदारी न तो गांधीजी की थी और काग्रेस की। भारतीय जनता विदेशी शासन से ऊब सी गयी थी। नेताओं की अप्रत्याशित गिरफ्तारी और उनके संबंध की अफवाहों के कारण उसने स्वयं ही क्रांति की थी। उसकी वास्तविक जिम्मेदारी उस दमन की नीति पर थी जिसका अनुसरण करके ब्रिटिश सरकार भारतीयों की राष्ट्रीय चेतना और राष्ट्र-भावना को कुचलती आयी थी।

क्रांति के परिणाम—अगस्त की हिंसात्मक क्रांति के कौन से परिणाम हुए? उन्हें हम निकटवर्ती और दूरवर्ती दो भागों में विभक्त करते हैं। निकटवर्ती परिणामों में पहला परिणाम भारतीय जनता द्वारा दमन का कष्ट झेलना था। क्रांति को दबाने के लिए भारत की अँगरेजी सरकार ने पुलिस और सैनिकों के बल से जो नृशंस कार्य किये उनके विवरण को पढ़कर आज भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। अपने स्वार्थों की रक्षा के लिए स्वातंत्र्य-प्रिय इंगलैंड और उसकी सरकार ने भारतीयों के कुचलने के लिए कुछ भी उठा न रखा था। क्रांति का दूसरा निकटवर्ती परिणाम अंतर्राष्ट्रीय जगत में भारत को बदनाम करने का प्रयत्न करना था। ब्रिटिश सरकार और भारत-सरकार दोनों ने अपने-अपने प्रचार-संगठन का यथाशक्ति प्रयोग इस काम के लिए किया था। मैदान एकाकी रूप से उनके हाथ में था। उनकी बातों को आधिकारिक रूप से खंडित कर

सकने वाले प्रायः सभी व्यक्ति जेल की चहारदीवारी के भीतर बंद थे। भारतीय नेताओं ने इस संबंध में सरकार के पास जो पत्र लिखे उनका प्रकाशन तक नहीं किया गया। विदेशों में भारत के विरुद्ध प्रचार का मूल आधार संभवतः वह दबाव था जो संयुक्त-राज्य-अमरीका और चीन भारत की समस्या के हल के लिए ब्रिटेन पर डाल रहे थे। प्रचार का मुख्य उद्देश भारत को इन राष्ट्रों की सहानुभूति से वंचित करना था। किंतु ब्रिटेन और भारत की सरकारों को इस जघन्य काम में विशेष सफलता नहीं मिली। संयुक्त-राज्य अमरीका के कुछ लोगों ने क्रांति का समर्थन यह कह कर किया कि भारत उन दिनों वही कर रहा था जिसे संयुक्त-राज्य-अमरीका ने सन् १७७६ में किया था। मिस्टर वेंडल विल्की (Wendell Wilkie), जिन्हें राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने कुछ विशेष कार्य सौंपे थे और जिन्होंने १६● घंटों में ३१००० मील की यात्रा की थी, वे अपनी पुस्तक वन वर्ल्ड (One World) ने चीन के सबसे अधिक बुद्धिमान व्यक्ति के मत को दोहराते हुए इस प्रकार लिखा कि अगर अमरीका भारत की समस्या को भविष्य के लिए छोड़ देता है तो उससे जनता की दृष्टि में ब्रिटेन की ही नहीं वरन् अमरीका की भी प्रतिष्ठा कम हो जाती है। उससे ब्रिटेन ही नहीं अमरीका के नाम पर भी बट्टा लगता है। फिर भी यह मानना अनिवार्य है कि उपरिलिखित प्रचार-कार्य के परिणाम-स्वरूप किंचित काल के लिए भारत संयुक्त-राष्ट्रों की उस सहानुभूति से वंचित हो गया जिसका वह अन्यथा अधिकारी था। आंदोलन का तीसरा निकटवर्ती परिणाम वाइसराय की कार्य-पालिका समिति के चार भारतीय सदस्यों का त्याग-पत्र देना था। सर सी०पी० रामास्वामी अय्यर ने आंदोलन के बीच में ही त्यागपत्र दिया था और सर एच० पी० मोदी, एन० आर० सरकार और एम० एस० अणे ने गांधीजी के उपवास के समय। सर सी० पी० रामास्वामी अय्यर का इस्तीफा वास्तव में आश्चर्य-चकित कर देने वाला था। उन्होंने ३ अगस्त सन् १९४२ को कार्य-भार संभाला था, और १८ अगस्त सन् १९४२ को, केवल १५ दिन के पश्चात् ही, उससे अलग हो गये थे। सर सी० पी० रामास्वामी अय्यर ऐसा अनुभव-प्राप्त व्यक्ति इतने कम समय में अपने विचारों में इतना परिवर्तन कर दे, यह एक विचारणीय बात है। २१ अगस्त को प्रकाशित सरकारी विज्ञप्ति में इस संबंध में यह बतलाया गया था —"सर सी० पी० रामास्वामी अय्यर ने गवर्नर जनरल को सूचित किया है कि भारतीय रियासतों के प्रति भारतीय कांग्रेस के रुख के संबंध में समाचार-पत्रों में जो सुझाव प्रस्तुत किये गये हैं

उन्हें वे बहुत गंभीर समझते हैं। इस सुझाव को, जो गांधीजी द्वारा प्रस्तुत किया हुआ कहा जाता है, और जिसका अभिप्राय, भारतीय रियासतों के सहित समस्त भारत को मुस्लिम लीग के हाथों सौंपना है, वे इतनी चिंता की दृष्टि से देखते हैं कि वे भारत-सरकार के सदस्य बने रहने में असमर्थ हैं। रियासतों के प्रति उनके दायित्व हैं। उनका उनके साथ पुराना एवं घनिष्ठ संबंध है। वे रियासतों की स्वतंत्रता और उनकी स्थिति के विरुद्ध पैदा होने वाले खतरों के प्रतिकार के लिए अपनी उत्कट इच्छा के कारण चाहते हैं कि रियासतों के आवश्यक संगठन के लिए वे स्वतंत्र हों।"[1] सर सी० पी० रामास्वामी अय्यरने भी इसी प्रकार के विचार प्रगट किये थे। "मैं इस बात को असंदिग्ध रूप से स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के प्रस्ताव में निर्देशित सविनय अवज्ञा के संबंध में जिसके विनाशकारी परिणाम हम आज देख रहे हैं, भारत-सरकार ने, जिसका मैं सदस्य हूँ जो कुछ भी कार्रवाई की है, उससे मैं पूर्णतया सहमत हूँ। मेरे त्याग-पत्र का कारण केवल यह है कि भारतीय इतिहास के ऐसे विषम काल में, वर्तमान जन-आंदोलन के संबंध में जिसे यदि रोका न गया, तो भारत की प्रगति और युद्ध-तत्परता में अवश्य बाधा पड़ेगी, और भविष्य में प्रस्तावित होनेवाले संवैधानिक सुधारों के संबंध में, जहाँ तक कि भारतीय रियासतों पर, जिनकी भलाई और भविष्य में मैं गहरी रुचि रखता हूँ, उनका प्रभाव पड़े, मुझे अपने विचारों को प्रगट करने तथा आवश्यक कार्रवाई करने के लिए बोलने और आने-जाने की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त रहे।"[1] भारत-सरकार और सर सी० पी० रामास्वामी अय्यर के विचारों में इतना साम्य है कि उनमें संदेह करने की कुछ भी गुंजाइश नहीं है। फिर भी कुछ लोगों के मतानुकूल त्याग-पत्र के अन्य कारण भी हो सकते हैं।[2] श्री मोदी, अणे और सरकार ने अपने त्याग-पत्रों के संबंध में प्रकाशित विज्ञप्ति के स्पष्टीकरण के लिए निम्नलिखित

---

१. प० सीतारामय्या—कां० का इ०, भाग २, पृष्ठ ४४५।

२. कुछ लोगों का मत है कि सर सी० पी० रामास्वामी अय्यर ने विभिन्न दलों में मेल कराने के उद्देश्य से स्वयं सूचना-मंत्री के पद को स्वीकार किया था। आंदोलन तथा उसके परिणाम-स्वरूप सरकारी नीति के कारण उन्हें ऐसा विदित हुआ कि वे अपने लक्ष्य की पूर्ति में सफल न होंगे। अतः वे त्याग-पत्र देकर कार्य-भार से अलग हो गये।

बातें बतलायी थीं—'एक प्रश्न के संबंध में जो हमारी राय में एक बुनियादी सवाल है (गांधीजी के उपवास के प्रश्न पर की जानेवाली कार्रवाई) हममें मतभेद हो गये थे और हमने अनुभव किया कि हम और अधिक समय तक अपने पदों पर नहीं सकते। जितने दिन भी हमें वाइसराय के साथ मिलकर शासन-संचालन का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, उनमें उन्होंने हमारे प्रति जो सौजन्य और आदर भाव पदर्शित किया है उसके लिए हम उनका हृदय से आदर करते हैं।''[३]

आंदोलन के उक्त निकटवर्ती परिणामों के अतिरिक्त कुछ दूरवर्ती परिणाम भी थे। ब्रिटिश सरकार को आंदोलन से इस बात का पता चल गया था कि भारतीय जनता का विश्वास उससे पूर्ण रूप से उठ गया था। वह सरकार की अपेक्षा अपने नेताओं का अधिक आदर करती थी और उनके साथ किये गये दुर्व्यवहार के प्रतिकार के लिए नेतृत्वहीन होने पर भी तोड़-फोड़ करके अधिक से अधिक सीमा तक जाने को तैयार हो गयी थी। भविष्य में दमन के चक्र चलाने पर भी इस मनोवृत्ति के बढ़ने की आशंका थी। आंदोलन की प्रगति और उसके कामों से यह निष्कर्ष अनिवार्य था कि भविष्य में भारत को इंगलैंड के अधीन रखने के लिए एक विशाल अंगरेजी सेना को आवश्यकता होगी। इंगलैंड की जन-संख्या इतनी कम थी कि ऐसी सेना की कल्पना कठिनता से की जा सकती थी।

दूसरा दूरवर्ती परिणाम भारत का स्वतंत्र होना था। आंदोलन के परिणाम-स्वरूप इंगलैंड के विभिन्न दल भारतीय समस्या पर गंभीरता से विचार करने लगे। ब्रिटेन के मजदूर दल ने नेताओं की गिरफ्तारी को सामयिक और अनिवार्य बतलाते हुए भी भारत के साथ समझौते की आवश्यकता पर जोर दिया। पार्लमेंट के कुछ अन्य सदस्यों के विचार भी इसी प्रकार के थे। अहिंसा के शांत धरातल के नीचे, लोगों के हृदय में धधकती हुई ज्वाला के ज्ञान के कारण, कालांतर में अंगरेजों के लिए वह करना अनिवार्य हो गया जिसके लिए गांधी जी ने अगस्त सन् १९४२ के आंदोलन की कल्पना की थी और जिसे अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने स्वीकार कर लिया था।

---

३. प० सीतारामय्या—कां० का इ०, तीसरा भाग पृ० २०–२१।

९

अगस्त क्रांति से वैवेल की योजनाओं तक

प्राक्कथन—वाइसराय की बदली—बंगाल का अकाल—गांधीजी से मिलने के प्रयत्न—गांधीजी और वाइसराय का पत्र-व्यवहार—सांप्रदायिक समस्या के हल के प्रयत्न—वाइसराय-जिन्ना पत्र-व्यवहार—राजगोपालाचारी का उल्लासपूर्ण प्रस्ताव—सविनय अवज्ञा और मिस्टर जिन्ना—मद्रास का आश्चर्यमूलक सुझाव—गांधीजी के उपवास के संबंध में मिस्टर जिन्ना की प्रतिक्रिया—राजगोपालाचारी-जिन्ना पत्र-व्यवहार—देसाई-लियाकत अली समझौता—गांधीजी की रिहाई—रिहाई के पश्चात—वाइसराय का दिसंबर सन् १९४४ का भाषण—सांप्रदायिक समस्या का हल—रिहाई के पश्चात की वास्तविक स्थिति।

प्राक्कथन—१५ अगस्त सन् १९४२ से १४ जून सन् १९४५ तक का काल भारत के राजनीतिक इतिहास में अति महत्व का है। इन दिनों कांग्रेस के अधिकांश नेता जेल में बंद थे, और निर्दलीय तथा अन्य दलों के नेता उन्हें छुड़ाने का प्रयत्न कर रहे थे। लड़ाई के आर्थिक कुप्रभावों के कारण देश के विभिन्न भागों में भीषण अकाल पड़ रहे थे। बंगाल का अकाल इस संबंध में विशेष महत्व का था। इन्हीं दिनों भारत के गवर्नर-जनरल और वाइसराय की बदली की गयी, और लॉर्ड लिनलिथगो के स्थान पर लॉर्ड वैवेल गवर्नर-जनरल और वाइसराय नियुक्त हुए। सांप्रदायिक समस्या के हल के भी प्रयत्न किये गये, पर पूर्वकालीन प्रयत्नों की भाँति वे भी निष्फल रहे। इसी काल में गांधीजी मलेरिया ज्वर से पीड़ित हुए और लॉर्ड वैवेल की सरकार ने उन्हें बिना शर्त छोड़ दिया। इस क्रिया के परिणाम-स्वरूप अन्य कांग्रेसी नेताओं की रिहाई की भी बातचीत छेड़ी गयी। सरकार पहले तो अपने

पूर्वकालीन निश्चय पर दृढ़ रही, पर कालांतर में गांधीजी के वक्तव्यों, निर्दलीय नेताओं के प्रयत्नों तथा अंतर्राष्ट्रीय घटनाओं के परिणाम-स्वरूप ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई, कि लॉर्ड वैवेल ने स्वयं संवैधानिक संकट को दूर करके, भारत की समस्या के हल के निमित्त, सम्राट की सरकार की अनुमति से अपनी योजनाएँ प्रस्तुत कीं। इस परिच्छेद में इस काल की इन्हीं महत्वपूर्ण बातों पर आवश्यकतानुकूल प्रकाश डाला जायगा।

वाइसराय की बदली—लॉर्ड लिनलिथगो लगभग साढ़े सात साल तक भारत के गवर्नर जनरल और वाइसराय रहे।[1] उन्हीं के कार्य-काल में द्वितीय युरोपीय महासमर आरंभ हुआ और भारत अपनी मर्जी के बिना धुरी-राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध-रत देश घोषित कर दिया गया। उन्हीं के कार्य-काल में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने त्याग-पत्र दे दिये और अधिकांश प्रांतों में अनुच्छेद ९३ के अनुसार गवर्नरी शासन स्थापित हुआ। उन्हीं के कार्य-काल में सन् १९४२ की क्रांति हुई और सामान्य शासन के स्थान पर अध्यादेशों का शासन स्थापित हुआ। उन्हीं के कार्यकाल में गांधी जी से तीन सप्ताह का उपवास किया और उन्होंने मित्रता का दावा रखते हुए भी, गाधी जी को जेल से मुक्त न किया। उन्हीं के काल में बंगाल का भीषण अकाल पड़ा और वे उसके संबंध में न्यूनाधिक अकर्मण्य रहे। इन सब बातों के परिणाम-स्वरूप भारतीय जनता और नेताओं को उनसे किसी प्रकार की आशा न थी। उनका शासन-काल शुभ-अवसरों के होते हुए भी दुर्व्यवस्था, विफलता और संकट का शासन-काल था। उसमें लोकतंत्र को दफनाने का प्रयत्न किया गया था। गवर्नर जनरल ने विधान-मंडलों के निर्वाचन तक को न कराया था, यद्यपि अन्य युद्ध-रत देशों में इस प्रकार के निर्वाचनों पर विशेष रोक-थाम न लगायी थी। लार्ड लिनलिथगो स्वयं अपनी विफलता से परिचित थे। 'अगस्त सन् १९४३ को केंद्रीय विधान-मंडल में दिये गये उनके भाषण के निम्नलिखित अंश उल्लेखनीय हैं—

"महासमर के आरंभ से यथाशक्य इस बात के लिए मैंने समस्त मानवीय प्रयत्न किये हैं कि विभिन्न दलों और नेताओं को एक दूसरे के सन्निकट कर दूँ और सम्राट की सरकार के प्रति जो कुछ शंकाएँ हैं, उन्हें दूर कर दूँ। मैं चाहता था कि इस देश के विभिन्न दलों और संप्रदायों में पर्याप्त मात्रा

---

१. भारत के इतिहास में वाइसराय यह कार्य-काल सब से बड़ा था।

में समझौता हो जाय और वे सब एक दूसरे की न्यायोचित माँगों को स्वीकार कर लें। इसके बिना कोई भी संवैधानिक अगला पग न तो उठाया जा सकता है और न उसके स्थायी होने की आशा की जा सकती है।

"मुझे सदा इस बात का दुःख रहेगा कि युद्ध के चार बरस, हमारे प्रयत्नशील होने पर भी, हमें अपने लक्ष्य के अधिक निकट ले जाने में सफल नहीं हो सके और इस समय तक आभ्यांतरिक मतभेद, सांप्रदायिक प्रतिस्पर्धा और देश के हित की अपेक्षा वर्ग विशेष के हित और परस्पर ईर्ष्या की भावनाओं के कारण देश की प्रगति में बाधा पड़ रही है।"[१]

लॉर्ड लिनलिथगो ने इस बात के लिए भी खेद प्रगट किया कि इस काल में भारत के किसी भी राजनीतिक दल ने एक भी रचनात्मक सुझाव प्रस्तुत नहीं किया था। वाइसराय को यह रोना कुछ स्वाभाविक सा था। किंतु इससे बचने की औषधि स्वयं उनके ही हाथ में थी। संभवतः सम्राट की सरकार के प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण के कारण सद्भावना से प्रेरित होते हुए भी वे कुछ करने में असमर्थ रहे थे।

लॉर्ड लिनलिथगो के स्थान पर लॉर्ड वैवेल गवर्नर जनरल और वाइसराय नियुक्त किये गये। भारत में इस नियुक्ति की भी गंभीर प्रतिक्रिया हुई। गवर्नर जनरल और वाइसराय की नियुक्ति के संबंध में देश में कुछ ऐसी भावना ने अपना स्थान कर लिया था कि इस पद पर इंगलैंड के सार्वजनिक जीवन का कोई प्रभावशाली व्यक्ति ही नियुक्त किया जायगा। लॉर्ड मार्ले ने लॉर्ड किचनर की नियुक्ति का घोर विरोध किया था और, लॉर्ड वैवेल से अधिक प्रभावशाली होते हुए भी, वे सैनिक अधिकारी होने के कारण, भारत के गवर्नर जनरल और वाइसराय न बनाये गये थे। लॉर्ड वैवेल की नियुक्ति इस दृष्टि से अप्रत्याशित थी। किंतु भारत को इसमें विशेष दिलचस्पी न थी। वह मनुष्यों की अपेक्षा उनके द्वारा किये कामों को अधिक महत्व का समझता था। पद-ग्रहण के पूर्व ही २२ जून सन् १६४३ को, फील्ड-मार्शल वैवेल ने अपने द्वारा किये जाने वाले कामों के संबंध में निम्नलिखित प्रकाश डाला था—

"इस समय आप मुझसे इस बात की आशा नहीं कर सकते कि नीति

---

1. The Modern Review Sep. 1943 P. 162

या भविष्य की योजनाओं के संबंध में मैं ब्यौरेवार वक्तव्य दूँ। मैं केवल इतना ही कह सकता हूँ कि मैं भारत का मित्र हूँ और उसकी राजनीतिक प्रगति से सहानुभूति और उसके भविष्य में विश्वास रखता हूँ....मैंने अपनी फौजी वर्दी उतार दी है। ऐसा करने में मुझे कितना क्लेश हुआ होगा, इसकी आप कल्पना कर सकते हैं। यह काम मैंने इस लिए किया है कि असैनिक की भाँति संभवतः मैं अपने देश के लक्ष्य और भारत की अधिक सेवा कर सकूँ।"[1]

फील्ड-मार्शल वैवेल के पूर्व अनेक अंगरेज अधिकारी इसी प्रकार के वक्तव्य दे चुके थे। भारत का विश्वास इस प्रकार के वक्तव्यों और मित्रता और सहानुभूति के प्रलापों से उठ गया था। वह केवल यह देखने का इच्छुक था कि नये गवर्नर-जनरल और वाइसराय उसकी समस्या के हल के लिए कौन सा कदम किस सीमा तक उठाने को तैयार थे।

बंगाल का अकाल—लॉर्ड वैवेल के आने के पूर्व से ही बंगाल में भीषण अकाल पड़ रहा था। उसके कारणों के संबंध में निम्नलिखित बातों पर प्रकाश डाला गया था—

(१) कृषि-भूमि की घटती। सन् १९४१–४२ की अपेक्षा सन् १९४२–४३ में ६,६०,००० एकड़ कम भूमि में कृषि की गयी थी। परिणाम-स्वरूप २६ लाख टन उपज कम हो गयी थी। इसके होते हुए बंगाल की जन-संख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही थी। प्रत्येक वर्ष ४,००,००० मनुष्यों की वृद्धि होती थी।

(२) निराश्रय लोगों का नगरों में केंद्रित होना—अन्न की कमी के कारण आस-पास के निराश्रय लोग नगरों में आकर केंद्रित हो गये थे। उनकी उपस्थिति के कारण, नगरों में खाद्यान्न की समस्या और भी अधिक जटिल हो गयी थी। अन्न न मिलने के कारण लोग सड़कों के किनारे भूखे मर रहे थे।

(३) आयात और निर्यात—आयात और निर्यात के कारण भी अकाल की स्थिति उत्पन्न होने में सहायता मिली थी। सामान्य काल में भी बर्मा से बंगाल के लिए आयात होता था। उसके जापानियों के हाथ में आ जाने के कारण बर्मा का चावल बंगाल को उपलब्ध न हो सका। पर बंगाल से चावल का निर्यात होता रहा। ऐसी स्थिति में अन्न की कमी का होना अनिवार्य था।

(४) सरकारी नीति—सरकारी नीति भी अकाल के लिए बहुत-कुछ

---

1. Modern Review August 1943 PP 15-16

उत्तरदायी थी। मुद्रा-स्फीत के कारण वस्तुओं का मूल्य अत्यधिक बढ़ गया था। यातायात की असुविधा के कारण अन्न एक स्थान से दूसरे स्थान को न ले जाया जा सकता था। अतः अन्न के होने पर भी वितरण की कठिन समस्या अकाल को सहायता पहुँचा रही थी। जापानियों के भय के कारण कृषकों की नावें उनसे छीन ली गयी थीं और उनके पास जितना कुछ अन्न था वह भी सरकारी नीति के परिणाम-स्वरूप उनसे छीन लिया गया था। अतः लोगों के पास इतना भी अन्न न बच सका था कि वे दुर्दिन में अपना पेट भर सकते। तिस पर कुछ निर्मम सौदागरों ने अन्न को एकत्रित करके लाभ उठाने की निंदनीय चाल अपनायी थी। सरकार ने सैनिक गोदामों से अन्न लेकर जनता की सहायता करने से मुख मोड़ा था।

(५) गैर-सरकारी प्रयत्नों में बाधाएँ—अकाल के निवारण के लिए गैर-सरकारी प्रयत्नों को वे सुविधाएँ न मिली थीं जिनकी इस परिस्थिति में आवश्यकता थी। इस संबंध में डा० श्यामाप्रसाद मुकर्जी के निम्नलिखित विचार उल्लेखनीय हैं—"गैर-सरकारी संगठन सहायता पहुँचाने की यथाशक्ति कोशिश कर रहे हैं, पर उन्हें प्रायः सुनियोजित रुकावटों का सामना करना पड़ता है। वे इस समस्या का हल नहीं कर सकते। अगर डाक्टर आते हैं तो औषधियाँ नहीं आतीं। लाल फीते की कारवाई और नियंत्रण की दुर्व्यवस्था का प्रयोग सहायता के कामों को रोकने के लिए किया जाता है।"[1] श्रीमती विजय-लक्ष्मी पंडित के विचार भी न्यूनाधिक इसी प्रकार के थे। "सरकार गैर-सरकारी प्रयत्नों को लगातार रोक रही है। हाल ही में मेरा ध्यान सस्ते अन्न की एक ऐसी दूकान की ओर आकृष्ट किया गया था जिसके काम करने में रुकावटें डाली गयी थीं। ऐसे कामों के कारण नहीं बतलाये जाते और न उनके बतलाये जाने को आवश्यक ही समझा जाता है।"

(६) प्रकृति का रोष—कुछ लोगों के मतानुकूल अकाल का मुख्य कारण प्रकृति का रोष था। सरकारी अधिकारी भी इस बात पर जोर दे रहे थे।

इन कारणों के सामूहिक परिणाम-स्वरूप बंगाल में भीषण अकाल पड़ा। संभवतः इस समय तक महासमर में सम्मिलित किसी भी देश के इतने मनुष्य रण-क्षेत्र में हताहत न हुए थे जितने इस भयंकर दुर्भिक्ष के कारण केवल बंगाल में मौत के घाट उतरे। पुरुष अपनी स्त्रियों को छोड़ कर भाग गये,

---

1. Modern Review Nov. 1943 P 326

माताओं ने अपने बच्चों को छोड़ दिया और बड़े नगरों की सड़कों और पटरियों पर पेड़ की सूखी पत्तियों की भाँति मनुष्य गिरते तथा मरते हुए दिखलायी पड़े। व्यापारी लोग मुनाफा उठा रहे थे। बंगाल की सरकार वास्तविक स्थिति से अनभिज्ञ थी और उसके जानने की कोशिश तक न कर रही थी। महामारियों ने भी इस अनुकूल परिस्थिति में बंगाल से अपना ऋण चुकवाया। रोगियों को कुनैन तक उपलब्ध न हो सकी। लार्ड लिनलिथगो ने, मृत्यु के इस नग्न नृत्य में भी बंगाल का दौरा न किया। उनके जाने के पश्चात लार्ड वैवेल ने, बंगाल का दौरा किया और सैनिक अधिकारियों को यह आदेश दिया कि वे खाद्य-पदार्थों के वितरण तथा निराश्रय लोगों को कलकत्ते से हटाने में बंगाल की सरकार को सहायता करें। उन्होंने बंगाल की विपत्ति को मिटाने के लिए एक निधि की भी स्थापना की। इन प्रयत्नों के परिणाम-स्वरूप स्थिति में कुछ सुधार तो हुआ, पर दुर्भिक्ष के परिणाम-स्वरूप बंगाल के अनेक परिवार विस्थापित हो गये और मृत्यु की दर ३० प्रतिशत बढ़ गयी।

गांधी जी से मिलने के प्रयत्न—जिन दिनों गांधी जी आगाखाँ महल मे अपने दिन बिता रहे थे, देश के विभिन्न नेताओं ने उनसे मिलने का प्रयत्न किया। किंतु सरकार अपनी नीति को निश्चित कर चुकी थी, और उससे किसी भी स्थिति में विचलित होने को तैयार न थी। कांग्रेसी नेताओं के साथ भारत-सरकार का बातचीत चलाना अथवा दूसरों को ऐसा करने का अवसर देना, उस समय तक असंभव था जब तक कांग्रेसी नेता गैर-कानूनी और क्रांतिकारी उपायों का परित्याग करने को तैयार न थे। कांग्रेस के तत्कालीन दृष्टि-कोण को देखते हुए इस प्रकार के परिवर्तन की आशा बहुत कम थी। अतः समस्या के हल के लिए जब जब जेल के बाहर के नेताओं ने गांधी जी से मिलने की आज्ञा माँगी, उन्हें इस प्रकार की आज्ञा न दी गयी। सन् १९४२ में डा० श्यामाप्रसाद मुकर्जी ने गांधी जी से मिलना चाहा। पर उन्हें ऐसा करने की आज्ञा न मिली। इस संबंध में २२ अक्टूबर सन् १९४२ को भारत-मंत्री मिस्टर एमरी ने कहा था कि "मौजूदा हालत में कांग्रेसी नेताओं के साथ मुलाकात करने के लिए अनुमति देने के लिए मैं तैयार नहीं हूँ।" नवंबर सन् १९४२ में श्री राजगोपालाचारी ने गांधी जी से जेल में मिलने की अनुमति माँगी। वे गांधी जी का ध्यान उन सरकारी वक्तव्यों की ओर आकृष्ट करना चाहते थे जिनमें अगस्त क्रांति के तोड़-फोड़ का उत्तरदायित्व गांधीजी के और कांग्रेस के सिर पर मढ़ा जा रहा था। सरकार

ने अपनी पूर्वकालीन निश्चित नीति के अनुसार उन्हें भी गांधीजी से मिलने की आज्ञा नहीं दी। ६ मार्च सन् १६४३ को गांधीजी के उपवास के पश्चात निर्दलीय नेताओं का एक सम्मेलन बंबई में हुआ। उसमें सम्मिलित ३५ सदस्यों[1] ने अपने हस्ताक्षर सहित निम्नलिखित वक्तव्य प्रकाशित किया। हमारा मत है कि पिछले कुछ महीनों की घटनाओं को ध्यान में रखते हुए सरकार और कांग्रेस को अपनी नीति पर फिर से विचार करना चाहिये। ....हमारी तरफ से वाइसराय से अनुरोध किया जाना चाहिये कि वे हमारे कुछ प्रतिनिधियों को गांधीजी से मिलने की अनुमति प्रदान करें ताकि हाल की घटनाओं के संबंध में वे उनकी प्रतिक्रिया का प्रामाणिक विवरण प्राप्त करके समझौता करानेका प्रयत्न कर सकें।"[2] गांधी जी से मिलने का यह प्रयत्न भी निष्फल गया। वायसराय ने इसके उत्तर में वे ही बातें दोहरायीं जो पहले कही गयी थीं। "मैं पहले ही बता चुका हूँ कि गांधी जी या कांग्रेस की तरफ से मस्तिष्क या हृदय के परिवर्तन का कोई सबूत अभी या पहले नहीं मिला है। अपनी नीति त्यागने का अवसर उन्हें पहले भी था और अब भी है। आपके अच्छे इरादों तथा समस्या के सफल निबटारे के लिए आपकी चिंता की कद्र करते हुए गांधी जी व कांग्रेसी नेताओं से मिलने की विशेष सुविधा मैं तब तक नहीं दे सकता जब तक परिस्थिति वैसी बनी हुई है जैसी ऊपर बतलायी गयी है।" इसी नीति के अनुसरण के परिणाम-स्वरूप सरकार ने सर तेज बहादुर सप्रू और मिस्टर विलियम फिलिप्स को भी जो राष्ट्रपति रूजवेल्ट के निजी प्रतिनिधि थे, गांधी जी से मिलने की अनुमति नहीं दी, और न श्री श्रीनिवास शास्त्री की उस बात को स्वीकार किया जिसमें उन्होंने अगस्त में होने वाले प्रशांत-सम्मेलन में गांधी जी के उपस्थित होने पर जोर दिया था।

सरकार ने गांधी जी को समस्त संसार से अलग रखने की नीति को पराकाष्टा तक पहुँचा दिया। इस संबंध में उनका वह पत्र उल्लेखनीय है जो उन्होंने आगा खाँ महल से मिस्टर जिन्ना के नाम लिखा था। मुस्लिम लीग के २४ व अधिवेशन में, जो सन् १६४३ के ईस्टर सप्ताह में दिल्ली में हुआ था, मिस्टर जिन्ना ने निम्नलिखित विचार प्रगट किये थे—"यदि गांधी जी पाकि-

---

१. इन नेताओं मे सर तेज बहादुर सप्रू, एम० आर० जयकर, भूला भाई देसाई, सी० राजगोपालाचारी, और सर जगदीश प्रसाद के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

२. प० सीतारामय्या—कां० का इ० तीसरा भाग, पृष्ठ ४७।

स्तान के आधार पर मुस्लिम लीग से समझौता करने को तैयार हो जायँ तो मुझसे अधिक और किसी को खुशी न होगी। मैं आप से कहता हूँ कि हिंदू और मुसलमान दोनों के लिए वह बड़ा शुभ दिन होगा। यदि गांधी जी इसका फैसला कर चुके हैं तो उन्हें मुझे सीधे लिखने में दिक्कत ही क्या है? वे वाइसराय को पत्र लिख रहे हैं, मुझे सीधे क्यों नहीं लिखते? वाइसराय के पास जाने, डेपूटेशन भेजने और उनसे पत्र-व्यवहार करने से लाभ ही क्या है।' आज गांधी जी को रोकने वाला कौन है? मैं एक क्षण भी विश्वास नहीं करता—इस देश में यह सरकार चाहे कितनी ही शक्तिशाली क्यों न हो,—मैं नहीं मान सकता कि यदि मेरे नाम ऐसा पत्र भेजा जाय तो सरकार उसे रोकने का साहस करेगी।"[1] मिस्टर जिन्ना के इस भाषण को समाचार-पत्रों में पढ़ कर गांधी जी ने उन्हें पत्र लिखने की आज्ञा भारत-सरकार से मांगी। मई के अंतिम दिनों में भारत-सरकार की इस संबंध एक विज्ञप्ति प्रकाशित हुई। उसमें यह नहीं बताया गया था कि गांधी जी द्वारा मिस्टर जिन्ना को लिखे गये पत्र में क्या था। केवल इसी बातका उल्लेख था कि गांधी जी मिस्टर जिन्ना से मिल कर बड़े प्रसन्न होंगे। २६ मई को प्रकाशित दूसरी विज्ञप्ति में भारत-सरकार ने निम्नलिखित बातों पर प्रकाश डाला।

"भारत-सरकार को गांधीजी से अपना एक पत्र मिस्टर जिन्ना के पास भेजने का अनुरोध प्राप्त हुआ है। इस पत्र में गांधीजी ने मिस्टर जिन्ना से मिलने की इच्छा प्रगट की है।

"गांधीजी से पत्र-व्यवहार तथा मुलाकात के संबंध में अपनी प्रकट नीति के अनुसार भारत-सकार ने उस पत्र को न भेजने का निश्चय किया है और इसकी सूचना गांधीजी और मिस्टर जिन्ना के पास भेज दी है। सरकार एक ऐसे व्यक्ति को राजनीतिक पत्र-व्यवहार की सुविधा नहीं प्रदान कर सकती जिसे एक नाजायज सामूहिक आंदोलन अग्रसर करने के लिए नजरबंद करके रखा गया है। गांधीजी ने इससे इनकार भी नहीं किया है। इस प्रकार उन्होंने एक संकट के काल में भारत के युद्ध-प्रयत्नों को धक्का पहुँचाया है। गांधीजी चाहें तो भारत-सरकार को संतोष दिला सकते हैं कि उनके द्वारा देश के सार्वजनिक जीवन में भाग लेने से कोई हानि नहीं होगी। जब तक वे ऐसा नहीं करते तब

---

१. प० सीतारामय्या—कां० का इ०, भाग ३, पृष्ठ ५०-५१।

तक उनके ऊपर लगाये गये प्रतिबंधों की जिम्मेदारी स्वयं उन्हीं पर है।"[1]

उक्त सरकारी विज्ञप्ति की देश-विदेश सब जगह आलोचना की गयी। अधिकांश व्यक्तियों ने सरकारी नीति के प्रति असंतोष प्रगट किया। भारतीय नेता, मिस्टर जिन्ना में पत्र की प्रतिक्रिया को देख रहे थे। उन्होंने 'टाइम्स आफ इंडिया को इस संबंध में निम्नलिखित आशय का वक्तव्य दिया—"गांधी जी का यह पत्र मुस्लिम लीग को ब्रिटिश सरकार से भिड़ा देने की एक चाल है ताकि उनकी रिहाई हो सके और उसके बाद वे जैसा चाहें कर सकें।........ मैंने अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के दिल्ली के अधिवेशन में जो सुझाव रखे थे उन्हें मंजूर करने या अपनी नीति में परिवर्तन करने की कोई इच्छा गांधीजी में नहीं जान पड़ती......उस भाषण में मैंने कहा था कि यदि गांधीजी मुझे पत्र लिखने, ८ अगस्त को कांग्रेस के प्रस्ताव में बतलाये गये कार्य-क्रम को समाप्त करने और इस प्रकार कदम पीछे हटा कर अपनी नीति में परिवर्तन करने और पाकिस्तान के आधार पर समझौता करने को तैयार हों तो हम पिछली बातों को भूलने को तैयार हैं। मेरा अब भी विश्वास है कि गांधीजी के ऐसे पत्र को रोकने की हिम्मत सरकार नहीं कर सकती।"[2]

सरकार हिम्मत कर सकती थी या नहीं, इस समय यह विचारणीय बात नहीं है। विचारणीय बात केवल इतनी ही है कि सरकार गांधीजी को समस्त लोगों से अलग रखने के लिए कृत-संकल्प थी। वह न तो दूसरे लोगों को उनसे मिलने देती थी और न दूसरों के संदेश उन तक और न उनके संदेश दूसरों तक पहुँचाना चाहती थी। देश के महानतम व्यक्ति के साथ इस प्रकार का बर्ताव, मानवता की दृष्टि अक्षम्य के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

गांधीजी और वाइसराय का पत्र-व्यवहार—सरकार ने गांधीजी को केवल भारतीय जनता और नेताओं से ही अलग नहीं रखा, उसने उस पत्र-व्यवहार[3] की भी सूचना जनता तक पहुँचने दी जो गांधीजी और सरकार में हुआ था। इस संबंध में उनका २३ सितंबर सन् १९४२ का पत्र विशेष रूप

१. प० सीतारामय्या—कां० का इ०, भाग ३ पृ० ५०–५१।

२. वही पृष्ठ ५१–५२।

३. गांधी जी और वाइसराय का पत्र-व्यवहार १० फरवरी सन् १९४३ को प्रकाशित किया गया था।

से उल्लेखनीय है। सरकार समस्त उपलब्ध साधनों द्वारा गांधीजी और कांग्रेस को अगस्त की क्रांति और तोड़-फोड़ के लिए उत्तरदायी ठहरा रही थी। २३ सितंबर के पत्र में गांधीजी ने निश्चय रूप से इस मत का प्रतिवाद किया। उनका मत था कि यदि सरकार उनके उस पत्र की प्रतीक्षा करती जो वे वाइस-राय को लिखने वाले थे तो देश पर किसी प्रकार की आफत न आ जाती। उस अवस्था में कथित तोड़-फोड़ निश्चित रूप से रोका जा सकता था। कांग्रेस के विरुद्ध जो कुछ कहा गया था उसके बावजूद कांग्रेस की नीति निस्संदेह अहिंसात्मक थी। तोड़-फोड़ के लिए कांग्रेस नहीं, सरकार उत्तरदायी थी। सरकार के लिए ठीक मार्ग यही था कि वह कांग्रेसी नेताओं को मुक्त कर दे, दमन के कानूनों को वापस ले ले और शांति के मार्ग को खोज निकाले।

अन्य पत्रों की अपेक्षा गांधीजी के इस पत्र की अधिक व्यापक प्रतिक्रिया हुई। प्रायः सभी लोग सरकार की उस नीति की निंदा करने लगे, जिसके कारण उसने इतने महत्व के पत्र को भी दबा कर रखा था। श्री राजगोपालाचारी के मतानुकूल, यदि पत्र या उसका मुख्य अंश उसी समय प्रकाशित कर दिया जाता, तो वे लोग जो कांग्रेस या गांधीजी के नाम पर तोड़-फोड़ के काम कर या उन्हें प्रोत्साहन दे रहे थे, उनके नाम से अनुचित लाभ उठाना छोड़ देते। सर तेजबहादुर सप्रू के विचार भी न्यूनाधिक इसी प्रकार थे। "अगर यह पत्र उसी समय प्रकाशित कर दिया जाता तो जनता को पता चल जाता कि अहिंसा के सिद्धांत में गांधीजी का विश्वास पहले की भाँति ही अडिग बना हुआ है और वे उस पर अडिग बने हुए हैं।"[1] ऐसा करने से उन लोगों के हाथ मजबूत हो जाते जो जनता से यह कह रहे थे कि तोड़-फोड़ के कामों के द्वारा वे गांधीजी के समस्त कामों पर पानी फेर रहे थे।

पर सरकार को इस बात की विशेष चिंता न थी। वह भारतीय जनता को सत्य के आधार पर समझना नहीं, अपितु अपनी शान की रक्षा के लिए दबा कर रखना चाहती थी। परिस्थिति उसके कब्जे में आ गयी थी। अतः नेताओं को जेल में बंद रख कर, अपने प्रचार-साधनों द्वारा उन्हें बदनाम कर, उनके विचारों को जनता तक पहुँचने देने को रोक कर तथा दमन के कुचक्र को चला कर वह इस बात के लिए प्रयत्नशील थी कि भारत की जनता आसानी से

---

१. प० सीतारामय्या—कां० का इ० भाग २ पृष्ठ २४।

पुनः अपना सिर न उठा सके। कालांतर उसे यह मानना पड़ा कि किसी देश की जनता को सदा दबा कर नहीं रखा जा सकता।

सांप्रदायिक समस्या के हल के प्रयत्न—निर्दिष्ट काल में सांप्रदायिक समस्या के हल के भी कई प्रयत्न किये गये। उनमें से निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

वाइसराय-जिन्ना पत्र-व्यवहार—फरवरी सन् १९४० से सितंबर सन् १९४० तक वाइसराय और मिस्टर जिन्ना में संवैधानिक समस्या के संबंध में पत्र-व्यवहार हुआ। उसमें मिस्टर जिन्ना ने निम्नलिखित बातों पर प्रकाश डाला था—

(अ) सम्राट की सरकार को कोई ऐसा उद्घोषण न करना अथवा वक्तव्य न निकालना चाहिये जो लाहौर के अधिवेशन में मुस्लिम लीग द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव के अनुसार भारत के विभाजन और उत्तरी-पश्चिमी और उत्तरी-पूर्वी भू-खंडों में मुस्लिम राज्य स्थापित करने के आधारभूत सिद्धांतों के विरुद्ध हो। अब यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि वह आदर्श अब मुस्लिम भारत का आदर्श बन गया है।

(२) सम्राट की सरकार को निश्चित और स्पष्ट शब्दों में भारत के मुसलमानों को यह आश्वासन देना चाहिये कि उनकी पूर्व अनुमति के बिना वह कोई भी अंतःकालीन अथवा अंतिम संविधान को स्वीकार न करेगी।

(३) युद्ध-जनित परिस्थिति का सामना करने के लिए यह आवश्यक है कि मुसलमानों को बराबरी के आधार पर केंद्र और प्रांतों की सरकारों में सम्मिलित किया जाय। इसका तात्पर्य यह है कि मुसलमानों के समान नेतृत्व में पूर्ण विश्वास किया जाय और उन्हें केंद्रीय और प्रांतीय सरकारों की सत्ता और नियंत्रण में समान भाग दिया जाय।

(४) युद्ध के काल में वाइसराय की कार्य-पालिका-समिति मौजूदा संविधान के अंतर्गत विस्तृत की जाय, नये सदस्य आपसी बातचीत द्वारा निर्धारित किये जायँ, यदि कांग्रेस सम्मिलित होना स्वीकार करे तो मुसलमानों को हिंदुओं के बराबर स्थान दिये जायँ, अन्यथा बढ़ाये गये सदस्यों में से अधिकांश मुसलमान हों। मिस्टर जिन्ना की अंतिम माँग का आधार यह था कि ऐसी स्थिति में मुसलमानों को समस्त उत्तरदायित्व का भार वहन करना पड़ेगा।

(५) उन प्रांतों में जहाँ का शासन अनुच्छेद ९३ के अनुसार हो रहा है, गैर-सरकारी परामर्शदाता नियुक्त किये जायँ। परामर्शदाताओं की संख्या

आपसी बातचीत द्वारा निश्चित की जाय, और गैर-सरकारी परामर्शदाताओं में अधिकांश मुसलमानों के प्रतिनिधि हों। जहाँ संयुक्त मंत्रिमंडल बन सकें वहाँ विभिन्न दल आपसी बातचीत द्वारा इस बात का निश्चय करें।

(६) वाइसराय की अध्यक्षता में एक युद्ध-समिति स्थापित की जाय जिसके अध्यक्ष सहित कम से कम १५ सदस्य हों। यह कमेटी समय-समय पर मिलकर युद्ध, रक्षा आदि के विषय में सरकार को परामर्श दे। इस कमेटी में भारतीय नरेश भी सम्मिलित किये जायँ। उनको किसी प्रकार की आपत्ति न होनी चाहिये। इसी संस्था के द्वारा नरेशों का सहयोग प्राप्त किया जा सकता है।

(७) युद्ध-समिति और गवर्नर जनरल की कार्यपालिका समिति के मुसलमान प्रतिनिधि तथा गवर्नरों के गैर-सरकारी परामर्शदाता मुस्लिम लीग द्वारा निर्वाचित हों।[1]

मिस्टर जिन्ना की इन माँगों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मुस्लिम लीग अति व्यग्रता से साथ अपने दावों को बढ़ाती चली जा रही थी। बहुसंख्यक हिंदुओं के साथ समानता का दावा इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है। कांग्रेस के सहयोग न करने पर वह समस्त भारत के शासन-भार लेने का स्वप्न देख रही थी। उसके लिए यह करना कुछ स्वाभाविक सा था। कांग्रेस के प्रति सरकार की प्रतिकूलता और अपने प्रति अनुकूलता को देख कर उसका ऐसा न करना एक आश्चर्य की बात होती।

राजगोपालाचारी का उल्लासपूर्ण (Sporting) सुझाव—जिन दिनों वाइसराय और मिस्टर जिन्ना में उपर्युक्त पत्र-व्यवहार हो रहा था, कांग्रेस चुपचाप न बैठी थी। कांग्रेस कार्य-समिति ने अपने दिल्ली के अधिवेशन में राष्ट्रीय सरकार संबंधी एक प्रस्ताव पास किया था जिसकी संपुष्टि अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने पूना के अधिवेशन में की थी। प्रस्ताव में कांग्रेस की आदर्शवादिता का बलिदान करके, आदान-प्रदान के द्वारा इस बात पर जोर दिया गया था, कि भारत की स्वाधीनता की घोषणा करना भारतीय समस्या के हल का एकमात्र साधन था। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए केंद्र में अविलंब विधान-मंडल के प्रति उत्तरदायी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना कर देनी चाहिये। मुस्लिम लीग की इस पर स्वाभाविक प्रतिक्रिया हुई। उसने प्रस्ताव का अर्थ हिंदू-राज्य की स्थापना लगाया। कांग्रेस अध्यक्ष मौलाना आजाद ने इसके स्पष्टीकरण के

---

1. Indian Year Book 1941-42 P. 916-917

लिए मिस्टर जिन्ना से संपर्क स्थापित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने तार द्वारा मिस्टर जिन्ना को यह सूचना दी कि राष्ट्रीय सरकार का अर्थ एकदलीय सरकार न होकर, सम्मिलित सरकार का स्थापित करना था। उन्होंने मिस्टर जिन्ना से यह भी पूछा कि क्या मुस्लिम लीग को किसी ऐसी अस्थायी सरकार में भी सम्मिलित होना अस्वीकार था जो भारत में दो राष्ट्रों के सिद्धांत पर आधारित न हो। मिस्टर जिन्ना ने इस तार का जो उत्तर दिया उसे शिष्ट कहना कठिन है। "मैं आप से पत्र-व्यवहार या किसी दूसरे ढंग से बातचीत नहीं करना चाहता। आप भारतीय मुसलमानों का विश्वास पूर्ण रूप से खो बैठे हैं।" अतः मुस्लिम लीग का हिंदू आधिपत्य संबंधी भय पूर्ववत् बना रहा। इसके दूर करने, और भारत-मंत्री मिस्टर एमरी की सांप्रदायिक कठिनाई को मिटाने के लिए श्री राजगोपालाचारी ने निम्नलिखित उल्लासपूर्ण प्रस्ताव प्रस्तुत किया—

"यदि सम्राट की सरकार केंद्र में अविलंब अस्थायी (Provisional) **राष्ट्रीय सरकार की स्थापना से सहमत हो जाय तो मैं अपने कांग्रेसी सहयोगियों को समझा कर यह स्वीकार करा लूँगा कि सरकार मुस्लिम लीग को प्रधान-मंत्री मनोनीत करने को आमंत्रित करे और वह जैसी ठीक समझे वैसा राष्ट्रीय सरकार का निर्माण करे। यदि सम्राट की सरकार को सचमुच इस संबंध में कुछ कठिनाई है तो मेरे इस प्रस्ताव से उसे दूर हो जाना चाहिये।"**

श्री राजगोपालाचारी के इस उल्लासपूर्ण सुझाव का कुछ भी परिणाम न निकला और भारत की सांप्रदायिक समस्या पूर्ववत् कष्टदायिनी बनी रही।

सविनय अवज्ञा और मिस्टर जिन्ना—कांग्रेस द्वारा अगस्त सन् १९४० के प्रस्तावों के अस्वीकार हो जाने के पश्चात्, सविनय अवज्ञा आंदोलन चलाया गया। उसका आधार वाक्-स्वातंत्र्य के अधिकार का संरक्षण था। मिस्टर जिन्ना ने इसके भी अपने ही अर्थ लगाये। उनके मतानुकूल कांग्रेस का उक्त आंदोलन इस उद्देश्य से चलाया गया था कि ब्रिटिश सरकार पर उसकी संकट की घड़ी पर दबाव डाला जाय और इस प्रकार वह कांग्रेस की माँग को स्वीकार कर ले। परस्पर अविश्वास के संबंध में इससे अधिक प्रभावशाली प्रमाण का मिलना कठिन है।

मद्रास का आश्चर्य-मूलक सुझाव—अप्रैल में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के अधिवेशन के ठीक पूर्व मद्रास विधान-सभा के कांग्रेसी सदस्यों

ने श्री राजगोपालाचारी के नेतृत्व में एक आश्चर्य-मूलक सुझाव प्रस्तुत किया। उनके द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी से यह सिफारिश की गयी थी कि संविधान के निर्माण के समय यदि मुस्लिम लीग भारत के विभाजन पर दृढ़ रहे तो उसका यह दावा स्वीकार कर लिया जाय। प्रस्ताव में इस बात पर भी जोर दिया गया था कि मौजूदा संकटमय परिस्थिति में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के उद्देश्य से मुस्लिम लीग को परामर्श देने के लिए आमंत्रित किया जाय और मद्रास की प्रांतीय सरकार में मुस्लिम लीग द्वारा भाग लेने का प्रयत्न किया जाय। मद्रास विधान-सभा के सदस्यों के इन सुझावों की कांग्रेसी क्षेत्रों में गंभीर प्रतिक्रिया हुई। कुछ नरम विचारवाले व्यक्ति सुझाव के समर्थक थे। पर अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने इस सुझाव को १५ के विरुद्ध १२० वोटों से गिरा दिया और पं० जगत नारायण द्वारा प्रस्तावित निम्नलिखित विरोधात्मक प्रस्ताव को पारित किया—

"अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी का मत है कि भारत के खंड-खंड करने का कोई भी ऐसा प्रस्ताव, जिसके द्वारा उसके अंगीभूत राज्यों या प्रादेशिक इकाइयों को भारतीय संघ अथवा संघ-राज्य से अलग होने का अधिकार मिले, विभिन्न राज्यों और प्रांतों की जनता और समस्त देश के हित में घातक होगा; अतः कांग्रेस इस प्रकार के किसी सुझाव को स्वीकार करने में असमर्थ है।" [1]

गिरफ्तारी के पूर्व गांधी जी का मिस्टर जिन्ना को पत्र— सांप्रदायिक समझौते का अगला प्रयत्न अगस्त क्रांति के ठीक पूर्व किया गया। डा० अब्दुल लतीफ, जिन्होंने पाकिस्तान के संबंध में महत्वपूर्ण काम किया था, और कांग्रेस अध्यक्ष मौलाना अबुल कलाम आजाद के बीच में हुए पत्र-व्यवहार में, मौलाना आजाद ने यह स्पष्टीकरण किया कि कांग्रेस कार्य-समिति ने, दिल्ली के अधिवेशन में, किसी प्रांतीय इकाई के स्वभाग्य-निर्णय के अधिकार की जो स्वीकृति दी थी वह अब तक कायम थी और उपरिलिखित पं० जगत नारायण के प्रस्ताव का उस पर किसी प्रकार का कुप्रभाव न पड़ा था। गांधी जी और मिस्टर जिन्ना दोनों के एक मित्र ने मिस्टर जिन्ना से बातचीत करने के पश्चात्, गांधी जी से इसी आशय का प्रश्न पूछा था और गांधी जी का उत्तर मौलाना आजाद की भाँति सकारात्मक था। "कांग्रेस ने कोई शेखी

1. Indian Year Book 1945-46 PP 856-57

नहीं बघारी थी, बल्कि उसने यह घोषणा सोच-समझ कर और पूरी गंभीरता के साथ की थी।"[१] कहा जाता है कि उन्होंने "युद्ध के काल में अंतःकालीन सरकार" के संबंध में एक पत्र भी मिस्टर जिन्ना को लिखा था जिसके कुछ उद्धरण, एक अज्ञात लेखक ने १९ अगस्त के टाइम्स आफ इंडिया में प्रकाशित किये थे। यह उद्धरण उस पत्र-व्यवहार से लिये गये थे जो गांधी जी और एक मुसलमान मित्र के बीच में हुआ था। गांधी जी के एक पत्र के निम्नलिखित अंश उल्लेखनीय हैं—

"आप का पत्र मिला, जिसमें आपने कायदे-आजम से अपनी आज की बातचीत का सार लिखा है। इस संबंध में मैं साफ-साफ शब्दों में कह देना चाहता हूँ कि 'हरिजन' के पिछले अंक में मैंने जब मौलाना आजाद का प्रस्ताव प्रकाशित किया था तो वह हर तरीके से एक गंभीर चीज थी। मैंने उसे पूरी जिम्मेदारी और गंभीरता से पेश किया था। आपकी सुविधा के लिए मैं उसे पुनः स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। यदि मुस्लिम लीग बिना किसी ननुनच के कांग्रेसी की तत्काल आजादी की माँग का पूर्ण रूप से समर्थन करे........ उस हालत में अगर ब्रिटेन समस्त हिंदुस्तान की तरफ से, जिसमें देशी राज्य (भारतीय रियासतें) भी सम्मिलित हैं, मुस्लिम लीग को वे सभी अधिकार सौंप दे जो आज उसके पास हैं, तो कांग्रेस को इस पर रत्ती भर भी आपत्ति न होगी।........यह बात मैं पूरी ईमानदारी और गंभीरता के साथ कह रहा हूँ। जैसा कि स्वाभाविक है, मैं आपके पत्र के उत्तर में इतनी जल्दी उस प्रस्ताव के सभी वास्तविक पहलुओं और व्यापक परिणामों पर प्रकाश नहीं डाल सकता। आप चाहें तो इसे कायदे-आजम को दिखा सकते हैं। इतना ही नहीं आप चाहें तो इसे किसी भी ऐसे व्यक्ति को दिखा सकते हैं जिसे भारत की तात्कालिक स्वतंत्रता और स्वतंत्र भारत के संबंध में दिलचस्पी हो।"[२]

इस पत्र का विशेष प्रभाव न पड़ सका। गांधी जी और कांग्रेसी नेताओं की गिरफ्तारी के परिणाम-स्वरूप देश में हाहाकार मच गया और सांप्रदायिक समस्या कुछ दिनों के लिए सुप्तावस्था में हो गयी।

---

१. वही पृ० ४०३।

२. प० सीतारामय्या कां० का इ०, भाग २, पृ० ४०८।

गांधी जी के उपवास के संबंध में मिस्टर जिन्ना की प्रतिक्रिया– आगा खाँ महल में गांधी जी के उपवास का विवरण ऊपर दिया जा चुका है।[1] उसके कारण भारत की सभी संस्थाओं तथा नेताओं ने उनकी रिहाई पर जोर दिया था। एक सर्व-दल-सम्मेलन भी आयोजित किया गया था। किंतु मिस्टर जिन्ना ने उसमें सम्मिलित होने में इनकार कर दिया। उनका मत था कि गांधी-वाइसराय पत्र-व्यवहार से यह स्पष्ट था कि मुस्लिम लीग के प्रति गांधी जी के दृष्टिकोण में किसी प्रकार का परिवर्तन न हुआ था। पुरानी बातों पर ही जोर दिया गया था और यदि वे न मानी जायँ तो सविनय अवज्ञा की धमकी दी गयी थी। अब गांधी जी ने अपनी माँग की पूर्ति के लिए एक खतरनाक उपवास का सहारा पकड़ा है। इस धमकी के परिणाम-स्वरूप अगर उनकी माँग स्वीकार कर ली जायगी या लोग उससे सहमत हो जायँगे, तो यह स्पष्ट है कि मुस्लिम माँग का विनाश और मुसलमानों के प्राणभूत और सर्वोपरि हितों का बलिदान हो जायगा। इस उप-महाद्वीप की जटिल समस्या और राजनीतिक प्रश्न, उपवास के साधन द्वारा हल नहीं किये जा सकते। मिस्टर जिन्ना के उक्त मत से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके हृदय में मानवता की अपेक्षा सांप्रदायिकता का स्थान उच्चतर था।

राजगोपालाचारी-जिन्ना पत्र-व्यवहार—मलेरिया की बीमारी[2] के कारण रिहाई के पश्चात्, जब गांधी जी पंचगनी में स्वास्थ्य-सुधार कर रहे थे, श्री राजगोपालाचारी कुछ दिनों उनके साथ थे। जुलाई सन् १९४४ में उन्होंने मिस्टर जिन्ना के साथ अपने उस पत्र-व्यवहार का हवाला दिया जो उन्होंने अप्रैल सन् १९४४ से गांधी जी की ओर से किया था और जिसको मिस्टर जिन्ना ने इस शर्त पर मुस्लिम लीग की कार्य-समिति के विचाराधीन करने का वादा किया था कि गांधी जी स्वयं उसकी योजना को उनके पास भेजें।

---

१. देखिये पृ० २०३–०४ पूर्व।

२. गांधी जी अप्रैल सन् १९४४ में मलेरिया ज्वर से पीड़ित हुए थे। उनकी हालत दिन पर दिन बिगड़ती जाती थी। अतः ७ मई सन् १९४४ को वे मुक्त कर दिये गये। जिस योजना को श्री राजगोपालाचारी ने प्रस्तुत किया उसके संबंध में उन्होंने गांधी जी से मार्च सन् १९४३ में बातचीत की थी। वही योजना परिपक्व रूप में अप्रैल सन् १९४४ में मिस्टर जिन्ना के समक्ष प्रस्तुत की गयी। गांधी जी की रिहाई के पश्चात् पंचगनी में उनसे मिल कर, उन्होंने गांधी जी को अनुमति पुनः ले ली थी।

श्री राजगोपालाचारी की योजना की निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं[1]—

(१) स्वतंत्र भारत के संविधान की नीचे दी गयी शर्तों के अधीन रहते हुए, मुस्लिम लीग भारत की स्वतंत्रता का समर्थन करती है और वह संक्रमण काल में अस्थायी अंतःकालीन सरकार की स्थापना में कांग्रेस के साथ सहयोग करेगी।

(२) युद्ध के अंत के पश्चात् एक कमीशन इस उद्देश्य से नियुक्त होगा कि वह उत्तर-पश्चिम और उत्तर-पूर्व के उन प्रदेशों का निर्धारण करे जहाँ मुसलमानों की जनसंख्या समस्त जनसंख्या की आधी से अधिक है। इन प्रदेशों में प्रौढ़ या किसी अन्य व्यावहारिक मताधिकार पर इस उद्देश्य से जन-मत-संग्रह किया जायगा कि क्या वे भारत से पृथक होना चाहते हैं। यदि बहु-संख्यक मत भारत से पृथक एक प्रभुत्व-संपन्न-राज्य स्थापित करने के पक्ष में होगा तो यह निश्चय कार्य रूप में परिणत किया जायगा। सीमा के प्रदेशों को एक या दूसरे राज्य में सम्मिलित होने का अधिकार होगा।

(३) जन-मत-संग्रह के पूर्व सब दलों को अपने अपने मत के प्रचार का अधिकार होगा।

(४) यदि निश्चय पृथक राज्य के पक्ष में हुआ तो रक्षा, व्यापार, यातायात और दूसरी आवश्यक बातों के संबंध में एक पारस्परिक समझौता होगा।

(५) जन-संख्या का हस्तांतरण केवल जनता की अपनी इच्छा के आधार पर होगा।

(६) ये शर्तें उसी हालत में लागू होंगी जब ब्रिटेन भारत के शासन का समस्त उत्तरदायित्व हस्तांतरित कर देगा।

जिस पत्र[2] में यह योजना मिस्टर जिन्ना के पास भेजी गयी थी, उसके

---

1. Indian Year Book 1945-46 P 872. हिंदू महासभा के भूतपूर्व जनरल सेक्रेटरी राजा महेश्वरदयाल सेठ के मतानुकूल यह योजना मिस्टर जिन्ना के उन सुझावों पर आधारित थी जो उन्होंने मुस्लिम लीग के लाहौर में स्वीकृत पाकिस्तान संबंधी प्रस्ताव के अनुरूप प्रस्तुत किये थे। पट्टाभि सीतारामय्या—कांग्रेस का इतिहास, तीसरा भाग, पृ० १८३।

२. यह पत्र ८ अप्रैल सन् १९४४ को मिस्टर जिन्ना के पास भेजा गया था।

उत्तर में मिस्टर जिन्ना ने अपना मत प्रगट करने मे इनकार कर दिया और कहा कि वे उसे मुस्लिम लीग की कार्य-समिति के समक्ष इस शर्त पर पेश करने को तैयार थे कि गांधी जी स्वयं उनको इस संबंध में लिखें। श्री राजगोपालाचारी ने एक सप्ताह पश्चात् उनसे अपने निर्णय के दोहराने की अपील की। इसका जवाब न आने पर श्री राजगोपालाचारी ने तार द्वारा उन्हें इसका स्मरण कराया और कहा कि गांधी जी इस योजना से सहमत थे। उन्होंने यह भी लिखा था कि वे योजना और मिस्टर जिन्ना द्वारा उसकी अस्वीकृति को छपवाना चाहते थे। "यह तार गांधी जी की अनुमति से भेजा जा रहा है। मैं इस समय आपकी अस्वीकृति पर आपसे पुनर्विचार करने की इच्छा प्रगट करता हूँ।"[1] इस पर मिस्टर जिन्ना कुछ झुलझुला से गये। उत्तर में उन्होने कहा— "आपकी अपनी योजना को प्रकाशित करने की इच्छा का समाचार। आपका यह कहना कि मैंने योजना को अस्वीकार कर दिया है, गलत है। यह अन्यायपूर्ण और आश्चर्यजनक भी है। सच्ची बात यह है कि मैं आपकी योजना को मुस्लिम लीग की कार्य-समिति के विचाराधीन करने को तैयार था, यद्यपि उसमें किसी प्रकार के संशोधन की गुंजाइश न थी। आप मेरी इस कार्रवाई से सहमत न थे। अतः कोई दूसरी कार्रवाई नहीं की गयी। मेरी प्रतिक्रिया यह थी कि मैं स्वयं उसके स्वीकार अथवा अस्वीकार करने की जिम्मेवारी अपने ऊपर न ले सकता हूँ। आज भी मेरी यही स्थिति है। इतना हो जाने पर भी यदि गांधी जी स्वयं मेरे पास उस योजना को भेजेंगे, तो मैं उसे मुस्लिम लीग की कार्य-समिति के समक्ष रखने को तैयार हूँ।"[2] तार के जरिये कुछ और पत्र-व्यवहार हुआ पर कुछ परिणाम न निकला। अंत मे ८ जुलाई सन् १९४४ को श्री राजगोपालाचारी ने उक्त निजी बातचीत की समाप्ति की घोषणा की और सारा पत्र-व्यवहार प्रकाशित करवा दिया।

देसाई-लियाकत अली समझौता—सन् १९४४-४५ के जाड़े में समस्या के हल का एक और प्रयत्न किया गया। इसे साधारण बोल-चाल मे देसाई-लियाकत अली पैक्ट कहते हैं। सितंबर सन् १९४५ मे मिस्टर लियाकत अली ने इसके संबंध में निम्नलिखित प्रकाश डाला—"मिस्टर देसाई ने कांग्रेस और मुस्लिम लीग मे एक अंतरिम समझौते की योजना बनायी थी।

---

1. Indian Year Book 1945-46 P. 872
2. Ibid P. 872

यह बात जाहिर है कि उसके संबंध में वे लॉर्ड वैवेल से बातचीत कर चुके थे। यद्यपि उसकी मुख्य बातें संशोधित कर दी गयीं तो भी उन्हीं के आधार पर वाइसराय ने अपने जून सन् १९४५ के प्रस्ताव प्रेषित किये थे और शिमला का सम्मेलन हुआ था।'' समझौते की मुख्य बातें इस प्रकार थीं—

(१) कांग्रेस और लीग दोनों इस बात पर सहमत हैं कि वे मिलकर केंद्रीय अंतःकालीन सरकार का निर्माण करेंगी। इस सरकार की रचना निम्न-लिखित प्रकार की होगी—

(अ) केंद्रीय कार्यपालिका में कांग्रेस और मुस्लिम लीग द्वारा बराबर सदस्यों का मनोनीत किया जाना। इन सदस्यों के लिए केंद्रीय विधान-मंडल का सदस्य होना अनिवार्य न था ;

(ब) अल्प-संख्यकों विशेषतया सिक्खों और अनुसूचित (Scheduled) जातियों के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था ;

(स) प्रधान सेनापति।

(२) इस सरकार की नियुक्ति और कार्य-संचालन मौजूदा भारतीय शासन-संबंधी अधिनियम के अंतर्गत होगा। किंतु यदि मंत्रिमंडल किसी प्रस्ताव को लेजिस्लेटिव असेंबली द्वारा पारित कराने में असमर्थ रहेगा, तो वह गवर्नर जनरल या वाइसराय के विशेष अधिकारों के प्रयोग द्वारा जबर-दस्ती कार्यान्वित न किया जायगा। इस प्रकार उनको गवर्नर जनरल के हस्तक्षेप से मुक्ति मिल जायगी।

(३) कांग्रेस और लीग इस बात पर सहमत हैं कि यदि इस प्रकार की अंतःकालीन सरकार बनी तो वह सब से पहले कांग्रेस कार्य-समिति के सदस्यों के संबंध में कार्रवाई करेगी।

(४) जिन साधनों से इस लक्ष्य की पूर्ति की जाय वे इस समय निम्न-लिखित हैं—

इस समझौते के आधार पर कोई ऐसा तरीका निकालना चाहिये जिसके द्वारा गवर्नर जनरल इस आशय का सुझाव रखें अथवा संकेत दें कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग में समझौते के आधार पर वह केंद्र में अंतरिम सरकार की स्थापना करना चाहते हैं। जब वाइसराय, मिस्टर जिन्ना और मिस्टर देसाई को अलग अलग या एक साथ आमंत्रित करें तो समझौते को प्रेषित करके यह घोषित करना चाहिये कि वे अंतःकालीन सरकार बनाने को तैयार थे।

दूसरा कदम प्रांतों में अनुच्छेद ९३ के शासन का अंत करना और यथा-शीघ्र संयुक्त आधार पर प्रांतीय सरकारों का निर्माण करना था।

सांप्रदायिक समझौते का यह प्रयत्न भी पूर्व प्रयत्नों की भाँति निष्फल रहा।

गांधीजी की रिहाई—सांप्रदायिक समस्या के हल के प्रयत्नों को एक स्थान पर एकत्रित करने के उद्देश्य से हमने गांधीजी की बीमारी का उल्लेख केवल संक्षेप में ही किया है। यह घटना उतनी ही महत्वपूर्ण थी, जितनी उपरिवर्णित कोई भी दूसरी घटना। अगस्त सन् १९४२ में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा आंदोलन संबंधी प्रस्ताव के पारित होने के पश्चात, वे गिरफ्तार करके आगा खाँ महल में बंद कर दिये गये थे। वहीं उन्होंने अपना २१ दिन का उपवास किया था। यद्यपि उनकी हालत चिंता-जनक हो गयी थी, तो भी सरकार ने उनको मुक्त करने से इनकार कर दिया था। कस्तूरबा और महादेव देसाई को वे वहीं खो बैठे थे। पर सरकार टस-से-मस न हुई। उनके संबंध में उनकी भावनाएँ बड़ी मार्मिक[1] थीं। तिस पर भी गांधी जी उसी स्थान पर रखे गये जहाँ उनका निधन हुआ था। १४ अप्रैल सन् १९४४ को वे बीमार पड़ गये। उनकी हालत बिगड़ने लगी और देश-विदेश चारों तरफ से सरकार पर उनकी रिहाई के लिए दबाव पड़ा। ऐसा विदित होता था कि इस बार भी सरकार उनको न छोड़ने पर दृढ़ रहेगी। रिहाई के एक या दो दिन पहले भारत मंत्री मिस्टर एमरी ने कहा था कि जेल के भीतर और बाहर वाले कांग्रेस-जनों में संपर्क स्थापित करने की अनुमति वे नहीं दे सकते थे। इसका समस्त उत्तर-दायित्व, उनके मतानुकूल, वाइसराय पर था। ७ मई सन् १९४४ को गांधीजी आगा खाँ महल से मुक्त कर, तथा पूना में लेडी ठाकुरसी के सुविख्यात स्थान 'पर्णकुटी' को पहुँचा दिये गये। जो काम मनुष्य की तमाम शक्तियाँ न कर सकी थीं, उसे मलेरिया के कीटाणुओं ने कर दिखाया। रिहाई की जिम्मेदारी वास्तव में किसकी थी, यह बतलाना कठिन है। वाइसराय इस समय दिल्ली में

---

१. रिहाई के दिन गांधी जी उनकी समाधियों पर अंतिम श्रद्धांजलि चढ़ाने गये। "उनमे हमारी दो प्यारी आत्माएँ सो रही थीं। मैं सोच रहा था कि यदि हमारी रिहाई तीन महीने पहले हो जाती तो हम बा को भी अपने साथ ले जाते। एकाएक मुझे ख्याल आया कि बा में सबसे अधिक मातृत्व की भावना थी। वे महादेव को हमेशा के लिए अकेला छोड़ कर कैसे जा सकती थीं। अतः वे वहीं पर रह गयी।" —पट्टाभि सीतारामय्या, कां० का इ०, भाग ३, पृ० १५४।

न थे। केंद्रीय कार्य-पालिका के केवल दो ही सदस्य राजधानी में थे। रिहाई का निर्णय करने में क्या उनका परामर्श लिया गया था ? लोगों को इस बात का भी पता न था कि उन दिनों वाइसराय कहाँ थे। कुछ लोगों का अनुमान था कि वे रिहाई के संबंध में परामर्श लेने के लिए विलायत गये हुए थे। इस बात पर भी इस समय निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। किंतु इतना तो अवश्य ही कहा जा सकता है कि उनकी रिहाई के कारण चारों ओर आशा की लहर दौड़ गयी थी, और प्रायः सभी लोग गांधीजी की ओर एकटक इस लिए देख रहे थे कि स्वास्थ्य-लाभ के पश्चात वे किस दिशा में पग उठायेंगे।

रिहाई के पश्चात—रिहाई के पश्चात २० मई सन् १९४४ को गांधीजी ने एक पत्र डा० एम० आर० जयकर के नाम भेजा। अपनी बीमारी पर खेद-प्रकाश के पश्चात, उन्होंने उसमें यह लिखा था कि वे २६ तारीख तक चुप थे। इस बीच में वे श्री प्यारेलाल को उनके पास भेजना चाहते थे। पत्र में इस बात का भी उल्लेख था कि वे अगस्त के प्रस्ताव को वापस नहीं ले सकते थे। "जैसा आप लिख चुके हैं, वह दोषहीन है। उसके समर्थन के बारे में शायद आपका मत मुझसे न मिले, लेकिन मुझे तो वह प्राण के समान प्रिय है।"[1] गांधीजी के इस पत्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे बंबई में अखिल-भारतीय-कांग्रेस-कमेटी द्वारा पारित प्रस्ताव को ठीक समझते थे और उसे वापस लेने को तैयार न थे। सरकार पर इस पत्र का वही प्रभाव पड़ा, जिसका पड़ना तत्कालीन परिस्थिति में स्वाभाविक था।

१७ जून सन् १९४४ को गांधीजी ने एक पत्र वाइसराय के नाम लिखा। उसमें कांग्रेस कार्य-समिति के सदस्यों से मिलने की अनुमति माँगी गयी थी, और इस विषय में फैसला करने के पहले इस बात की प्रार्थना की गयी थी, कि वाइसराय उनसे मिलना स्वीकार कर लें। "........देश भर और शायद बाहर वाले भी, सर्व-साधारण के लिए, मुझसे कोई ठोस कार्य करने की उम्मीद रखते हैं।.......बिल्कुल अच्छा होने पर भी मैं कांग्रेस की कार्य-समिति के विचार के बिना क्या कर सकता था ? कैदी की हैसियत से मैंने उससे मिलने की इजाजत माँगी थी। अब एक आजाद व्यक्ति की हैसियत से उससे मिलने की इजाजत माँगता हूँ। यदि इस विषय में कोई फैसला करने से पहले आप

१. प० सीतारामय्या—कां० का इ० भाग २ पृष्ठ ६९०।

मुझसे मिलना मंजूर कर लें तो डाक्टरों द्वारा लंबी सफर की इजाजत देते ही, जहाँ आप चाहेंगे, वहीं आने के लिए मैं खुशी से तैयार हो जाऊँगा।"[१] पत्र के अंत में गांधीजी ने उस पत्र-व्यवहार के प्रकाशन की अनुमति माँगी, जो सन् १९४२ की क्रांति के विषय में गांधीजी और उनके बीच में हुई थी। उत्तर में वाइसराय ने न तो उनसे मिलना स्वीकार किया, और न उन्हें कार्य-समिति से मिलने की इजाजत दी। उनके पत्र के निम्नलिखित अंश उल्लेखनीय हैं—"........पिछले पत्र-व्यवहार में हम दोनों के दृष्टि-कोण में जो उग्र मतभेद प्रकट हुआ है, उसे देखते हुए मैं महसूस करता हूँ कि अभी हमारे मिलने से कोई लाभ न होगा और उससे केवल ऐसी आशाएँ उत्पन्न होंगी, जो पूरी नहीं हो सकतीं। यही बात आपके द्वारा कार्य-समिति से मिलने के बारे में कही जा सकती है। आप 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव के प्रति सार्वजनिक रूप से अपनी सहमति प्रगट कर चुके हैं, जिसे मैं भविष्य के लिए तर्क-संगत और व्यावहारिक नीति नहीं मानता।" वाइसराय ने अपने पत्र में यह भी लिखा कि यदि गांधीजी भारत के हित के लिए किसी रचनात्मक नीति का सुझाव पेश करेंगे तो वे उस पर खुशी से विचार करेंगे। पत्र-व्यवहार के प्रकाशन के संबंध में उन्होंने लिखा कि गांधीजी की नजरबंदी के समय लिखे गये समस्त राजनीतिक पत्रों के प्रकाशन का आदेश दिया जा चुका था।

वाइसराय के पत्र के एक सप्ताह के भीतर गांधीजी ने, रिहाई के पश्चात अपने प्रथम सार्वजनिक भाषण में, महाराष्ट्र के कांग्रेसवादियों को यह सलाह दी कि उन्हें निर्धारित समय में, लक्ष्य के प्राप्त न होने के कारण, हतोत्साह नहीं होना चाहिये। वे स्वयं एक क्षण के लिए भी हतोत्साह नहीं हुए थे। इसके लिए अपने में दृढ़ विश्वास की आवश्यकता थी। सांप्रदायिक समस्या राजनीतिक संकट और खाद्य-स्थिति की ओर संकेत करके गांधीजी ने कहा कि इन सबके लिए उनके पास एक ही उत्तर था किंतु उस सभा में वे उसे बतलाने के लिए तैयार न थे। भारत के दुखों का एक मात्र हल वास्तविक राष्ट्रीय सरकार की स्थापना थी। इसके लिए यह आवश्यक था कि भारत स्वतंत्र हो। उन्होंने, सत्य, अहिंसा और बुराई से असहयोग में अपना असीम विश्वास प्रकट किया और यह स्पष्ट कर दिया कि वे केवल अपनी ओर से बोल

---

१. प० सीतारामय्या—कां० का इ० भाग ३, पृष्ठ १६८।

रहे थे। गिरफ्तारी के पश्चात कांग्रेस के प्रतिनिधि की हैसियत से उनकी सत्ता की इतिश्री हो गयी थी।

६ जुलाई सन् १६४४ को 'न्यूज क्रानिकिल' के प्रतिनिधि मिस्टर स्टुअर्ट गिल्डर ने गांधीजी से भेंट की। तीन दिन में कुल मिला कर तीन घंटे के समय में गांधीजी ने उन्हें राजनीतिक महत्व की अनेक बातें बतलायीं। उनमें से निम्नलिखित विशेष महत्व की थीं—(१) वे कांग्रेस को ऐसी युद्धकालीन राष्ट्रीय सरकार में भाग लेने को परामर्श देने के लिए तैयार थे जिसके अधीन समस्त असैनिक विभाग हों और वाइसराय और प्रधान-सेनापति का ब्रिटिश और भारतीय सेनाओं पर पूरा नियंत्रण हो। ऐसी सरकार की स्थापना के साथ-साथ युद्ध के पश्चात् भारत की स्वतंत्रता की गारंटी होनी चाहिये। (२) गांधीजी ने श्री राजगोपालाचारी के सुझाव से अपनी सहमति प्रगट की। (३) उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि कांग्रेस कार्य-समिति की अनुमति के बिना वे कांग्रेस के नाम पर कुछ भी न कह सकते थे यद्यपि उन्हें इस बात का विश्वास था कि कार्य-समिति उनके विचारों और हिंदू-मुस्लिम समस्या के संबंध में उनके सुझावों को बिना संकोच स्वीकार कर लेगी। (४) मिस्टर गिल्डर के इस प्रश्न पर, कि कार्य-समिति की रिहाई के पश्चात क्या वे सविनय अवज्ञा पुनः आरंभ कर देंगे, गांधीजी ने कहा "आज मैं सविनय अवज्ञा नहीं करना चाहता। मैं देश को सन् १६४२ की ओर नहीं ले जा सकता। इतिहास को दोहराया नहीं जा सकता। यदि कांग्रेस के आदेश के बिना सर्व-साधारण पर अपने तथाकथित प्रभाव के कारण, मैं सत्याग्रह आरंभ करना चाहूँ तो कर सकता हूँ किंतु मेरे लिए ऐसा करना ब्रिटिश सरकार को परेशानी में डाल देगा, और यह मेरा ध्येय कभी भी नहीं हो सकता। (५) मिस्टर गिल्डर के यह कहने पर कि ऐसी स्थिति में युद्ध के काल में सत्ता का हस्तांतरण कठिन था, गांधीजी ने कहा कि 'आज और सन् १६४२ की स्थिति में बड़ा अंतर था। आज भारत असैनिक बातों के प्रशासन में ही राष्ट्रीय सरकार स्वीकार कर लेगा। सन् १६४२ की स्थिति इससे भिन्न थी। (६) मिस्टर गिल्डर के इस प्रश्न पर कि यदि वाइसराय आपको मिलने के लिए बुलावें तो आप उनसे क्या कहेंगे, गांधीजी ने कहा, "मैं उनसे कहूँगा कि मैंने आपसे भेंट करने की प्रार्थना; मित्र-राष्ट्रों के प्रयत्नों को रोकने के लिए नहीं, वरन् सहायता पहुँचाने के लिए की थी। लेकिन कांग्रेस-कार्य-समिति के सदस्यों का परामर्श लिये बिना मैं कुछ भी नहीं कर सकता। मेरी गिरफ्तारी के कारण मेरी वह सत्ता

समाप्त हो गयी थी जो अगस्त के प्रस्ताव द्वारा प्राप्त हुई थी। मेरी रिहाई के कारण मुझे वह सत्ता फिर से नहीं मिल गयी है। (७) मिस्टर गिल्डर के यह कहने पर कि वाइसराय उस समय तक कार्य-समिति का अधिवेशन न होने देंगे जब तक उन्हें यह ज्ञात न हो जाय कि गांधीजी उसको किस प्रकार प्रभावित करेंगे, गांधीजी ने कहा, "सारी स्थिति पर नये सिरे से विचार करना होगा। मैं यह जानने के लिए कार्य-समिति से विचार-विनिमय करूँगा कि रिहाई के पश्चात, मुझे जो बातें ज्ञात हुई हैं, उन पर उसकी क्या प्रतिक्रिया होती है। मैं उस कहानी को वहीं से शुरू करना चाहता हूँ, जहाँ पर सरकार ने उसे १६४२ में रोक दिया था। मैं वाइसराय से मिल कर बातचीत करना चाहता था, और उसकी विफलता पर, यदि मैं चाहता, तो सविनय अवज्ञा आंदोलन आरंभ कर सकता था। मैं वाइसराय के समक्ष अपने पक्ष को उपस्थित करना चाहता था। यह मैं तभी कर सकता हूँ जब मुझे कार्य-समिति के विचारों का ज्ञान हो।"[1]

१५ जुलाई सन् १६४४ को गांधी जी ने वाइसराय के नाम पुनः एक पत्र लिखा। भारतीय समाचार-पत्रों में मिस्टर गिल्डर द्वारा प्रकाशित अपने विचारों की ओर संकेत करते हुए उन्होंने उनसे अपनी उस प्रार्थना को मंजूर करने को कहा जो उन्होंने अपने १७ जून वाले पत्र में की थी। उत्तर में वाइसराय ने कहा, "मैंने आपके उन वक्तव्यों को पढ़ा है जो आपने मिस्टर गिल्डर को दिये हैं। बाद में किये गये स्पष्टीकरण को भी मैं जानता हूँ। मैं उपयोगिता की दृष्टि से उनकी आलोचना न करके अपने पिछले पत्र की इस बात को दोहराना चाहता हूँ कि यदि आप किसी निश्चित रचनात्मक योजना को मेरे समक्ष उपस्थित करेंगे तो मैं सहर्ष उस पर विचार करूँगा।" उत्तर में गांधी जी ने अपना रचनात्मक सुझाव प्रस्तुत किया जिसमें निम्नलिखित बातों का उल्लेख था—(१) परिवर्तित परिस्थिति के कारण अगस्त सन् १६४२ में प्रस्तावित सविनय अवज्ञा आंदोलन शुरू नहीं किया जा सकता। (२) युद्ध-प्रयत्नों में कांग्रेस को पूर्ण-सहयोग इस शर्त पर देना चाहिये कि सम्राट की सरकार भारतीय स्वतंत्रता की घोषणा कर दे और केंद्रीय असेंबली के प्रति उत्तरदायी केंद्रीय सरकार की स्थापना करे। युद्ध के काल में मौजूदा सैनिक प्रशासन जारी रहेगा, किंतु इसके परिणाम-स्वरूप भारत पर नया वितीय भार न पड़ना चाहिये। इसके उत्तर में वाइसराय ने पुरानी बातों को दोहराते हुए कहा कि युद्ध के

---

1. Indian Year Book 1945-46 872-73

पश्चात् सम्राट की सरकार भारत की स्वाधीनता का वचन दे चुकी थी, किंतु युद्ध के काल में वह भारत के संविधान को बदलने के लिए तैयार न थी। उत्तरदायी सरकार के सुझाव में संविधान के संशोधन का भाव विद्यमान था। अतः जिस सुझाव को गांधी जी ने प्रस्तुत किया था उसके आधार पर बातचीत न की जा सकती थी। "यदि हिंदुओं, मुसलमानों और महत्वपूर्ण अल्प-संख्यकों के नेता मौजूदा संविधान के अंतर्गत संक्रमणकालीन केंद्रीय सरकार की स्थापना के संबंध में समझौता कर लें, तो मेरे विचार में, बहुत कुछ प्रगति हो सकती है।" इस उत्तर की गांधी जी पर स्वाभाविक प्रतिक्रिया हुई। उत्तर से स्पष्ट था ब्रिटिश सरकार ४० करोड़ व्यक्तियों पर अपना आधिपत्य तब तक बनाये रखना चाहती थी जब तक वे उससे सत्ता छीनने के योग्य नहीं हो जाते। "फिर भी मैं यह आशा नहीं छोड़ सकता कि भारत विशुद्ध नैतिक ढंग से इस बात मे सफलता प्राप्त कर लेगा।"

इसी बीच में गाधी जी ने रचनात्मक कार्य-क्रम पर भी जोर दिया। वे अब भी सत्य और अहिंसा के समर्थक थे। लुक-छिप कर कार्रवाई करना उन्हें नापसंद था। तोड़-फोड़ के कामों की गणना वे हिंसा के कामों में करते थे। अन्य देशों में संपत्ति का विनाश और यातायात के साधनों का ठप करना इस शर्त पर भले ही अहिंसात्मक समझा गया हो कि जीव-हत्या न हुई थी, पर किसी भी देश में भारत की भाँति सत्य और अहिंसा के ही आधार पर स्वाधीनता की लड़ाई नहीं लड़ी गयी थी। उन्हें इस बात में लेशमात्र भी संदेह न था कि लुके-छिपे अथवा तोड़-फोड़ की कार्रवाई करने वालों ने आंदोलन को हानि पहुँचायी थी। अपने रचनात्मक कार्य क्रम में उन्होंने निम्नलिखित बातों पर जोर दिया—सांप्रदायिक एकता; अस्पृश्यता का निवारण; मद्य-निषेध; खादी; दूसरे देहाती उद्योग; देहातों का स्वास्थ्य-सुधार; बुनीयादी शिक्षा, पौढ़ शिक्षा, स्त्रियों का उत्थान; आदिम जातियों की सेवा; स्वास्थ्य और सफाई की शिक्षा; राष्ट्र-भाषा के लिए प्रचार-कार्य; मातृ भाषा के प्रति अनुराग; आर्थिक समता के कृत्य। इस रचनात्मक कार्य-क्रम से यह विदित होता है कि गांधीजी के विचार देहातों की ओर अधिक झुक रहे थे। कस्तूरबा-निधि का रुपया भी देहातियों के उत्थान के लिए प्रयुक्त किया जाने को था।

वाइसराय का दिसंबर सन् १९४४ का भाषण—दिसंबर सन् १९४४ में वाइसराय ने एसोशियेटेड चैंबर्स ऑफ कॉमर्स (Associated Chambers of Commerce) में भाषण देते हुए भारतीय समस्या पर

पुनः प्रकाश डाला। "मेरा इस बात में विश्वास नहीं कि अब भारत और ब्रिटेन में महत्वपूर्ण सैद्धांतिक भेद हैं या सांप्रदायिक समस्या, कठिन होते हुए भी, हल नहीं की जा सकती। मुझे इस बात में भी विश्वास नहीं है, कि हम अपनी समस्या को, एक दूसरे को दोषी ठहरा या पुरानी भूलों और शिकायतों को बार-बार दोहरा कर, हल कर सकते हैं। हमारी एक-मात्र आशा इस बात में है कि हम सब मिल कर काम करने का निश्चय करें और काम आरंभ करने के पूर्व ब्यौरे की बातों या सब कुछ निर्णीत करने का प्रयत्न न करें।" लोगों की इस माँग का, कि सम्राट की सरकार समझौता कराने का पुनः प्रयत्न करें, उल्लेख करते हुए लॉर्ड वैवेल ने कहा, "आजकल पुनः इस माँग का फैशन हो गया है कि सम्राट की सरकार संकट के दूर करने का पुनः प्रयत्न करे। पूर्वकालीन सुझावों की अस्वीकृति के कारण सम्राट की सरकार स्वभावतः उस समय तक नये सुझावों को प्रस्तुत करने में सावधानी से काम लेगी जब तक उसे यह प्रतीत न हो कि समझौते और सहयोग की वास्तविक भावना लोगों में आ गयी है। फिर भी वह समझौते के लिए हृदय से इच्छुक है और मैंने उसे उन बातों के बतलाने का प्रयत्न किया है जिनके आधार पर यदि भारतीय नेता चाहें तो, समझौते की ओर प्रगति की जा सकती है।"

सांप्रदायिक समस्या के हल के प्रयत्न—गांधीजी ने केवल राजनीतिक समस्या के हल का ही नहीं, बरन् सांप्रदायक समस्या के हल का भी प्रयत्न किया। उनकी रिहाई के पश्चात् के दो प्रयत्नों (राजगोपालाचारी सुझाव, और देसाई-लियाकत अली समझौते) का विवरण ऊपर दिया जा चुका है। पहले के संबध में गांधीजी की सहमति भी ले ली गयी थी। पर राजनीतिक समस्या के हल की भाँति वे भी असफल रहे।

रिहाई के पश्चात् की वास्तविक स्थिति—गांधीजी की रिहाई के पश्चात्, देश की राजनीतिक स्थिति की निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—

१—गांधीजी ने स्वयं सत्याग्रह आंदोलन का सूत्रपात नहीं किया था। अतः यदि लोगों ने कुछ कर डाला था, तो उनके बारे में निर्णय देने का उत्तरदायित्व वे अपने ऊपर लेने में असमर्थ थे।

२—वे अगस्त के प्रस्ताव को वापस लेने को तैयार न थे। वह उन्हें प्राण के समान प्रिय तथा दोषहीन था।

३—सत्य और अहिंसा में उनका विश्वास पूर्ववत् अडिग था। वे लोगों

को हिंसा न करने की चेतावनी दे रहे थे। उसके मतानुकूल तोड़-फोड़ के कामों द्वारा आंदोलन को लाभ न हुआ था, वरन् हानि पहुँची थी।

४—सन् १९४४ की परिस्थिति सन् १९४२ से भिन्न थी। अतः वे केंद्र में ऐसी राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के समर्थक हो गये थे जो केंद्रीय असेंबली के प्रति उत्तरदायी होते हुए युद्ध के काल में असैनिक बातों का ही शासन करती और सैनिक बातें तथा भारतीय और ब्रिटिश सेनाएँ वाइसराय और प्रधान सेनापति के अधीन रहतीं।

५—उक्त बातें गांधीजी इसी शर्त पर मानने को तैयार थे कि युद्ध के पश्चात् भारत की पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा कर दी जाय।

६—राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के पूर्व, गांधी जी सांप्रदायिक समस्या के हल को आवश्यक न समझते थे, पर वे उसके लिए प्रयत्नशील अवश्य थे।

७—गांधी जी पुनः सविनय अवज्ञा आंदोलन चलाने के पक्ष में न थे।

८—वे इस मत के हो गये थे कि राष्ट्रीय सरकार युद्ध के प्रयत्नों में सरकार की सहायता करे।

९—वे इन बातों को अपनी ओर से कह रहे थे। गिरफ्तारी के कारण वे कांग्रेस के प्रतिनिधि न रह गये थे। अतः वे कार्य-समिति से मिलने तथा उसे परिस्थिति से अवगत कराके, उसे अपने विचारों के अनुकूल प्रभावित करने के लिए इच्छुक थे।

१०—ब्रिटिश सरकार और भारत-सरकार के विनिश्चयों के कारण उन्हें इस बात का विश्वास हो गया था कि ब्रिटिश सरकार उस समय तक सत्ता-हस्तांतरण के लिए तैयार न थी, जब तक वह उससे जबर्दस्ती न छीन ली जाय।

गांधी जी के इन विचारों तथा आंतरिक और बाह्य प्रभावों के कारण यह अनिवार्य था कि संवैधानिक संकट के दूर करने के लिए एक नवीन प्रयत्न किया जाता। कालांतर में वैवेल की योजनाओं के द्वारा इस दिशा में एक नवीन पग उठाया गया।

१०

लॉर्ड वैवेल की योजनाएँ

लॉर्ड वैवेल की लंदन-यात्रा—वैवेल की प्रथम योजना—सुझाव का विश्लेषण—भारतीय लोकमत की प्रतिक्रिया—कांग्रेस कार्य-समिति की रिहाई—शिमला सम्मेलन—परिवर्तित परिस्थिति—लॉर्ड वैवेल की दूसरी योजना—घोषणा का विश्लेषण—निर्वाचन और उसका नतीजा—पार्लमेंटरी शिष्ट-मंडल के भेजे जाने की घोषणा—आजाद हिंद फौज के अभियुक्तों की रिहाई।

लॉर्ड वैवेल की लंदन-यात्रा—वाइसराय और गांधीजी के पत्र-व्यवहार के पश्चात् लगभग छः महीने बीत चुके थे। गांधीजी रचनात्मक कार्य-क्रम की ओर झुक गये थे और वाइसराय अपने भाषणों द्वारा उन्हीं बातों को दोहरा रहे थे जिन्हें गांधीजी अस्वीकार कर चुके थे। सांप्रदायिक समस्या पूर्ववत बनी हुई थी। मिस्टर लियाकत अली के मतानुकूल, असेंबली में कांग्रेस पार्टी के नेता श्री भूला भाई देसाई इन दिनों वाइसराय से इस विषय में कुछ बातचीत कर रहे थे। एकाएक २१ मार्च सन् १९४५ को यह घोषित किया गया कि लॉर्ड वैवेल हवाई जहाज द्वारा विलायत चले गये हैं। उनके जाने के कारणों के संबंध में तरह तरह की अफवाहें फैल गयीं। वे स्वतः विलायत गये थे या आमंत्रित होने पर? स्वतः जाना कुछ कठिन सा था। संभवतः वे भारत-मंत्री द्वारा आमंत्रित किये गये थे। उनके आगमन के संबंध में भारत-मंत्री ने कहा था कि उस अवसर से लाभ उठा कर संवैधानिक स्थिति पर विचार तो अवश्य किया जायगा, पर उससे विशेष लाभ की आशा न थी। मिस्टर चर्चिल और उनके भारत संबंधी विचारों से सभी लोग परिचित थे। अतः कैबीनेट के दूसरे सदस्यों के

अनुकूल तथा लोकमत और अंतर्राष्ट्रीय दबाव के भारत के पक्ष में होते हुए भी, वाइसराय को ऐसा प्रतीत होने लगा कि वे अपने उद्देश्य की पूर्ति में असफल होंगे। एकाएक ७ मई सन् १९४५ को युरुप में महासमर की इतिश्री हो गयी। इससे लॉर्ड वैवेल के प्रयत्नों में पुनः जान आ गयी। ब्रिटिश पार्लमेंट के पुनर्निर्वाचन की चर्चा होने लगी। मजदूर दल ने, युद्ध के काल में, आपात के कारण, अनुदार दल से सहयोग करके राष्ट्रीय सरकार बनाने का निश्चय किया था। युद्ध के अंत के कारण इस सहयोग की आवश्यकता न रह गयी थी। अतः ५ जुलाई सन् १९४५ को पार्लमेंट का नया निर्वाचन हुआ और ८ जुलाई को इंगलैंड में मजदूर दल की सरकार स्थापित हुई। जिन परिस्थितियों के परिणाम-स्वरूप इगलैंड में उक्त परिवर्तन हुए थे, उनका प्रभाव भारत पर पड़े बिना न रह सकता था। युद्ध-बंदी के लगभग चार सप्ताह पश्चात् लार्ड वैवेल भारत को लौटे और एक सप्ताह की चिंताजनक प्रतीक्षा के पश्चात १४ जून सन् १९४५ को, उन्होंने रेडियो से अपनी पहली योजना का प्रसारित किया।

लॉर्ड वैवेल की योजना—लॉर्ड वैवेल की योजना इस प्रकार थी—

"सम्राट की सरकार ने मुझे कुछ ऐसे सुझाव प्रस्तुत करने का अधिकार दिया है जिनका उद्देश्य मौजूदा भारतीय राजनीतिक परिस्थिति का सुलझाना तथा भारत को पूर्ण स्वशासन के लक्ष्य की ओर अग्रसर करना है। इस समय भारत-मंत्री इन्हें पार्लमेंट को समझा रहे हैं। इस प्रसारण में मेरा उद्देय आपको यह बतलाना है कि सुझाव क्या हैं, वे किन विचारों पर आधारित हैं और उन्हें किस प्रकार कार्यान्वित करने की मेरी इच्छा है?

"सुझावों द्वारा भारत के साथ कोई संवैधानिक समझौता करने, या उस पर संवैधानिक समझौता लादने का प्रयत्न नहीं किया है। सम्राट की सरकार को आशा थी कि भारतीय दलों के नेता, सांप्रदायिक समस्या को, जो एक बहुत बड़ी रुकावट के समान है, स्वयं हल कर सकेंगे। किंतु यह आशा पूरी न हुई।

"इस बीच में भारत को बड़े-बड़े अवसर मिले और महत्वपूर्ण समस्याएँ हल के लिए उसके समक्ष आयीं। इनके लिए यह आवश्यक है कि सब दलों के नेता मिल कर प्रयत्न करें। इस लिए सम्राट की सरकार की पूर्ण अनुमति से मैं भारत की केंद्रीय और प्रांतीय राजनीति के नेताओं की एक ऐसी (केंद्रीय) कार्य-पालिका समिति के निर्माण के संबंध में, परामर्श लूँगा जो संगठित राज-

नीतिक मतों का प्रतिनिधित्व कर सके। प्रस्तावित कार्य-पालिका समिति में भारत के विभिन्न संप्रदायों के प्रतिनिधि होंगे, और सजातीय हिंदुओं और मुसलमानों का समान प्रतिनिधित्व होगा। यदि बन गयी तो वह मौजूदा सविधान के अंतर्गत काम करेगी किंतु वाइसराय और प्रधान सेनापति के अतिरिक्त वह पूर्णतया भारतीयों की समिति होगी। प्रधान सेनापति युद्ध-सदस्य बने रहेंगे।

"यह भी प्रस्तावित किया गया है कि भारत का पर-राष्ट्र-विभाग, जो अब तक वाइसराय के अधीन रहा है, समिति के एक भारतीय सदस्य के अधीन उस सीमा तक कर दिया जायगा जहाँ तक ब्रिटिश भारत का संबंध होगा।

"सम्राट की सरकार, अन्य डामिनियनों के भाँति भारत में, एक ब्रिटिश हाईकमिश्नर की भी नियुक्ति का विचार कर रही है। यह भारत में ब्रिटेन के व्यापारिक तथा अन्य हितों का प्रतिनिधित्व करेगा।

"इस प्रकार की कार्यपालिका समिति, भारत द्वारा स्वतंत्रता-प्राप्ति के मार्ग में एक निश्चित पग होगा। यह न्यूनाधिक पूर्णरूपेण भारतीय होगी। अर्थ और गृह-सदस्य प्रथम बार भारतीय होंगे और भारत के पर-राष्ट्र-संबंधों का संचालन भी एक भारतीय के अधीन होगा। कार्यपालिका समिति के सदस्यों का चुनाव राजनीतिक नेताओं के परामर्श से होगा, पर उनकी नियुक्ति सम्राट की अनुमति से होगी।

"समिति मौजूदा संविधान के अंतर्गत अपना काम करेगी। गवर्नर-जनरल द्वारा संवैधानिक नियंत्रण के अधिकार के प्रयोग न होने की रजामंदी के प्रश्न का उठाना ठीक नहीं प्रतीत होता, पर इस प्रकार का नियंत्रण अविवेक-युक्त न होगा।

"मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि इस अंतःकालीन सरकार के निर्माण का अंतिम संविधान के निर्धारण पर कोई कुप्रभाव न पड़ेगा।

"नवनिर्मित कार्य-पालिका समिति के मुख्य काम इस प्रकार होंगे"—

(अ) जापान की पूर्ण पराजय तक जापान के विरुद्ध उत्साहपूर्वक युद्ध करना।

(ब) ब्रिटिश भारत का शासन-संचालन, जब तक नवीन संविधान न बन जाय और वह कार्यान्वित न किया जाय। इनमें युद्धोपरांत विकास के उन अनेक कामों की भी गणना है, जो इस समय भारत के सामने हैं।

(स) जब सरकार के सदस्य उपयुक्त समझें, तब उन साधनों पर विचार करना जिनके द्वारा संवैधानिक समझौता हो सके।

"तीसरा कार्य सबसे अधिक महत्व का है। मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि न तो मैंने और न सम्राट की सरकार ने दीर्घकालीन हल की आवश्यकता को विस्मरित किया है। मौजूदा सुझाव दीर्घकालीन सुधार को आसान बनाने के इरादे से प्रस्तुत किये गये हैं।

"मैंने समिति-निर्माण के सर्वोत्तम साधनों पर भी विचार कर लिया है। मैंने निम्नलिखित सज्जनों को परामर्श देने के लिए वाइसराय भवन में बुलाने का निश्चय किया है—प्रांतीय सरकारों के मुख्य मंत्रियों को; जो प्रांत इस समय अनुच्छेद ६३ के अनुसार शासित हो रहे हैं उनके उन व्यक्तियों को जो पहले मुख्य-मंत्री थे; केंद्रीय असेंबली में कांग्रेस पार्टी के नेता को और मुस्लिम लीग पार्टी के डिप्टी-नेता को; कौंसिल आफ स्टेट्स में कांग्रेस पार्टी और मुस्लिम लीग पार्टी के नेताओं को; युरोपियन समूह और नेशनलिस्ट पार्टी के नेताओं को भी; महात्मा गांधी और मिस्टर जिन्ना को दो मुख्य दलों के स्वीकृत नेताओं के रूप में; रायबहादुर एन० शिवराज को अनुसूचित जातियों का प्रतिनिधित्व करने के लिए और मास्टर तारासिंह को सिक्खों का प्रतिनिधित्व करने के लिए।

"इन सज्जनों को आज निमंत्रण मिल जायँगे। सम्मेलन २५ जून को शिमला में होगा जो दिल्ली की अपेक्षा अधिक शीतल होगा।

"मुझे विश्वास है कि जिन लोगों को आमंत्रित किया गया है वे सब सम्मेलनमें सम्मिलित होकर मुझे अपनी सहायता प्रदान करेंगे। भारत के भविष्यत् के अंतिम निर्णय के संबंध में इस नये प्रयत्न द्वारा जितनी सफलता मिलेगी उसका उत्तरदायित्व उन पर और मुझ पर है।

"यदि सम्मेलन सफल हुआ तो मुझे आशा है कि हम केंद्र में नयी कार्यपालिका-समिति के निर्माण में सहमत होंगे। मैं इस बात की भी आशा करता हूँ कि जिन प्रांतों का शासन आजकल अनुच्छेद ६३ के अंतर्गत हो रहा है वहाँ के मंत्रिमंडल अपने पदों को पुनः ग्रहण करके शासन-भार को सँभालेंगे और ये मंत्रिमंडल मिले-जुले मंत्रिमंडल होंगे।

"यदि सम्मेलन असफल रहा तो देश का शासन यथावत उस समय तक होता रहेगा जब तक विभिन्न दल एक दूसरे के निकट न आ जायँ। मौजूदा कार्यपालिका समिति, जब तक दूसरी व्यवस्था पर सहमति न प्राप्त हो जाय, अपना काम करती रहेगी।

"लेकिन मुझे इस बात की पूरी आशा है कि यदि विभिन्न दलों के नेता मेरे साथ और एक दूसरे के साथ सच्चे इरादे से इस समस्या पर विचार करेंगे तो सम्मेलन सफल होगा।

"मैं यह विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि इस सुझाव के अंतस्तल में युनाइटेड किंगडम के सब नेताओं और समस्त ब्रिटिश जनता की, भारत द्वारा अपने अभीष्ट की प्राप्ति में सहायता देने की प्रबल इच्छा है। अभीष्ट की प्राप्ति का यह एक पग ही नहीं वरन् ठीक मार्ग पर काफी दूर तक जाने के समान है।

"मैं यह भी स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि इस सुझाव का संबंध केवल ब्रिटिश भारत से है और इसके कारण नरेशों और सम्राट के प्रतिनिधि के संबंध में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता।

"सम्राट की सरकार की स्वीकृति तथा मेरी कौंसिल के परामर्श से कांग्रेस कार्य-समिति के उन सब सदस्यों की रिहाई के आदेश निकाल दिये गये हैं जो अब तक जेल में हैं। सन् १९४२ की क्रांति से संबद्ध में अन्य बंदियों की रिहाई नयी भारत-सरकार, यदि वह बन गयी, और प्रांतीय सरकारों द्वारा की जायगी।

"केंद्रीय और प्रांतीय विधान-मंडलों के नये निर्वाचनों का उपयुक्त समय सम्मेलन में निश्चित किया जायगा।

"अंत में मैं आप से सद्भावना और विश्वास के ऐसे वातावरण की सृष्टि में सहायता करने का अनुरोध करता हूँ जो हमारे आगे बढ़ने के लिए आवश्यक है। भारतीय इतिहास की इस नाजुक घड़ी में इस महान देश तथा उसमें रहने वाले करोड़ों व्यक्तियों का भविष्य उसके नेताओं की, चाहे वे भारतीय हों या अंगरेज, चाहे विचारों का नेतृत्व करते हों या कामों का, समझ और सद्भावना पर निर्भर करता है।

"इस समय भारत की सैनिक ख्याति इतनी अधिक है जितनी पहले कभी न थी। इसका श्रेय उसके उन सपूतों को है जो उसके विभिन्न भागों से लिये गये थे। अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में उसके प्रतिनिधियों ने अपनी राज्य-विज्ञता के कारण काफी सम्मान प्राप्त किया है। भारत की आकांक्षाओं और समृद्धि की ओर प्रगति के लिए इतनी अधिक और इतनी विस्तृत सहानुभूति कभी नहीं थी जितनी इस समय है। यदि हम बुद्धिमत्ता का प्रयोग कर सकें, तो हमारे पक्ष में अनेक बातें हैं। किंतु यह काम न तो सरल है और न जल्दी से किया जा सकता है। हमें बहुत कुछ करना है और हमारे मार्ग में बहुत सी रुकावटें

और खतरे हैं। चारों तरफ हमें कुछ बातों को क्षमा करना और कुछ को भूलना है।

"मुझे भारत के भविष्य में विश्वास है और यथाशक्ति मैं उसके गौरव को बढ़ाऊँगा। मैं आप से सहयोग और सद्भावना की प्रार्थना करता हूँ।"

सुझाव का विश्लेषण—वाइसराय ने जिस भाषा में सुझाव को भारतीय जनता और उसके नेताओं के समक्ष उपस्थित किया वह संयमित पर ओजस्वी थी और उससे वाइसराय की नेकनीयती स्पष्ट थी। सुझाव के विश्लेषण से निम्नलिखि बातें स्पष्ट हो जाती हैं—

(१) सुझाव द्वारा भारत के साथ कोई संवैधानिक समझौता करने या उस पर संवैधानिक समझौता लादने का प्रयत्न नहीं किया गया था। भारत को अपने भविष्य के निर्धारण के संबंध में पूरी आजादी थी।

(२) सुझाव की भाषा पर्याप्त मात्रा में शिष्ट थी। उसमें क्रिप्स योजना की ऐसी भावना का अभाव था कि लेना हो तो लो नहीं न लो। विफलता की स्थिति में इस बात का संकेत अवश्य था कि मौजूदा व्यवस्था जारी रहेगी।

(३) सुझाव का केंद्र-बिंदु केंद्रीय कार्य-पालिका-समिति का पुनर्संगठन था। वाइसराय और प्रधान सेनापति के अतिरिक्त उसके सब सदस्यों के भारतीय होने की व्यवस्था थी। उनकी नियुक्ति नेताओं के परामर्श और सम्राट की अनुमति से की जाने को थी। समिति में सजातीय हिंदुओं और मुसलमानों को समान प्रतिनिधित्व दिया गया था। वह मौजूदा संविधान के अंतर्गत काम करने को थी। वाइसराय ने इस बात का आश्वासन दिया था कि उनका हस्तक्षेप अविवेकयुक्त न होगा। उसका मुख्य काम जापानियों के विरुद्ध युद्ध का संचालन करना था। समिति के पुनर्संगठन की इस व्यवस्था से संगठन में तो महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गये थे, पर वाइसराय के नियंत्रण और मौजूदा संविधान के अंतर्गत काम करने की शर्त के कारण वह उतनी ही प्राणहीन थी जितनी तत्कालीन कार्यपालिका समिति।

(४) सम्मेलन के लिए जो व्यक्ति आमंत्रित किये गये थे, उनके चुनाव का निश्चित आधार था। वे न तो क्रिप्स द्वारा बुलाये गये व्यक्तियों के समान इधर-उधर के लोग थे और न गोलमेज परिषद् में सम्मिलित व्यक्तियों के समान सरकारी पिट्ठू। वे वास्तव में ऐसे व्यक्ति थे जो जनता की ओर से बोलने के अधिकारी थे। उनके निर्धारण में सांप्रदायिक आधार का अस्तित्व अवश्य था पर भद्देपन से नहीं।

(५) सुझाव में कई स्थानों पर नेताओं में परस्पर समझौते का उल्लेख था। योजना की असफलता में ब्रिटिश सरकार को यह कहने का अवसर मिलता कि वह तो संवैधानिक हल के लिए प्रयत्नशील थी, पर भारतीय नेताओं में आपसी मतभेद इतना अधिक था कि किसी प्रकार का समझौता न हो सकता था। ऐसा प्रचार ब्रिटेन की 'भेद और शासन' की नीति के अनुकूल ही होता।

(६) भारत में ब्रिटिश हाई कमिश्नर की नियुक्ति का उद्देश्य ब्रिटेन के आर्थिक हितों का संरक्षण था। उससे भारत को क्या लाभ होता यह एक विचारणीय बात है। संभवतः इस पदाधिकारी की नियुक्ति के कारण भारत डोमीनियन के दर्जे के कुछ निकट आ जाता।

(७) कांग्रेस कार्य-समिति के सदस्यों की रिहाई का निश्चय समझौते की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था।

भारतीय लोकमत की प्रतिक्रिया—लॉर्ड वैवेल की योजना पर भारतीय लोकमत की प्रतिक्रिया तीन विभिन्न दिशाओं में हुई। कुछ लोग योजना से संतुष्ट थे और उस पर विचार करने पर जोर देते थे। गांधीजी के मतानुकूल "प्रस्तावित सम्मेलन बड़ा उपयोगी काम कर सकता है। शर्त यह है कि वह उपयुक्त राजनीतिक वातावरण में अपना काम करे और आरंभ ही से ही विघटन की (Fissiparous) प्रवृत्तियों से मुक्त रहे।" सर तेज बहादुर सप्रू पर वाइसराय की वक्तृता का पहला प्रभाव यह पड़ा कि वह सौजन्य और सद्भावना से परिपूर्ण थी। "मुझे इस बात की आशा और विश्वास है कि यह उन लोगों की सहानुभूति प्राप्त कर सकेगी जिनके लिए वह दी गयी है।" सर सी० पी० रामास्वामी अय्यर के मतानुकूल वह भारतीय इतिहास में नये युग के समान थी। "ब्रिटिश सरकार ने लॉर्ड वैवेल के द्वारा जो सुझाव प्रस्तुत किये हैं व वास्तुस्थिति के अनुकूल एवं दूरदर्शी हैं। उनका इरादा भारत की राजनीतिक समस्याओं के दीर्घकालीन हल को रोकना नहीं, वरन् उसे सहायता पहुँचाना है।" सरदार संतसिंह के अनुसार इतनी महत्वपूर्ण घोषणा पर सोच-विचार कर मत प्रगट करने के लिए समय की आवश्यकता थी। "मेरी प्रथम प्रतिक्रिया उसके पक्ष में इस लिए है कि उसके द्वारा सम्राट की सरकार ने राजनीतिक संकट के दूर करने के काम को आरंभ किया है। अंतःकालीन व्यवस्था के रूप में उसे देश के लिए स्वीकार्य होना चाहिये।"

कुछ लोग वाइसराय की योजना के विरुद्ध थे। श्री श्रीनिवास शास्त्री उन

आदर्शवादी देश-भक्तों में न थे जो यह समझते थे कि अंतःकालीन सरकार, जिसमें भारतीय बातों से ब्रिटिश नियंत्रण हट जायगा और देश की राजनीतिक सत्ता पूर्णतया भारत के अधीन कर दी जायगी, कोई चमत्कार कर दिखायेगी। "फिर भी हमें आगे बढ़ते चलना चाहिये। हमें भविष्य के विषय में सावधान रहना और जो कुछ मिले उसे स्वीकार करना चाहिये।" श्री एम० एन० राय के मतानुकूल "वैवेल के सुझाव में क्रिप्स की योजना को दोहराया गया है। उनकी योजना बीसवीं शताब्दी की राजनीतिक समस्याओं को मध्यकालीन ढंग से हल करना चाहती है। मजदूर, किसान और साधारण मनुष्य को उसमें कोई स्थान नहीं दिया गया है।" अनेक अन्य लोग और समाचार-पत्र भी इसी मत के थे।

कुछ लोग योजना के किसी विशिष्ट अंश से संतुष्ट अथवा उसके निंदक थे। गांधी जी को 'सजातीय हिंदू' शब्द का प्रयोग नापसंद था। सर तेज बहादुर सप्रू भी उसके आलोचक थे। "मेरा विचार है कि वाइसराय ने इसका प्रयोग किसी कुटिल अर्थ में नहीं किया है।" डा० श्यामाप्रसाद मुकर्जी इस बात से असंतुष्ट थे कि उसमें हिंदू महासभा की अवहेलना की गयी थी। सरतेज बहादुर सप्रू के विचार न्यूनाधिक इसी प्रकार के थे। "यदि एक सांप्रदायिक संस्था सम्मेलन में भाग लेने के लिए आमंत्रित की गयी है तो कोई कारण नहीं कि दूसरी संस्था आमंत्रित न की जाय।" सर सी० पी० रामास्वामी अय्यर को इस बात का दुख था कि रियासतों की समस्या भविष्य के लिए छोड़ दी गयी थी। श्री मती विजयलक्ष्मी पंडित नेताओं की रिहाई से प्रसन्न थीं। "वे लोग जो बिना मुकद्दमा लगभग तीन बरस तक जेल में रहे हैं और जिनको गिरफ्तार न करना चाहिये था, अब आखिरकार छोड़ दिये गये हैं। यह कदम ठीक दिशा में उठाया गया है। इसके बाद का कदम उन हजारों राजनीतिक कैदियों की तुरंत रिहाई की ओर होना चाहिये जो आज तक ब्रिटिश जेलों में बंद हैं।" डाक्टर अंसारी, सुझाव की सांप्रदायिक व्यवस्था से असंतुष्ट थे। उसमें ब्रिटेन की भेद और शासन की नीति का आभास मिलता था। "ब्रिटिश सरकार अपने को उसकी जिम्मेदारी से सर्वथा अलग नहीं कर सकती।"

लोकमत की उक्त प्रतिक्रिया से यह स्पष्ट है कि साधारण तौर पर भारत का वातावरण वैवेल की योजना के अनुकूल था। उसके आलोचक उसकी विभिन्न न्यूनताओं की निंदा अवश्य कर रहे थे, पर प्रायः सभी लोग उस पर विचार करने के पक्ष में थे।

कांग्रेस कार्य-समिति की रिहाई—वाइसराय के आदेशानुसार १५ जून से कांग्रेस कार्य-समिति के सदस्य छोड़े जाने लगे। अपार जनता ने उनका स्वागत किया। पत्र-संवाददाताओं ने उनसे वैवेल की योजना और देश की राजनीतिक स्थिति पर प्रश्न किये और उन्होंने उनके उत्तर दिये। मौलाना अबुल कलाम आजाद ने बंगाल के मनुष्य निर्मित अकाल का उल्लेख करते हुए कहा, "हमारे राष्ट्रीय जीवन में हमें अनेक घाव लगे हैं। किंतु बंगाल का दुर्भिक्ष एक ऐसा घाव है जिसके अच्छे होने में बहुत बरस लगेंगे।' पं० जवाहर लाल नेहरू ने जेल से निकलते ही उन राजनीतिक बंदियों का स्मरण किया जो जेल में सड़ रहे थे। "संसार उनको भूलता जा रहा है। मैं उन अज्ञात कांग्रेस के सिपाहियों के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करना चाहता हूँ जिन्होंने पिछले संघर्ष का अधिकांश भार अपने ऊपर लिया है।"[1] उन्होंने कांग्रेस के ध्येय के संबंध में भी अपने विचार प्रगट किये। "आंतरिक और बाहरी बातों में चाहे कितने ही परिवर्तन क्यों न हो गये हों, पर कांग्रेस का आधारभूत लक्ष्य और उसके सिद्धांत पहले जैसे बने हुए हैं।" सरदार वल्लभ भाई पटेल ने देश की स्थिति का अध्ययन किये बिना कुछ कहने से इनकार कर दिया और डाक्टर पट्टाभि सीतारामैया ने, वाइसराय की घोषणा पर मत-प्रकाश किये बिना कहा कि सरकार ने जो कदम उठाया था उससे उन्हें १५३ बरस पूर्व की उस घटना का स्मरण हुआ था जब अर्विन-गांधी पैक्ट के अनुसार कांग्रेस कार्य-समिति के सदस्य मुक्त किये गये थे। श्री राजेंद्र प्रसाद ने घोषणा के संबंध में कुछ भी नहीं कहा। आचार्य कृपलानी से एक पत्र संवाददाता ने पूछा कि जो कुछ मिले, क्या आप उसे स्वीकार कर लेंगे?' उत्तर में उन्होंने कहा कि "यदि आपको कमरा सजाने के लिए अच्छे और सुंदर चित्र न मिले, तो क्या आप उसे भद्दे चित्रों से सजायेंगे?" इस प्रश्न का कि क्या कांग्रेस कार्य-समिति ने गिरफ्तारी के पूर्व किसी कार्य-क्रम को बनाया था, आचार्य कृपलानी ने नकारात्मक उत्तर दिया। "यदि किसी ने किसी आंदोलन को चलाया था

---

१. कांग्रेस के प्रायः सभी नेता सन् १९४२ की क्रांति के उत्तरदायित्व को अपने ऊपर लेने को तैयार न थे। प्रायः सभी ने क्रांति को निंद्य ठहराया था और सब ने तोड़-फोड़ के विरुद्ध आवाज उठायी थी। पं० जवाहर लाल नेहरू ने सन् १९४२ में जेल भेजे गये उन सब कांग्रेस के सिपाहियों को श्रद्धांजलि अर्पित की जिन्होंने पिछले संघर्ष का भार अपने ऊपर ले लिया था। १९४२ की क्रांति के संबंध में यह एक नवीन दृष्टि-कोण था।

तो उसने उसे अपनी जिम्मेदारी पर चलाया था। कांग्रेस का उससे कोई सरोकार न था।"

२० जून सन् १९४५ को, तीन बरस के पश्चात, कांग्रेस कार्य-समिति का अधिवेशन बंबई में हुआ। दो दिन के अधिवेशन के पश्चात उसने निम्न-लिखित प्रस्ताव पारित किया—"लगभग तीन बरस की बाध्य अलाहदगी के पश्चात, कार्य-समिति को अनेक राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं पर जिन्होंने निश्चित रूप धारण कर लिया है, विचार करना है। इस उद्देश्य से निकट भविष्य में कार्य-समिति का दूसरा अधिवेशन होगा।

"इस बीच में नवीन व्यवस्था संबंधी किये गये प्रयत्नों को स्वीकार करते हुए, कमेटी को इस बात का दुःख है कि महा-शक्तियों के हौसलों और भय के कारण ये प्रयत्न दूषित एवं अवरुद्ध किये जा रहे हैं। वे उपनिवेशों और पर-तंत्र देशों पर अपना आधिपत्य बनाये रखना तथा इन देशों की आजादी को रोकना चाहते हैं। कमेटी को इस बात का दृढ़ विश्वास है कि संसार की शांति और नवीन अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था का आधार यह है कि इन देशों की स्वतंत्रता को अभिज्ञात कर लिया जाय और साम्राज्यवादी नियंत्रण की, उसे चाहे कुछ नाम दिया जाय, इतिश्री कर दी जाय। कमेटी इस संबंध में ८ अगस्त सन् १९४२ को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा निर्धारित नीति को दोह-राती है।

"कमेटी को इस बात का दुख एवं रोष है कि सीरिया और लेबेनान के निवासियों को दिये गये वचन के विरुद्ध, हाल में उनकी स्वतंत्रता पर आक्रमण किये गये हैं। यह संयुक्त-राष्ट्र के सिद्धांतों के भी विरुद्ध है।"

शिमला का सम्मेलन—शिमला-सम्मेलन के पूर्व, योजना के संबंध में में, वाइसराय और भारतीय नेताओं में पत्र-व्यवहार हुआ। गांधीजी ने अपने पत्र-व्यवहार में 'सजातीय हिंदू' शब्द के प्रयोग पर आपत्ति की थी। इसका अर्थ यह हो सकता था कि कांग्रेस केवल सजातीय हिंदुओं की संस्था थी। वास्तव में वह समस्त भारत की प्रतिनिधि-संस्था थी। उन्हें इस बात का भी दुःख था कि समस्त योजना में स्वतंत्रता शब्द का प्रयोग न किया गया था। वह सजातीय हिंदुओं और मुसलमानों के समान प्रतिनिधित्व के भी विरोधी थे। वे कांग्रेस की ओर से बोलने के भी अधिकारी न थे। वाइसराय ने, इन बातों का स्पष्टीकरण करते हुए, उनके सम्मेलन में भाग लेने पर जोर दिया और वे

सम्मेलन में सम्मिलित हुए। वे वाइसराय के सुझावों से बहुत कुछ प्रभावित हुए थे। उसके संबंध में उनका दृष्टिकोण सहायता की भावना से युक्त था। मिस्टर जिन्ना भी सहयोग और सद्भावना का विश्वास दिला रहे थे। उनका सुझाव था कि २५ तारीख को आरंभिक बातचीत के पश्चात् सम्मेलन को एक पखवारे के लिए स्थगित कर देना चाहिये जिससे मुस्लिम लीग की कार्य-समिति उसके संबंध में अपना मत निश्चित कर सके। वाइसराय ने सम्मेलन को स्थगित करने का विरोध किया। उनके मतानुकूल मतभेद की समस्त बातें सम्मेलन में ही निश्चित की जाने को थीं। उन्होंने मिस्टर जिन्ना को यह परामर्श दिया कि वे मुस्लिम लीग की कार्य-समिति के अधिवेशन शिमला में ही करा लें। वाइसराय ने तार द्वारा मौलाना अबुल कलाम आजाद को भी आमंत्रित किया। कांग्रेस कार्य-समिति की अनुमति प्राप्त करने के पश्चात् उन्होंने भी सम्मेलन में सम्मिलित होना स्वीकार कर लिया।

२५ जून को बड़ी आशा और तनातनी के वातावरण में शिमला सम्मेलन आरंभ हुआ। सभी आमंत्रित व्यक्ति उपस्थित थे। वाइसराय ने सभापति का आसन ग्रहण किया। अपनी छोटी सी वक्तृता में उन्होंने सदस्यों का स्वागत किया और उनसे भारत के हित के लिए, सहयोग से सहायता करने की प्रार्थना की। उन्होंने अपने भाषण को निम्नलिखित शब्दों से समाप्त किया—

"किंचित काल के लिए आप लोगों को मेरा नेतृत्व स्वीकार करना चाहिये। जब तक संविधान में सर्वमान्य परिवर्तन न होगा मैं, भारत के सुशासन और उसकी शांति के लिए सम्राट की सरकार के प्रति उत्तरदायी हूँ। मै इस बात का प्रयत्न करूँगा कि इस सम्मेलन की बातचीत को, भारत की सबसे अधिक भलाई के ध्यान से, संचालित करूँ।"

वाइसराय के भाषण के पश्चात् योजना पर वाद-विवाद आरंभ हुआ। मिस्टर जिन्ना ने कांग्रेस को हिंदू संस्था बतलाया और पाकिस्तान के लक्ष्य पर जोर दिया। मौलाना आजाद ने कहा कि जब तक अखिल भारतीय कांग्रेस-कमेटी गैर-कानूनी संस्था थी तब तक कांग्रेस किसी ऐसी दीर्घकालीन अथवा अल्प-कालीन बात को स्वीकार करने में असमर्थ थी जिसका राष्ट्रीय चरित्र पर प्रभाव पड़ता हो। भारत की अपनी राष्ट्रीय सेना होनी चाहिये। जापान से युद्ध के पश्चात्, उसे, दक्षिणी-पूर्वी एशिया में, ब्रिटेन की साम्राज्यवादी नीति के समर्थन में, उसे न घसीटना चाहिये। युद्धोपरांत की योजनाओं में नरेशों की स्थिति को स्पष्ट कर देना चाहिये। पहले दिन की कार्रवाई में ये ही बातें निश्चित की गयीं। नेता

लोग प्रसन्नता-पूर्वक सम्मेलन से लौटे। अतः सम्मेलन के विषय में तरह तरह के निराधार अनुमान लगाये गये। सरकारी विज्ञप्ति के निकाले जाने से इन अनुमानों को रोका जा सकता था।

दूसरे दिन सम्मेलन पुनः आरंभ हुआ। लगभग डेढ़ घंटे की बातचीत के पश्चात् वह अगले दिन के लिए स्थगित कर दिया गया। दूसरे दिन ही सम्मेलन के संबंध में निम्नलिखित नोट प्रकाशित किया गया—"साढ़े बारह बजे सम्मेलन कुछ निश्चित निष्कर्षों पर पहुँच गया था और सदस्यों ने आपस में बातचीत करने की इच्छा प्रगट की थी। अतः दूसरे दिन ग्यारह बजे तक के लिए सम्मेलन को स्थगित कर दिया गया है।" सम्मेलन के स्थगित करने का मुख्य कारण मुसलमानों के प्रतिनिधित्व की व्यवस्था थी। मुस्लिम लीग अपने को मुसलमानों की एक मात्र प्रतिनिधि-संस्था समझती थी। अतः वह कार्यपालिका समिति के पाँचों मुस्लिम सदस्यों का चुनाव स्वयं करना चाहती थी। कांग्रेस इससे सहमत न हो कर यह चाहती थी कि पाँच मुसलमान सदस्यों में से दो राष्ट्रीय मुसलमान हों। पंजाब की यूनियनिस्ट पार्टी भी एक सदस्य को नाम-निर्देशित करना चाहती थी। इन सब बातों से मुस्लिम लीग का क्षुब्ध होना अवश्यंभावी था। २७ जून को सम्मेलन का तीसरा अधिवेशन हुआ और वह २६ जून के लिए स्थगित कर दिया गया। सर हेनरी रिचार्डसन और श्री भूला भाई देसाई ने यह सुझाव प्रस्तुत किया कि लॉर्ड वैवेल, मौलाना अबुल कलाम आजाद और मिस्टर जिन्ना आपसी बातचीत द्वारा कार्यपालिका समिति के सदस्यों की संख्या निश्चित करें। मिस्टर जिन्ना इससे सहमत न थे। वे साम्प्रदायिक समझौते के संबंध में पं० गोविंद बल्लभ पंत से बातचीत कर रहे थे। अतः उन्होंने इस बातचीत के समाप्त होने तक के लिए प्रतीक्षा करने को कहा। २६ जून को सम्मेलन का चौथा अधिवेशन हुआ और वह १४ दिन के लिए स्थगित कर दिया। इससे सर्व साधारण को यह स्पष्ट हो गया कि कांग्रेस और मुस्लिम लीग में समझौता न हो सका था।

इसी बीच लॉर्ड वैवेल ने कांग्रेस और मुस्लिम लीग को ८ से १२ उम्मेदवारों का, डाक्टर पी० एन० बैनर्जी, मास्टर तारासिंह और मलिक खिज्र हैयात खाँ में से प्रत्येक को तीन उम्मेदवारों की और श्री शिवराव को चार उम्मेदवारों की सूचियाँ भेजने को कहा। उनका इरादा इन सूचियों से नामों को लेकर अपनी कार्यपालिका समिति के निर्माण करने का था। कांग्रेस का दावा था कि वह समस्त देश की प्रतिनिधि संस्था थी और मुस्लिम लीग अपने को मुसलमानों

की एक-मात्र प्रतिनिधि संस्था समझती थी। उन्होंने अपनी-अपनी सूचियों का निर्माण, इसी आधार पर किया। यहीं पर मतभेद उत्पन्न हुआ और लॉर्ड वैवेल का यह प्रयत्न भी निष्फल गया।

इसकी कहानी को समझने के लिए हमें कांग्रेस कार्य-समिति और मुस्लिम लीग की कार्य-समिति की कार्रवाई पर ध्यान देना चाहिये। कांग्रेस-कार्य-समिति का अधिवेशन ३ जुलाई सन् १९४५ को आरंभ हुआ। मुस्लिम लीग के संबंध में उसका मत था कि उसे अधिक से अधिक रियायत दी जा चुकी थी और उससे आगे बढ़ना कठिन था। चूंकि कांग्रेस समस्त देश की प्रतिनिधि-संस्था थी। इसलिए वह देश की केंद्रीय सरकार की जिम्मेदारी को अपने ऊपर लेने को तैयार थी, चाहे मुस्लिम लीग उसके साथ सहयोग करे अथवा न करे। कार्य-समिति ने इस बात पर भी विचार किया कि वाइसराय के पास एक बड़ी सूची भेजी जाय अथवा छोटी? छोटी सूची के कारण संकट की आशंका थी। ऐसा करके वह उसी कार्य-प्रणाली को अपनाती जो मुस्लिम लीग की थी। अतः उसने एक बड़ी सूची भेजने का निश्चय किया जिसमें चार कांग्रेसी हिंदू थे, तीन मुस्लिम लीगी, दो राष्ट्रीय मुसलमान, एक भारतीय ईसाई, एक पारसी, एक सिक्ख, एक सजातीय गैर-कांग्रेसी हिंदू और दो दलित जातियों के सदस्य।

मुस्लिम लीग की कार्य-समिति की बैठकें भी इसी समय पर हुईं। उसने भी अपने उम्मेदवारों की एक सूची तैयार की किंतु उसे तब तक के लिए रोक रखा जब तक लॉर्ड वैवेल इस बात का आश्वासन न दें कि मुस्लिम लीग को कार्यपालिका-समिति के सब मुस्लिम सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार होगा। ८ जुलाई को मिस्टर जिन्ना और वाइसराय की पुनः भेंट हुई। उन्होंने मुस्लिम लीग की निम्नलिखित मांगों को वाइसराय के समक्ष प्रस्तुत किया—(१) मुस्लिम लीग को समस्त मुसलमान सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार होगा। (२) कार्य-पालिका समिति के कुल कितने सदस्य होंगे और अन्य अल्प-संख्यकों के प्रतिनिधियों का मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों से क्या अनुपात होगा? (३) यदि समिति के किसी निर्णय का मुस्लिम सदस्य इस आधार पर विरोध करें कि वह मुसलमानों के हित के विरुद्ध है तो बहुमत निर्णय होते हुए भी वाइसराय उसे कार्यान्वित न होने देंगे। तीसरी माँग से वाइसराय का धीरज छूट गया। उन्होंने कहा कि वे कोई भी ऐसा आश्वासन देने में असमर्थ थे जो उनके रेडियो प्रसारण और सम्राट की सरकार की अनुमति से बनायी गयी योजना में संशोधन करता हो। फलस्वरूप मुस्लिम लीग के हाई

कमांड ने अपने अभ्यर्थियों की सूची पुनः रोक ली । ११ जुलाई को वाइसराय और मिस्टर जिन्ना की अंतिम मुलाकात हुई । वाइसराय को कांग्रेस की सूची भी ना-पसंद थी । अतः उन्होंने स्वयं अपनी एक सूची बनायी । उसे उन्होंने मिस्टर जिन्ना के समक्ष रखा और यह स्पष्ट कर दिया कि वे मुस्लिम लीग की यह मांग स्वीकार करने को तैयार न थे कि कार्य-पालिका समिति के समस्त मुस्लिम सदस्य मुस्लिम लीग द्वारा मनोनीत किये जायँ । मिस्टर जिन्ना को यह बात मान्य न थी । अतः दोनों की मुलाकात एकाएक समाप्त हो गयी । दूसरे दिन वाइसराय और मौलाना आजाद की मुलाकात हुई । वाइसराय ने उसके समक्ष उस वार्तालाप को प्रस्तुत किया जो उनमें और मिस्टर जिन्ना में हुई थी । उन्होंने इस बात का संकेत किया कि वे मिस्टर जिन्ना को चार स्थान तक देने को तैयार थे । पर उन्होंने इस संबंध में कुछ भी नहीं कहा कि वे मुस्लिम लीग के असहयोग करने पर भी नयी सरकार के बनाने के काम में अग्रसर रहेंगे । इससे शिमला सम्मेलन की विफलता की बात और भी अधिक स्पष्ट हो गयी ।

१४ जुलाई को सम्मेलन का अंतिम अधिवेशन हुआ । उसमें लॉर्ड वैवेल ने उसकी असफलता की घोषणा की। "मैं आप लोगों को, दी गयी सहायता तथा सहनशीलता और बुद्धिमत्ता के लिए, बधाई देता हूँ । इस असफलता के कारण आप लोगों मे से किसी को निराश न होना चाहिये । अंत में हम सब कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करेंगे । भारत की भावी उत्कर्षता के विषय में संदेह का स्थान नहीं है ।"

सम्मेलन की असफलता का क्या कारण था ? मौलाना अब्दुल कलाम आजाद के शब्दों में मुस्लिम लीग की हठ और उसका दृष्टिकोण सम्मेलन की असफलता का पहला कारण था। मिस्टर जिन्ना कार्यपालिका समिति में सजातीय हिंदुओं के समान स्थानों से ही संतुष्ट न थे । उनका मत था कि हरिजन और सिक्ख सदस्य सदा हिंदुओं का साथ देंगे और इस प्रकार मुस्लिम सदस्य सदा अल्प-संख्या में होंगे । चूंकि वे मुसलमानों को एक पृथक राष्ट्र समझते थे, इस लिए यह असमानता उन्हें असह्य थी । साथ ही वे इस बात पर भी कृत-संकल्प थे कि मुस्लिम लीग मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि-संस्था थी और केवल उसे ही कार्यपालिका के समस्त मुस्लिम सदस्यों के मनोनीत करने का अधिकार था । कांग्रेस समस्त भारत की प्रतिनिधि-संस्था थी । अतः अपनी सूची में वह मुसलमानों को भी सम्मिलित करना चाहती थी । मिस्टर

जिन्ना इसे स्वीकार करने में असमर्थ थे। मुस्लिम हितों की रक्षा के लिए वे गवर्नर-जनरल को, कार्य-पालिका-समिति के बहुमत निर्णय को भी रद्द करने का अधिकार देने को तैयार थे। वैवेल की योजना में पाकिस्तान की ओर संकेत तक न किया गया था। फलस्वरूप मिस्टर जिन्ना ने न तो मुस्लिम उम्मेदवारों की सूची भेजी और न उस सूची के संबंध में अपनी अनुमति दी जिसको लॉर्ड वैवेल ने स्वयं तैयार किया था। इन सब बातों के कारण यह निष्कर्ष अनिवार्य हो जाता है कि सम्मेलन की असफलता का प्रथम कारण मुस्लिम लीग द्वारा सहयोग का अभाव था।

सम्मेलन की असफलता का दूसरा कारण भारतीय परिस्थिति थी। कांग्रेस के अतिरिक्त भारत की अन्य संस्थाएँ, जिन्होंने सम्मेलन में भाग लिया था, राष्ट्रीयता की अपेक्षा सांप्रदायिकता को अधिक महत्व का समझती थीं। अतः उन्होंने राष्ट्रीय हित का ख्याल न करके, सांप्रदायिक बातों पर ही अधिक जोर दिया। ऐसी स्थिति में कोई ऐसा समझौता न हो सकता था जो राष्ट्रीय भावना से युक्त हो। परस्पर अविश्वास और राष्ट्रीयता, विरोधात्मक संज्ञाएँ हैं।

सम्मेलन की विफलता का कुछ उत्तरदायित्व लॉर्ड वैवेल पर भी है। उन्होंने अपने काम को बड़े उत्साह से आरंभ किया था। उनमें नेकनीयती थी। वे सम्मेलन की सफलता के लिए कृत-संकल्प थे। अतः २६ जून के पश्चात्, परस्पर समझौते के अभाव में उन्होंने स्वयं, सम्मेलन का स्थान ग्रहण करके, राष्ट्रीय सरकार के, सदस्यों की एक सूची तैयार की थी। उनकी सूची न तो कांग्रेस को मान्य हो सकती थी और मुस्लिम लीग को। एक भी राष्ट्रीय मुसलमान न सम्मिलित किया था और पंजाब की यूनियनिस्ट पार्टी के मलिक खिज्र हैय्यात खाँ सम्मिलित किये गये थे। पहली बात कांग्रेस को असह्य थी और दूसरी मुस्लिम लीग को। तिस पर लॉर्ड वैवेल उस दृढ़ता से आगे बढ़ने में असमर्थ थे जिसकी तत्कालीन परिस्थिति में आवश्यकता थी। मुस्लिम लीग के साथ न देने पर, वे कांग्रेस की सरकार बनाने का साहस न कर सके थे, यद्यपि कांग्रेस समस्त देश की प्रतिनिधि-संस्था थी और वह राष्ट्रीय सरकार के निर्माण का उत्तरदायित्व लेने को तैयार थी। इंगलैंड में अभी तक चर्चिल और एमरी पदारूढ़ थे। संभवतः इस कारण वे निर्धारित सीमा से आगे न बढ़ सकते थे। अतः सम्मेलन असफल हुआ।

परिवर्तित परिस्थिति—शिमला सम्मेलन की विफलता के पश्चात इंगलैंड में पार्लमेंट के निर्वाचन हुए और राष्ट्रीय सरकार के स्थान पर मजदूर

दल की सरकार बिना किसी दूसरे दल की सहायता से पदारूढ़ हुई। इस परिवर्तित परिस्थिति का प्रभाव भारत पर भी पड़ा। पहली और दूसरी अगस्त को लार्ड वैवेल ने प्रांतीय गवर्नरों की एक सभा की। इसमें नवीन निर्वाचन, अनुच्छेद ९३ के स्थान पर प्रांतीय स्वराज्य, राजनीतिक बंदियों की रिहाई, कांग्रेसी संस्थाओं से प्रतिबंध हटाने आदि के विषय में बातचीत हुई। फल-स्वरूप कांग्रेसी संस्थाओं से प्रतिबंध हटा लिये गये। २५ अगस्त को केंद्रीय और प्रांतीय विधान-मंडलों और विधान-सभाओं के निर्वाचन की घोषणा की गयी और उसी दिन ब्रिटेन की नयी सरकार ने भारतीय समस्या पर विचार करने के लिए वाइसराय को लंदन आने के लिए आमंत्रित किया। दस सप्ताह के भीतर वाइसराय के दुबारा इंगलैंड जाने के कारण, विशेषयता इंगलैंड की सरकार की परिवर्तित परिस्थिति में, भारत का राजनीतिक वातावरण पुनः आशामय हो गया और लोग मजदूर-सरकार की सच्ची नीयत की बातचीत करने लगे।

लार्ड वैवेल की दूसरी घोषणा—लंदन से लौटने के पश्चात्, १९ सितंबर सन् १९४५ को सम्राट की सरकार से अधिकार पाकर, लॉर्ड वैवेल ने एक दूसरी घोषणा की। उसका भावार्थ इस प्रकार है—

"हाल ही में लंदन में सम्राट की सरकार के साथ वार्तालाप करने के पश्चात उसने मुझे निम्नलिखित घोषणा करने का अधिकार दिया है।

"पार्लमेंट के उद्घाटन के अवसर पर सम्राट ने अपने भाषण में कहा था कि सम्राट की सरकार भारतीय नेताओं के परामर्श से भारत में शीघ्र ही पूर्ण स्वायत्त शासन की स्थापना में सहायता देने के लिए यथाशक्ति सब कुछ करने लिए कृत-संकल्प है। मेरी लंदन यात्रा के अवसर पर उसने मेरे साथ उन उपायों पर सोच-विचार किया है जो इस दिशा में किये जायँगे।

"यह घोषणा पहले ही की जा चुकी है कि केंद्रीय और प्रांतीय विधान-मंडलों के निर्वाचन, जो अब तक युद्ध के कारण स्थगित थे, आगामी जाड़े में किये जायँगे। सम्राट की सरकार को पूरी आशा है कि प्रांतों के राजनीतिक नेता मंत्रि-पद का उत्तरदायित्व ग्रहण करेंगे।

"सम्राट की सरकार का इरादा है कि यथाशीघ्र एक संविधान-निर्मात्री सभा का आयोजन किया जाय। प्रारंभिक प्रयत्न के रूप में उसने मुझे यह अधिकार दिया है कि निर्वाचन समाप्त होते ही मैं यह जानने के लिए, प्रांतीय

विधान-सभाओं के प्रतिनिधियों से बातचीत करूँ कि सन् १९४२ के प्रस्ताव उन्हें मान्य हैं अथवा वे किसी दूसरी योजना अथवा संशोधित योजना को श्रेष्ठ-तर समझते हैं। भारतीय रियासतों के प्रतिनिधियों से भी यह जानने के लिए बातचीत की जायगी कि वे संविधान-निर्मात्री-सभा में किस तरीके से पूरी तरह सम्मिलित हो सकते हैं।

"सम्राट की सरकार उस संधि के विषयों पर भी विचार कर रही है जिसका ब्रिटेन और भारत के बीच में होना आवश्यक होगा।

"तैयारी के इस काल में भारत की शासन-व्यवस्था जारी रहनी और आवश्यक आर्थिक और सामाजिक समस्याओं का निबटारा भी करना चाहिये। इसके अतिरिक्त भारत को नवीन विश्व-व्यवस्था के निर्माण में भी पूरा-पूरा भाग लेना है। फलस्वरूप सम्राट की सरकार ने मुझे यह भी अधिकार दिया है कि प्रांतीय निर्वाचनों के परिणाम प्रकाशित होने के पश्चात्, मैं एक ऐसी केंद्रीय कार्यपलिका-समिति को अस्तित्व में लाने का प्रयत्न करूँ जिसे भारत के मुख्य मुख्य दलों का समर्थन प्राप्त हो।

"यहाँ उस घोषणा की समाप्ति हो जाती है जिसे करने का अधिकार सम्राट की सरकार ने मुझे दिया है। इसका अभिप्राय अत्यधिक है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्राट की सरकार भारत को, यथा-संभव शीघ्र स्वायत्त शासन की स्थिति में पहुँचाने के कार्य को अग्रसर करने के लिए दृढ़-संकल्प है। जैसा कि आप स्वयं सोच सकते हैं उसके सम्मुख अत्यंत महत्वपूर्ण और आवश्यक समस्याएँ हैं, किंतु पहले से ही कार्य-व्यस्त रहते हुए भी, उसने कार्य-भार ग्रहण करने के आरंभ के दिनों में ही भारतीय समस्या को प्रथम श्रेणी एवं अतिशय महत्व की मान कर इस पर विचार करने के लिए समय निकाला है। यह इस बात का प्रमाण है कि सम्राट की सरकार भारत को शीघ्र स्वशासन प्राप्त करने में सहायता देने के लिए हार्दिक संकल्प कर चुकी है।

"भारत के लिए नवीन संविधान बनाने और उसे कार्यान्वित करने का कार्य जटिल और कठिन है। उसके लिए समस्त संबद्ध व्यक्तियों की सद्भावना, सहयोग और धैर्य की आवश्यकता होगी। हमें सबसे पहले निर्वाचनों को कराना चाहिये ताकि हमें निर्वाचकों की इच्छा का ज्ञान हो जाय। मताधिकार की प्रणाली में किसी बड़े परिवर्तन का करना इस समय संभव नहीं है। ऐसा करने में कम से कम दो बरस की देरी हो जायगी। किंतु हम मौजूदा निर्वाचकों की सूचियों को दोहराने का यथाशक्ति प्रयत्न कर रहे हैं।

"निर्वाचन के पश्चात मैं चुने गये लोगों तथा भारतीय रियासतों के प्रतिनिधियों से यह निश्चित करने के लिए बातचीत करना चाहता हूँ कि संविधान-निर्मात्री-समिति का स्वरूप, अधिकार और कार्य-प्रणाली क्या हो ? सन् १९४२ की योजना में संविधान-निर्मात्री-सभा की स्थापना के लिए एक सुझाव प्रस्तुत किया गया था। किंतु सम्राट की सरकार इस बात का अनुभव करती है कि महत्वपूर्ण विचारणीय विषयों तथा अल्प संख्यकों की समस्याओं की जटिलता के कारण, संविधान-निर्मात्री-समिति के अंतिम रूप निश्चित करने के पूर्व, जनता के प्रतिनिधियों का परामर्श लेना आवश्यक है।

"भारत को स्वभाग्य-निर्णय का अवसर देने के लिए सम्राट की सरकार को और मुझे उपयुक्त प्रणाली सर्वोत्तम जान पड़ती है। हम अच्छी तरह से जानते हैं कि हमें किन-किन कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करना है। किंतु हमने उन पर विजय प्राप्त करने का निश्चय कर लिया है।

"मैं निश्चित रूप से आपको यह विश्वास दिला सकता हूँ कि ब्रिटिश सरकार और ब्रिटेन की जनता के सब वर्ग, भारत की, जिसने हमें इस युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए इतनी अधिक मदद दी है, सहायता करने को उत्सुक हैं। जहाँ तक मेरा संबंध है, मैं भारतीय जनता की सेवा में, उसे अपने निर्दिष्ट लक्ष्य तक पहुँचने में, और मेरा दृढ़ विश्वास है कि यह संभव है, सहायता देने में कुछ भी उठा न रखूँगा।"

"अब यह दिखलाना भारतीयों का काम है कि उसमें यह निश्चित करने की बुद्धि, विश्वास और साहस है कि वे किस प्रकार अपने मतभेद को दूर कर सकते हैं और किस प्रकार उनके देश का शासन भारतीयों द्वारा भारतीयों के लिए संपन्न हो सकता है।"

घोषणा का विश्लेषण—लॉर्ड वैवेल की उपर्युक्त घोषणा में निम्नलिखित बातों पर जोर दिया गया था—

१—सम्राट की सरकार का दृढ़ निश्चय कि भारत पूर्ण स्वशासन प्राप्त कर ले।

२—केंद्रीय और प्रांतीय विधान-मंडलों का निर्वाचन।

३—संविधान-निर्मात्री-सभा की स्थापना।

४—सन् १९४२ की योजना की पुनरावृत्ति। इसके कारण किसी वैकल्पिक योजना या १९४२ की योजना के संशोधित रूप को विचार-क्षेत्र के बाहर नहीं किया गया था।

५—भारत और ग्रेट ब्रिटेन के बीच होने वाली संधि का विचार।

६—प्रांतीय निर्वाचनों के परिणाम को जानने के पश्चात नवीन केंद्रीय कार्यपालिका-समिति का निर्माण।

७—भारतीय रियासतों के प्रतिनिधियों के परामर्श की व्यवस्था।

इन बातों में कोई भी बात ऐसी न थी जिसे भारत की जनता और उसके नेता पहले से न जानते थे। वास्तव में इस घोषणा में क्रिप्स की योजना, दूसरे शब्दों में, भारतीय जनता के सम्मुख प्रस्तुत की गयी थी। सम्राट की सरकार की नीति भारत के प्रति वही बनी हुई थी जो सन् १९४२ में घोषित की गयी थी किंतु सम्राट की सरकार में परिवर्तन हो गया था। अतः भारत में परिवर्तन की आशा अब उतनी निराधार न रह गयी थी जितनी पहले थी। नये निर्वाचन की घोषणा सचमुच ही भारतीयों की इच्छा के अनुकूल थी। अतः नवीन घोषणा के प्रति विशेष प्रतिक्रिया दिखलाये बिना भारत के प्रमुख दल निर्वाचन में लग गये। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने इस संबंध में जो प्रस्ताव पारित किया उसके महत्वपूर्ण अंश इस प्रकार हैं—

"अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने लार्ड वैवेल और ब्रिटिश प्रधान-मंत्री द्वारा प्रसारित उन साधनों पर गंभीरतापूर्वक विचार किया है जिन्हें भारत की ब्रिटिश सरकार कार्यान्वित करना चाहती है। छोटे-मोटे परिवर्तनों के अतिरिक्त इन प्रस्तावों में वे ही बातें दोहरायी गयी हैं जो मार्च सन् १९४२ में ब्रिटिश सरकार की ओर से क्रिप्स योजना के रूप में प्रस्तुत की गयी थीं। इसे कांग्रेस ने अस्वीकार कर दिया था। लड़ाई की समाप्ति और सरकार के परिवर्तन होने पर भी, भारत के प्रति ग्रेट ब्रिटेन की नीति में कोई वास्तविक परिवर्तन दिखलायी नहीं पड़ रहा है। उसकी नीति अब भी विलंब करने और नयी समस्याओं और जटिलताओं के उठाने की है। यह ध्यान देने की बात है कि इन प्रसारित योजनाओं में भारत की स्वतंत्रता का उल्लेख तक नहीं है। कांग्रेस और इस देश को पूर्ण-स्वतंत्रता के अतिरिक्त और कुछ भी मान्य नहीं हो सकता। अखिल-भारतीय-कांग्रेस-कमेटी के मतानुकूल जो प्रस्ताव इस समय प्रस्तुत किये गये हैं वे अनिश्चित, अपर्याप्त और असंतोष-प्रद हैं।" अखिल-भारतीय-कांग्रेस कमेटी के प्रस्ताव में इसके पश्चात् निर्वाचन की कठिनाइयों और असुविधाओं पर प्रकाश डाला गया था और अंत में कार्य-समिति को चुनाव लड़ने की तैयारी करने का अधिकार दिया गया था। "कांग्रेस की उपरिवर्णित असुविधाओं के होते हुए भी जन-मत को,

विशेष रूप से शीघ्र सत्ता के हस्तांतरण के संबंध में, प्रदर्शित करने के लिए, अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी आगामी चुनाव में भाग लेने का निश्चय करती है और कार्य-समिति को उसकी तैयारी करने का आदेश देती है।''[१]

शिमला सम्मेलन की विफलता के पश्चात् मुस्लिम लीग स्वयं नवीन निर्वाचन के लिए जोर दे रही थी। नयी घोषणा को किसी प्रकार का महत्व दिये बिना, वह निर्वाचन के काम में संलग्न हो गयी। कांग्रेस ने भी यही किया। कुछ समय के लिए देश का वातावरण निर्वाचन और उसके संबंध की बातों से व्याप्त हो गया।

निर्वाचन और उसका नतीजा—निर्वाचन के पूर्व कांग्रेस ने निर्वाचन का घोषणा पत्र-प्रकाशित किया। उसमें निम्नलिखित बातों पर जोर दिया गया था—

''कांग्रेस ने देश की स्वाधीनता के लिए ६० वर्ष तक प्रयत्न किया है। इस लंबी अवधि में उसका इतिहास जनता का इतिहास रहा है जो सदा उस बंधन से छूटने का प्रयत्न करती रही है जिसने उसे जकड़ रक्खा है।........ अपने जीवन काल में कांग्रेस ने जनता की भलाई के लिए रचनात्मक कार्य और उसकी स्वतंत्रता के लिए अनवरत संघर्ष भी किया है।........हाल के तीन बरसों में जो अभूतपूर्व जन-विप्लव हुआ है और उसे जिस क्रूर और निर्मम ढंग से दबाया गया है, उसके परिणाम-स्वरूप कांग्रेस और भी अधिक शक्तिशाली हो गयी है और उस जनता में उसकी लोक-प्रियता बढ़ गयी है जिसका उसने इस तूफान और कष्ट के समय साथ दिया है।........कांग्रेस भारत के प्रत्येक नागरिक के लिए, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष, समान अधिकारों और अवसरों की समर्थक रही है। उसने जनता के सब वर्गों और संप्रदायों की एकता, सहिष्णुता और सद्भावना का समर्थन किया है।.......कांग्रेस ने एक ऐसे स्वतंत्र लोकतंत्रात्मक राज्य की कल्पना की है जिसके समस्त नागरिकों के लिए संविधान द्वारा मूल अधिकारों और नागरिक स्वतंत्रताओं की गारंटी की गयी हो। उसके मतानुकूल इस संविधान को संघात्मक और उसमें सम्मिलित इकाइयों को पर्याप्त मात्रा में स्वशासन-भोगी होना चाहिये और उसके विधान-मंडलों का निर्वाचन व्यस्क मताधिकार पर होना चाहिये।........विदेशी शासन के डेढ़ सौ बरस ने देश की वृद्धि को रोक दिया है और अनेक समस्याएँ खड़ी

---

1. Indian Year Book 1947 P. 888

कर दी हैं जिन्हें शीघ्रातिशीघ्र हल करना चाहिये ।...इनमें से एक भी समस्या का हल स्वतंत्रता के बिना नहीं हो सकता । राजनीतिक स्वतंत्रता में सामाजिक और आर्थिक स्वतंत्रता का होना अनिवार्य है । तत्पश्चात् कांग्रेस के घोषणा-पत्र में दरिद्रता को दूर करने, गाँवों और भूमि-व्यवस्था में सुधार करने, सर्व-साधारण में शिक्षा का प्रचार करने, मजदूरों को संरक्षण देने तथा अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं को संतोषपूर्वक हल करने पर जोर दिया गया था । घोषणा के अंत में जनता से कांग्रेस के उम्मेदवारों को वोट देने के लिए कहा गया था । "इसलिए कांग्रेस समस्त देश के मतदाताओं से अपील करती है कि वे आगामी निर्वाचन में, सब प्रकार से कांग्रेसी उम्मेदवारों की सहायता करें और इस नाजुक समय में, जिसमें भविष्य की संभावनाएँ सारगर्भित हैं, कांग्रेस का साथ दें ।....भारत के लोगों ने कितनी ही बार स्वतंत्रता की शपथ ली है । उसका निभाना अभी शेष है । हमारा वह प्रिय लक्ष्य जिसके लिए हमने शपथ ली है, और जिसकी पुकार का कई बार हमने उपयुक्त उत्तर दिया है अब भी हमें बुला रहा है । वह समय निकट आ रहा है जब उस शपथ को हम पूर्ण रूप से निभा सकेंगे, निर्वाचन द्वारा नहीं, उसके पश्चात् के कामों द्वारा । निर्वाचन तो हमारे लिए एक छोटी सी परीक्षा है । यह आने वाली महत्तर बातों के लिए तैयारी मात्र है । उन सबलोगों को जो भारत की स्वाधीनता की अभिलाषा एवं चिंता करते हैं, इस परीक्षा का शक्ति और दृढ़ता से सामना करना तथा उस स्वतंत्र भारत की ओर बढ़ना चाहिये जिसका हम सब स्वप्न देख रहे हैं ।"[1]

मुस्लिम लीग ने भी, समस्त पर्याप्त साधनों की सहायता से, अपने को चुनाव में लगा दिया । वह भारतीय संघ की विरोधिनी और पाकिस्तान की स्थापना के संबंध में अडिग थी । मिस्टर जिन्ना ने चुनाव संबंधी एक भाषण में अपने विचारों को इस प्रकार प्रगट किया था, "यह वह लड़ाई है जो केवल चाँदी की गोलियों से लड़ी जा सकती है । मुझे वह गोलियाँ दो और मैं उस काम को पूरा कर दूँगा । हमने निश्चय कर लिया है कि हम भारतीय यूनियन को, चाहे वह अंतःकालीन हो या दूसरे प्रकार का, स्वीकार नहीं करेंगे । यदि उसे हम पर लादने का प्रयत्न किया जायगा तो हम उसका विरोध करेंगे । भारत की संवैधानिक समस्या का एक मात्र हल पाकिस्तान और हिंदुस्तान की स्थापना करना है ।"[2] एक दूसरे भाषण में मिस्टर जिन्ना ने कहा "अगर

---

1. Indian Year Book 1947 PP 889-90
2. Ibid P. 930

मुसलमान एका करके पाकिस्तान की स्थापना के लिए सब कुछ बलिदान करने के लिए तैयार हो जायँगे, तो हम सचमुच सफल होंगे। हमें उस बात में सफलता प्राप्त करनी चाहिये जिसके लिए हम लड़ रहे हैं। यह मुसलमानों के लिए जीवन-मरण का प्रश्न है। पाकिस्तान का न प्राप्त करना हमारे राष्ट्रीय अस्तित्व का मिटाना है।"[1]

निर्वाचन का नतीजा वही हुआ जिसकी आशा थी। सामान्य स्थानों में कांग्रेस की शानदार विजय हुई। सिक्खों के स्थानों में से एक तिहाई कांग्रेस के हाथ आये। मुस्लिम स्थानों की कहानी इससे भिन्न थी। हिंदू बहुसंख्यक-प्रांतों में उत्तर-प्रदेश और कुछ सीमा तक आसाम के अतिरिक्त, मुस्लिम स्थानों में कांग्रेस के उम्मेदवार बुरी तरह हारे। बहुसंख्यक मुस्लिम प्रांतों में, उत्तरी-पश्चिमी-सीमांत-प्रांत के अतिरिक्त, कांग्रेस सब जगह पराजित हुई। उत्तरी-पश्चिमी-सीमांत प्रांत में भी मुस्लिम लीग का प्रभाव पहले की अपेक्षा बढ़ गया था। पंजाब और बंगाल में मुस्लिम लीग को अपूर्व सफलता मिली। सिंध में भी मुस्लिम लीग के हाथ आधे से अधिक स्थान आये। साराश यह कि हिंदू बहुसंख्यक प्रांतों में हिंदुओं पर कांग्रेस का अकाट्य प्रभुत्व था और समस्त भारत में मुस्लिम स्थानों पर मुस्लिम लीग का प्रभाव निश्चित रूप से बढ़ गया था।

पार्लमेंटरी शिष्टमंडल के भेजे जाने की घोषणा—देश के निर्वाचन समाप्त भी न हो पाये थे कि भारत-मंत्री लॉर्ड पेथिक लॉरेंस ने लॉर्ड सभा में एक नवीन वक्तव्य दिया। १७ सितंबर सन् १९४५ की घोषणा की नेकनीयती पर जोर देने के पश्चात, भारत-मंत्री ने उन निराधार अफवाहों पर प्रकाश डाला जो भारतीय वातावरण को दूषित कर रही थीं। उनको मिटाने के लिए यह आवश्यक था कि ब्रिटेन और भारत में संपर्क स्थापित किया जाय। "सरकार इस बात को बहुत महत्व देती है कि हमारी पार्लमेंट के कुछ सदस्यों को भारत के प्रमुख राजनीतिक नेताओं से मिल कर उनके विचारों के जानने का अवसर मिले। ये लोग इस देश की जनता की इस आम इच्छा को व्यक्तिगत रूप से प्रगट कर सकेंगे कि भारत, ब्रिटिश राष्ट्रमंडल में, स्वतंत्र भागीदार राज्य का अपना उचित और पूर्ण पद शीघ्रता से प्राप्त कर ले। वे पार्लमेंट की इस इच्छा को भी प्रगट कर सकेंगे कि इस लक्ष्य की प्राप्ति में सहायता पहुँचाने के

1. Indian Year Book 1947 P. 930

लिए हम प्रत्येक प्रकार से सहायता देने को तैयार हैं।"[1] अतः एंपायर पार्लमेंटरी ऐसोसियेशन के तत्वाधान में एक पार्लमेंटरी शिष्ट-मंडल ५ जनवरी सन् १६४५ को भारत में पहुँचा। उसने सारे देश में भ्रमण करके भारतीय जनता और नेताओं में संपर्क स्थापित किया। फरवरी सन १६४६ में विलायत लौटने पर उसके एक सदस्य मिस्टर सोरेन-सेन (Soren-Sen) ने भारतीय परिस्थिति के संबंध में अपने विचार इस प्रकार प्रगट किये थे[2]—

"भारत के दो प्रभावशाली दलों की स्थिति पूर्ण-रूपेण निराशाजनक नहीं है किंतु दूर से कुछ नहीं किया जा सकता। सरकार को निश्चित रूप से यह बतलाना चाहिये कि कब तक सत्ता हस्तांतरित की जायगी। चुनाव के पश्चात यथा-संभव शीघ्र और अंतःकालीन व्यवस्था के लिए केंद्रीय कार्य-पालिका-समिति का निर्माण उस सूची में से होना चाहिये जिसका निर्माण प्रत्येक प्रांतीय मुख्य मंत्री की सहायता से किया जायगा।

"पाकिस्तान के जटिल प्रश्न पर भी दोनों दल एक दूसरे के निकट आ सकते हैं। निर्वाचन के परिणाम के कारण मिस्टर जिन्ना की कठिनाइयाँ कुछ बढ़ अवश्य गयीं हैं, किंतु यदि वे अपने सिद्धांतों में कुछ परिवर्तन कर दें तो इस संबंध में भी समझौता हो सकता है।

"मेरा विश्वास है कि यदि मुस्लिम बहुसंख्यक प्रांतों को, डोमीनियन के दर्जे के आधार पर, पृथक अस्तित्व का आश्वासन दे दिया जाय, तो अखिल भारतीय विषयों में, अवशिष्ट भारत के साथ उनके सहयोग की समस्या कुछ अंश में हल की जा सकती है।

"उत्तरी-पश्चिमी सीमांत प्रांत भी जिसने निश्चित रूप से कांग्रेस के पक्ष में वोट दिया है मिस्टर जिन्ना की बात को अधिक सुनेगा यदि उक्त दिशाओं में कुछ किया जाय। कांग्रेस ने इस सीमा तक मुस्लिम लीग की माँग को न्यूनाधिक स्वीकार कर लिया है।"

पार्लमेंटरी शिष्ट-मंडल ने, भारत से लौटने के पश्चात, प्रधान-मंत्री मिस्टर एटली से भी भेंट की। तभी से यह खबर फैलने लगी कि ब्रिटिश सरकार कैबीनेट के कुछ सदस्यों को भारत भेजने का विचार कर रही है। १६ फरवरी सन्

---

१. प० सीतारामय्या—कॉं० का इ०, भाग २, पृ० २३१-३२।

2. Rajput : The Cabinet Mission 1946, PP 30-31

१९४६ को कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल के भारत भेजे जाने की घोषणा कर दी गयी।

आजाद हिंद फौज के अभियुक्तों की रिहाई—इस परिच्छेद को समाप्त करने के पूर्व आजाद हिंद फौज के अभियुक्तों की रिहाई के विषय में, जो ३ जनवरी सन् १९४६ को की गयी थी, कुछ बतलाना आवश्यक है। इस पुस्तक के चौथे परिच्छेद में हम श्री सुभाष चंद्र बोस के दूसरी बार कांग्रेस के अध्यक्ष होने के संबंध में कुछ प्रकाश डाल चुके हैं। कांग्रेस के दूसरे सदस्यों और उनमें भयंकर मतभेद था। गांधीजी उन्हें दूसरी बार अध्यक्ष बनाने के विरोधी थे। अत: पंत-प्रस्ताव द्वारा ऐसी परिस्थिति उत्पन्न की गयी कि श्री सुभाष बोस के लिए त्याग-पत्र देना अनिवार्य सा हो गया। उनके विरुद्ध अनुशासन की कार्रवाई भी की गयी और सरकार ने भी, उनके विरुद्ध दोषारोपण करके, उन्हें नजरबंद कर लिया। ऐसी स्थिति में सुभाष बोस की मानसिक स्थिति किस प्रकार की होगी, इसकी केवल कल्पना ही की जा सकती है। जनवरी सन् १९४१ में भारत, यह सुन कर चकित हो गया कि वे अपनी नजरबंदी के स्थान से गायब हो गये हैं। वे कहाँ गये थे? कुछ दिनों तक यह बतलाना असंभव था। कहा जाता है कि वे कलकत्ते से भाग कर काबुल, और वहाँ से मास्को, बर्लिन, रोम होते हुए २ जुलाई सन् १९४३ को सिंगापूर पहुँचे थे। ४ जुलाई सन् १९४३ को वे आजाद हिंद-संघ के अध्यक्ष चुने गये।

आजाद हिंद-संघ और आजाद हिंद फौज की स्थापना का मुख्य कारण ब्रिटिश सैनिक अधिकारियों द्वारा भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार था। जब जापान ने दूसरे महासमर में इंगलैंड के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करके बर्मा, मलाया, और सिंगापूर पर अपना अधिकार जमा लिया था, उस समय अंगरेज निवासियों और सैनिकों को तो निकलने की सुविधा दी गयी थी, पर भारतीय जहाँ के तहाँ छोड़ दिये गये थे। इसके कारण उनका खिन्न होना स्वाभाविक था। ऐसी परिस्थिति में जापानी सैनिक पदाधिकारी ने, भारतीयों की एक सभा आमंत्रित की और उन्हें आजाद हिंद-संघ स्थापित करने का परामर्श दिया। उसने इस बात का भी आश्वासन दिया कि जापान हर संभव तरीके से सहायता देने को तैयार था।

९ और १० मार्च सन् १९४२ को मलाया स्थित भारतीयों की एक सभा सिंगापूर में हुई। २८ से ३० मार्च तक, श्री रास बिहारी बोस की अध्यक्षता में, मलाया और स्याम में स्थित भारतीयों की एक सभा टोकियो में हुई। इसमें

हांगकांग, संघाई और जापान के प्रतिनिधि भी सम्मिलित थे। सम्मेलन ने भारतीय स्वतंत्रता के लिए दक्षिणी-पूर्वी एशिया में आंदोलन चलाने का निश्चय किया। एक दूसरे प्रस्ताव द्वारा यह निश्चित हुआ कि भारत के विरुद्ध सैनिक कार्रवाई करने का अधिकार आजाद-हिंद-सेना को ही होगा जिसके सब अधिकारी भारतीय होंगे। इस कार्य को संचालित करने के लिए आजाद-हिंद-संघ की स्थापना की जायगी और इसकी कार्यपालिका समिति के निर्णयानुसार, यदि आवश्यकता हुई तो, जापानी सैनिक अधिकारियों से सैनिक, हवाई और नाविक सहायता ली जायगी। १५ जून से २३ जून सन् १९४२ तक बैंकाग में भारतीय प्रतिनिधियों का दूसरा सम्मेलन हुआ। इसने आजाद-हिंद-संघ की स्थापना का निश्चय किया। सिंगापूर को उसकी राजधानी बनाया गया और श्री रास बिहारी बोस उसके अध्यक्ष चुने गये। २ जुलाई सन् १९४३ को श्री सुभाष बोस सिंगापूर पहुँचे, और ४ जुलाई को वे आजाद हिंद-संघ के अध्यक्ष चुने गये। ५ जुलाई को उन्होंने आजाद हिंद फौज की स्थापना की। वह भारत की स्वतंत्रता के लिए लड़ने को थी। उन्हें जापान की सरकार का सहयोग प्राप्त था पर वे उसके हाथ में कठपुतली के समान न थे।

परिमाणु बम गिराये जाने के पश्चात् जब जापान ने आत्मसमर्पण किया, तो दक्षिणी-पूर्वी एशिया में, अंगरेजों के अधीन समस्त प्रदेश, जो जापानियों के हाथ में चले गये थे, पुनः उनके अधीन हो गये। आजाद-हिंद-फौज के सैनिक और अधिकारी भी उनके हाथ आये। उनके भविष्य की चर्चा बड़े व्यापक रूप से होने लगी। सारे देश में उनकी रिहाई के लिए प्रदर्शन हुए। इन दिनों अखिल-भारतीय-कांग्रेस-कमेटी, लॉर्ड वैवेल की दूसरी योजना पर, विचार कर रही थी। आजाद हिंद फौज के संबंध में उसका मत था कि इंगलैंड और भारत के बीच में कटुता न बढ़ाने के लिए यह आवश्यक था कि इन सैनिकों और अधिकारियों को छोड़ दिया जाय। सरकार ने अधिकारियों[1] के विरुद्ध सैनिक न्यायालय में अभियोग चलाने का निश्चय किया और भारत के प्रमुख विधिवेत्ताओं ने, जिनमें श्री भूलाभाई देसाई, पं० जवाहर लाल नेहरू, सर तेज बहादुर सप्रू, डा० कैलाशनाथ काटजू, राय बहादुर बद्रीदास, मिस्टर

---

१. तीन अधिकारियों पर मुकदमे चलाये गये थे। उनके नाम क्रमानुगत गुरुबक्शसिंह ढिल्लों शाहनवाज खाँ, और प्रेम कृष्ण सहगल थे। पहले का दर्जा लेफ्टिनेंट का था और दूसरे और तीसरे का कप्तान का।

आसफ अली, कुँवर सर दिलीप सिंह, बख्शी सर तेक चंद्र और डा० पी० के० सेन सम्मिलित थे, उनकी सफाई का भार अपने ऊपर ले लिया।

५ नवंबर सन् १९४५ को उनका मुकदमा, दिल्ली के लाल किले में आरंभ हुआ। जज एडवोकेट ने उनके विरुद्ध लगाये गये आरोपों को पढ़ कर सुनाया। पहला आरोप सम्राट के विरुद्ध युद्ध छेड़ने और दूसरा हत्या का था। तीनों अभियुक्तों ने अपने को निरपराधी बताया। तत्पश्चात दोनों पक्षों के वकीलों ने अपनी-अपनी दलीलें प्रस्तुत कीं। सैनिक-न्यायालय ने अभियुक्तों को कुछ आरोपों के लिए अपराधी ठहराया और उन्हें आजीवन निर्वासन का दंड दिया। तत्पश्चात मामला प्रधान सेनापति के पास उनकी स्वीकृति के लिए भेज दिया गया। उन्होंने उनके दंड को माफ कर दिया।

४ जनवरी सन् १९४६ भारत-सरकार की ओर से निम्नलिखित विज्ञप्ति प्रकाशित हुई[1]—

"कप्तान शाहनवाज खाँ, कप्तान सहगल, और लेफ्टिनेंट ढिल्लो के मुकदमों का विचार सैनिक न्यायालय द्वारा किया गया। तीनों व्यक्तियों के विरुद्ध सम्राट के खिलाफ युद्ध छेड़ने का अभियोग था। लेफ्टिनेंट ढिल्लों पर हत्या और अन्य दो पर हत्या को प्रोत्साहित करने का भी अभियोग था। न्यायालय का मत है कि तीनों अभियुक्त सम्राट के विरुद्ध युद्ध छेड़ने के अपराधी हैं। कप्तान शाहनवाज खाँ के विरुद्ध हत्या को प्रोत्साहित करने का अभियोग भी सिद्ध हो गया है। लेफ्टिनेंट ढिल्लो और कप्तान सहगल हत्या के अभियोग से बरी किये हैं।"

"सम्राट के विरुद्ध युद्ध का अपराधी पाकर न्यायालय के लिए मृत्यु-दंड या आजीवन निर्वासन का दंड देना अनिवार्य था। कानून के अंतर्गत इससे कम दंड नहीं दिया जा सकता था। तीनों अभियुक्तों को न्यायालय ने आजीवन निर्वासन तथा जमा किये गये रुपयों और शेष वेतन और भत्तों की जब्ती के दंड देने का निश्चय किया है।

"सैनिक न्यायालय का कोई निर्णय या दंड तब तक पूरा नहीं होता जब तक उसकी संपुष्टि न हो जाय। इस अभियोग में प्रधान सेनापति संपुष्टि करने वाले प्राधिकारी हैं। वे प्रत्येक मामले में न्यायालय के निर्णय से संतुष्ट हैं। अतः वे उसकी संपुष्टि करते हैं।

"संपुष्टि करने वाले अधिकारी का यह अधिकार है कि वह दंड को कम

1. I. N. A. on Trial, Jai Hind Publication, P. 147

अथवा न्यून कर दे या उसे माफ कर दे। जैसा कि समाचार-पत्रों में बतलाया जा चुका है, भारत-सरकार की नीति भविष्य में केवल उन्हीं पर अभियोग चलाने की है जिन्होंने सम्राट के विरुद्ध युद्ध करने के अतिरिक्त पाशविकता के कार्य किये हैं। यह भी कहा गया है कि किसी अभियोग के निर्णय की समीक्षा करते समय, अधिकारी इस बात पर भी ध्यान देंगे कि उनके कार्य सभ्य व्यवहार के विधान के कितने विरुद्ध थे।

"लेफ्टिनेंट ढिल्लों और कप्तान सहगल हत्या या हत्या को प्रोत्साहित करने के अपराध से बरी कर दिये गये हैं। उनके विरुद्ध किसी अन्य पाशविक कार्य का अभियोग नहीं है। यद्यपि कप्तान शाहनवाज खाँ हत्या को प्रोत्साहित करने के अपराधी पाये गये हैं और उनके कार्य कठोर सिद्ध कर दिये गये हैं, तथापि संपुष्टि करने के पूर्व उसके अधिकारी ने तत्कालीन अवस्था पर विचार किया है।

"इसलिए प्रधान सेनापति ने तीनों अभियुक्तों को समान समझने का निर्णय करके उनके आजीवन निर्वाचन के दंड को माफ करने का निश्चय किया है। उन्होंने जमा किये रुपयों, वेतन और भत्तों की जब्ती का दंड कायम रखने का भी निश्चय किया है। प्रत्येक परिस्थिति में सैनिक और सिपाही के लिए राजभक्ति को छोड़ कर राज्य के विरुद्ध काम करना भयंकर अपराध है। यह ऐसा सिद्धांत है जिसका पालन करना किसी वर्तमान या भविष्य की वैध सरकार के स्थायित्व के लिए आवश्यक है।"

सायंकाल तीनों अभियुक्त मुक्त कर दिये गये। सारे देश में प्रसन्नता की लहर दौड़ गयी। सब लोग सरकार की दूरदर्शिता की प्रशंसा करने लगे। इनक़िलाब जिंदाबाद के भयंकर कलरव के बीच में मुक्त अभियुक्तों ने देश की जनता और सफाई देने वाले विधिवेत्ताओं के प्रति कृतज्ञता का प्रकाशन किया। कुछ नेताओं ने सफाई के वकीलों, विशेषतया श्री भूलाभाई देसाई को, सफलता के लिए बधाई दी।

११

कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल

कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल के भेजे जाने की घोषणा—कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल का आगमन—घोषणाओं के संबंध में भारतीय प्रतिक्रिया—मुस्लिम लीग का दृष्टिकोण—कांग्रेस का दृष्टिकोण—कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल का कार्यारंभ—कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की दूसरी मंजिल—कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की योजना—वक्तव्य का विश्लेषण—भारतीय लोकमत की प्रतिक्रिया—कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल का दूसरा वक्तव्य—अंत: कालीन सरकार के विषय में पत्र व्यवहार—मुस्लिम लीग द्वारा कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की योजना की स्वीकृति—कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल का तीसरा वक्तव्य—कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की बिदाई—कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की सफलता।

कैबीनेट प्रतिनिधि मंडल के भेजे जाने की घोषणा—भारत की संवैधानिक समस्या इतनी जटिल हो गयी थी और उसका हल करना इतना आवश्यक था कि १९ फरवरी सन् १९४६ को लंदन से यह घोषित किया गया कि ब्रिटिश कैबीनेट के तीन सदस्य (लॉर्ड पेथिक लॉरेंस जो भारत-मंत्री थे, सर स्टैफर्ड क्रिप्स जो बोर्ड आफ ट्रेड के अध्यक्ष थे, और मिस्टर एल्बर्ट वी. एलेक्ज़ैंडर जो एडमिरैलिटी के प्रथम लार्ड थे) भारतीय नेताओं से भारतीय संविधान के निर्माण के संबंध में, विचार-विनिमय के हेतु भारत जा रहे थे। घोषणा करते हुए लार्ड पेथिक लारेंस ने कहा, "सदन को स्मरण होगा कि ब्रिटिश सरकार से बातचीत करके भारत लौटने के पश्चात, गत् वर्ष १७ सितंबर को वाइसराय ने नीति संबंधी एक घोषणा की थी। उसमें केंद्रीय और प्रांतीय निर्वाचनों के ठीक पश्चात, भारतीय नेताओं के सहयोग से, भारत द्वारा शीघ्र स्वशासन-प्राप्ति के

लिए आवश्यक कार्रवाई का रेखा-चित्र खींचा गया था। उस कार्रवाई में निम्नलिखित शामिल हैं—

१—संविधान के निर्माण के ढंग पर अधिक से अधिक सहमति प्राप्त करने के लिए ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों और भारतीय रियासतों में आरंभिक विचार-विनिमय।

२—संविधान-सभा की स्थापना।

३—ऐसी कार्यपालिका-समिति का निर्माण जिसका भारत के प्रमुख दल समर्थन करें।"[१]

लार्ड वैवेल ने यह भी कहा कि इस घोषणा के द्वारा वाइसराय की गत सितंबर की घोषणा में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया गया है। कैबीनेट के सदस्यों की उपस्थिति में उनके प्रयत्नों के अधिक दृढ़ होने की आशा थी। "ब्रिटिश सरकार का आज भी यही इरादा है कि भारतीयों को स्वयं अपनी संवैधानिक इमारत का आधार तैयार करना चाहिये। प्रतिनिधि-मंडल कैबीनेट का प्रतिनिधि-स्वरूप होगा और उसे कैबीनेट के अधिकार प्राप्त होंगे।"

१५ मार्च सन् १९४६ को प्रधान मंत्री एटली ने भी कॉमन सभा में कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल के विषय में यह घोषित किया कि वह सफलता के लिए कृत-संकल्प हो कर जा रहा था। "मौजूदा सरकार के स्थान पर किस प्रकार की सरकार बनेगी, यह निश्चित करना भारत का काम है। हमारी अभिलाषा इस निश्चय के लिए आवश्यक संगठन के स्थापित करने में सहायता देना है। भारत में इस संगठन के स्थापित करने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। हमारा दृढ़ संकल्प है कि हम उस संगठन को स्थापित करेंगे। इसके लिए हम भारतीय नेताओं से अधिकतम सहयोग माँगते हैं।" आगे चल कर अल्प-संख्यकों के विषय में प्रधान-मंत्री ने निम्नलिखित विचार प्रगट किये, "हम अल्प-संख्यकों के अधिकारों को भूल नहीं गये हैं। उन्हें भय में मुक्त हो कर स्वतंत्रतापूर्वक रहने का अधिकार होना चाहिये। किंतु हम यह भी नहीं देख सकते कि एक अल्प-संख्यक जन-समुदाय किसी बहु-संख्यक जन-समुदाय की उन्नति के मार्ग में रुकावटें डाले।" पूर्ण स्वतंत्रता और डोमीनियम स्टेटस के संबंध में प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा, "हमें आशा है कि भारत, ब्रिटिश

---

1. Rajput : The Cabinet Mission, 1946 PP. 31-32

राष्ट्र-समूह में रहने का प्रयत्न करेगा। किंतु यदि वह पूर्ण रूप से स्वतंत्र होना पसंद करे और हमारे विचार में उसे ऐसा करने का अधिकार है, तो हमें इस परिवर्तन को शांतिपूर्वक और सुगमता से करने के लिए प्रयत्नशील होना चाहिये।"[1]

कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल का आगमन—२३ मार्च सन् १९४६ को कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल ने भारत-भूमि पर करांची में पदार्पण किया। तुरंत ही भारत-मंत्री लॉर्ड पेथिक लॉरेंस ने ब्रिटिश सरकार और जनता की ओर से भारत के निवासियों के लिए मैत्री और सद्भावना का संदेश सुनाने के पश्चात प्रतिनिधि-मंडल के आगमन के संबंध में निम्नलिखित बातें कहीं—

"हम केवल एक ही उद्देश्य से आये हैं। वह यह है कि लॉर्ड वेवेल के सहयोग से हम भारत के नेताओं तथा इस देश के निर्वाचित प्रतिनिधियों के साथ इस विषय पर विचार करें कि देश के शासन-सूत्र को अपने हाथ में लेने की उनकी आकांक्षाओं को किस प्रकार शीघ्रता से पूरा किया जा सकता है, जिससे कि हम उस उत्तरदायित्व के हस्तांतरण के कार्य को गौरव और प्रतिष्ठा के साथ संपन्न कर सकें।

"ब्रिटिश सरकार और ब्रिटिश जनता अपनी प्रतिज्ञाओं और वचनों को पूर्ण रूप से पालन करने के लिए उत्सुक है। हम आपको आश्वासन देना चाहते हैं कि हम अपनी नीति के सिलसिले में किसी भी ऐसी व्यवस्था को स्थान देने का यत्न नहीं करेंगे जो भारत की पूर्ण स्वतंत्रात्मक प्रतिष्ठा के अनुकूल न हो। इस प्रकार हमारा और हमारे भारतीय सहयोगियों का एक ही उद्देश्य है जिसकी पूर्ति के लिए आगामी सप्ताह में हम अपनी समस्त शक्ति लगायेंगे। स्वतंत्र भारत के भवन-निर्माण का मार्ग अभी तक स्पष्ट नहीं है। लेकिन आइये, हम सब उस निर्माण के आलोक से प्रेरित हो सहयोग के मार्ग का अनुसरण करने को तत्पर हों। मुझे निश्चय है कि हम विश्वास के साथ तथा सफलता-प्राप्ति का दृढ़ निश्चय करके एक साथ मिलकर अपना काम पूरा करने का यत्न करेंगे।"[२]

दूसरे दिन प्रतिनिधि-मंडल दिल्ली पहुँचा। पत्र-संवाददाताओं के सम्मेलन में उसी दिन लॉर्ड पेथिक लॉरेंस ने प्रतिनिधि-मंडल के कार्य के संबंध में निम्न-

---

1. Rajput : Cabinet Mission 1946, PP. 33-34

२. भारतीय समाचार १ मई सन् १९४६ पृ० ३८७—३८८।

लिखित प्रकाश डाला—"आप उस वार्तालाप के लक्ष्य को जानते हैं जिसे हम आरंभ करनेवाले हैं। हमारे प्रधान मंत्री मिस्टर एटली ने १५ मार्च को कॉमन सभा में दिये गये भाषण में उसे स्पष्ट कर दिया था।...... हम केवल एक ही निश्चित उद्देश्य से आये हैं और वह है साम्राट की सरकार के प्रतिनिधि की हैसियत से भारतीयों द्वारा स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिए सहायता पहुँचाने में अपने कामों को पूरी तरह करना। हम दूसरों के विचारों को सुनने को तैयार हैं और किसी विशेष विचार के लिए वचनबद्ध नहीं हैं। इसका तात्पर्य यह नहीं कि हमारे विचार अनिश्चित तथा आगा-पीछा करने वाले हैं। हम भारतीयों को इस योग्य बनाने आये हैं कि भारत, संसार के महान राष्ट्रों में, अपना स्थान ग्रहण तथा अपने कर्तव्यों का पालन कर सके।"[1]

घोषणाओं के संबंध में भारतीय प्रतिक्रिया—इन घोषणाओं के संबंध में भारतीय प्रतिक्रिया का अनुमान सरदार वल्लभ भाई पटेल के उसे वक्तव्य से लगाया जा सकता है जो उन्होंने २२ मार्च को भारतीय पत्रों में प्रकाशित किया था। उस वक्तव्य की निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं—[2]

१—भारत चाहता है कि सत्ता का शीघ्र ही हस्तांतरण हो। वह अब अधिक विलंब को बरदाश्त नहीं कर सकता।

२—कांग्रेस अल्प-संख्यकों के न्यायपूर्ण हितों को संरक्षण देने के लिए तैयार है किंतु वह मिस्टर जिन्ना द्वारा माँगे गये भारत के विभाजन के लिए तैयार नहीं है।

३—वास्तविक सत्ता के हस्तांतरण से कांग्रेस को किसी विशेष कष्ट की आशंका नहीं है।

४—अगले चंद सप्ताहों में ब्रिटेन को भारतीय समस्या को हल करने का सबसे बड़ा और कदाचित अंतिम अवसर मिलेगा।

५—यदि सत्ता को शीघ्र ही हस्तांतरित कर दिया जाय तो ब्रिटेन और भारत की मौजूदा कटुता समाप्त हो जायगी और दोनों देशों में दोस्ती की संधि हो जायगी।

६—अंतर्राष्ट्रीय और पर-राष्ट्रीय मामलों में स्वतंत्र भारत संसार में शांति-

---

1. Rajput : Cabinet Mission 1946, P. 39
2. Ibid P. 34-36

स्थापन का प्रयत्न करेगा। उसका इरादा किसी पर आक्रमण करने का नहीं है।

७—स्वतंत्र भारत की, अपनी सेना होगी। यह केवल इतनी होगी जितनी आंतरिक और बाह्य रक्षा के लिए पर्याप्त हो। उसके पास बहुत बड़ी स्थायी सेना न होगी, क्योंकि वह किसी बाह्य आक्रमण का इरादा नहीं रखता।

८—स्वतंत्र भारत सब राष्ट्रों के साथ मित्रता बनाये रखने का प्रयत्न करेगा।

आगे चल कर सरदार पटेल ने कहा, "मैं शब्दों और घोषणाओं को अधिक महत्व नहीं देता, वरन् उनके आधार पर किये गये कामों की प्रतीक्षा करता हूँ। किंतु मुझे यह कहना पड़ता है कि प्रधान-मंत्री क्लिमेंट एटली की नयी घोषणा स्पष्ट शब्दों में थी और उसमें असंदिग्ध रूप से सचाई की गूँज थी। गत बरसों में पहले-पहल ब्रिटिश सरकार ने अल्प-संख्यकों के विषय में अपने दृष्टिकोण को बदला है। कांग्रेस सदा से अल्प-संख्यकों के न्यायोचित अधिकारों के संरक्षण में पक्ष में रही है। लेकिन महासमर के काल में ब्रिटिश सरकार ने तब तक कुछ न करने के दृष्टिकोण को अपनाया जब तक कांग्रेस और मुस्लिम लीग में समझौता न हो जाय। उसने मुस्लिम लीग को, असंभव माँगों को प्रस्तुत करके अवरोधक दृष्टिकोण अपनाने के लिए प्रोत्साहन दिया है। इस प्रकार मुस्लिम लीग के हाथ में अवरोधक शक्ति आ गयी है और समस्त महासमर के काल में उसने उसका प्रयोग किया है। मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि ब्रिटिश प्रधान मंत्री ने अब यह स्पष्ट कर दिया है कि कोई भी अल्प-संख्यक, बहुसंख्यक की उन्नति को अवरुद्ध न कर सकेगा। उनकी घोषणा में केवल मुस्लिम लीग की ओर ही संकेत किया गया है। कांग्रेस न्यायोचित तरीकों से अल्प-संख्यकों की रक्षा तथा संरक्षण के पक्ष में है। किंतु वह देश का बँटवारा करके, मिस्टर जिन्ना की असंभव माँगों को स्वीकार नहीं कर सकती।........कांग्रेस कार्य-समिति ने यह घोषित कर दिया है कि वह किसी प्रादेशिक क्षेत्र के लोगों को अपनी प्रकट इच्छा के विरुद्ध भारतीय संघ में रहने के लिए बाध्य नहीं कर सकती। कांग्रेस इतनी ही अधिक सीमा तक जा सकती है।" आगे चलकर सरदार पटेल ने कहा, "मैं नहीं जानता कि इंगलैंड में इतनी बुद्धिमत्ता होगी कि वह हमें तुरंत ही स्वतंत्रता दे दे। किंतु मैं यह जानता हूँ कि हम स्वतंत्रता चाहते हैं, तुरंत, यहाँ और अभी, डोमीनियन का दर्जा नहीं।" सरदार वल्लभभाई पटेल के इन स्पष्ट विचारों से

यह ज्ञात हो जाता है कि आने वाली वार्तालाप में कांग्रेस किस दृष्टिकोण को अपनाने वाली थी।

मुस्लिम लीग पाकिस्तान की स्थापना पर अटल थी। उसकी प्रतिक्रिया का अनुमान, पाकिस्तान-दिवस मनाने के उपलक्ष में, करांची की उस सभा से लगता है जो २४ मार्च सन् १९४६ को मिस्टर गजदर की अध्यक्षता में की गयी थी। सभा द्वारा पारित प्रस्ताव में इस बात पर जोर दिया दिया गया था कि कैबीनेट-प्रतिनिधि-मंडल को भारत पर किसी ऐसे संविधान को लादने का प्रयत्न न करना चाहिये जिसमें पाकिस्तान की माँग स्वीकार न की गयी हो।

मुस्लिम लीग का दृष्टिकोण—अपने प्रतिनिधियों का मत-निर्धारण के लिए ६ अप्रैल सन् १९४६ को विधान-मंडलों के मुस्लिम लीगी सदस्यों का अधिवेशन दिल्ली में हुआ। उसमें सम्मिलित प्रत्येक सदस्य ने निम्नलिखित प्रतिज्ञा की—

"मैं अपना यह दृढ़ संकल्प घोषित करता हूँ कि इस उप-महाद्वीप में रहने वाले मुस्लिम राष्ट्र की रक्षा और संरक्षण, एवं उसका उद्धार और भाग्य, पाकिस्तान की स्थापना पर निर्भर करता है। यही संवैधानिक समस्या का अपक्षपाती आदरणीय और न्यायपूर्ण हल है। इसी के द्वारा इस महाद्वीप में रहने वाले विभिन्न राष्ट्रों और जन-समूहों को शांति, स्वतंत्रता, और समृद्धि प्राप्त हो सकती है।"

"मैं निष्ठापूर्वक प्रतिज्ञाम करता हूँ कि मैं अपनी इच्छा से, लेशमात्र भी विचलित हुए बिना, अखिल भारतीय मुस्लिम लीग के उन सब निदेशों और आदेशों का पालन करूँगा जो हमारे घोषित राष्ट्रीय लक्ष्य पाकिस्तान की प्राप्ति के लिए चलाये गये आंदोलनों के संबंध में दिये जायँगे। चूँकि मुझे अपने लक्ष्य की सत्यता एवं न्याय का विश्वास है इस लिए मैं उसके लिए किसी भी ऐसे खतरे, वलिदान, या परीक्षा के लिए तैयार हूँ जिसकी माँग मुझसे की जायगी।"

विधान-मंडल के लीगी सदस्यों की यह प्रतिज्ञा उल्लेखनीय है ही, पर इससे कहीं महत्वपूर्ण वह विष-वमन था जो सर फिरोज खाँ नून ने अपने भाषण में किया था। गूँजते हुए शब्दों में उन्होंने कहा, "हम एक भयंकर संकट के सन्निकट हैं, क्योंकि न तो हिंदू हमारी भावनाओं की गहराई तक पहुँच सकते हैं और न अंगरेज। यदि हिंदू हमें पाकिस्तान और स्वतंत्रता देंगे तो वे

हमारे सबसे अच्छे मि हैं। यदि अंगरेज देंगे तो वे हमारे सबसे अच्छे मित्र हैं। यदि इनमें से कोई नहीं देगा, तो रूस हमारा सबसे अच्छा मित्र है।

''चाहे हमें संघर्ष में प्राण से ही हाथ क्यों न धोना पड़े हम इसके लिए दृढ़-संकल्प हैं कि हमारे वंशजों को अखंड भारत का दास न बनना पड़े।

''हम खून चूसने वाले इन मारवाड़ियों को दिखला देंगे कि पाकिस्तान का जीवन-स्तर पूर्व के सब देशों से अधिक ऊँचा उठाया जा सकता है। आजकल ऐसी चालाकी से काम किया जाता है कि पाकिस्तान में मशीनें नहीं पहुँच पाती। भारत-सरकार के भूतपूर्व सदस्य होने के नाते मैं यह जानता हूँ कि युद्ध के काल में करोड़ों रुपये की मशीनें भारत में आयीं थीं किंतु एक मशीन भी पाकिस्तान में न पहुँच सकी थी।

''जब तक आपको राजनीतिक, आर्थिक और धार्मिक स्वतंत्रता न मिलेगी, तब तक ४० बरस में आपकी अवस्था ऐसे गुलामों की सी हो जायगी जिनकी हालत अनुसूचित जातियों से भी गिरी हुई होगी।

''यदि ब्रिटिश कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल, इन बनियों के साथ षड्यंत्र करके एक ऐसे कागज के टुकड़े को लेकर चला जायगा जिसमें भारत की शांति के लिए दोनों के हस्ताक्षर होंगे तो वह शांति उतनी ही अल्पकालीन होगी जितनी वह जिसे चैंबरलेन और हिटलर में म्यूनिक में स्थापित करने का प्रयत्न किया था।

''हिंदुओं की इस मनोवृत्ति और शुद्धि के इस आंदोलन को होते हुए यदि तुम इस जाल में फँस जाओगे और अपनी राजनीतिक सत्ता को खो दोगे तो तुम जीवन से अधिक प्रिय वस्तु अर्थात् अपने धर्म को खो बैठोगे।

''यदि ग्रेट ब्रिटेन हमें हिंदू राज के अधीन रखता है तो हम ब्रिटेन को यह बतला देना चाहते हैं कि इस देश के मुसलमान विनाश और उत्पात के ऐसे काम करेंगे जिनके सामने चंगेज खाँ के काम भी फीके पड़ जायँगे।

''यदि हमें लड़ना ही पड़े और हम उसमें हार जायँ तो हमारे लिए एक ही मार्ग रह जाता है और वह है रूस से सहायता लेना। पंजाब में साम्यवाद के अनुकूल आंदोलन चल रहा है। पंजाबियों का मत है कि अखंड भारत से स्वतंत्र होने का वही एक मार्ग है। यदि हमें अपनी आजादी की लड़ाई इस प्रकार से ही लड़नी पड़े तो मैं, इस देश में अपनी स्वतंत्रता के लिए, अपनी समस्त संपत्ति खोने को तैयार हूँ।''

सर फिरोज खाँ नून के इस भाषण में लगातार हर्ष-ध्वनियाँ होती रहीं और

"कायदे आजम जिंदाबाद" के नारे लगाये गये। ओजस्विता के कारण प्रयुक्त अनुपयुक्त शब्दों को यदि हम इससे निकाल दें तो वह भारतीय समस्या के विषय में मुस्लिम लीगी मत को भली भाँति प्रतिबिंबित करता है।

कांग्रेस का दृष्टिकोण—कांग्रेस-कार्य-समिति का दृष्टिकोण इसकी अपेक्षा कहीं अधिक गंभीर था। उसका अधिवेशन १५ अप्रैल को दिल्ली में हुआ था। मौलाना अबुल कलाम आजाद के मतानुकूल "भारत की परिस्थिति ऐसी थी जिसमें केंद्रीकरण की ओर झुकी हुई अथवा एकात्मक सरकार के स्थापित करने के प्रयत्न अनिवार्यतः असफल होंगे। उतने ही असफल वे प्रयत्न भी होंगे जो भारत को दो राज्यों में विभाजित करते हों।" समस्या के हल के लिए कांग्रेस ने जिस गुर को अपनाया है वह यह है कि प्रांतीय इकाइयों को पूर्ण स्वशासन अधिकार तथा अवशिष्ट विषयों को दे दिया जाय। उसने केंद्रीय विषयों की दो सूचियाँ तैयार की हैं एक अनिवार्य और दूसरी वैकल्पिक। यदि कोई प्रांत चाहे तो इसके कारण वह केंद्र को दिये जाने वाले कम से कम विषयों के अतिरिक्त अन्य विषयों का शासन स्वयं कर सकता है। कांग्रेस की योजना इस प्रकार मुस्लिम बहु-संख्यक प्रांतों को इस बात का आश्वासन देती है कि वे आंतरिक बातों में स्वतंत्र रह सकेंगे, अपनी इच्छा के अनुसार अपना विकास कर सकेंगे और उन विषयों में केंद्र को प्रभावित भी कर सकेंगे जिनका प्रभाव समस्त देश पर पड़ता हो।

कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल का कार्यारंभ—२४ मार्च सन् १९४६ को दिल्ली में वक्तव्य देने के पश्चात कैबीनेट-प्रतिनिधि-मंडल ने अपना कार्यारंभ किया। कांग्रेस और मुस्लिम लीग के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त उसने दूसरे अल्प-संख्यकों के प्रतिनिधियों तथा प्रांतीय मुख्य मंत्रियों और मंत्रियों को विचार-विनिमय के लिए आमंत्रित किया। उसके पास अनेक संस्थाओं और व्यक्तियों के पत्र इस आशय के आये थे कि वे स्वयं प्रतिनिधि-मंडल के समक्ष अपने विचारों प्रस्तुत करना चाहते थे। प्रतिनिधि-मंडल इन सबकी बातें सुनने में असमर्थ था। अतः उसने उन्हीं लोगों को मिलने की अनुमति दी जो उसके मतानुकूल उसके काम में अधिक से अधिक सहायता पहुँचा सकते थे।

भारत के विभिन्न दलों के नेताओं से वार्तालाप करने के पश्चात कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल ईस्टर की छुट्टी मनाने के लिए काश्मीर चला गया। वहाँ से लौटने के पश्चात २७ अप्रैल सन् १९४६ को उसने एक वक्तव्य निकाला,

जिसके परिणाम-स्वरूप कैबीनेट-प्रतिनिधि-मंडल की कार्रवाई की दूसरी मंजिल आरंभ हुई।

कैबीनेट-प्रतिनिधि-मंडल की दूसरी मंजिल—अपनी कार्रवाई की दूसरी मंजिल में कैबीनेट-प्रतिनिधि मंडल ने त्रिदलीय सम्मेलन का रूप धारण किया। उसने कांग्रेस और मुस्लिम लीग के अध्यक्षों को अपनी-अपनी कार्य-समिति के चार-चार सदस्यों को मनोनीत करने को कहा। ये कैबीनेट-प्रतिनिधि मंडल के साथ मिल कर सम्मेलन करके भारतीय समस्या का हल खोजने को थे। लॉर्ड पैथिक-लॉरेंस ने, अपने तत्संबंधी पत्र में, संवैधानिक ढाँचे की बातचीत के संबंध में निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये थे—

"भारतीय संघ-सरकार, पर-राष्ट्र-संबंध, रक्षा और यातायात के साधनों पर शासन करेगी। प्रांतों के दो समूह होंगे, एक हिंदू-बहुसंख्यक प्रांतों का और दूसरा मुस्लिम-बहुसंख्यक प्रांतों का। वे उन विषयों का शासन करेंगे, जिनके लिए अमुक समूह एक समान शासन के पक्ष में हो। अन्य समस्त विषय प्रांतीय सरकारों के अधीन होंगे। प्रभुत्व के अवशिष्ट अधिकार भी उनके ही अधीन होंगे।

"आशा की जाती है कि भारतीय रियासतें इस ढाँचे के निर्माण में उन शर्तों पर भाग लेंगी जो परस्पर बातचीत द्वारा निश्चित की जायँ।

"मैं यह बतला देना चाहता हूँ कि इन सिद्धांतों के विस्तार को हम न तो आवश्यक समझते हैं और न वांछित। बातचीत के दौरान में अन्य बातों के साथ-साथ इन पर भी विचार किया जायगा।

"यदि मुस्लिम लीग और कांग्रेस इस आधार पर बातचीत करने को तैयार हों तो कृपया मेरे पास उन चार व्यक्तियों के नाम लिख भेजें जो उनकी ओर से बातचीत करने के अधिकारी हों। जैसे ही मुझे इन लोगों के नाम मिल जायँगे, मैं आपको बातचीत के स्थान की सूचना दूँगा। वह स्थान संभवत: शिमला होगा जहाँ की आबहवा इन दिनों मातदिल होती है।"

इस पत्र के उत्तर में मौलाना अबुल कलाम आजाद और लॉर्ड पेथिक लॉरेंस और मिस्टर जिन्ना और पेथिक लॉरेंस में स्पष्टीकरण के संबंध में पत्र-व्यवहार हुआ। हर एक ने अपने-अपने दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया। ऐसा विदित होता था कि कांग्रेस और मुस्लिम का मतभेद आधारभूत था। फिर भी दोनों संस्थाओं की कार्य-समितियों ने, त्रिदलीय सम्मेलन में भाग लेने के लिए अपने-अपने प्रतिनिधियों को मनोनीत कर दिया। मौलाना अबुल कलाम

आजाद, पं० जवाहर लाल नेहरू, सरदार वल्लभ भाई पटेल और खाँ अब्दुल गफ्फार खाँ कांग्रेस का प्रतिनिधित्व करने को थे और मिस्टर जिन्ना, नवाब मुहम्मद इस्माल खाँ, नवाबजादा लियाकत अली खाँ और सरदार अब्दुर रब निश्तर मुस्लिम लीग का।

छः सप्ताह तक सम्मेलन अपने काम में व्यस्त रहा, पर उसे सफलता न मिली। मुस्लिम लीग के प्रतिनिधि दो ऐसे प्रभुत्व-संपन्न संघों को चाहते थे जो केंद्र को रक्षा, पर-राष्ट्र-संबंध, यातायात, आयात और निर्यात टैक्सों के संबंध में सीमित अधिकार दें और अन्य सब विषयों को संघीय इकाइयों के अधीन रखें। वे केंद्रीय कार्यपालिका और विधान-मंडल का निर्माण बराबरी के आधार पर करना चाहते थे। वे यह भी चाहते थे कि केंद्रीय संघ के, दोनों संघों पर, किसी प्रकार के आर्थिक अधिकार न हों। इसके विपरीत कांग्रेस सुदृढ़ संघीय केंद्र की समर्थक थी। वह केंद्र को रक्षा, पर-राष्ट्र-संबंध, यातायात, राजस्व, मुद्रा और मूल अधिकारों के विषयों को देना चाहती थी ताकि आपात काल में परिस्थिति का सामना किया जा सके। कांग्रेस यह भी न चाहती थी कि प्रांतीय संघ सांप्रदायिक आधार पर बनाये जायँ। वह केंद्रीय कार्यपालिका और विधान-मंडल में समानता के आधार की भी विरोधिनी थी। फल-स्वरूप त्रिदिलीय सम्मेलन की विफलता अवश्यंभावी थी। १२ मई सन् १९४६ को सम्मेलन की विफलता की बात समस्त भारत में फैल गयी।

कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की योजना—१६ मई सन् १९४६ को कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की कार्रवाई की तीसरी मंजिल आरंभ हुई। भारतीय नेताओं में एका न होने के परिणाम-स्वरूप कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल ने इस दिन भारतीय समस्या के हल के लिए अपनी योजना प्रस्तुत की। इस संबंध में दिये गये वक्तव्य का हिंदी अनुवाद इस प्रकार है—

(१) मार्च १५ को, कैबीनेट-प्रतिनिधि-मंडल के भारत जाने के पूर्व ब्रिटिश प्रधान-मंत्री मिस्टर एटली ने इन शब्दों को कहा था—

"मेरे सहयोगी इस विचार से भारत जा रहे हैं कि वे भारत द्वारा शीघ्रातिशीघ्र स्वतंत्रता प्राप्त करने में उसकी अधिक से अधिक सहायता करने का प्रयत्न करें। वर्तमान सरकार के स्थान पर किस प्रकार की सरकार स्थापित की जाय इसका निर्णय भारत स्वयं करेगा, लेकिन हमारी इच्छा ऐसे संगठन को तत्काल स्थापित करने में उसकी सहायता करने की है जिससे वह उस निर्णय पर पहुँच सके।

"मुझे आशा है कि भारत और उसके निवासी ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल में रहने का निर्णय करेंगे। मुझे विश्वास है कि ऐसा करना वे अपने हित में समझेंगे।

"लेकिन यदि वे ऐसा निर्णय करें तो वह उनकी स्वेच्छा से ही होना चाहिये। ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल और साम्राज्य किसी बाह्य दबाव की शृंखला से परस्पर संबद्ध नहीं है। वह स्वतंत्र समुदाय है। इसके विपरीत यदि वह पूर्ण स्वतंत्र होने का निर्णय करता है तो हमारे विचार से उसे ऐसा करने का अधिकार है। हमारा कर्तव्य होगा कि सत्ता के हस्तांतरण को अधिक से अधिक संभव निर्विघ्नता और सुगमता से संपन्न करने में हम उसकी सहायता करें।"

(२) इन ऐतिहासिक शब्दों से आदेशित होकर हमने—कैबीनेट प्रतिनिधि मंडल और वाइसराय—इस बात का अधिकतम प्रयत्न किया है कि भारत के दो प्रमुख राजनीतिक दलों में भारत की अखंडता और विभाजन के आधारभूत प्रश्नों के संबंध में कोई समझौता हो जाय। नयी दिल्ली में अधिक समय तक विचार-विनिमय के पश्चात् हम कांग्रेस और मुस्लिम लीग को एक सम्मेलन में एकत्रित करने में सफल हुए। पूर्ण-रूप से विचार-विनिमय हुआ और दोनों दलों ने समझौते के लिए प्रयत्न करने और उस तक पहुँचने के लिए पर्याप्त मात्रा में रियायतें देने के लिए अपने को तैयार दिखलाया। किंतु अंत में दोनों दलों के बीच में जो अंतर रह गया उसे दूर न किया जा सका। इस प्रकार कोई समझौता न हो सका। चूँकि कोई समझौता नहीं हो सका है इसलिए हम अपना यह कर्तव्य समझते हैं कि भारत में शीघ्रता से नये संविधान की स्थापना के लिए हम जिस व्यवस्था को श्रेष्ठतम समझते हैं उसे प्रस्तुत करें। यह वक्तव्य युनाइटेड किंगडम में सम्राट की सरकार की पूर्ण अनुमति से प्रस्तुत किया जा रहा है।

(३) अतः हमने यह निश्चय किया है कि तत्काल कोई ऐसी व्यवस्था करनी चाहिये जिसके द्वारा भारत के भावी संविधान का निर्धारण भारतीय कर सकें और जब तक नया संविधान कार्यान्वित न किया जाय तब तक भारत का शासन चलाने के लिए तत्काल एक अंतःकालीन सरकार की स्थापना की जाय। हमने जनता के छोटे और बड़े दोनों वर्गों के साथ न्याय करने और ऐसे हल की सिफारिश करने का प्रयत्न किया है जिसके अनुसार भारत का भावी शासन व्यावहारिक मार्ग का अनुसरण कर सकेगा और जिसके द्वारा उसे

अपनी रक्षा का ठोस आधार और अपनी सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक प्रगति के लिए उत्तम अवसर प्राप्त हो सकेगा।

(४) इस वक्तव्य में हम उस विशालकाय सामग्री पर दृष्टिपात नहीं करना चाहते जो प्रतिनिधि-मंडल के समक्ष प्रस्तुत की गयी है। लेकिन यह बतला देना हम उचित समझते हैं कि मुस्लिम लीग के अतिरिक्त भारत के अवशिष्ट समस्त वर्गों ने, न्यूनाधिक एक स्वर से भारत की अखंडता के पक्ष में अपनी इच्छा प्रगट की है।

(५) यह बात हमें भारत के विभाजन की संभावना पर भलीभाँति और निष्पक्ष रूप से विचार करने मे नहीं रोक सकी। हम पर मुसलमानों की अत्यधिक उचित और उग्र चिंता की इस भावना का बड़ा प्रभाव पड़ा है कि उन्हें कहीं अनंतकाल के लिए हिंदू बहुमत शासन के अधीन न रहना पड़े।

मुसलमानों की यह भावना इतनी दृढ़ और व्यापक है कि इसका केवल कागजी संरक्षण द्वारा प्रतिकार नहीं किया जा सकता। भारत में आंतरिक शांति के लिए यह आवश्यक है कि वह ऐसी योजनाओं द्वारा स्थापित की जाय जिनसे मुसलमानों को यह आश्वासन प्राप्त हो सके कि अपनी संस्कृति, धर्म और आर्थिक तथा अन्य हितों की दृष्टि से महत्वपूर्ण विषयों पर, उनका नियंत्रण रहेगा।

(६) इस लिए हमने सर्व प्रथम एक पृथक प्रभुता-संपन्न पाकिस्तान के राज्य के प्रश्न पर विचार किया है। इस पाकिस्तान के दो क्षेत्र होंगे ; पहला उत्तर-पश्चिम में जिसमें पंजाब, सिंध, उत्तरी-पश्चिमी-सीमांत-प्रांत तथा ब्रिटिश बिलोचिस्तान के प्रांत होंगे और दूसरा उत्तर-पूर्व में जिसमें बंगाल और आसाम के प्रांत होंगे। लीग इस बात के लिए तैयार थी कि आगे चल कर सीमा-निर्धारण में आवश्यक परिवर्तन कर लिये जायँ किंतु वह इस बात पर अडिग थी कि पहले पाकिस्तान का सिद्धांत स्वीकार कर लिया जाय। पाकिस्तान के पृथक राज्य स्थापित करने के तर्क का पहला आधार यह था कि बहुसंख्यक मुसलमानों का इस बात का अधिकार था कि वे अपने इच्छानुसार अपनी शासन-प्रणाली का निर्धारण करें। दूसरा आधार यह था कि आर्थिक और प्रशासनीय दृष्टि से पाकिस्तान को व्यवहार्य बनाने के लिए उसमें ऐसे पर्याप्त क्षेत्रों के मिलाने की आवश्यकता थी जहाँ मुसलमान अल्प संख्या में थे।

उपर्युक्त छः प्रांतों के मेल से बने हुए पाकिस्तान में, गैर-मुस्लिम अल्पसंख्यकों की संख्या, जैसा कि नीचे से आंकड़ों से स्पष्ट है, अत्यधिक होगी—

उत्तरी-पश्चिमी-क्षेत्र

प्रांत	मुसलमान	गैर-मुसलमान
पंजाब	१,६२,१७ २४२	१,२२.०१.५६७
उत्तरी-पश्चिमी सीमांत प्रांत	२७ ८ ६१७	२,४९ २७५
सिंध	३२,०८,३२५	१३.२६.६८३
ब्रिटिश बिलोचिस्तान	४ ३८ ६७०	६२,७०१
जोड़	२,२६,५३.२१४	१,३८,४०.२३१
प्रतिशत्	६२·७%	३७·९३%

उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र

प्रांत	मुसलमान	गैर-मुसलमान
बंगाल	३,३०,०५,४३४	२,७३ ०१,०९१
आसाम	३४,४२,४७९	६७.६२.२५४
जोड़	३.६४,४७ ९१३	३,४०.६३.२५५
प्रतिशत्	५१·६९%	४८·३१%

अवशिष्ट ब्रिटिश भारत की १८,८०,००,००० जन संख्या में मुसलमानों की संख्या लगभग दो करोड़ है और वे समस्त देश में छितराये हुए हैं।

इन आंकड़ों से पता लगता है कि मुस्लिम लीग के दावे के अनुसार प्रभुत्व-संपन्न पाकिस्तान के राज्य की स्थापना से सांप्रदायिक अल्प-संख्यकों की समस्या हल न हो सकेगी। हम इस बात को भी न्यायसंगत नहीं समझते कि पंजाब, बंगाल और आसाम के उन जिलों को प्रभुत्व-संपन्न पाकिस्तान में सम्मिलित किया जाय जहाँ की जन-संख्या में गैर-मुसलमानों की संख्या अत्यधिक है। जो भी तर्क पाकिस्तान की स्थापना के पक्ष में प्रस्तुत किये जा सकते हैं, वे ही हमारे दृष्टि कोण से, गैर-मुस्लिम बहुमत क्षेत्रों को पाकिस्तान से पृथक करने के पक्ष में प्रयुक्त किये जा सकते हैं। यह बात सिक्खों की स्थिति पर विशेष प्रभाव डालती है।

(७) इसलिए हमने इस बात पर विचार किया कि क्या एक छोटा प्रभुता-संपन्न पाकिस्तान, जिसमें केवल मुस्लिम बहु-संख्यक क्षेत्र हों, समझौते का आधार बनाया जा सकता है। इस प्रकार के पाकिस्तान को मुस्लिम लीग बिल्कुल अव्यावहारिक समझती है। इसके कारण (अ) अंबाला और जालंधर

की कमिश्नरियां, (ब) सिलहट जिला को छोड़ कर सारा आसाम, और (स) पश्चिम बंगाल का बहुत बड़ा भाग जिसमें कलकत्ता, २३·७६ प्रतिशत मुस्लिम जनसंख्या के सहित, सम्मिलित है, पाकिस्तान से निकल जायंगे। हमारा स्वयं भी यह विश्वास है कि ऐसा कोई भी हल, जिसके द्वारा बंगाल और पंजाब का विभाजन हो, जैसा कि इस पाकिस्तान से होगा, इन प्रांतों की बहुत बड़े अनुपात में जनसंख्या की इच्छा और हितों के विरुद्ध होगा। बंगाल और पंजाब में से प्रत्येक की अपनी भाषा है, अपना दीर्घकालीन इतिहास और अपनी परंपराएं हैं। इसके अतिरिक्त पंजाब का विभाजन करने पर सिक्ख भी विभाजित हो जायंगे और दोनों भागों की सीमाओं पर पर्याप्त संख्या में सिक्ख रह जायंगे। इस लिए हमें बाध्य होकर इस परिणाम पर पहुँचना पड़ा है कि पाकिस्तान का कोई भी छोटा और बड़ा स्वतंत्र राज्य सांप्रदायिक समस्या का मान्य हल प्रस्तुत नहीं कर सकता।

(८) उपर्युक्त महत्वपूर्ण तर्कों के अतिरिक्त, गंभीर प्रशासनीय, आर्थिक और सैनिक प्रश्न भी हैं। समस्त यातायात, डाक और तार का संगठन अखंड भारत के आधार पर स्थापित किया गया है। उसे विभाजित करना भारत के दोनों भागों के लिए अहितकर होगा। देश की संयुक्त रक्षा का प्रश्न और अधिक गंभीर है। भारतीय सैनिक बल सामूहिक रूप से समस्त भारत की रक्षा के लिए संगठित किया गया है। सेना का दो भागों में विभाजन, भारतीय सैन्य बलों की उच्च योग्यता और दीर्घकालीन परंपराओं पर आघात करेगा। इसके परिणाम-स्वरूप बहुत बड़ा खतरा उत्पन्न हो सकता है। भारतीय जल-सेना और नभ-सेना का प्रभाव बहुत घट जायगा। आयोजित पाकिस्तान के दो भागों में आक्रमण के लिए उपयुक्त दो सीमाएं सम्मिलित हैं और गहराई[1] में सफल संरक्षण की दृष्टि से पाकिस्तान का क्षेत्रफल अपर्याप्त पाया जायगा।

---

१. 'गहराई में संरक्षण' अंगरेजी के वाक्यांश (Defence in depth) का हिंदी का रूपांतर है। इसका एक विशिष्ट अर्थ है। हवाई हमलों के द्वारा बड़े बड़े नगरों पर बमबारी की जाती है। उनको बचा कर राज्य का बचाव नहीं किया जा सकता। अतः सैनिक और असैनिक लोग देश के भीतरी भागों में हटते जाते हैं। जितनी गहराई तक वे भीतर जा सकेंगे उतनी ही अधिक उनकी रक्षा होगी। इसके लिए देशों के बड़े होने की आवश्यकता है। पाकिस्तान के छोटे से राज्य में गहराई में संरक्षण की व्यवस्था न हो सकती थी।

(६) एक दूसरा महत्वपूर्ण विचारणीय विषय यह है कि विभाजित ब्रिटिश भारत के साथ अपना संबंध जोड़ने में, भारतीय रियासतों को अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ेगा।

(१०) अंतिम बात यह भौगोलिक तथ्य है कि पाकिस्तान के दो भाग एक दूसरे से प्रायः ७०० मील दूरी पर हैं। युद्ध और शांति दोनों ही कालों में इन भागों के बीच का यातायात भारत की सद्भावना पर निर्भर करेगा।

(११) इस लिए हम ब्रिटिश सरकार को यह परामर्श देने में असमर्थ हैं कि जो शक्ति आजकल ब्रिटिश सरकार के हाथों में है वह दो बिल्कुल पृथक प्रभुत्व-संपन्न राज्यों को सौंपी जाय।

(१२) इस निश्चय के कारण हमने मुसलमानों के इस वास्तविक भय की ओर से आँखें बंद नहीं कर ली हैं कि विशुद्ध एकात्मक भारत में, जिसमें अत्य-धिक संख्या में होने के कारण, हिंदुओं का प्राधान्य होगा, उनकी संस्कृति तथा राजनीतिक और सामाजिक जीवन का अस्तित्व विलीन हो जायगा। इस भय के निवारणार्थ कांग्रेस ने एक योजना प्रस्तुत की है जिसके द्वारा प्रांतों को पूर्ण स्वायत्त शासन प्राप्त होगा और केंद्रीय विषय न्यूनतम होंगे, जैसे परराष्ट्र-संबंध, रक्षा और यातायात के विषय।

यदि प्रांत बड़े पैमाने पर आर्थिक और प्रशासकीय योजना में भाग लेना चाहें तो उस योजना के अनुसार प्रांत अनिवार्य केंद्रीय विषयों के अतिरिक्त, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है, किसी अन्य विषय को भी केंद्रीय सरकार के अधीन कर सकेंगे।

(१३) हमारी दृष्टि में इस योजना के अंतर्गत अनेक हानियाँ और विष-मताएँ हमारे सम्मुख आवेंगी। ऐसी केंद्रीय कार्यपालिका समिति तथा विधान-मंडल का कार्यान्वित करना बड़ा कठिन होगा जिसके कुछ मंत्री, अनिवार्य केंद्रीय विषयों का शासन समस्त भारत के प्रति उत्तरदायी होकर करें और कुछ मंत्री, जो ऐच्छिक विषयों के अधिकारी हों, केवल उन प्रांतों के प्रति उत्तर-दायी हों जिन्होंने इन विषयों के संबंध में एक सूत्र में बँध कर कार्य करना स्वीकार किया हो। केंद्रीय विधान-मंडल में यह कठिनाई उस समय और भी बढ़ जायगी जब कोई ऐसा विषय विचाराधीन होगा जिसका किसी एक प्रांत से संबंध न होगा और उसके सदस्य बोलने और मत देने के अधिकार से वंचित रखे जायंगे।

इस योजना को कार्यान्वित करने की कठिनाई के अतिरिक्त हमें यह न्याय-संगत नहीं प्रतीत होता कि जो प्रांत केंद्र को ऐच्छिक विषयों को न देना चाहें उन्हें ऐसे लक्ष्य की प्राप्ति के लिए प्रांत-समूह बनाने का अधिकार न हो। इसका अर्थ, वस्तुतः इससे अधिक और कुछ न होगा कि वे अपने स्वशासकीय अधिकारों का प्रयोग एक विशिष्ट तरीके से करेंगे।

१४—अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करने के पूर्व हम ब्रिटिश भारत और भारतीय रियासतों के संबंध के विषय में कुछ विचार करना चाहते हैं। यह स्पष्ट है कि ब्रिटिश भारत के स्वतंत्र होने पर, चाहे वह ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल में रहे अथवा न रहे, रियासतों और ब्रिटिश सम्राट का वह संबंध नहीं रह सकता, जो अब तक रहा है। उन्हें नयी सरकार को भी नहीं सौंपा जा सकता। अधिपति सत्ता न तो सम्राट के हाथ में रखी जा सकती है और न नयी सरकार को सौंपी जा सकती है। भारतीय रियासतों की ओर से हमने जिन लोगों से भेंट की है, उन्होंने इस बात को पूर्णतया स्वीकार कर लिया है। उन्होंने हमें यह आश्वासन भी दिया दिया है कि भारतीय रियासतें भारत के नवीन विकास में सहयोग प्रदान करने के लिए तैयार हैं। उनके सहयोग का वास्तविक रूप क्या होगा, यह नये संवैधानिक ढाँचे को बनाते समय वार्तालाप द्वारा निश्चित किया जायगा। इसका तात्पर्य किसी भी प्रकार यह नहीं है कि प्रत्येक भारतीय रियासत के सहयोग का एक ही रूप होगा। इसलिए आगे हमने भारतीय रियासतों का उल्लेख उतने विस्तार से नहीं किया है जितने विस्तार से ब्रिटिश भारतीय प्रांतों का।

१५—अब हम उस हल को प्रस्तुत करते हैं जो हमारी सम्मति में सब दलों की आवश्यक माँगों के प्रति न्याययुक्त होगा और जो समस्त भारत के लिए एक स्थायी और व्यावहारिक संविधान की, सम्भवतः स्थापना कर सकेगा।

हमारी सिफारिश है कि संविधान को निम्नलिखित आधारभूत रूप धारण करना चाहिये—

(१) एक भारतीय संघ होना चाहिये जिसमें ब्रिटिश भारत और भारतीय रियासतें दोनों सम्मिलित हों और जिसके अधीन पर-राष्ट्र-संबंध, रक्षा और यातायात के विषय हों। भारतीय संघ को अपने विषयों के व्यय के लिए आवश्यक धन उगाहने का अधिकार हो।

(२) संघ की एक कार्य-पालिका समिति और एक विधान-मंडल हो जिसमें ब्रिटिश भारत और भारतीय रियासतों दोनों के प्रतिनिधि हों। यदि विधान-मंडल

में कोई महत्वपूर्ण सांप्रदायिक मामला प्रस्तुत किया जाय तो उसके निर्णय के लिए दोनों प्रमुख संप्रदायों के उपस्थित सदस्यों का अलग-अलग बहुमत तथा समस्त उपस्थित सदस्यों का बहुमत आवश्यक हो।

(३) संघ को समर्पित विषयों के अतिरिक्त अन्य समस्त विषय और समस्त अवशिष्ट विषय प्रांतों के अधीन हों।

(४) भारतीय रियासतों का उन सब विषयों पर अधिकार हो जिन्हें वे संघ को समर्पित न करें।

(५) प्रांतों को अपने समूह बनाने का अधिकार हो। प्रत्येक प्रांत-समूह की पृथक कार्य-पालिका समिति और विधान-मंडल हो। प्रांत-समूह को यह निश्चित करने का अधिकार हो कि कौन-से विषय सामूहिक शासन में रहेंगे।

(६) भारतीय संघ और प्रांत समूहों के संविधानों में इस प्रकार की व्यवस्था की जाय जिसके अंतर्गत प्रत्येक प्रांत अपने विधान-मंडल के बहुमत से प्रथम दस बरस के पश्चात और तत्पश्चात प्रति दस बरस के पश्चात् संविधान की शर्तों पर पुनर्विचार करने का प्रस्ताव प्रस्तुत कर सके।

१६—हमारा उद्देश्य यह नहीं है कि हम उपर्युक्त रूपरेखा के अनुसार किसी संविधान की विस्तृत बातें प्रस्तुत करें। हम केवल उस संगठन को चालू करना चाहते हैं जिसके द्वारा भारतीयों का भारतीयों द्वारा संविधान निर्मित किया जा सके।

भावी संविधान के स्थूल आधार के संबंध में हमें इस सिफारिश की आवश्यकता इसलिए प्रतीत हुई कि विचार-विनिमय के सिलसिले में यह स्पष्ट हो हो गया था कि जब तक ऐसी सिफारिश न की जायगी तब तक इस बात की कोई आशा न थी कि संविधान-निर्माण करने वाले संगठन की स्थापना के लिए दोनों प्रमुख संप्रदायों को एक सूत्र में बाँधा जा सकेगा।

१७—अब हम संविधान-निर्माण के उस संगठन पर प्रकाश डालना चाहते हैं जिसके लिए हमारा प्रस्ताव है कि यह तत्काल स्थापित किया जाय ताकि नया संविधान तैयार किया जा सके।

१८—किसी ऐसी सभा के निर्धारण में, जिसका काम नये संविधान का ढाँचा बनाना हो, पहली समस्या यह होती है कि वह समस्त जनता का अधिक से अधिक विस्तृत आधार पर प्रतिनिधित्व करे। स्पष्ट है कि इसके लिए सबसे अधिक संतोषजनक प्रणाली वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचन कराना

है। इस समय इस प्रकार की व्यवस्था का प्रयत्न करने से अवांछित विलंब होगा। व्यावहारिक रूप में इसका एक मात्र विकल्प यही है कि हाल में ही निर्वाचित प्रांतीय विधान-सभाओं (Legislative Assemblies) का प्रयोग निर्वाचक-संस्थाओं के रूप में किया जाय। उनके संगठन में दो ऐसी बातें हैं जिनके कारण ऐसा करना कठिन है। पहली कठिनाई यह है कि विभिन्न प्रांतों में विधान-सभा के सदस्यों का प्रांतीय जनता के साथ समान अनुपात नहीं है। उदाहरणार्थ आसाम की जनसंख्या एक करोड़ है और उसकी विधान-सभा के सदस्यों की संख्या १०८ है और बंगाल की विधान-सभा के सदस्यों की संख्या २५० है पर उसकी जन-संख्या आसाम की लगभग छः गुनी है। दूसरी कठिनाई यह है कि सांप्रदायिक निर्णय के अनुसार कुछ अल्प-संख्यकों को भार (Weight) दिया गया है। इसके परिणाम-स्वरूप विधान-सभाओं में विभिन्न संप्रदायों के सदस्यों और उनकी जन-संख्या के अनुपात में समानता नहीं है। उदाहरणार्थ बंगाल में मुसलमानों के सुरक्षित स्थान केवल ४८ प्रतिशत हैं और उनकी जन-संख्या की ५५ प्रतिशत्। इन असमानताओं को दूर करने की विभिन्न प्रणालियों पर विचार करने के पश्चात् हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि निम्नलिखित तरीका सबसे अधिक न्याययुक्त और व्यावहारिक होगा—

(अ) प्रत्येक प्रांत के लिए जन-संख्या के आधार पर अधिक से अधिक स्थान निश्चित कर दिये जायँ। स्थूल रूप से प्रत्येक १०,००,००० (दस लाख) व्यक्तियों के लिए एक स्थान दिया जाय। वयस्क मताधिकार के प्रतिनिधित्व का यह श्रेष्ठतम विकल्प है।

(ब) इस प्रकार विनिश्चित स्थानों को प्रत्येक प्रांत के प्रमुख संप्रदायों में, उनकी जनसंख्या के अनुपात में बाँट दिया जाय।

(स) यह व्यवस्था की जाय कि प्रत्येक संप्रदाय के लिए विनिश्चित स्थानों के प्रतिनिधि प्रांतीय विधान-सभा के उसी समुदाय के प्रतिनिधियों द्वारा चुने जायँ।

हमारा मत है कि इसके लिए भारत में तीन प्रमुख संप्रदायों का मानना पर्याप्त होगा—साधारण, मुस्लिम और सिक्ख। चूँकि छोटी अल्प संख्यक जातियाँ, जनसंख्या के आधार और भार के अभाव में बहुत कम या कुछ भी प्रतिनिधित्व न प्राप्त कर सकेंगी इसलिए हमने २०वें पैरा में वह व्यवस्था

प्रस्तुत की है जिसके द्वारा उन्हें अपने संप्रदाय के विशिष्ट हितों के संबंध में पूर्ण प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सकेगा ।

१६—(१) इस लिए हमारा प्रस्ताव है कि प्रत्येक प्रांतीय विधान-सभा निम्न प्रकार निर्दिष्ट संख्या में अपने प्रतिनिधि चुने और विधान-सभा का प्रत्येक भाग (साधारण, मुस्लिम और सिक्ख) अपने प्रतिनिधियों को एकाकी हस्तांतरीय मतदान की अनुपातीय प्रतिनिधित्व की प्रणाली (Proportional Representation by Single Transferrable Vote) के अनुसार चुने ।

प्रतिनिधित्व की तालिकाएँ

क—समूह

प्रांत	सामान्य	मुस्लिम	योग
मद्रास	४५	४	४६
बंबई	१६	२	२१
संयुक्त-प्रांत	४७	८	५५
बिहार	३१	५	३६
मध्य-प्रांत	१६	१	१७
उड़ीसा	६	०	६
योग	१६७	२०	१८७

ख—समूह

प्रांत	सामान्य	मुस्लिम	सिक्ख	योग
पंजाब	८	१६	४	२८
उत्तरी-पश्चिमी सीमांत प्रांत	०	३	०	३
सिंध	१	३	०	४
योग	६	२२	४	३५

ग—समूह

प्रांत	सामान्य	मुस्लिम	योग
बंगाल	२७	३३	६०
आसाम	७	३	१०
योग	३४	३६	७०

नोट— चीफ कमिश्नरों के प्रांतों के प्रतिनिधित्व के लिए दिल्ली और अजमेर की ओर से निर्वाचित केंद्रीय विधान-सभा के सदस्यों तथा कुर्ग की विधान-परिषद (Legislative Conucil) द्वारा निर्वाचित एक-एक प्रतिनिधि क-खंड में बढ़ा दिये जायँगे ।

ख-खंड में ब्रिटिश बिलोचिस्तान का एक प्रतिनिधि बढ़ाया जायगा ।

२—यह इरादा है कि संविधान-निर्मात्री-सभा के अंतिम संगठन में भारतीय रियासतों को भी प्रतिनिधित्व दिया जाय । ब्रिटिश भारत के आधार पर उनके प्रतिनिधियों की संख्या ९३ से अधिक नहीं हो सकती । उनके चुनाव का ढंग विचार-विनिमय द्वारा निर्धारित किया जायगा । आरंभिक काल में एक पारस्परिक-चर्चा-समिति (Negotiating Committee) भारतीय रियासतों के प्रतिनिधि के रूप में काम करेगी ।

(३) इस प्रकार चुने गये प्रतिनिधि यथासंभव शीघ्र दिल्ली में एकत्रित होंगे ।

(४) एक आरंभिक बैठक होगी जिसमें कार्य का सामान्य क्रम निर्धारित किया जायगा, अध्यक्ष और अन्य अधिकारियों का निर्वाचन होगा और नागरिकों, अल्प-संख्यकों और कबाइली और अपवर्जित (Excluded) प्रदेशों के लिए परामर्शदात्री समिति नियुक्त की जायगी। इसके पश्चात प्रांतीय प्रतिनिधि क, ख और ग इन तीनों भागों में विभक्त हो जायँगे जैसा कि इस पैरा के उप-पैरा (१) में प्रतिनिधित्व की तालिकाओं में दिखलाया गया है ।

(५) ये खंड अपने-अपने समूह के प्रांतों के संविधान को तैयार करेंगे और यह भी निश्चित करेंगे कि क्या उन प्रांतों के लिए कोई सामूहिक संविधान तैयार करना चाहिये ; और यदि तैयार करना चाहिये तो कौन-कौन से प्रांतीय विषयों को सामूहिक संविधान के अंतर्गत होना चाहिये । नीचे दिये गये उप-खंड ८ के अनुसार प्रांतों को किसी समूह से अलग होने का अधिकार होगा ।

(६) विभिन्न समूहों और भारतीय रियासतों के प्रतिनिधि तब भारत के संविधान निर्धारण के लिए पुनः एकत्रित होंगे ।

(७) संघ की संविधान-निर्मात्री-सभा में प्रेषित कोई प्रस्ताव यदि उपरिलिखित १५ वें पैरे की शर्तों में किसी प्रकार का परिवर्तन करना चाहेगा या कोई महत्वपूर्ण सांप्रदायिक प्रश्न उपस्थित करेगा तो उसकी स्वीकृत के लिए अधिवेशन में उपस्थित तथा वोट देने वाले दोनों प्रमुख सम्प्रदायों के सदस्यों का पृथक-पृथक बहुमत आवश्यक होगा ।

सभा का अध्यक्ष यह निर्णीत करेगा कि उपस्थिति प्रस्तावों में से कौन सा (अगर कोई हो) ऐसा है जिसके द्वारा महत्वपूर्ण सांप्रदायिक प्रश्न उपस्थित होता है। यदि दोनों में से किसी भी प्रमुख संप्रदाय के सदस्य बहुमत से अनुरोध करें, तो अध्यक्ष, अपना निर्णय देने के पूर्व, संघीय न्यायालय का परामर्श लेगा।

(८) नई संवैधानिक व्यवस्था के कार्यान्वित होते ही किसी भी प्रांत को यह अधिकार होगा कि वह उस समूह से बाहर निकल जाये जिसमें उसे रखा गया है। नये संविधान के अंतर्गत पहला चुनाव होने के पश्चात नये प्रांतीय विधान-मंडल इस प्रकार का निर्णय कर सकेंगे।

२०—नागरिकों, अल्प-संख्यकों और कबाइली तथा अपवर्जित क्षेत्रों के अधिकारों के निर्धारण के लिए नियुक्त परामर्श-दात्री-समिति में संबद्ध हितों का पूर्ण प्रतिनिधित्व होना चाहिये। इसका कार्य यह होगा कि नागरिकों के मूल अधिकारों की सूची, अल्प संख्यकों के संरक्षण की धाराओं और कबाइली और अपवर्जित प्रदेशों के शासन की योजना के संबंध मे वह संघीय संविधान-निर्मात्री-सभा के सम्मुख अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करे और इस बात की सलाह दे कि क्या इन अधिकारों को प्रांतों, समूहों अथवा संघ के संविधान के अतर्गत होना चाहिये।

२१—वाइसराय तत्काल ही प्रांतीय विधान-सभाओं से अपने प्रतिनिधियों को चुनने और भारतीय रियासतों से अपनी पारस्परिक-चर्चा-कमेटी के नियुक्त करने का अनुरोध करेंगे। आशा है कि कार्य की जटिलताओं को ध्यान में रखते हुए संविधान-निर्माण का कार्य यथाशक्य शीघ्रता से संपन्न किया जायगा ताकि अंतःकालीन अवधि यथा-संभव छोटी की जा सके।

२२—सत्ता-हस्तांतरण के परिणाम-स्वरूप उत्पन्न कुछ मामलों के संबंध में यूनियन की संविधान-सभा और ब्रिटेन में एक संधि आवश्यक होगी।

२३—संविधान-निर्माण के कार्य के साथ-साथ भारत का शासन भी संचालित होता रहेगा। इस लिए हम एक ऐसी अंतःकालीन सरकार की स्थापना को अत्यंत महत्व देते हैं जिसे महत्वपूर्ण दलों का समर्थन प्राप्त हो। यह आवश्यक है कि अंतःकालीन अवधि में भारत-सरकार के सम्मुख उपस्थित कठिन कार्य को पूरा करने के लिए अधिक से अधिक सहयोग प्रदान किया जाय। नित्य-प्रति के शासन-भार के अतिरिक्त, अकाल के खतरे का निवारण

करना है, युद्धोत्तर विकास से संबद्ध अनेक ऐसे मामलों के विषय में निर्णय करना है जिनका भारत के भविष्य पर व्यापक प्रभाव पड़ेगा और कितने ही महत्वपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के लिए प्रतिनिधित्व की व्यवस्था करनी है। इन सब कामों के लिए ऐसी सरकार की आवश्यकता है जिसे जनता का समर्थन प्राप्त हो। इस उद्देश्य पूर्ति के लिए वाइसराय ने विचार-विनिमय आरंभ कर दिया है और उन्हें आशा है कि शीघ्र ही वे ऐसी अंतःकालीन सरकार की स्थापना कर सकेंगे जिसमें युद्ध-सदस्य के विभाग के सहित, समस्त विभाग जनता के पूर्ण विश्वास-प्राप्त भारतीय नेताओं के हाथ में होंगे। भारत-सरकार में होने वाले परिवर्तनों के महत्व को समझते हुए, ब्रिटिश सरकार इस प्रकार संस्थापित सरकार को अपना शासन-संबंधी कार्य पूरा करने और अंतःकालीन अवधि को शीघ्रता के साथ निर्विघ्न रूप से समाप्त करने के लिए पूर्ण सहयोग प्रदान करेगी।

२४—भारतीय जनता के नेताओं से, जिन्हें पूर्ण स्वतंत्रता का अवसर प्राप्त है, हम अंत में यह कहना चाहते हैं—हमें, हमारी सरकार तथा हमारे देश-वासियों को आशा थी कि यह संभव होगा कि भारत के लोग परस्पर एकमत होकर ऐसी प्रणाली निर्धारित करें जिससे उनके देश का संविधान तैयार हो जाय। लेकिन हमारे और भारतीय दलों के संयुक्त परिश्रम तथा समस्त संबद्ध-जनों के धैर्य और सद्भावना के बावजूद यह संभव नहीं हो सका। इसलिए हम आपके सम्मुख ये प्रस्ताव रखते हैं। सब पक्षों के सुनने तथा गंभीरतापूर्वक विचार करने के बाद हमें आशा है कि न्यूनतम समय में, बिना किसी आंतरिक उपद्रव और संघर्ष के, ये आपको स्वतंत्रता प्राप्त करा सकेंगे। ये प्रस्ताव संभवतः सब दलों को पूर्ण संतोष न दे सकेंगे लेकिन आप इस बात को हमारे साथ स्वीकार करेंगे कि भारतीय इतिहास के इस चरम महत्व के काल में राजविज्ञता की माँग है कि हम में पारस्परिक आदान-प्रदान की भावना हो।

इन प्रस्तावों को स्वीकार करने के विकल्प पर भी हम आपसे विचार करने का अनुरोध करते हैं। हमने तथा भारतीय दलों ने समझौते के लिए जो प्रयत्न किये हैं उन्हें दृष्टि में रखकर हमें कहना पड़ता है कि भारतीय दलों में पारस्परिक समझौते द्वारा किसी निर्णय के होने की आशा बहुत कम है। इसलिए इसे स्वीकार न करने का विकल्प हिंसा का भयंकर खतरा, अव्यवस्था और गृह-युद्ध है। इस प्रकार का गृह-युद्ध कब तक चलेगा और इसका क्या परिणाम होगा,

इस संबंध में पहले से अनुमान नहीं लगाया जा सकता लेकिन यह निश्चय है कि लाखों पुरुषों, स्त्रियो और बच्चों के लिए यह एक भयानक बिनाशकारी संकट होगा। यह ऐसी संभावना है जिसे भारत के निवासियों, हमारे देशवासियों और समस्त संसार को, समान रूप से, घृणा की दृष्टि से देखना चाहिये।

इसलिए ये प्रस्ताव हम आपके सम्मुख इस हार्दिक आशा से रख रहे हैं कि ये उसी प्रकार परस्पर आदान-प्रदान और सदिच्छा की भावना से स्वीकार तथा कार्यान्वित किये जायंगे जिससे इन्हें प्रस्तुत किया जा रहा है। जिनके हृदय में भारत के भावी कल्याण की भावना है उनसे हम यह अनुरोध करते हैं कि वे अपनी दृष्टि को अपने संप्रदाय या हित से परे ले जायं और भारत के समस्त ४० करोड़ स्त्रियों और पुरुषों के हित का ध्यान रखें।

हमें आशा है कि स्वतंत्र भारत ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल का सदस्य बना रहना वीकार करेगा। प्रत्येक अवस्था में हमें आशा है कि आप हमारे देशवासियो के साथ घनिष्ठता और मित्रता के संबंध बनायें रखेंगे। लेकिन ये आपके स्वतंत्र निर्णय की बातें हैं। आप कुछ भी निश्चय करें, आपके साथ साथ हमें इस बात की आशा है कि संसार के महान् राष्ट्रों में आप निरंतर फूले फरलेंगे और आपका भविष्य आपके अतीत से भी अधिक गौरव पूर्ण होगा।[१]

वक्तव्य का विश्लेषण—यदि हम इस वक्तव्य का विश्लेषण करें तो हमें उसकी निम्नलिखित आधार भूत बातें ज्ञात होती हैं—

१—भारत के विभिन्न दल आपसी समझौते द्वारा संवैधानिक समस्या का हल न कर सके थे। भविष्य में भी उनसे इस बात की आशा न थी।

२—कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल को, इसलिए बाध्य होकर अपनी योजना प्रस्तुत करनी पड़ी थी। इसके अनुसार समस्या का ऐसा हल प्रस्तुत किया गया था जिसके द्वारा भारत को अपनी उन्नति का अवसर प्राप्त हो सकता था।

३—वक्तव्य का संबंध दो प्रकार की समस्याओं से था। पहली समस्या

---

१. कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल के वक्तव्य का हिंदी अनुवाद भारतीय समाचार (१ जून सन् १९४६) में प्रकाशित अनुवाद के आधार पर किया गया है।

का संबंध भारत के लिए संविधान ने बनाने से था और दूसरी का अंतः कालीन सरकार की स्थापना से ।

४—मुस्लिम लीग के अतिरिक्त भारत के समस्त दल अखंड भारत के पक्ष में थे । कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल, मुस्लिम लीग की इच्छा के अनुसार पाकिस्तान बनाने के पक्ष में न था । वह एक ऐसे छोटे पाकिस्तान के बनाने के भी पक्ष में न था जिसकी बहुसंख्यक जनता मुसलमान हो । ऐसा करने से सांप्रदायिक समस्या का हल न हो सकता था ।

५—कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल ऐसे अखंड भारत के भी पक्ष में न था जिसकी मुस्लिम जन-संख्या इस भय से आकुल हो कि उसकी संस्कृति और सभ्यता, बहुसंख्यकों की संस्कृति और सभ्यता मे विलीन हो जायगी ।

६—अतः कैबीनेट-प्रतिनिधि-मंडल ने त्रिस्तरीय योजना प्रस्तुत की । सर्वोच्च स्तर भारतीय संघ का था, दूसरा स्तर प्रांतों के समूहों और तीसरा स्तर प्रांतों का था । भारतीय रियासतों के भी सम्मिलित होने की व्यवस्था की गयी थी ।

७—संविधान-सभा की रचना और उसकी आरंभिक कार्य-प्रणाली का भी वक्तव्य में विवरण था । वयस्क मताधिकार के सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक विकल्प के अनुसार इसका परोक्ष निर्वाचन किया जाने को था ।

८—ऐसी अंतःकालीन सरकार के निर्माण की आवश्यकता जिसे भारत के प्रमुख दलों का समर्थन प्राप्त हो और जिसके सब विभाग जनता के विश्वास-पात्र भारतीयों के हाथ में हों ।

९—भारतीयों से प्रस्तावित योजना को स्वीकार करने का अनुरोध । ऐसा न करने का विकल्प, हिंसा, अव्यवस्था और गृह-युद्ध था जो लाखों पुरुषों, स्त्रियों और बच्चों के लिए संकट प्रस्तुत कर सकता था ।

१०—भारत से ब्रिटिश-राष्ट्र-मंडल में रहने की अपील । पर उसे इस बात का अधिकार था कि वह ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल से पृथक हो सकता था ।

भारतीय लोकमत की प्रतिक्रिया-कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की योजना के संबंध में भारतीय लोकमत की अनुकूल प्रतिक्रिया हुई । महात्मा गांधी के शब्दों में 'प्रतिनिधि-मंडल की योजना ऐसी थी जिसका हमको गौरव होना चाहिये ।.......उसमें ऐसा बीजारोपण किया गया है जिसके द्वारा यह दुखी देश सुखी तथा कष्टविहीन हो सकता है ।'' कांग्रेस कार्य-समिति का भी दृष्टिकोण

अनुकूल ही विदित होता था। उसने १६ और २० मई को उस पर विचार किया और मौलाना अबुल कलाम आजाद को, पत्र-व्यवहार द्वारा, निम्नलिखित अस्पष्ट और अनिश्चित बातों के स्पष्टीकरण कराने के लिए अधिकार दिया—

(१) प्रांतों का समूहीकरण—क्या उन प्रांतों के लिए, जो ख और ग समूहों में रखे गये हैं, उन समूहों में सम्मिलित होना अनिवार्य है या वे उनमें सम्मिलित होने से इनकार कर सकते हैं ? कार्य-समिति के पास आसाम और उत्तरी-पश्चिमी सीमांत प्रदेश से ऐसे आवेदन-पत्र आये हैं कि वे बाध्य होकर अपने अपने समूह में सम्मिलित होने को तैयार न थे।

(२) संविधान सभा में भारतीय रियासतों के प्रतिनिधित्व का क्या तरीका होगा ? योजना में यह बात अस्पष्ट छोड़ दी गयी है। चूँकि भारतीय रियासतों की प्रजा ने नरेशों द्वारा नामजद लोगों से अपना प्रतिनिधित्व कराने से इनकार कर दिया है इस लिए कांग्रेस यह जानने के लिए उत्सुक है कि क्या संविधान-सभा में रियासतों की प्रजा को ठीक-ठीक प्रतिनिधित्व प्राप्त हो सकेगा ?

(३) क्या बंगाल और आसाम की विधान-सभाओं के युरोपियन सदस्य जिनकी संख्या काफी है, संविधान-सभा के ग-समूह के प्रतिनिधियों को चुनने में भाग लेंगे।

(४) सीमांत क्षेत्र के हिंदू और सिक्ख लोगों को जिनकी संख्या युरोपियनों से कहीं ज्यादा तथा २,४०,००० के लगभग थी, संविधान-सभा में कोई प्रतिनिधित्व न दिया गया था।"

दूसरी, तीसरी, और चौथी बातें उतने महत्व की न थीं जितने महत्व की पहली बात थी। इसके संबंध में कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल के वक्तव्य में कुछ विरोधात्मक बातें सम्मिलित की गयी थीं। १५वें पैरे के ४वें उपखंड की व्यवस्था इस प्रकार थी—"प्रांतों को अपने समूह बनाने का अधिकार हो। प्रत्येक प्रांत-समूह की पृथक कार्यपालिका समिति और विधान-मंडल हो। प्रत्येक प्रांत-समूह को यह निश्चित करने का अधिकार हो कि कौन-से विषय सामूहिक शासन में रहेंगे।" इसके विपरीत १६वें पैरे में प्रांतों के समूह बना दिये गये थे और उसके ५वें उपखंड में निम्नलिखित व्यवस्था की गयी थी—"ये समूह अपने-अपने समूह के प्रांतों के संविधान को तैयार करेंगे और यह भी निश्चित करेंगे कि क्या उन प्रांतों के लिए कोई सामूहिक संविधान तैयार करना चाहिये।" इन दोनों पैरों में से

१५वें में प्रांतों को समूह बनाने की स्वतंत्रता थी और १६वें में वे निश्चित समूहों में रख दिये गये थे। इसका स्पष्टीकरण इसलिए अनिवार्यतः आवश्यक था।

मिस्टर जिन्ना की प्रतिक्रिया भी योजना के अनुकूल ही थी, पर वे उससे पूर्णतया संतुष्ट न थे। अंतिम निश्चय को मुस्लिम लीग की कार्य-समिति पर छोड़ते हुए उन्होंने २२ मई को योजना के संबंध में एक आलोचनात्मक वक्तव्य प्रकाशित किया जिसमें सांप्रदायिक समस्या के हल के संबंध में मुस्लिम लीग के प्रयत्नों के दिग्दर्शन के पश्चात् योजना के संबंध में निम्नलिखित मत-प्रकाश किया गया था—

"मुझे दुःख है कि कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल ने मुसलमानों की पूर्ण-प्रभुता संपन्न पाकिस्तान की माँग को अस्वीकार कर दिया है। हमारा अब भी विश्वास है कि भारत की संवैधानिक समस्या का वही एक-मात्र हल है। उसी के द्वारा दृढ़ सरकार की स्थापना हो सकती है। वही केवल दो प्रमुख संप्रदायों के लोगों को ही नहीं, वरन् इस महाद्वीप के सब लोगों को सुख और समृद्धि की ओर ले जा सकता है।"[1]

मिस्टर जिन्ना का मत था कि कैबीनेट प्रतिनिधि मंडल ने उक्त निर्णय कांग्रेस की तुष्टि के लिए किया था। उन्हें इस बात का भी दुख था कि दो के स्थान पर एक ही संविधान-सभा की व्यवस्था की गयी थी, पाकिस्तान के प्रदेश दो समूहों में विभक्त कर दिये गये थे, संघ को समर्पित विषयों में यातायात के विषय के संबंध में यह स्पष्ट न किया गया था कि वह संघ के अधीन रक्षा के लिए ही होगा और न इस बात का उल्लेख था कि संघ अपने लिए आवश्यक धन को किस प्रकार उगाहेगा। सारांश यह कि मिस्टर जिन्ना की प्रतिक्रिया योजना के संबंध में आलोचनात्मक थी। उसका मुख्य आधार पाकिस्तान और उसमें निहित भावों में था।

२४ मई सन् १६४६ को कांग्रेस कार्य-समिति का अधिवेशन हुआ। इसके एक दिन पूर्व वाइसराय ने मौलाना अबुल कलाम आजाद और पं० जवाहर लाल नेहरू को बुला कर कुछ बातचीत की थी।[2] कार्य-समिति ने योजना के

---

1. Indian Annual Register 1946, Vol I PP 177-80

२. अनुमान लगाया जाता है कि यह बातचीत कार्यपालिका समिति मे, कांग्रेस और मुस्लिम लीग के समान प्रतिनिधित्व के संबध में थी जिसे कांग्रेस कार्य-समिति, स्वीकार करने में असमर्थ थी। इसकी सूचना वाइसराय के पास मौलाना अबुल कलाम आजाद के द्वारा भेजी जा चुकी थी।

संबंध में एक लंबा प्रस्ताव पारित किय जिसके महत्वपूर्ण अंश इस प्रकार हैं—

"ब्रिटिश सरकार का ओर से कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल और वाइसराय ने १६ मई सन् १९४६ को जो वक्तव्य प्रकाशित किया है और इस संबंध में कांग्रेस के अध्यक्ष और प्रतिनिधि-मंडल के सदस्यों में जो पत्र-व्यवहार हुआ है, उस पर कार्य-समिति ने बड़ी सावधानी से विचार किया है। समिति ने स्वतंत्र भारत की स्थापना के लिए, शांति और सहयोग पूर्वक सत्ता के हस्तांतरण की इच्छा से वक्तव्य का परीक्षण किया है। इस प्रकार के भारत के लिए केंद्र का सुदृढ़ होना आवश्यक है जिससे संसार के परामर्शों में वह शक्ति और गौरव से राष्ट्र का प्रतिनिधित्व कर सके।" तत्पश्चात प्रस्ताव में अंतःकालीन सरकार को अधूरी और अस्पष्ट बतला कर कांग्रेस के उद्देश्यों का उल्लेख था। "ये उद्देश्य हैं भारत के लिए स्वाधीनता, सीमित पर दृढ़ केंद्रीय सत्ता, प्रांतों के लिए पूर्ण स्वायत्त शासन, केंद्र और इकाइयों में लोकतंत्रीय ढाँचा, प्रत्येक व्यक्ति के लिए मूल अधिकारों की गारंटी ताकि उसे विकास का पूर्ण अवसर मिले और इससे भी अधिक यह बात कि इस विशाल ढाँचे के भीतर सब वर्गों को अपनी इच्छा के अनुसार जीवन बिताने का अवसर मिले।" समिति को इस बात का दुख था कि ब्रिटिश सरकार के समस्त प्रस्ताव इन उद्देश्यों से असंगत थे। यह बात विशेष रूप से अंतःकालीन सरकार के विषय में कही जा सकती थी "अगर भारत की स्वतंत्रता लक्ष्य है तो अंतःकालीन सरकार का व्यावहारिक रूप, उस स्वतंत्रता के निकटतम पहुँच जाना चाहिये, चाहे कानूनी रूप में ऐसा भले ही न हो, और ऐसा होने के मार्ग में जितनी भी अड़चनें और बाधाएँ हों, उन्हें दूर कर देना चाहिये। विदेशी सेना का यहाँ लगातार रहना स्वतंत्रता का प्रतिरोध है।" संविधान-सभा के विषय में मत-प्रकाश करते हुए कमेटी ने उसके संबंध की कुछ आपत्ति-जनक बातों पर प्रकाश डाला। उसके मतानुकूल आसाम और बंगाल के युरोपियनों और ब्रिटिश बिलोचिस्तान और कुर्ग के प्रतिनिधियों के चुनाव में उस आधार का अभाव था जो शेष भारत के लिए निश्चित किया गया था। कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल द्वारा प्रस्तावित संविधान-सभा के प्रक्रिया के कुछ नियमों से भी कार्य-समिति असंतुष्ट थी। प्रतिनिधि-मंडल के मतानुकूल संविधान-सभा केवल संविधान बनाने में प्रभुत्व-संपन्न थी। कार्य-समिति के मतानुकूल संविधान-सभा को, किसी भी स्थिति में पहुँच कर प्रक्रिया के नियमों में परिवर्तन और भिन्नताएँ करने का अधिकार

था। उस पर एक-मात्र प्रतिबंध केवल इस बात का था कि सांप्रदायिक मामलों के निर्णय के लिए दोनों संप्रदायों का अलग-अलग बहुमत आवश्यक था। तत्पश्चात कार्य-समिति ने पैरा १५ के ५ वें और पैरा १६ के ५ वें उपखंडों के विरोध पर प्रकाश डालते हुए, इस बात को स्पष्ट किया कि प्रांतीय स्वायत्त शासन, प्रतिनिधि-मंडल की योजना का, मूल आधार था। अतः प्रांतों को इस बात का अधिकार था कि वे उस प्रांत-समूह में, जिसमें वे रखे गये हैं, रहें अथवा न रहें। कार्य-समिति के मतानुकूल वक्तव्य में भारतीय रियासतों के संबंध के उपबंध अनिश्चित एवं भविष्य के लिए छोड़ दिये गये थे। उसका मत था कि संविधान-सभा में भारतीय रियासतों के प्रतिनिधियों की नियुक्ति का ढंग, यथासंभव वही होना चाहिये जो प्रांतों के लिए स्वीकृत किया गया था।

कार्य-समिति के इस लंबे प्रस्ताव में जिन बातों पर जोर दिया गया था वे संक्षेप में निम्नलिखित थीं—

१—वक्तव्य कांग्रेस के उद्देश्यों के अनुकूल न था।

२—भारत की स्वतंत्रता के लक्ष्य को सामने रखते हुए, अंतःकालीन सरकार को तदनुकूल आधार पर व्यावहारिक रूप देना चाहिये।

३—संविधान-सभा प्रभुता-संपन्न संस्था थी। सांप्रदायिक बातों संबंधी प्रतिबंध के अतिरिक्त उसे अपनी प्रक्रिया के बदलने का अधिकार था।

४—समस्त योजना सिफारिश के रूप में थी। उसका मूल-मंत्र प्रांतों का स्वायत्त शासन था। अतः प्रांतों को अपने समूह-निर्माण का अधिकार था। वे उन समूहों से निकल भी सकते थे जिनमें वे रखे गये थे।

५—संविधान-सभा में भारतीय रियासतों के प्रतिनिधियों का चुनाव न्यूनाधिक उसी आधार पर होना चाहिये जिस आधार पर प्रांतों का।

कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल का दूसरा वक्तव्य—मुस्लिम लीग के अध्यक्ष के वक्तव्य और कांग्रेस कार्य-समिति के उक्त प्रस्ताव के पश्चात, २५ मई सन् १९४६ को, कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल और वाइसराय ने उठाये हुए प्रश्नों का उत्तर देते हुए अपना दूसरा वक्तव्य प्रकाशित किया। उसमें निम्नलिखित बातों पर प्रकाश डाला गया था—

कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की योजना दो मुख्य दलों में अधिक से अधिक मेल कराने के उद्देश्य से बनायी गयी थी। "वह एक इकाई है और उसी अवस्था में सफल हो सकती है जब कि स्वीकार करके उस पर सहयोग की भावना से कार्य किया जाय।"

संविधान-सभा के संबंध में, वक्तव्य में सम्मिलित उपबंधों की ओर संकेत करते हुए निम्नलिखित स्पष्टीकरण किया गया था—"संविधान-सभा के बन चुकने पर और इस आधार पर कार्य आरंभ कर चुकने पर, उसकी इच्छा में हस्तक्षेप करने अथवा उसके निर्णयों पर आपत्ति उठाने का इरादा कदापि नहीं है।" संविधान-सभा के कार्य समाप्त कर चुकने पर, पार्लमेंट भारतीय जनता को पूर्ण सत्ता सौंपने के लिए आवश्यक सिफारिश निम्नलिखित दो अपवादों के अंतर्गत करेगी—(१) अल्प-संख्यकों की रक्षा का अपवाद, (२) शक्ति-हस्तांतरण किये जाने पर उठने वाले विषयों के संबंध में सम्राट की सरकार से संधि करने के लिए रजामंदी।

वक्तव्य में युरोपियनों के प्रतिनिधित्व को, निर्वाचन-पद्धति का परिणाम बतला कर, यह कहा गया था कि 'इस प्रकार मिले अधिकार का वे उपयोग करेंगे या नहीं, यह स्वयं उन्हीं के निश्चय की बात है।'' ब्रिटिश बिलोचिस्तान और कुर्ग के संबंध में भी स्पष्टीकरण करके, प्रथम वक्तव्य की व्यवस्था को ठीक बतलाने का प्रयत्न किया गया था।

प्रांतों के समूह-निर्माण के संबंध में वक्तव्य में कहा गया था कि प्रतिनिधि-मंडल इस संबंध में कांग्रेस द्वारा लगाये गये अर्थ से सहमत न था। प्रांतों के समूह जिन कारणों से बनाये गये थे उन्हें सभी जानते थे। यह योजना का एक आवश्यक अंग था। इसमें यदि कोई संशोधन हो सकता था तो वह दलों के बीच समझौता होने पर ही हो सकता था। संविधान-निर्माण के कार्य समाप्त हो जाने पर समूहों से अलग होने का अधिकार स्वयं जनता द्वारा ही अमल में लाया जा सकता था।

संविधान-सभा में भारतीय रियासतों के प्रतिनिधियों का चुनाव किस ढंग से किया जाय—यह एक ऐसा प्रश्न था जिस पर रियासतों से वार्तालाप करनी चाहिये। इसका निर्णय करना कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल का काम न था।

अंतःकालीन सरकार के विषय में यह बतलाया गया था कि प्रस्तावित परिवर्तन भारत को स्वाधीनता की ओर ले जाने वाली दिशा में बहुत बड़े पग के समान थे। "सम्राट की सरकार भी इन परिवर्तनों के प्रभाव को स्वीकार करेगी और भारत के नित्य-प्रति के शासन में भारत-सरकार को अधिकाधिक स्वतंत्रता प्रदान करेगी।'' अंतःकाल में वर्तमान संविधान के जारी रहने का उल्लेख करते हुए उत्तरदायी शासन-संबंधी निम्नलिखित बात पर प्रकाश डाला

गया था—"यदि सरकार के सदस्य, विधान-सभा द्वारा कोई महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास कराने में असफल रहें, अथवा उनके विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर दिया जाय, तो उन्हें व्यक्तिगत् रूप से अथवा सबकी सहमति से त्यागपत्र देने से रोका नहीं जायगा।

"निस्संदेह नये संविधान के बनने पर स्वतंत्र भारत की इच्छा के विरुद्ध, भारत में ब्रिटिश सैनिकों के रखने का कोई इरादा नहीं है, किंतु अंतःकाल में, जो आशा है छोटा होगा, वर्तमान संविधान के अनुसार भारत की सुरक्षा कायम रखने के लिए ब्रिटिश पार्लमेंट ही उत्तरदायी रहेगी और इसीलिए ब्रिटिश सेना का रखना आवश्यक है।"

अंतःकालीन सरकार के विषय में पत्र-व्यवहार—२५ मई सन् १९४६ से १५ जून सन् १९४६ तक वाइसराय, पं० जवाहर लाल नेहरू और कांग्रेस के अध्यक्ष मौलाना आजाद में अंतःकालीन सरकार की स्थापना के संबंध में पत्र-व्यवहार हुआ। कांग्रेस अध्यक्ष ने अपने १५ मई के पत्र में इस बात पर जोर दिया था कि अंतःकालीन सरकार की कानूनी और संवैधानिक स्थिति इस प्रकार की होनी चाहिये कि वह वास्तव में राष्ट्रीय कही जा सके। उनके मतानुकूल व्यवहार में अंतःकालीन सरकार को डोमीनियन के कैबिनेट की भाँति काम करना चाहिये। इस संबंध में वाइसराय का उत्तर न्यूनाधिक मौलाना आजाद के मत के अनुकूल था। "मुझे यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि जिस भावना से नयी सरकार काम करेगी उसका महत्व उसकी कानूनी गारंटी की अपेक्षा अधिक महत्व का है। मुझे इस विषय में लेशमात्र भी संदेह नहीं है कि यदि आप मेरा विश्वास करें तो हम इस प्रकार सहयोग कर सकेंगे कि भारत को बाह्य नियंत्रण से मुक्ति मिल जायगी और संविधान-निर्माण के पश्चात वह पूर्ण-स्वाधीनता के लिए तैयार हो जायगा।"[1]

१२ जून को वाइसराय ने इस संबंध में बातचीत करने के लिए पं० जवाहर लाल नेहरू और मिस्टर जिन्ना को बुला भेजा। पं० नेहरू ने बातचीत करने से मुख न मोड़ कर वाइसराय को लिखा कि इस संबंध में मौलाना आजाद से बातचीत करना अधिक उपयुक्त होगा। उन्होंने अपनी बातचीत की सब बातें मौलाना आजाद को बतलायीं। मुख्य बात कार्यपालिका कौंसिल में हिंदुओं और मुसलमानों को दिये गये स्थानों के संबंध में थी। वाइसराय द्वारा निर्धारित

1. Indian Annual Register 1946, Vol I P 166

अनुपात मौलाना आजाद को पसंद न था। अतः अपने १३ जून सन् १९४६ पत्र में उन्होंने वाइसराय को यह लिख भेजा, "मेरी समिति को दुख है कि वह अंतःकालीन सरकार के निर्माण के संबंध में आपके सुझाव को मानने में असमर्थ है। इसमें समानता की बात पर जोर दिया गया है जिसका हम अब तक विरोध करते आये हैं और जिसके हम आज भी विरोधी हैं।"[1] मौलाना आजाद ने तब इस बात का उल्लेख किया कि जिस समानता की उस समय चर्चा हो रही थी वह शिमला सम्मेलन की समानता से भी गयी गुजरी थी। मौलाना आजाद को अंतःकालीन सरकार के काम करने का ढंग भी नापसंद था। "समानता के अतिरिक्त हमें यह भी बतलाया गया है कि महत्वपूर्ण सांप्रदायिक प्रश्नों के संबंध में वोटिंग समूहों के आधार पर होगी। आपने इस संबंध कीप्रथा का सुझाव प्रस्तुत किया है। हमने इसे दीर्घकालीन व्यवस्था के संबंध में केवल इस लिए स्वीकार कर लिया है कि दूसरे संरक्षण न थे।........ इसके कारण अंतःकालीन सरकार का कार्यान्वित करना असंभव हो जायगा। इस व्यवस्था के अंतर्गत नित्यप्रति संवैधानिक संकटों का होना, अनिवार्य होगा।"[2] १४ जून के पत्र में मौलाना आजाद ने निश्चित रूप से यह लिख भेजा कि "हम आपके प्रस्ताव को मानने में असमर्थ हैं। हमारा यह भी विश्वास है कि अंतःकालीन सरकार में १५ सदस्य होने चाहिएँ।" अपने १५ जून के पत्र में वाइसराय ने मौलाना आजाद को समझाने का अंतिम प्रयत्न किया पर कुछ भी परिणाम न निकला। अतः वाइसराय द्वारा अंतःकालीन सरकार के निर्माण का यह प्रयत्न भी निष्फल गया।

मुस्लिम लीग द्वारा कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की योजना की स्वीकृति—५ और ६ जून १९४६ को मुस्लिम लीग की कौंसिल का अधिवेशन दिल्ली में हुआ। उसके द्वारा पारित प्रस्ताव में, सर्व प्रथम, पाकिस्तान की व्यवस्था न होने के कारण खेद प्रगट किया गया और तत्पश्चात संविधान-सभा संबंधी योजना की बातों को स्वीकार कर लिया गया।

"कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल के वक्तव्य की प्रस्तावना में, अनुपयुक्त शब्दों के द्वारा, मुसलमानों की राष्ट्रीय भावनाओं पर आघात के बावजूद भी, मुस्लिम लीग, गंभीर समस्याओं तथा भारतीय संवैधानिक समस्या के

1. Indian Annual Register 1946, Vol. I P 166
2. Ibid P 197

शांतिपूर्ण हल के लिए, यदि यह संभव हो और इसलिए भी कि ख और ग समूहों के ६ मुस्लिम प्रांतों के अनिवार्य समूह-निर्माण के कारण प्रतिनिधि-मंडल की योजना में पाकिस्तान का आधार और उसकी स्थापना निहित है, योजना में चित्रित संविधान-सभा के साथ सहयोग करने को इस आशा से तैयार है कि अंत में इसके परिणाम-स्वरूप पाकिस्तान के प्रभुत्व-संपन्न राज्य की स्थापना हो जायगी और इस उप-महाद्वीप के दूसरे महान राष्ट्रों और निवासियों के स्वतंत्रता संबंधी लक्ष्य की पूर्ति होगी।"[1]

अंतःकालीन सरकार के संबंध में कौंसिल ने अपने अध्यक्ष को वाइसराय से पत्र-व्यवहार और अंतिम निश्चय तथा कार्रवाई करने का अधिकार दिया।

कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल का तीसरा वक्तव्य—१६ जून सन् १९४६ को, कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की अनुमति से, वाइसराय ने उसका तीसरा वक्तव्य प्रकाशित किया। उसका संबंध मुख्यतः अंतःकालीन सरकार के निर्माण से था। उसका हिंदी अनुवाद इस प्रकार है—

१—इधर कुछ समय से वाइसराय, कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल के सदस्यों के परामर्श से ऐसी मिली-जुली सरकार के बनाने की संभावना के संबंध में प्रयत्न करते रहे हैं जिसकी रचना दोनों प्रमुख दलों और कतिपय अल्प-संख्यक समु-समुदायों में से की गयी हो। इस संबंध की वार्तालाप से उन कठिनाइयों पर प्रकाश पड़ा है जो दोनों प्रमुख दलों के समक्ष, उपर्युक्त सरकार की रचना के संबंध में, किसी स्वीकृत आधार पर पहुँचने के संबंध में विद्यमान हैं।

२—वाइसराय और कैबीनेट-प्रतिनिधि-मंडल इन कठिनाइयों को समझते हैं, और इन पर विजय पाने के लिए जो प्रयत्न किये गये हैं उनका आदर करते हैं। परंतु साथ ही साथ वे यह भी अनुभव करते हैं कि इस वार्तालाप को अधिक समय तक जारी रखने से कोई लाभ नहीं हो सकता। वास्तव में इस समय इस बात की अत्यंत आवश्यकता है कि हमारे सामने जो भारी तथा महत्वपूर्ण कार्य हैं, उन्हें करने के लिए शीघ्र ही एक दृढ़ और प्रतिनिधि अंतः-कालीन सरकार की स्थापना कर दी जाय।

३—इसलिए और इस आधार पर कि १६ मई के वक्तव्य के अनुसार संवि-धान-निर्माण का कार्य आरंभ होगा, वाइसराय निम्नलिखित सज्जनों को, अंतः-

1. Indian Annual Register 1946 Vol I P 183

कालीन सरकार के सदस्यों के रूप में काम करने के लिए आमंत्रित कर रहे हैं—'सरदार बलदेव सिंह, सर एन० पी० इंजीनियर, श्री जगजीवन राम, पं० जवाहर लाल नेहरू, मिस्टर मुहम्मद अली जिन्ना, श्री एच० के० मेहताब, डा० जॉन मथाई, नवाब मुहम्मद इस्माइल खाँ, ख्वाजा सर नजीमुद्दीन, सरदार अब्दुर रब निश्तर, श्री सी० राजगोपालाचारी, डा० राजेंद्र प्रसाद और सरदार वल्लभ भाई पटेल। यदि आमंत्रित व्यक्तियों में से कोई निजी कारणों से निमंत्रण स्वीकार करने में असमर्थ हो तो वाइसराय, परामर्श के उपरांत, उसके स्थान पर किसी दूसरे व्यक्ति को आमंत्रित करेंगे।

४—वाइसराय विभिन्न विभागों के वितरण की व्यवस्था दोनों प्रमुख दलों के नेताओं के परामर्श करेंगे।

५—अंतःकालीन सरकार की उपर्युक्त रचना अथवा अनुपात को किसी अन्य सांप्रदायिक समस्या के हल के लिए उदाहरण के रूप में स्वीकार न किया जायगा। यह तो, केवल वर्तमान कठिनाई के हल करने तथा यथासंभव सर्वोत्तम मिली-जुली सरकार की स्थापना कर सकने के लिए एक मार्ग प्रस्तुत किया गया है।

६—वाइसराय और कैबिनेट प्रतिनिधि-मंडल का विश्वास है कि सभी संप्रदायों के भारतीय इस मामले के शीघ्र निर्णय के इच्छुक हैं जिससे संविधान-निर्माण का कार्य आरंभ किया जा सके और मध्यवर्ती काल में भारत का शासन अधिक से अधिक योग्यता से किया जा सके।

७—इसलिए उन्हें आशा है कि सभी दल, विशेषतया दोनों प्रमुख दल, वर्तमान कठिनाइयों का हल करने के लिए इस सुझाव को स्वीकार करेंगे और अंतःकालीन सरकार को सफलतापूर्वक चलाने के लिए अपना सहयोग देंगे। यदि यह सुझाव स्वीकार कर लिया गया तो वाइसराय २६ जून सन् १९४६ को नयी सरकार को स्थापित करने का प्रयत्न करेंगे।

८—दोनों प्रमुख दलों अथवा उनमें से किसी एक के द्वारा अंतःकालीन सरकार में निर्दिष्ट आधार पर सम्मिलित होने की अनिच्छा प्रगट करने पर, वाइसराय का इरादा है कि वे अंतःकालीन मिली-जुली सरकार के निर्माण के कार्य में अग्रसर रहें। जो लोग १६ मई के वक्तव्य को स्वीकार करते हैं, यह सरकार उनका यथासंभव अधिक से अधिक प्रतिनिधित्व करेगी।

९—वाइसराय प्रांतीय गवर्नरों को भी आदेश दे रहे हैं कि वे तुरंत ही

प्रांतीय विधान-सभाओं (असेंबलियों) के अधिवेशन बुलायें और १६ मई सन् १९४६ के वक्तव्य के अनुसार संविधान-निर्मात्री-सभा के संगठन के लिए आवश्यक चुनाव आरंभ कर दें।

आमंत्रित व्यक्तियों ने अपने अपने नेताओं का परामर्श लिया। मुस्लिम लीग ने निमंत्रण को स्वीकार करने की अनुमति दे दी। इस प्रकार उसने कैबीनेट प्रतिनिधि मंडल की योजना के दीर्घकालीन और अल्पकालीन दोनों भागों को स्वीकार कर लिया। कांग्रेस कार्य-समिति ने, अपने २६ जून सन् १९४६ के अधिवेशन में, संविधान-सभा के विचारों में भाग लेना तो स्वीकार कर लिया, पर पूर्व बतलाये गये कारणों से, उसने अंतःकालीन सरकार में सम्मिलित होने से इनकार कर दिया। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह अंतःकालीन सरकार की स्थापना को कम महत्व का समझती थी। इस संबंध में पारित प्रस्ताव के निम्नलिखित अंश उल्लेखनीय हैं—"कार्य-समिति ने संविधान-सभा के विचारों में कांग्रेस के भाग लेने की अनुमति दे दी है। उसके विचार में यह आवश्यक है कि शीघ्रातिशीघ्र प्रतिनिधि उत्तरदायी केंद्रीय सरकार स्थापित की जाय। मौजूदा निरंकुश (Authoritarian) और अप्रतिनिधि सरकार भूख से पीड़ित जनता के दुख तथा बढ़े हुए असंतोष को और भी अधिक बढ़ा सकती है। उसके कारण संविधान-सभा का कार्य भी, जिसके लिए स्वतंत्र वातावरण की आवश्यकता है, खटाई में पड़ सकता है।"[1] कांग्रेस के इस निर्णय के कारण अंतःकालीन सरकार की स्थापना का यह प्रयत्न भी असफल रहा और वाइसराय ने सरकारी अधिकारियों की एक कामचलाऊ सरकार स्थापित की। इसके कारण मिस्टर जिन्ना को बड़ा दुख हुआ। उनको आशा थी कि कांग्रेस की अस्वीकृति पर कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की घोषणा के अनुसार मुस्लिम लीग को भारत पर शासन करने का अवसर मिलेगा। किंतु उनकी यह आशा पूरी न हुई। फलस्वरूप उन्होंने कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की योजना के एक इकाई होने के कारण, यह सुझाव प्रस्तुत किया कि संविधान-सभा के चुनाव भी स्थगित कर दिये जायँ; किंतु तैयारियों के हो जाने के कारण वाइसराय उनकी इस बात को भी न मान सके।

कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की बिदाई—१६ जून सन् १९४६ को कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल और वाइसराय ने निम्नलिखित वक्तव्य प्रकाशित किया—

"कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल तथा वाइसराय को प्रसन्नता है कि अब दो

प्रमुख राजनीतिक दलों और भारतीय रियासतों के सहयोग से संविधान-निर्माण का कार्य आरंभ किया जा सकता है। कांग्रेस और मुस्लिम लीग के नेताओं द्वारा अपने समक्ष रखे गये उन वक्तव्यों का वे स्वागत करते हैं जिनमें उन्होंने यह विचार प्रगट किया है कि वे संविधान-सभा में कार्य करें, ताकि वे उसे ऐसी संवैधानिक व्यवस्था स्थापित करने का एक प्रभावपूर्ण साधन बना सकें जिसके अंतर्गत भारत पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त कर सके। उन्हें विश्वास है कि संविधान-सभा के सदस्य, जिनका चुनाव होनेवाला है, इसी भावना से कार्य करेंगे।" प्रतिनिधि-मंडल को इस बात का खेद था कि अंतःकालीन सुदृढ़ केंद्रीय सरकार की स्थापना नहीं की जा सकी थी। लेकिन वह उसकी स्थापना के लिए कृत-संकल्प था। उसका यह विचार अवश्य था कि किंचित काल के लिए उसकी बातचीत स्थगित कर दी जाय। चूँकि प्रतिनिधि-मंडल को ब्रिटिश सरकार तथा पार्लमेंट के सम्मुख अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करनी थी और अपने काम को फिर से संभालना था जिससे वह तीन माह से अधिक समय तक अलग रहा था, इसलिए उसका भारत में और अधिक ठहरना संभव न था। अतः उसने २६ जून सन् १९४६ को भारत से प्रस्थान करने का विचार प्रगट किया। २६ जून के वक्तव्य के निम्नलिखित अंतिम वाक्य उल्लेखनीय हैं—"इस देश में अतिथि के रूप में उसे जो समादर और सौजन्यतापूर्ण व्यवहार मिला है उसके लिए वह हृदय से धन्यवाद देता है। मंडल को हार्दिक विश्वास है कि अब जो पग उठाये गये हैं उनके द्वारा शीघ्र ही भारतीय जनता की इच्छाएँ और आशाएँ पूरी हो सकेंगी।"

कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की सफलता—कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल ने भारत की संवैधानिक समस्या के हल के लिए जो प्रयत्न किया, वह वास्तव में सराहनीय था। भारत की असहनीय भयंकर गर्मी में तीन महीने तक नेताओं से भेंट करके, उनके साथ पत्र-व्यवहार करके, और उन्हें एक साथ एकत्रित करके उसने इस बात का अकाट्य प्रमाण दे दिया था कि वह काम करने और सफलता प्राप्त करने के लिए कृत-संकल्प था। उसमें अपने काम के करने की प्रबल इच्छा थी। उसके वक्तव्य सच्चे हृदय से निकाले गये थे, यहाँ तक गांधीजी ने भी उसकी योजना की प्रशंसा यह कह कर की थी कि "उसका हमें गौरव होना चाहिये।" अपने वक्तव्यों के स्पष्टीकरण में उसने जिस राज्य-विज्ञता और सौजन्य का परिचय दिया था, वह भी सराहनीय था। आश्चर्य नहीं कि उसकी योजना पर सहानुभूति के साथ विचार किया गया और उसका वह

अंश जिसे दीर्घकालीन कहा जाता था और जिसका संबंध भारत के संविधान के निर्माण से था, कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों द्वारा मान्य समझा गया। किंतु अंतः कालीन सरकार की स्थापना के संबंध में उसे, बिदाई के पूर्व, सफलता न मिली। उसका मुख्य कारण कार्यपालिका समिति में हिंदुओं और मुसलमानों के प्रतिनिधियों के अनुपात से था। इसे संतोषपूर्वक निश्चित करने के लिए वाइसराय ने दृढ़ता के साथ कई प्रयत्न किये, किंतु उन्हें सफलता न मिली। इस पर भी कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल हताश न था। उसे विश्वास था कि उसके १६ जून सन् १९४६ के वक्तव्य के अनुसार इस दिशा में पुनः प्रयत्न किया जायगा और वह सफल होगा। कालांतर मे उसका विश्वास ठीक निकला। स्वतंत्र भारत के संविधान के निर्माण के लिए, संविधान-सभा अपने काम में लग गयी और अंतःकालीन राष्ट्रीय सरकार वाइसराय की अध्यक्षता में, भारतीयों द्वारा भारतीयों का शासन करने लगी।

१२

कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की बिदाई से भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम तक

प्राक्कथन—संविधान-सभा का निर्वाचन—मुस्लिम लीग द्वारा कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की संपूर्ण योजना अस्वीकृत—अंतः-कालीन सरकार का निर्माण—मुस्लिम लीग का सक्रिय आंदोलन—अंतःकालीन सरकार में मुस्लिम लीग का सम्मिलित होना—अंतः-कालीन सरकार के विषय में नये सदस्यों का मत—६ दिसंबर सन् १९४६ की घोषणा—संविधान-सभा का कार्यारंभ—२० फरवरी सन् १९४७ का वक्तव्य—बिदाई और आगमन—लॉर्ड माउंटबैटेन का कार्यारंभ—३ जून सन् १९४७ की घोषणा—घोषणा का विश्लेषण—३ जून की घोषणा और भारतीय लोकमत।

प्राक्कथन—२९ जून सन् १९४६ को कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल भारत से बिदा हुआ। इसके पश्चात भारत की राजनीतिक स्थिति में बड़ी तेजी से परिवर्तन हुए। मुस्लिम लीग ने कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की दीर्घकालीन और अल्प-कालीन दोनों योजनाओं को अस्वीकार कर दिया। अंतःकालीन केंद्रीय सरकार स्थापित कर दी गयी। कांग्रेस और मुस्लिम लीग के मतभेद को मिटाने के लिए, इंगलैंड के प्रधान मंत्री, मिस्टर एटली ने वाइसराय, पं० जवाहर लाल नेहरू, मिस्टर मुहम्मद अली जिन्ना और कुछ अन्य नेताओं को लंदन आने के लिए आमंत्रित किया। वहाँ मिस्टर एटली के साथ इनका एक सम्मेलन हुआ। वाइसराय की बदली की गयी। इन सब घटनाओं के परिणाम-स्वरूप, ब्रिटिश पार्लमेंट में ४ जुलाई सन् १९४७ को भारतीय स्वतंत्रता विधेयक प्रेषित किया गया। १८ जुलाई को इस सम्राट की अनुमति मिल गयी। इसमें १५ अगस्त सन् १९४७ को सत्ता के हस्तांतरण की व्यवस्था की गयी थी।

संविधान-सभा का निर्वाचन—कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल और वाइसराय के १६ जून सन् १९४६ के वक्तव्य के अनुसार, प्रांतीय गवर्नरों ने संविधान-सभा के निर्वाचन के कार्य को आरंभ कर दिया। प्रांतीय विधान-सभाओं के अधिवेशन बुलाये गये, और प्रतिनिधि-मंडल के वक्तव्य में निर्धारित व्यवस्था-के अनुसार, उनमें संविधान-सभा के लिए प्रतिनिधि चुने गये। कुल २९६ सदस्यों का निर्वाचन हुआ—१९० क-समूह के, ३६ ख-समूह के और ७० ग समूह के। कांग्रेस को २०५, मुस्लिम लीग ७४, स्वतंत्र सदस्यों को ८, यूनियनिस्ट पार्टी को ३, अकाली पार्टी को ३ और कम्यूनिस्ट पार्टी तथा अनुसूचित जातियों के संघ को एक-एक स्थान मिले। रियासतों की पारस्परिक-चर्चा-कमेटी भी, जिसका उल्लेख कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की योजना के १९ वें पैरा में किया गया था, नियुक्त हो गयी। उसमें रियासती प्रजा का एक भी प्रतिनिधि न था। पं० जवाहर लाल नेहरू को यह बात नापसंद थी। २१ दिसंबर सन् १९४६ को, संविधान-सभा में, उसके द्वारा नियुक्त होने वाली पारस्परिक-चर्चा-कमेटी के प्रस्ताव पर, उन्होंने इस संबंध में निम्नलिखित विचार प्रगट किये थे—"मैं समझता हूँ कि अब भी पारस्परिक-चर्चा-कमेटी में, यदि वह ठीक से काम करना चाहे तो, कुछ इस प्रकार के प्रतिनिधियों को सम्मिलित करना चाहिये। लेकिन इस समय हम इस बात पर अड़ नहीं सकते।"

मुस्लिम लीग द्वारा कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की संपूर्ण योजना अस्वीकृत—२७ जुलाई सन् १९४६ से २९ जुलाई सन् १९४६ तक मुस्लिम लीग की कौंसिल की बैठक बंबई मे हुई। मिस्टर जिन्ना इन दिनों सरकार और कांग्रेस दोनों से रुष्ट थे। वाइसराय ने मुस्लिम लीग को न तो अंतःकालीन सरकार बनाने का अवसर दिया था और न उन्होंने मिस्टर जिन्ना की यह बात मानी थी कि संविधान-सभा के निर्वाचन स्थगित कर दिये जायँ। अतः कौंसिल का वातावरण कुछ क्षुब्ध सा था। राजनीतिक परिस्थिति की समीक्षा करने के पश्चात उसने अपने पहले प्रस्ताव द्वारा कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की याजना को अस्वीकृत कर दिया और दूसरे प्रस्ताव द्वारा सक्रिय आंदोलन द्वारा पाकिस्तान की प्राप्ति की धमकी दी। प्रतिनिधि-मंडल की योजना को अस्वीकार करने वाले प्रस्ताव के महत्वपूर्ण अंश इस प्रकार हैं—

"६ जून सन् १९४६ को अखिल भारतीय मुस्लिम लीग ने कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल और वाइसराय के १६ मई के वक्तव्य, और २५ मई को किये गये उसके स्पष्टीकरण को स्वीकार कर लिया था।......उसका यह निर्णय अध्यक्ष

के इस वक्तव्य से, जो कि उन्होंने वाइसराय से अधिकार पाकर दिया था, अत्यधिक प्रभावित हुआ था कि अंतःकालीन सरकार, जो कि प्रतिनिधि-मंडल की योजना का आधारभूत अंग थी, निम्नलिखित आधार पर बनायी जायगी—५ मुस्लिम लीग, ५ कांग्रेस, १ सिक्ख, १ भारतीय ईसाई। महत्वपूर्ण विभाग प्रमुख दलों अर्थात् मुस्लिम लीग और कांग्रेस में समानता के आधार पर बाँट दिये जायँगे।...........ब्रिटिश सरकार ने मुस्लिम लीग के साथ इस बात में विश्वास-घात किया है कि कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल और वाइसराय ने कांग्रेस की तुष्टि के लिए अपने प्रथम गुर ५ : ५ : २ का परित्याग कर दिया है।....... कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल के १६ जून को प्रकाशित अंतिम निर्णय[1] को, जिसमें अंतः-कालीन सरकार के निर्माण का उल्लेख था, कांग्रेस ने अस्वीकार कर दिया है।...........लेकिन वाइसराय ने १६ जून के प्रस्तावों को समाप्त करके अंतः-कालीन सरकार की स्थापना को कुछ कानूनी व्याख्या के बहाने स्थगित कर दिया है।...... १६ मई और २५ मई के कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल और वाइसराय के प्रस्तावों को, दो प्रमुख दलों में से, केवल मुस्लिम लीग ने ही स्वीकार किया था।.......संविधान-सभा के बुलाये जाने और उसकी बैठक के पश्चात् किसी ऐसे उपबंध या सत्ता की व्यवस्था नहीं है जो कांग्रेस को, अपने अत्यधिक बहुमत के कारण, किसी निर्णय पर पहुँचने से रोक सके।........ यह बात तथा ब्रिटिश सरकार की वह नीति जिसके परिणाम-स्वरूप उसने मुस्लिम राष्ट्र तथा जनता के दुर्बलतर अंगों, विशेषतया अनुसूचित जातियों के हितों का कांग्रेस के तोषण के लिए, बलिदान किया है, तथा वह ढंग जिसके कारण उसने समय समय पर मुसलमानों को दिये गये मौखिक और लिखित वचनों का उलंघन किया है—इन सब बातों के कारण मुसलमानों को यह विश्वास हो जाता है कि इन परिस्थितियों में उनके लिए प्रस्तावित संविधान-सभा मे भाग लेना खतरे से खाली नहीं है। इसलिए मुस्लिम लीग की कौंसिल कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल के वक्तव्य की उस स्वीकृति को वापस करती है जिसे मुस्लिम लीग के अध्यक्ष ने ६ जून सन् १६४६ को भारत-मंत्री के पास भेजा था।"[2]

दूसरा प्रस्ताव जिसका उद्देश्य सक्रिय आंदोलन द्वारा पाकिस्तान को प्राप्त करना था, इस प्रकार था—

---

१. इसका निर्धारित अनुदात ५ : ५ : ३ था।

2. Indian Annual Register 1946 Vol. II PP. 175-77.

"चूँकि अखिल भारतीय मुस्लिम लीग ने एक ओर कांग्रेस के हठ और दूसरी ओर ब्रिटिश सरकार के मुसलमानों के साथ विश्वासघात करने के कारण, १६ मई को प्रकाशित कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल और वाइसराय के वक्तव्य के प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया है; और चूँकि मुसलमान भारतीय समस्या के शांतिपूर्ण हल के लिए समझौते और संवैधानिक मार्गों के समस्त साधनों के प्रयोग करने पर भी असफल हुए हैं; और चूंकि कांग्रेस, ब्रिटिश सरकार के जानते हुए भी, सजातीय हिंदुओं का राज स्थापित करने पर तुली हुई है; और चूंकि निकट की घटनाओं ने यह दिखला दिया है कि भारतीय मामलों के निर्णय में न्याय और सचाई की अपेक्षा राजनीति की शक्ति का प्रभाव कहीं अधिक होता है; और चूंकि यह बिना शक स्पष्ट हो गया है कि मुसलमान लोग शीघ्रातिशीघ्र स्वतंत्र प्रभुत्व-संपन्न पाकिस्तान की स्थापना से कम किसी बात से संतुष्ट न होंगे और वे किसी ऐसी अल्पकालीन या दीर्घकालीन संविधान-सभा या केंद्रीय अंतःकालीन सरकार का विरोध करेंगे जो कि मुस्लिम लीग की अनुमति के बिना स्थापित की जायगी, इसलिए अखिल भारतीय मुस्लिम लीग को इस बात का विश्वास हो गया है कि मुस्लिम राष्ट्र के लिए वह समय आ गया है जब उसे पाकिस्तान की प्राप्ति, अपने न्यायपूर्ण अधिकारों पर जोर देने, अपने सम्मान को प्राप्त करने और मौजूदा ब्रिटिश और आनेवाले सजातीय हिंदुओं के आधिपत्य से बचने के लिए सक्रिय कार्रवाई करनी चाहिये। यह कौंसिल मुस्लिम राष्ट्र के प्रत्येक मनुष्य का इसलिए आवाहन करती है कि वह अपनी एकमात्र-प्रतिनिधि संस्था मुस्लिम लीग का साथ दे और सब बलिदानों के लिए तैयार रहे। कौंसिल कार्य-समिति को इस बात का आदेश देती है कि उपर्युक्त निर्धारित नीति के कार्यान्वित करने के हेतु, वह सक्रिय कार्रवाई का कार्यक्रम तैयार करे और जब और जैसे उचित समझे, मुसलमानों को आने वाले संघर्ष के लिए संगठित करे।"[1]

अंतःकालीन सरकार का निर्माण—मुस्लिम लीग की कौंसिल द्वारा उक्त प्रस्ताव के पारण के लगभग एक सप्ताह पूर्व, वाइसराय ने अंतःकालीन सरकार के निर्माण के प्रश्न को पुनः उठाया। उन्होंने कांग्रेस के नये अध्यक्ष पं० जवाहर लाल नेहरू और मिस्टर जिन्ना के पास क्रमशः ६ और ५ व्यक्तियों की सूचियाँ भेजने के लिए पत्र लिखे और यह आश्वासन दिया कि अल्प-

1. Indian Annual Register 1946, Vol I PP 178.

संख्यकों के तीन प्रतिनिधि दोनों प्रमुख दलों के परामर्श से नियुक्त किये जायेंगे। मिस्टर जिन्ना ने पत्रोत्तर में मुस्लिम लीग की कौंसिल द्वारा पारित, उपरिलिखित दोनों प्रस्तावों को भेज दिया। कांग्रेस का निर्णय सहयोग की दिशा में झुका हुआ था। उसे इस बात का दुख था कि मुस्लिम लीग ने अपने पहले निर्णय को बदल कर संविधान-सभा की कार्रवाई में भाग न लेने का निश्चय किया था। अतः उसने अंतःकालीन सरकार के निर्माण का भार अपने ऊपर लिया। १३ अगस्त सन् १९४६ को पं० जवाहर लाल नेहरू ने मिस्टर जिन्ना को निम्नलिखित पत्र लिखा—"जैसा कि आप जानते हैं, वाइसराय ने मुझे शीघ्रातिशीघ्र अंतःकालीन सरकार के निर्माण के हेतु प्रस्ताव रखने के लिए आमंत्रित किया है। मैंने उनके निमंत्रण को स्वीकार कर लिया है। मेरी भावना है कि मेरा पहला पग आपके पास आकर अस्थायी मिली-जुली सरकार की स्थापना में आपके सहयोग को प्राप्त करना होना चाहिये। हमारी इच्छा अधिक से अधिक प्रतिनिधि-सरकार बनाने की है। मैं खुशी से आप से बंबई या जहाँ कहीं आप चाहें मिलने को तैयार हूँ। मैं १४ तारीख को वर्धा से चलूँगा और १५ अगस्त की दोपहर के पहले बंबई पहुँच जाऊँगा। संभवतः मैं १७ तारीख को प्रातःकाल बंबई से दिल्ली को रवाना हो जाऊँगा।' पं० जवाहर लाल नेहरू के इस पत्र का, जो बड़ी ही शिष्ट और सावधानी की भाषा में था, मिस्टर जिन्ना ने कुछ रुखा सा जवाब दिया।

"मैं नहीं जानता था कि वाइसराय और आप में कौन कौन सी बातें हुई हैं। मुझे उस व्यवस्था का भी कोई ज्ञान नहीं है जो आप दोनों ने निश्चित की है। आपके पत्र से इतना अवश्य प्रकट होता है कि वाइसराय ने आपको कांग्रेस के अध्यक्ष की हैसियत से शीघ्रातिशीघ्र अंतःकालीन सरकार के निर्माण के हेतु आमंत्रित किया है और आपने निमंत्रण को स्वीकार कर लिया है।

"यदि इसका अर्थ यह है कि वाइसराय ने आपको गवर्नर जनरल की कार्यपालिका-समिति के निर्माण का अधिकार दिया है और आपकी सलाह को मानने, तदनुकूल आचरण करने, तथा कार्य-पालिका-समिति के बनाने में अपनी अनुमति दे दी है, तो मेरे लिए इस आधार ऐसे स्थान को ग्रहण करना संभव नहीं है।"[1]

---

1. Indian Annual Register 1946 Vol. II P. 22.

पत्र के अंतिम भाग में मिस्टर जिन्ना ने पं० जवाहर लाल नेहरू को १५ अगस्त को ६ बजे सायंकाल मिलने का समय दिया। दोनों की मुलाकात हो गयी पर परिणाम कुछ भी न निकला। अंत में लीग के सहयोग के बिना अंतःकालीन सरकार की स्थापना की गयी। २४ अगस्त को सम्राट की सरकार की यह घोषणा प्रकाशित की गयी कि उसने काम-चलाऊ सरकार का त्यागपत्र स्वीकार कर लिया है और नवीन अंतःकालीन सरकार[1] की स्थापना कर दी है। कार्यपालिका समिति के उक्त संगठन में गवर्नर जनरल का किसी प्रकार का हस्तक्षेप न था।

मुस्लिम लीग का सक्रिय आंदोलन—अंतःकालीन सरकार की स्थापना के पूर्व १५ अगस्त सन् १९४६ को, पाकिस्तान की स्थापना के हेतु, मुस्लिम लीग का सक्रिय आंदोलन आरंभ हो गया। १६ अगस्त से २० अगस्त तक कलकत्ते में भीषण कांड होते रहे। उनका विवरण लिखने से कोई लाभ नहीं। किंतु इतना कहना आवश्यक है कि सरकार और पुलिस ने उपद्रवियों को दबाने के लिए कोई उल्लेखनीय कार्रवाई नहीं की। इस संबंध में श्री शरत चंद्र बोस का मत इस प्रकार था—"मेरा सोचा-विचारा एवं निश्चित मत यह है कि गवर्नर, नगर में, अपने शांति और व्यवस्था के विशेष उत्तरदायित्व के पालन में, पूर्णतया असफल सिद्ध हुआ है। मैं इस बात से पूर्णतया सहमत हूँ कि गवर्नर को शीघ्र वापस बुला लेना चाहिये। मैं इस बात से भी सहमत हूँ कि शक्तिशाली सैनिक टुकड़ियाँ समस्त कलकत्ता और आस-पास के स्थानों को भेज दी जायँ। उन्हें एक ऐसे उच्च सैनिक अधिकारी के अधीन होना चाहिये जिसमें उनमें सामंजस्य बनाये रखने की क्षमता हो।"[2]

कलकत्ते के पश्चात् पूर्वी बंगाल में नोआखाली और टिपरा की बारी आयी। यहाँ के अत्याचार अवर्णनीय थे। इनका प्रभाव आस पास के हिंदू बहुसंख्यक प्रांतों पर भी पड़ा और बिहार में सांप्रदायिक उत्पात होने लगे। कुछ दिनों के

१. अंतःकालीन सरकार मे निम्नलिखित व्यक्ति सम्मिलित किये गये थे—पं० जवाहर लाल नेहरू, सरदार वल्लभ भाई पटेल, डा० राजेंद्र प्रसाद, मिस्टर आसफ अली, श्री सी० राजगोपालाचारी, मिस्टर शरत चंद्र बोस, डा० जॉन मठाई, सरदार बलदेव सिंह, सर शफात अहमद खाँ, श्री जगजीवन राम, सैयद अली जहीर, मिस्टर कोवर जी हरमुस जी भाबा। दो अन्य मुसलमानों की नियुक्ति बाद में की जाने को थी।

2. Indian Annual Register 1946 Vol. II P. 187.

पश्चात् संयुक्त-प्रांत के गढ़मुक्तेश्वर नामी नगर में भी सांप्रदायिक उत्पात हुआ। इन दिनों पं० जवाहर लाल नेहरू की अंतःकालीन सरकार पदासीन थी। उसने बिहार के उपद्रवियों के विरुद्ध कठोर कार्रवाई करने की प्रतिज्ञा की। गांधी जी तक ने डा० राजेंद्र प्रसाद के द्वारा यह कह दिया कि यदि २४ घंटे के भीतर बिहार के उत्पात न समाप्त हो जायँगे तो वे बिहार में जाकर आमरण अनशन आरंभ कर देंगे। इन कार्रवाइयों के कारण बिहार का सांप्रदायिक उत्पात समाप्त हो गया।

अंतःकालीन सरकार में मुस्लिम लीग का सम्मिलित होना— अंतःकालीन राष्ट्रीय सरकार बन तो गयी थी पर लीग के अलग होने के कारण उससे न तो कांग्रेस को संतोष था और न वाइसराय को। अतः सितंबर के अंत में इस संबंध में पुनः पत्रव्यवहार आरंभ हुआ। उसमें वे ही बातें दोहरायी गयी थीं जिनका विवरण पहले दिया जा चुका है। पत्रव्यवहार पं० जवाहर लाल नेहरू और मिस्टर जिन्ना, मिस्टर जिन्ना और वाइसराय और पं० जवाहर लाल नेहरू और वाइसराय में हुआ था। १३ अक्टूबर सन् १९४६ को पं० जवाहर लाल नेहरू ने मिस्टर जिन्ना के पास निम्नलिखित पत्र भेजा—"आपके १२ अक्टूबर के पत्र के लिए धन्यवाद! इस पत्र में अनेक गलत बातें हैं। जो कुछ आपने लिखा है वह, जहाँ तक मुझे याद है, न तो हमारी वार्तालाप के अनुसार है और न पिछले कुछ दिनों की घटनाओं के अनुसार। किंतु मुझे अब इन बातों पर विचार करना आवश्यक नहीं है। वाइसराय ने मुझे यह सूचना दी है कि मुस्लिम लीग ने अंतःकालीन सरकार के लिए पाँच व्यक्तियों को मनोनीत करना स्वीकार कर लिया है।"[1]

वाइसराय ने पं० जवाहर लाल नेहरू को उक्त सूचना किस आधार पर दी यह बतलाना कठिन है। अपने १२ अक्टूबर के पत्र में, जो पं० जवाहर लाल नेहरू के पास भेजा गया था, मिस्टर जिन्ना ने इस ओर संकेत तक न किया था। कांग्रेस यह चाहती थी कि मुस्लिम लीग अंतःकालीन सरकार और संविधान-सभा दोनों में सम्मिलित हो, किंतु सहयोग करने के लिए। इस संबंध में वाइसराय ने पं० नेहरू को यह आश्वासन दिया था कि "मिस्टर जिन्ना ने मुझे यह वचन दिया है कि मुस्लिम लीग अंतःकालीन सरकार और संविधान-

---

1. Indian Annual Register 1946 Vol. II P. 269.

सभा दोनों में सहयोग के इरादे से सम्मिलित होगी।"[1] इसके लिए यह आवश्यक था कि बंबई में मुस्लिम लीग की कौंसिल द्वारा जो प्रस्ताव पास किया गया था, उसे वापस लिया जाता। पर मुस्लिम लीग ने इस प्रकार की कोई कार्रवाई नहीं की। २५ अक्टूबर को उसके पाँच सदस्य अंतःकालीन सरकार में सम्मिलित हो गये।[2] उनके लिए सर शफात अहमद खाँ, सैयद अली जहीर और श्री शरतचंद्र बोस को त्यागपत्र देना पड़ा। कहना अनुचित न होगा कि कांग्रेस ने अपना उक्त निर्णय कुछ व्यग्रता से किया था। परिस्थिति को भली भाँति समझे और मुस्लिम लीग को कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की योजना के अनुकूल बनाये बिना, उसे इस दिशा बड़ी सावधानी से पग उठाना चाहिये था।

अंतःकालीन सरकार के विषय में नये सदस्यों का मत—अंतःकालीन सरकार के संबंध में मिस्टर जिन्ना और सरकार के दो नये सदस्यों ने अपना मत-प्रकाश किया। मिस्टर जिन्ना के मतानुकूल "अंतःकालीन सरकार को कोई ऐसा प्रशासकीय काम अथवा ऐसी प्रथा की स्थापना न करने दिया जायगा जो भारत के भावी संविधान की समस्या के विरुद्ध हो या उस पर कुप्रभाव डालती हो। हम उन सब बातों का विरोध करेंगे जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से पाकिस्तान की माँग के विरुद्ध अथवा उस पर कुप्रभाव डालती हों।"[3] १३ अक्टूबर सन् १६४६ को वाइसराय के पास भेजे गये पत्र में उन्होंने लिखा था कि मुसलमान और दूसरे वर्गों के हित में यह घातक होगा यदि केंद्रीय सरकार का समस्त क्षेत्र कांग्रेस के हाथ में आ जायगा। अतः मुस्लिम लीग की कार्य-समिति ने अंतःकालीन सरकार में सम्मिलित होने के पक्ष में निर्णय किया था। अंतःकालीन सरकार में सम्मिलित होने के विषय में मिस्टर गजनफर अली खाँ का मत इस प्रकार था, "हम अंतःकालीन सरकार में अपने चिर-पोषित लक्ष्य पाकिस्तान के लिए पैर जमाने जा रहे हैं। मैं आपको यह आश्वासन देता हूँ कि हम पाकिस्तान लेकर रहेंगे।" २६ अक्टूबर को मिस्टर लियाकत अली खाँ ने पत्र संवाददाताओं के एक सम्मेलन में, जिसमें श्री योगेंद्र नाथ

---

१. वाइसराय के २३ अक्टूबर सन् १६४६ को पं० जवाहर लाल नेहरू को लिखे गये पत्र से। Indian Annual Register 1946 Vol. II P. 281.

२. उनके नाम इस प्रकार हैं—मिस्टर लियाकत अली खाँ, मिस्टर आई० आई० चुंद्रिगर, सरदार अब्दुर रब निश्तर, मिस्टर गजनफर अली खाँ और श्री योगेंद्र नाथ मंडल।

3. Indian Year Book 1946 Vol. II P. 275.

मंडल के अतिरिक्त, अंतःकालीन सरकार के उनके तीन अन्य सहयोगी भी उपस्थित थे, इस संबंध में अपने विचारों को इस प्रकार प्रगट किया था—"हम उन जिम्मेदारियों से परिचित हैं जिन्हें हमने अपने ऊपर लिया है और मैं आपको यह विश्वास दिलाता हूँ कि हमने हल्केपन से अंतःकालीन सरकार में प्रविष्ट होना स्वीकार नहीं किया है। मिस्टर लियाकत अली खाँ के मतानुकूल, भारत एक राष्ट्र न था। वह कई राष्ट्रों का निवास-स्थान था। "जब तक सरकार ऐसी न होगी, जिसमें उप-महाद्वीप में रहने वाले सब राष्ट्रों के प्रतिनिधि हों, तब तक भारत के निवासियों में शांति और व्यवस्था की स्थापना नहीं हो सकती।" अनेक मित्रों के इस प्रश्न के उत्तर में कि क्या सरकार के सफल संचालन के लिए उपयुक्त वातावरण होगा, मिस्टर लियाकत अली खाँ ने कहा, "हम अंतःकालीन सरकार में अपने सहयोगियों से मिल-जुल कर काम करने ने इरादे मे सम्मिलित हुए हैं। लेकिन आप जानते हैं कि ताली एक हाथ से नहीं बजती। इस सरकार की सफलता और असफलता उसके विभिन्न अंगों पर निर्भर करेगी।" संयुक्त और सामूहिक उत्तरदायित्व के प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने कहा कि अंतःकालीन सरकार मौजूदा संविधान के अंतर्गत बनायी गयी थी। अतः उसमें किसी एक मनुष्य के नेतृत्व की गुंजाइश न थी। सरकार में दो प्रमुख दलों के मनोनीत सदस्य थे। दोनों का अलग-अलग नेतृत्व था। "मैं अपने मित्र (पत्र संवाददाता) को यह बतला देना चाहता हूँ कि मैं उसके साथ सहयोग करने को तैयार हूँ, किंतु सहयोग का अर्थ यह नहीं है कि यदि मेरा मित्र समुद्र में डूबना चाहे तो मैं भी उसके साथ-साथ डूब जाऊँगा।"

मुस्लिम लीग के सदस्यों की इस मनोवृत्ति के कारण, अंतःकालीन सरकार संबंधी कांग्रेस की उन समस्त आशाओं पर पानी फिर गया, जिनके परिणाम-स्वरूप वह उसका संचालन उत्तरदायी सरकार की प्रचलित प्रथाओं के अनुसार करना चाहती थी। नये सदस्यों ने अड़ंगा की नीति को अपनाया। उनके मतानुकूल पं० जवाहर लाल नेहरू उनके नेता न थे। सरकार के प्रत्येक सदस्य का गवर्नर जनरल के साथ सीधा संबंध था। देश में सांप्रदायिक तनातनी चढ़ाव पर थी। अतः मुस्लिम लीग ने यह सुझाव प्रस्तुत किया कि संविधान-सभा की कार्रवाई ६ दिसंबर सन् १९४६ को आरंभ न हो। कांग्रेस इसके विरुद्ध थी। अतः मिस्टर जिन्ना ने यह घोषित किया कि मुस्लिम लीग संविधान-सभा में सम्मिलित न होगी। इस पर कांग्रेस ने मुस्लिम लीग के अंतः

कालीन सरकार से अलग होने की बात छेड़ी। मिस्टर जिन्ना ने यह बात भी न मानी और वाइसराय निर्णय करने में असमर्थ रहे।

६ दिसंबर सन् १९४६ की घोषणा—कैबीनेट-प्रतिनिधि-मंडल की योजना के अर्थ के संबंध में, जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, कांग्रेस, मुस्लिम लीग और ब्रिटिश सरकार में मतभेद था। कांग्रेस, १५ वें पैरे के ५ वें उपखंड के अनुसार इस बात पर जोर देती थी कि प्रांतों को समूह और समूह के संविधान दोनों के बनाने का अधिकार था। "कार्य-समिति यह स्पष्ट घोषणा कर देना चाहती है कि उसने कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल के १६ मई के वक्तव्य के सभी प्रस्तावों के संबंध में अपनी अनुमति नहीं दी है, फिर भी उसने उसकी संपूर्ण योजना को स्वीकार कर लिया है। उसने उसकी व्याख्या इस प्रकार की है कि वक्तव्य में निर्धारित व्यवस्था के अनुसार उसकी असंगत बातों को सुधारा जा सकता तथा उसकी न्यूनताओं की पूर्ति की जा सकती है। उसका मत है कि योजना का मूल मंत्र स्वायत्त शासन है। अतः प्रत्येक प्रांत को यह निर्णीत करने का अधिकार है कि वह समूह बनाये या किसी समूह में सम्मिलित हो या न हो। व्याख्या संबंधी प्रश्न, वक्तव्य में निर्धारित व्यवस्था के अनुसार, निर्णीत होंगे और कांग्रेस संविधान-सभा में अपने प्रतिनिधियों को इसी प्रकार के आचरण का परामर्श देगी।" कार्य-समिति के मतानुकूल संविधान-सभा सर्व-प्रभुता-संपन्न संस्था थी। उसे किसी बाह्य शक्ति या सत्ता के हस्तक्षेप के बिना अपने कार्य-संपादन तथा भारत के संविधान के निर्माण का अधिकार था। किंतु "वह उन स्वाभाविक आंतरिक सीमाओं में अंतर्गत काम करेगी, जो उसके कार्य में निहित हैं और भारत के संविधान के निर्माण में वह अधिक से अधिक सहयोग प्राप्त करने और समस्त न्यायपूर्ण दावों और हितों को अधिक से अधिक स्वाधीनता देने के लिए प्रयत्नशील रहेगी।"[1] कार्य-समिति ने ७ जुलाई सन् १९४६ को पारित अखिल भारतीय कांग्रेस-कमेटी के प्रस्ताव की संपुष्टि की और यह स्पष्ट कर दिया कि कांग्रेस संविधान-सभा में इसी के अनुसार काम करेगी।

मुस्लिम लीग कांग्रेस के उक्त दृष्टिकोण से सहमत न थी। कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की योजना के १९ वें पैरे के ५ वें और ८ वें उपखंडों के आधार पर, वह यह मानने को तैयार न थी कि प्रांतों को समूह-निर्माण का अधिकार

---

१. १० अगस्त सन् १९४६ को पारित प्रस्ताव।

था। वह प्रांत-समूहों को उसी रूप में रखने के पक्ष में थी जिसकी व्यवस्था कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की योजना में की गयी थी। अतः मिस्टर जिन्ना ने १२ अगस्त सन् १९४६ को बंबई में दिये गये एक वक्तव्य में कांग्रेस कार्य-समिति के उपरिलिखित प्रस्ताव की व्यंग आलोचना की और यह स्पष्ट कर दिया कि परिस्थिति पूर्ववत् बनी हुई थी। अतः "हम भी वहीं हैं जहाँ पहले थे।"

कांग्रेस और मुस्लिम लीग के मतभेद को दूर करने के लिए, प्रधान मंत्री मिस्टर एटली ने २६ नवंबर सन् १९४६ को वाइसराय को अंतःकालीन सरकार के पाँच सदस्यों (२ कांग्रेस, २ मुस्लिम लीग, और १ सिक्ख) के साथ लंदन आने के लिए आमंत्रित किया। ३ दिसंबर को सब लोग लंदन पहुँच गये।[१] मिस्टर जिन्ना भी आमंत्रित किये गये थे। सब ने मिलकर सम्राट की सरकार के साथ भारतीय समस्या के हल के लिए गंभीरता पूर्वक विचार किया। इसे साधारण बोलचाल में लंदन-सम्मेलन कहा जाता है। किंतु यह सम्मेलन भी समझौता कराने में असमर्थ रहा। ६ दिसंबर सन् १९४६ को ब्रिटिश कैबीनेट ने निम्नलिखित वक्तव्य प्रकाशित किया—"संविधान-सभा के सब दलों का सहयोग प्राप्त करना इस सम्मेलन का उद्देश्य था।....जो कुछ कठिनाई उत्पन्न हुई है वह कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की योजना के १९ वें पैरे के ५वें और ८वें उपखंडों की व्याख्या के संबंध में है।........कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल का निरंतर यही मत रहा है कि समूहों के निर्णय, किसी समझौते के अभाव में, समूहों के प्रतिनिधियों के साधारण बहु-संख्यक मतद्वारा किये जायँ। मुस्लिम लीग ने यह मत स्वीकार कर लिया है किंतु कांग्रेस ने एक दूसरा मत प्रस्तुत किया है। उसका कहना है कि सारे वक्तव्य के पढ़ने से वास्तविक अर्थ यह निकलता है कि प्रांतों को समूह-निर्माण और निजी संविधान दोनों के बारे में निर्णय करने का अधिकार है। सम्राट की सरकार ने विधिवेत्ताओं का परामर्श लिया है। उससे इस बात की पुष्टि होती है कि १६ मई के वक्तव्य का अर्थ वही है जिसे प्रतिनिधि-मंडल हमेशा से अपना अभिप्राय बतलाता रहा है।....... संविधान-सभा के सब दलों द्वारा इसे स्वीकृत होना चाहिये। परंतु यह भी स्पष्ट है कि १६ मई के वक्तव्य की व्याख्या के संबंध में प्रश्न उठ सकते हैं।

---

१. लॉर्ड वैवेल के अतिरिक्त निम्नलिखित व्यक्ति सम्मेलन में भाग लेने के लिए गये थे— पं० जवाहर लाल नेहरू, मिस्टर मुहम्मद अली जिन्ना, मिस्टर लियाकत अली खाँ, और सरदार बलदेव सिंह।

सम्राट की सरकार आशा करती है कि यदि मुस्लिम लीग संविधान-सभा में भाग लेना स्वीकार करे तो कांग्रेस की भाँति वह भी इस बात से सहमत हो जायगी, कि किसी पक्ष द्वारा व्याख्या का अनुरोध किये जाने पर, उस प्रश्न को संघीय न्यायालय के निर्णय के लिए उसके विचाराधीन कर दिया जायगा।.... संविधान-सभा की सफलता केवल स्वीकृत कार्यपद्धति द्वारा संभव है। यदि कोई संविधान ऐसी संविधान-सभा द्वारा बनाया जाता है जिसमें भारतीय जनता के किसी बड़े भाग का प्रतिनिधित्व न हो तो सम्राट की सरकार कभी यह इरादा नहीं रखती और कांग्रेस भी यह कह चुकी है कि वह भी ऐसा इरादा नहीं करेगी कि ऐसा संविधान देश के किसी अनिच्छुक अंग पर लादा जाय।"[1] सम्राट की सरकार के इस वक्तव्य के कारण मुस्लिम लीग का रुख और भी तन गया और उसके प्रतिनिधियों ने अपने को संविधान-सभा से अलग रखने का निश्चय किया।

संविधान-सभा का कार्यारंभ—९ दिसंबर सन् १९४६ को निर्धारित कार्य-क्रम के अनुसार संविधान-सभा का प्रथम अधिवेशन कौंसिल चैंबर के पुस्तकालय भवन में आरंभ हुआ। ९ स्त्रियों सहित २०५ सदस्य उपस्थित थे। प्रत्येक प्रांत के सदस्य अपने समूहों में अलग अलग बैठे थे। मुस्लिम लीग का एक भी सदस्य उपस्थित न था। आचार्य कृपलानी के प्रस्ताव पर संविधान-सभा के सबसे वयोवृद्ध सदस्य, डा० सच्चिदानंद सिनहा अस्थायी अध्यक्ष चुने गये। उनके नाम विभिन्न देशों से शुभ कामनाओं के संदेश आये। संयुक्त-राज्य अमरीका के स्थानापन्न सेक्रेटरी मिस्टर एचिसन का संदेश इस प्रकार था—"९ दिसंबर के निकट आने पर, मैं आप के प्रति जो संविधान-सभा के अस्थायी अध्यक्ष हैं, और आपके द्वारा भारतीय जनता के प्रति उस महान कार्य की सफल समाप्ति के लिए, जो आप आरंभ करने जा रहे हैं अमरीकी सरकार और अमरीकी जनता की हार्दिक शुभ कामना प्रगट करता हूँ। मानव जाति की शांति, स्थायित्व और सांस्कृतिक उन्नति के लिए भारत को बहुत कुछ करना है। इसलिए समस्त संसार के स्वतंत्रता प्रेमी व्यक्ति आपके विचार-विमर्श को हार्दिक अनुराग और आशा की दृष्टि से देखेंगे।"[1] चीन के पर-राष्ट्र-मंत्री का संदेश निम्नलिखित था, "संविधान-सभा के उद्घाटन की शुभ बेला में मैं चीन की राष्ट्रीय सरकार की ओर से आपको हार्दिक बधाई भेजता हूँ। मुझे पूर्ण

---

१. भारतीय समाचार, १५ जनवरी सन् १९४७, पृ. ३।

आशा है कि आप और संविधान-सभा को एक प्रजासत्तात्मक और समृद्ध भारत की सुदृढ़ आधार-शिला स्थापित करने में सफलता मिलेगी।"[१] अन्य देशों के भी इसी प्रकार संदेश आये।

संविधान-सभा की कार्रवाई अस्थायी अध्यक्ष के भाषण से आरंभ हुई। उन्होंने सर्वप्रथम सदस्यों के प्रति, अपने सम्मानित किये जाने के लिए, कृतज्ञता प्रगट की और तत्पश्चात् एक विद्वतापूर्ण भाषण द्वारा सदस्यों का ध्यान उनके गुरुतर कार्य की ओर आकर्षित किया। उनका आदर्श एक ऐसे संविधान का था जो अमर हो।[२] "मेरी हार्दिक इच्छा है कि आपका परिश्रम सफल हो। मैं ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि आपकी कार्रवाई केवल सद्भावना, सार्वजनिक भाव, और सच्ची राष्ट्रीयता से ही प्रभावित न होकर ज्ञान, सहिष्णुता, न्याय और सबके लिए उचित व्यवहार से भी प्रेरित हो। इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात वह कल्पना-शक्ति है जिसकी सहायता से ही भारत अपने प्राचीन गौरव को प्राप्त करके संसार के महान राष्ट्रों में समादर और समानता का स्थान ग्रहण कर सकता है।"[३] १० दिसंबर को दूसरे दिन प्रक्रिया के नियमो की कमेटी नियुक्त करने के लिए आचार्य कृपलानी ने एक प्रस्ताव प्रेषित किया और तीसरे दिन डा० राजेंद्र प्रसाद सर्व-सम्मति से संविधान-सभा के स्थायी अध्यक्ष निर्वाचित हुए। परिणाम घोषित करने के पश्चात् डा० सिनहा ने कहा, "अस्थायी अध्यक्ष की हैसियत से मेरा यह सर्व-प्रथम कर्तव्य है कि मैं आचार्य कृपलानी और मौलाना अबुल कलाम आजाद से प्रार्थना करूँ कि वे कृपा करके, संविधान-सभा की ओर से, निर्वाचित अध्यक्ष के पास जाकर उन्हें अपने स्थान तक लिवा लावें।"[४] तत्पश्चात् मौलाना आजाद और आचार्य कृपलानी ने डा० राजेंद्र प्रसाद के पास जाकर, उन्हें अपने स्थान तक ले जाने का सुखद काम किया और "इनकलाब, जिंदाबाद" और "जय हिंद" के गगन-भेदी नारों के बीच में उन्होने स्थायी अध्यक्ष का पद ग्रहण

---

१. भारतीय समाचार, १५ जनवरी सन् १९४७, पृ. ४।

२. इसके हेतु डा० सिनहा ने निम्नलिखित शेर भी अपने भाषण मे सम्मिलित किया था—

यूनान, मिस्र रोमां सब मिट गये जहाँ से।
बाकी अभी तलक है नामो निशां हमारा॥

3. Indian Annual Register 1946 Vol. II PP. 325-26.

4. Ibid P. 333.

किया । तत्पश्चात् प्रक्रिया कमेटी के सदस्यों की घोषणा की गयी । १३ दिसंबर सन् १९४६ को, ओजस्विता से ओत-प्रोत भाषण में, पं० जवाहर लाल नेहरू ने ध्येय संबंधी प्रस्ताव प्रेषित किया । इस समय जोशीले भाषण की आवश्यकता भी थी । सम्राट की सरकार के ६ दिसंबर के वक्तव्य के परिणाम-स्वरूप कुछ लोगों का हौसला कम हो गया था । नेहरूजी के भाषण ने उन्हें पुनर्जीवित सा कर दिया । ध्येय संबंधी प्रस्ताव इस प्रकार था—[1]

"यह संविधान-सभा भारत को स्वतंत्र, सर्व-प्रभुता-संपन्न गण-राज्य घोषित करने और भविष्य में उसके शासन के लिए एक संविधान बनाने का दृढ़ और गंभीर संकल्प घोषित करती है;

जिसमें मौजूदा ब्रिटिश भारत के समस्त प्रदेश, मौजूदा भारतीय रियासतों के समस्त प्रदेश, भारत के वे भाग जो ब्रिटिश भारत और भारतीय रियासतों के बाहर हैं, और वे सब राज्य और प्रदेश जो सर्व-प्रभुता-संपन्न भारत में सम्मिलित होना चाहें—इन सब का एक संघ होगा;

जिसमें उक्त प्रदेश अपनी मौजूदा अथवा उन सीमाओं के अंतर्गत जो संविधान-सभा और तत्पश्चात् संविधान द्वारा निश्चित की जायँ, अवशिष्ट अधिकारों सहित स्वायत्त शासन भोगी इकाई होंगे और सरकार और प्रशासन संबंधी उन समस्त अधिकारों का उपभोग तथा कार्यों का निर्वहन करेंगे जो संघ को समर्पित न किये जायँगे या जो संघ में अंतर्निहित या उसके परिणाम-स्वरूप न होंगे;

जिसमें सर्व-प्रभुता संपन्न भारत, सघांगों तथा सरकारी संस्थाओं के समस्त अधिकार तथा उनकी सत्ता जनता से प्राप्त होगी;

जिसमें भारत की समस्त जनता को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, प्रतिष्ठा और अवसर की तथा कानून के समक्ष समानता, कानून और सार्वजनिक नैतिकता के अंतर्गत विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म, उपासना, रोजगार, समुदाय-निर्माण और क्रियाशीलता की स्वतंत्रता होगी और उसकी गारंटी की जायगी;

जिसमें अल्प-संख्यकों, पिछड़े हुए और आदिम प्रदेशों, दलित और पिछड़ी हुई जातियों के लिए समुचित संरक्षणों की व्यवस्था की जायगी;

---

१. कन्हैयालाल वर्मा—भारत का संविधान, पृ. २२–२३ ।

जिसके द्वारा गण-राज्य के समस्त प्रदेशों तथा न्याय और सभ्य राष्ट्रों के कानून के अंतर्गत जल, थल और नभ में उसके प्रभु अधिकारों की रक्षा की जायगी;

जिसके द्वारा यह देश अपना उचित और आदरणीय स्थान प्राप्त कर सके और संसार की शांति-वृद्धि और मानव जाति के कल्याण के लिए अपनी पूर्ण और स्वतंत्रतापूर्वक देन दे सके।

ध्येय-संबंधी इस प्रस्ताव पर इतना अधिक वाद-विवाद हुआ कि संविधान-सभा के पहले सत्र में पारित न होकर वह दूसरे सत्र में विचार के लिए स्थगित कर दिया गया।[1] २१ दिसंबर सन् १९४६ को पारस्परिक-चर्चा कमेटी नियुक्त की गयी। यह कमेटी, नरेशों द्वारा नियुक्त इसी नाम की कमेटी से बातचीत करके यह निश्चित करने को थी कि रियासतों के प्रतिनिधि संविधान-सभा में किस प्रकार आवेंगे। इसी दिन प्रक्रिया के नियमों की कमेटी की रिपोर्ट सभा के विचारार्थ प्रेषित की गयी और २३ दिसंबर को वे सब नियम, जिनकी कमेटी ने सिफारिश की थी, स्वीकार कर लिये गये। तत्पश्चात् संविधान-सभा का अधिवेशन २० जनवरी सन् १९४७ तक के लिए स्थगित कर दिया गया।

२० फरवरी सन् १९४७ का वक्तव्य—संविधान-सभा का कार्य आरंभ तो हो गया था पर वह कुछ अधूरी सी थी। मुस्लिम लीग की अनुपस्थिति एक दुःख की बात थी। इस बात को लेकर कॉमन-सभा में चर्चिल आदि भारत-विरोधी सदस्यों ने संविधान-सभा के प्रतिनिधि होने के संबंध में आपत्ति की थी। उनके मत के खंडन के लिए, २० जनवरी सन् १९४७ को, डा॰ राजेंद्र प्रसाद ने संविधान-सभा में, उसके प्रतिनिधि होने के संबंध में, निम्नलिखित मत-प्रकाश किया—"संविधान-सभा के कुल २९६ सदस्यों में से २१० उपस्थित थे। इनमें कुल १६० हिंदू सदस्यों में से १५० हिंदू, कुल ३३ अनुसूचित जातियों के सदस्यों में ३० अनुसूचित जातियों के, ५ सिक्ख, ७ भारतीय ईसाई सदस्यों में से ६ भारतीय ईसाई, पिछड़ी हुई जातियों के कुल ५, आँग्ल-भारतीयों के कुल ३, पारसियों के कुल ३, और ८० मुसलमान सदस्यों में से ४ मुसलमान सदस्य उपस्थित थे। मुस्लिम लीग की अनुपस्थिति एक दुःख की बात

१. यह प्रस्ताव संविधान-सभा के दूसरे सत्र मे २२ जनवरी सन् १९४७ को स्वीकृत हुआ था।

थी।" डा० राजेंद्र प्रसाद के वक्तव्य से यह स्पष्ट हो गया था, मुस्लिम लीग के अतिरिक्त संविधान-सभा में भारत के प्रत्येक वर्ग के प्रतिनिधि सम्मिलित थे। वह उस रूप में अवश्यमेव समस्त भारत की प्रतिनिधि-संस्था थी जिसमें उसकी कल्पना की गयी थी। अतः यह कहना कि वह केवल हिंदुओं अथवा सजातीय हिंदुओं की प्रतिनिधि संस्था थी, उसके विरुद्ध निराधार लाँछन लगाना था।

किंतु मुस्लिम लीग की अनुपस्थिति एक विचारणीय बात अवश्य थी। क्या मुसलमानों के प्रतिनिधियों के सम्मिलित हुए बिना, संविधान-सभा द्वारा निर्मित संविधान मुसलमानों पर लादा जा सकता था ? सम्राट की सरकार और कांग्रेस दोनों ही ऐसा न करने के लिए वचन-बद्ध थे ! आखिरकार मुसलमानों को संविधान-सभा में किस प्रकार लाया जा सकता था ? इसके लिए सम्राट की सरकार ने सत्ता के हस्तांतरण की तिथि निर्धारित कर दी। आशा की जाती थी कि संभवतः इस प्रलोभन के कारण, दोनों दल एक दूसरे के अधिक निकट आ जायेंगे। इस संबंध की निम्नलिखित घोषणा, इंगलैंड के प्रधान मंत्री मिस्टर एटली ने, २० फरवरी सन् १९४७ को थी—

"एक के पश्चात् दूसरी समस्त ब्रिटिश सरकारों की भारत द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त कराने की नीति रही है।...सम्राट की सरकार को इस बात से बड़ा दुख है कि भारतीय दलों में अब भी मतैक्य का अभाव है। इसके परिणाम-स्वरूप संविधान-सभा उस प्रकार काम नहीं कर रही है जिसका इरादा किया गया था। योजना (कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की) की यह एक आधारभूत बात थी कि संविधान-सभा पूर्ण-रूपेण प्रतिनिधि हो।...सम्राट की सरकार स्पष्ट रूप से अपने इस निश्चय की सूचना देती है कि वह जून सन् १९४८ तक उत्तरदायी भारतीयों के हाथ में सत्ता सौंप देने के कार्य को संपन्न कर देगी....इसके लिए यह आवश्यक है कि सब दल आपसी मतभेद को भुला कर अगले वर्ष आने वाले गंभीर उत्तर-दायित्व को संभालने के लिए तैयार हो जायँ।" इसी घोषणा में वाइसराय के बदले जाने का भी उल्लेख था। उनकी नियुक्ति युद्धकाल के लिए की गयी थी। "ऐसे कठिन सयय में लॉर्ड वैवेल ने अपने इस उच्चपद (गवर्नर जन-रल) का कार्य बड़ी लगन तथा निष्ठा से निभाया है।[१] जब भारत नवीन तथा

---

१. लॉर्ड वैवेल के बदले जाने का मुख्य कारण उनकी विफलता थी। इसका आभास उस बातचीत से मिलता है जो मिस्टर एटली और लॉर्ड माउंटबैटन के बीच में उन्हें गवर्नर

अंतिम स्थिति को प्राप्त करने जा रहा है, यह सोचा गया है कि यह समय युद्ध-काल की नियुक्ति को समाप्त करने के लिए उपयुक्त है। सम्राट ने एडमिरल वाईकाउंट माउंटबैटेन की नियुक्ति लॉर्ड वैवेल के स्थान पर बड़ी प्रसन्नतापूर्वक की है। इनको भारत की भावी समृद्धि और संपन्नता को दृष्टि में रखते हुए, भारत-सरकार का दायित्व भारतीयों के हाथ में सौंपने का गुरुतर कार्य दिया जायगा। यह परिवर्तन मार्च से होगा। सभा (कामन-सभा) को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि सम्राट ने प्रसन्नतापूर्वक वाइकाउंट वैवेल को अर्ल (Earl) की उपाधि देना स्वीकार किया है।"[1]

प्रधान-मंत्री की इस घोषणा के कारण भारत का राजनीतिक वातावरण पुनः आशातीत एवं स्फूर्तिमय हो गया है। पं० जवाहरलाल नेहरू के मतानुकूल "घोषणा कई स्थानों पर अस्पष्ट है और उस पर ध्यानपूर्वक विचार किये जाने की आवश्यकता है। फिर भी उसमें सबसे महत्वपूर्ण यह बात कही गयी है कि ब्रिटिश सरकार ने जून सन् १९४८ तक सत्ता के हस्तांतरित करने का निश्चय कर लिया है।........मैं इस समय भी यह कहना पसंद करूँगा कि ब्रिटिश सरकार का निर्णय विवेक और साहसपूर्ण है।.......न केवल सब मिथ्याबोध संदेह ही दूर हो गये हैं बल्कि इससे भारत की वर्तमान स्थिति में एक नयी जान पड़ गयी है और लोग वास्तु-स्थिति पर विचार करने के लिए विवश हो गये हैं।........यह हम सबको एक चुनौती है और हम चुनौती की भावना से ही उसका बहादुरी से मुकाबला करने का प्रयत्न करेंगे।........संविधान-सभा का काम अब और भी तेजी से किया जाना चाहिये ताकि नया और स्वाधीन भारत शक्ल अख्तियार कर सके और उसे एक ऐसे संविधान से सुसज्जित किया जा सके जो कि उसके सर्वथा अनुरूप हो और जो उसके

जनरल बनाने के संबंध में हुई थी। "यदि हम सतर्क न रहते तो भारत में केवल गृह-युद्ध ही नहीं होता वरन् हम उसे ऐसे आंदोलनों को समर्पित कर देते जो सर्वाधिकारी प्रकृति के थे। भारत के गतिरोध को मिटाने के लिए तात्कालिक कार्रवाई की आवश्यकता थी और कैबीनेट के अधिकांश सदस्यों का मत था कि इसका एकमात्र आशा नये व्यक्ति द्वारा समस्या के सुलझाने में थी।" Johnson : Mission with Mountbatten PP. 17-18

1. Indian Annual Register 1947 Vol. I P. 38 and 142.

सभी बच्चों को सुख-चैन और अवसर प्रदान करें ।''[1] मुस्लिम लीग की नीति और कामों पर इस घोषणा का विशेष प्रभाव न पड़ा । वह अपनी सांप्रदायिकता में संलग्न रही और उसके द्वारा चलाये गये पाकिस्तान की प्राप्ति के लिए सक्रिय आंदोलन के कारण, समस्त भारत और विशेषकर पंजाब में निरपराध रक्तपात होता रहा । वाइसराय के बदलने की घोषणा भी शुभ-सूचक थी । लॉर्ड वैवेल की नेकनीयता पर मिस्टर जिन्ना[2] और उनके साथियों के अतिरिक्त, किसी अन्य व्यक्ति को संदेह न हो सकता था । किंतु अपने पत्र-व्यवहार के कारण वे कांग्रेस और मुस्लिम लीग की ऐसी गुत्थियों में फँस गये थे कि वे दोनों संस्थाओं में समझौता न करा सकते थे ।

बिदाई और आगमन—२१ मार्च सन् १९४७ को लार्ड वैवेल ने आल इंडिया रेडियो से अपना बिदाई का संदेश सुनाया । ''यह छोटा-सा भाषण भारतवासियों के नाम मेरा बिदाई का संदेश है । ईश्वर आपका कल्याण करे और आप लोगों का भला हो । ये शब्द मेरे दिल से निकल रहे हैं क्योंकि मैं भारत का, जहाँ मैंने अपने जीवन के १२ बरस बिताये हैं, ऋणी हूँ ।'' अंतिम नमस्कार करते हुए लॉर्ड वैवेल ने कहा, ''आपके आगामी वर्ष संकटमय और दुरूह होंगे । पर आप निश्चय ही सब खतरों से पार होंगे । भारत के उज्ज्वल भविष्य में सदा से मेरा विश्वास रहा है । मैं आप सब का धन्यवाद करता हूँ और आपके लिए शुभ कामना करता हूँ । मेरा अंतिम नमस्कार ।''[1] २३ मार्च सन् १९४७ को लॉर्ड माउंटबैटेन भारत में पहुँचे । वे सत्ता-हस्तांतरण के अनेक अधिकारों से युक्त थे । पद-ग्रहण की शपथ के समय उन्होंने निम्नलिखित भाषण दिया—''जिस पद को मैं ग्रहण करने जा रहा हूँ वह साधारण वाइसराय का पद नहीं है । सम्राट की सरकार जून सन् १९४८ तक सत्ता हस्तांतरित करने का दृढ़ निश्चय कर चुकी है । चूँकि हमें अपनी वैधानिक व्यवस्था करनी पड़ेगी और शासन-संबंधी कई जटिल समस्याओं को हल करना होगा—और यह सब करने में समय लगेगा—इसलिए आगामी दो-चार महीने में ही, गुत्थी को सुलझा लेना हमारे लिए आवश्यक है । मेरा विश्वास है कि भारत का प्रत्येक राजनीतिक नेता इस काम को उतना ही आवश्यक समझता है जितना कि मैं समझता हूँ । मुझे आशा है कि शीघ्र ही उन नेताओं

---

१. भारतीय समाचार, १५ मार्च सन् १९४७ पृष्ठ २३४

२. वही, पृ० ३०३ ।

से मैं मंत्रणा करूँगा और यथासंभव हर प्रकार से उनकी सहायता करूँगा। ....लॉर्ड वैवेल ने स्वराज्य के मार्ग पर चलाने के लिए बहुत कुछ किया है। उनके उत्तराधिकारी के रूप में मेरा काम सरल नहीं होगा। लॉर्ड वैवेल का मैं सदा से प्रशंसक हूँ और उन्होंने जो काम आरंभ किया है उसे पूर्ण करने के लिए मैं तत्पर रहूँगा। मेरा काम कितना कठिन है इस संबंध में मुझे कोई भ्रम नहीं है। मुझे अधिक से अधिक लोगों की अधिक से अधिक सद्भावना की आवश्यकता होगी और मैं आज भारत से उसी सद्भावना की याचना करता हूँ।"[१]

लॉर्ड माउंटबैटेन का कार्यारंभ—नये गवर्नर जनरल ने अपने पूर्वजों की भाँति भारतीय नेताओं से मिलना आरंभ किया। एक नवीन गोलमेज परिषद की चर्चा होने लगी। भारत में, विशेषकर पंजाब और बंगाल में शांति और व्यवस्था की स्थापना के लिए उन्होंने गांधी जी और मिस्टर जिन्ना से एक संयुक्त अपील निकलवायी। किंतु उसका विशेष प्रभाव न पड़ा। मुस्लिम लीग पाकिस्तान पर अड़ी हुई थी और उसके लिए सक्रिय आंदोलन का सहारा पकड़ कर निरपराध रक्तपात में संलग्न थी। लोगों को ऐसा विदित होने लगा था कि पाकिस्तान की स्वीकृति के बिना देश में शांति और व्यवस्था की स्थापना न हो पायेगी। किंतु जिस पाकिस्तान को मुस्लिम लीग माँगती थी उसके बंगाल और पंजाब के प्रांतों में अनेक ऐसे क्षेत्र थे जहाँ के बहु-संख्यक निवासी हिंदू थे। अतः इन प्रांतों के विभाजन की चर्चा उन्हीं कारणों से जोर पकड़ने लगी जिन कारणों से देश के विभाजन पर जोर दिया जा रहा था। "तब हमें बंगाल का विभाजन कर देने दो ताकि हम इस परिस्थिति में जितने अधिक संभव हो उतने उन लोगों की रक्षा कर सकें जो शिकार बनाये जायेंगे।"[२] बंगाल-प्रांतीय-कांग्रेस-कमेटी ने भी विभाजन की बात को स्वीकार कर लिया। इन बातों के परिणाम-स्वरूप ऐसा विदित होने लगा कि यदि मुस्लिम लीग की पाकिस्तान संबंधी माँग स्वीकृत होगी तो जिस पाकिस्तान का निर्माण होगा वह कल्पनातीत पाकिस्तान का एक अंश मात्र रह जायगा। नेताओं से बातचीत करने के पश्चात् लॉर्ड माउंटबैटेन कुछ निष्कर्षों पर पहुँचे और उन्होंने उन्हें सम्राट की सरकार के पास लिख भेजा। १८ मई को वे लंदन के लिए रवाना हुए

---

१. भारतीय समाचार १५ अप्रैल सन् १९४७, पृ ३०२

2. The Modern Review April 1947 P. 254.

और उनके साथ विचार-विनिमय के पश्चात् सम्राट की सरकार ने ३ जून सन् १९४७ की घोषणा की।

३ जून सन् १९४७ की घोषणा—३ जून सन् १९४७ की ब्रिटिश सरकार की घोषणा का हिंदी अनुवाद इस प्रकार है—

१—२० फरवरी सन् १९४७ को सम्राट की सरकार ने घोषणा की थी, कि उसका इरादा जून सन् १९४८ तक, ब्रिटिश भारत की सत्ता भारतीयों को सौंपने का है। सम्राट की सरकार को आशा थी कि कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की १६ मई सन् १९४६ की योजना को कार्यान्वित करने में और भारत के लिए सर्वमान्य संविधान बनाने के कार्य में, प्रमुख राजनीतिक दलों का सहयोग संभव होगा। यह आशा पूरी नहीं हुई।

२—मद्रास, बंबई, संयुक्त-प्रांत, बिहार, मध्यप्रांत तथा बरार आसाम, उड़ीसा और उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रांत के बहुसंख्यक प्रतिनिधि तथा दिल्ली, अजमेर-मेरवाड़ा और कुर्ग के प्रतिनिधि नये संविधान के निर्माण के कार्य में काफी प्रगति कर चुके हैं। दूसरी ओर मुस्लिम लीग पार्टी ने, जिसमें बंगाल, पंजाब और सिंध के बहु-संख्यक प्रतिनिधि तथा ब्रिटिश बिलोचिस्तान का प्रतिनिधि शामिल है, संविधान-सभा में सम्मिलित होने से इनकार कर दिया है।

३—सम्राट की सरकार की सदा यह इच्छा रही है कि सत्ता स्वयं भारतीयों के मतानुसार ही हस्तांतरित की जाय। यदि भारतीय राजनीतिक दलों में मतैक्य होता तो यह कार्य बड़ा सुगम था। मतैक्य के अभाव में ऐसी कार्य-प्रणाली के खोज निकालने का भार जिसके द्वारा जनता के मत का पता लग जाय, सम्राट की सरकार पर आ पड़ा है। भारतीय नेताओं से पूरी तरह बिचार-विमर्श के पश्चात् सम्राट की सरकार ने निश्चय किया है कि इसके लिए नीचे दी हुई योजना को ग्रहण किया जाय। सम्राट की सरकार यह स्पष्ट कर देना चाहती है कि उसका इरादा भारत के लिए अंतिम अथवा संपूर्ण संविधान-निर्माण के प्रयास करने का नहीं है यह काम तो स्वयं भारतीयों को करना है। इस योजना में कोई ऐसी बात नहीं है जिससे कि विभिन्न संप्रदायों द्वारा अखंड भारत के आधार पर वार्ता के मार्ग में बाधा पड़े।

४—सम्राट की सरकार मौजूदा संविधान-सभा के कार्य में किसी प्रकार की रुकावट नहीं डालना चाहती। अब, जब कि नीचे लिखे हुए प्रांतों के लिए पृथक व्यवस्था कर दी गयी है, सम्राट की सरकार को विश्वास है कि इस

घोषणा के परिणाम-स्वरूप, उन प्रांतों के मुस्लिम लीगी प्रतिनिधि, जिनके बहुसंख्यक प्रतिनिधि संविधान सभा की कार्रवाई में पहले ही से भाग ले रहे हैं, इस संविधान-सभा की कार्रवाई में भाग लेंगे। इसके साथ ही यह भी स्पष्ट है कि इस संविधान-सभा द्वारा बनाया गया संविधान उन प्रदेशों पर लागू नहीं हो सकता जो इसे स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं। सम्राट की सरकार को विश्वास है कि जो कार्य-प्रणाली नीचे दी जा रही है, इस विषय में वही उन प्रदेशों के लोगों के मत जानने का सर्वोत्तम व्यावहारिक साधन है कि वे अपना संविधान—

(अ) मौजूदा संविधान-सभा में बैठ कर बनाना चाहते हैं अथवा

(ब) एक नयी संविधान-सभा द्वारा जिसमें उन प्रदेशों के प्रतिनिधि सम्मिलित हों जो मौजूदा संविधान-सभा से पृथक रहना चाहते हैं। जब इस बात का फैसला चुकेगा, तब यह निश्चय करना संभव होगा कि शासनाधिकार को किस सत्ता अथवा किन सत्ताओं को सौंपना चाहिये।

५—इसलिए बंगाल और पंजाब की विधान-सभाओं को (युरोपियन सदस्यों के अतिरिक्त) अलग-अलग दो भागों मे बैठने को कहा जायगा। एक भाग में मुस्लिम बहु-संख्यक जिलों के प्रतिनिधि होंगे और दूसरे में गैर-मुस्लिम जिलों के। जिलों की जनसंख्या का आधार सन् १९४१ की जन-गणना के अंक होंगे। इन दोनों प्रांतों के मुस्लिम बहुसंख्यक जिले परिशिष्ट में दिये गये हैं।

६—दो भागों में बैठे हुए प्रत्येक विधान-सभा के सदस्यों को, अलग-अलग, प्रांत के विभाजन के संबंध में मतदान का अधिकार होगा। यदि किसी भाग ने साधारण बहुमत से यह निर्णय किया कि विभाजन हो, तो विभाजन हो जायगा और इस संबंध में आवश्यक प्रबंध किया जायगा।

७—विभाजन के प्रश्न का फैसला करने के पहले यह वांछनीय होगा कि प्रत्येक भाग के प्रतिनिधि पहले से ही यह जान लें, कि दोनों भागों द्वारा अविभाजित रहने के पक्ष में निर्णय करने की दशा में समस्त प्रांत किस प्रकार संविधान-सभा में सम्मिलित होना चाहेगा। इसलिए दोनों विधान-सभाओं का यदि कोई भी सदस्य ऐसा चाहेगा, तो विधान-सभा के समस्त सदस्यों के (युरोपियनों के अतिरिक्त) सम्मिलित अधिवेशन का आयोजन किया जायगा। इसमें यह निश्चित किया जायगा कि विधान-सभा के दोनों भागों

द्वारा अविभाजित रहने का निर्णय करने पर समस्त प्रांत कौन-सी संविधान-सभा में सम्मिलित होगा।

८—विभाजन के पक्ष में निर्णय होने पर विधान-सभा का प्रत्येक भाग अपने-अपने प्रदेश की ओर से यह निर्णय करेगा कि पैरा ४ में दिये गये विकल्पों में से वह कौन-सा विकल्प स्वीकार करेगा।

९—विभाजन के प्रश्न पर तात्कालिक निर्णय देने के उद्देश्य से बंगाल और पंजाब की विधान-सभाओं के सदस्य दो भागों में बैठेंगे—एक भाग में मुस्लिम बहुमत वाले जिलों के सदस्य (जैसा कि परिशिष्ट में बतलाया गया है) और दूसरे में शेष जिलों के सदस्य। यह कार्रवाई केवल प्रारंभिक और अस्थायी है। निश्चय ही इन प्रांतों के अंतिम विभाजन के लिए, सीमा-निर्धारण संबंधी प्रश्नों के विषय में विस्तृत जानकारी आवश्यक होगी। जैसे ही इनमें से किसी भी प्रांत के विभाजन का निर्णय हुआ, एक सीमा-निर्धारण कमीशन नियुक्त किया जायगा। इस कमीशन के सदस्यों तथा कार्यक्षेत्र का निर्णय संबद्ध व्यक्तियों से विचार-विनिमय के पश्चात किया जायगा। कमीशन को आदेश दिया जायगा कि वह पंजाब के मुस्लिम और गैर-मुस्लिम बहुमत वाले प्रदेशों की सीमा को निर्धारित करे। कमीशन को सांप्रदायिक बहुमत के अतिरिक्त कई और बातों को ध्यान में रखने के लिए कहा जायगा। बंगाल के सीमा-निर्धारण कमीशन को भी इस प्रकार आदेश दिये जायँगे। जब तक कमीशन की रिपोर्ट कार्यान्वित न की जाय, तब तक परिशिष्ट में उल्लिखित सीमाएँ अस्थायी तौर पर ठीक मानी जायँगी।

१०—पैरा ४ में दिये गये विकल्पों पर निर्णय करने के लिए (युरोपियन सदस्यों को छोड़ कर) सिंध की विधान-सभा का अधिवेशन बुलाया जायगा।

११—पश्चिमोत्तर सीमा-प्रांत की स्थिति असाधारण है। इस प्रांत के तीन प्रतिनिधियों में से दो तो मौजूदा संविधान-सभा में भाग ले रहे हैं। किंतु इसकी भौगोलिक स्थिति तथा अन्य कारणों से यह स्पष्ट है कि यदि समस्त पंजाब अथवा उसका कोई भाग मौजूदा संविधान-सभा में न बैठने का निश्चय करता है तो यह आवश्यक है कि सीमा-प्रांत को अपनी स्थिति पर पुनः विचार करने का अवसर दिया जाय। इसलिए इस प्रकार की मौजूदा अवस्था में, सीमा-प्रांत की मौजूदा विधान-सभा के निर्वाचकों का जनमत मत लिया

जायगा कि पैरा ४ में दिये गये विकल्पों में से वे किसे ग्रहण करना चाहते हैं। यह जनमत गवर्नर जनरल के तत्वाधान में, प्रांतीय सरकार के परामर्श से लिया जायगा।

१२—ब्रिटिश बिलोचिस्तान ने एक सदस्य निर्वाचित किया है किंतु वह संविधान-सभा की बैठकों में सम्मिलित नहीं हुआ है। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण बिलोचिस्तान के प्रांत को भी अपनी स्थिति पर फिर से विचार करने और पैरा ४ में दिये गये किसी विकल्प को ग्रहण करने का अवसर मिलेगा। गवर्नर जनरल विचार कर रहे हैं कि किस प्रकार सर्वोत्तम रीति से यह किया जा सकता है।

१३—यद्यपि आसाम मुख्यतः गैर-मुस्लिम प्रांत है, सिलहट का जिला, जो बंगाल से मिला है, मुख्यतः मुस्लिम है। यह माँग की गयी है कि बंगाल के विभाजन किये जाने की दशा में सिलहट को मुस्लिम बंगाल के साथ मिला देना चाहिये। तदनुकूल यदि बंगाल का विभाजन हुआ तो यह जानने के लिए कि सिलहट आसाम के साथ रहे या उसे पूर्वी बंगाल के नये प्रांत के साथ, यदि वह प्रांत स्वीकार करे, मिला दिया जाय, गवर्नर जनरल के तत्वाधान में और आसाम की सरकार के परामर्श से सिलहट जिले का जनमत लिया जायगा। यदि जनमत ने पूर्वी बंगाल के साथ मेल के पक्ष में निर्णय दिया, तो सिलहट की तथा पड़ोसी जिलों के मुस्लिम बहुमत वाले प्रदेशों की, जिन्हें पूर्वी बंगाल में मिला जायगा, सीमा-निर्धारण के लिए, पंजाब और बंगाल की तरह और उन्हीं आदेशों के अंतर्गत, एक सीमा-निर्धारण कमीशन नियुक्त किया जायगा। अवशिष्ट आसाम प्रत्येक दशा में मौजूदा संविधान-सभा की कार्रवाई में भाग लेता रहेगा।

१४—यदि पंजाब और बंगाल को विभाजित करने का निश्चय हुआ, तो कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल १६ मई सन् १९४६ की योजना में निर्धारित सिद्धांत के अनुसार, इन प्रांतों के प्रतिनिधि निर्वाचित करने के लिए नये चुनाव होंगे। प्रति दस लाख व्यक्तियों के पीछे एक प्रतिनिधि चुना जायगा। इसी प्रकार, यदि यह निर्णय हुआ कि सिलहट को पूर्वी बंगाल के साथ मिलाया जाय, तो वहाँ भी फिर से निर्वाचन होगा। प्रत्येक प्रदेश निम्नलिखित संख्या में प्रतिनिधि चुनेगा।

प्रांत	सामान्य	मुस्लिम	सिक्ख	योग
सिलहट जिला	१	२	×	३
पश्चिमी बंगाल	१५	४	×	१६
पूर्वी बंगाल	१२	२६	×	१४
पश्चिमी पंजाब	३	१२	२	१७
पूर्वी पंजाब	६	४	२	१२

१५—विभिन्न प्रदेशों के प्रतिनिधि, निर्वाचकों के निर्णय के अनुसार, मौजूदा संविधान-सभा में सम्मिलित होंगे अथवा नयी संविधान-सभा बनावेंगे।

१६—यथाशीघ्र विभाजन के शासन-संबंधी परिणामों के बारे में वार्ता आरंभ करनी होगी;

(क) रक्षा, वित्त और यातायात के सहित उन सब विषयों के बारे में जिनका संचालन केंद्रीय सरकार द्वारा होता है, संबद्ध उत्तराधिकारिणी सत्ताओं के बीच।

(ख) उन सब विषयों के बारे में जो सत्ता हस्तांतरण से पैदा हों, संधियों के लिए विभिन्न उत्तराधिकारिणी तथा सम्राट की सरकार के बीच।

(ग) उन प्रांतों के संबंध में जिनका विभाजन होगा, सब प्रांतीय विषयों के बारे में, जैसे देना और पावना का बँटवारा, पुलिस तथा अन्य नौकरियाँ, हाई कोर्ट, प्रांतीय संस्थाएँ आदि।

१७—पश्चिमोत्तर सीमा-प्रांत के कबीलों के साथ समुचित उत्तराधिकारिणी सत्ता की व्यवस्था के संबंध में बातचीत करनी होगी।

१८—सम्राट की सरकार यह स्पष्ट कर देना चाहती है कि उपर्युक्त निर्णयों का संबंध केवल ब्रिटिश भारत से है और रियासतों के प्रति उसकी नीति वही है जो कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल के १२ मई सन् १९४६ के मेमोरेंडम में दी गयी है।

१९—उत्तराधिकारिणी सत्ताओं को अधिकार ग्रहण करने लिए समय प्राप्त कराने के उद्देश्य से, यह आवश्यक है कि उपर्युक्त सब क्रियाएँ शीघ्र से शीघ्र संपन्न हो जायँ। विभिन्न प्रांत या प्रांतों के भाग यथासंभव इस योजना के अंतर्गत स्वतंत्र रूप से आवश्यक कार्रवाई करेंगे। इससे समय की बचत होगी। मौजूदा संविधान-सभा और नयी संविधान-सभा, (यदि वह बनी तो) संबद्ध प्रदेशों के संविधान तैयार करने का काम अपने हाथ में लेगी। निश्चय ही नियम आदि बनाने में उन्हें पूरी स्वतंत्रता होगी।

२०—प्रमुख राजनीतिक दलों ने बार-बार यह इच्छा प्रगट की और इस बात पर जोर दिया है कि भारत में सत्ता, शीघ्रातिशीघ्र, भारतीयों को सौंप दी जाय। सम्राट की सरकार की, इस इच्छा के साथ, पूरी सहानुभूति है और वह स्वतंत्र भारत की सरकार या सरकारों की स्थापना द्वारा, जून सन् १९४८ के पहले ही सत्ता के हस्तांतरण के लिए तैयार है। अतः इस इच्छा को यथाशीघ्र और व्यावहारिक रूप में पूरा करने के लिए सम्राट की सरकार का इरादा है कि पार्लमेंट के आगामी अधिवेशन में ही, एक या दो उत्तराधिकारिणी सत्ताओं को, जैसा कि इस घोषणा के परिणाम-स्वरूप फैसला हो, सत्ता सौंपने के लिए औपनिवेशिक पद के आधार पर विधेयक पेश किया जाय। इस कार्रवाई का, भारतीय संविधान सभाओं द्वारा, कालांतर में यह फैसला करने के अधिकार पर कि वह प्रदेश, जिसका वे प्रतिनिधित्व करती हैं, ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल में रहेगा अथवा नहीं, कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

२१—उपर्युक्त व्यवस्था को कार्यान्वित करने के लिए अथवा कार्य-प्रणाली के संबंध में या किसी अन्य बात के संबंध में, समय-समय जब आवश्यक होगा, गवर्नर जनरल घोषणाएँ करते रहेंगे।

परिशिष्ट

सन् १९४१ की जन-गणना के अनुसार पंजाब और बंगाल के मुस्लिम बहु-संख्यक जिले इस प्रकार हैं—

१. पंजाब—

लाहौर कमिश्नरी : गुजराँवाला, गुरदासपुर, लाहौर, शेखूपुरा और स्यालकोट।

रावलपिंडी कमिश्नरी : कटक, गुजरात, जेहलम, मियाँवाली, रावलपिंडी और शाहपुर।

मुल्तान कमिश्नरी : डेरा गाजी खाँ, झंग, लायलपुर, मिंटगुमरी, मुल्तान और मुजफ्फर गढ़।

२. बंगाल—

चटगाँव कमिश्नरी : चटगाँव, नोआखाली और टिप्परा।

ढाका कमिश्नरी : बाकरगंज, ढाका, फरीदपुर और मेमनसिंह।

प्रेसीडेंसी कमिश्नरी : जेसोर, मुर्शिदाबाद और नदिया।

राजशाही कमिश्नरी : बोगरा, दिनाजपुर, मालदा, पाबना, राजशाही और रंगपुर।

घोषणा का विश्लेषण—यदि हम इस घोषणा का विश्लेषण करें तो हमें उसके संबंध की निम्नलिखित आधारभूत बातें मिलती हैं—

१—ब्रिटिश सरकार और जनता की सत्ता हस्तांतरण की प्रबल इच्छा।

२—भारतीयों में आपसी समझौते का अभाव।

३—ब्रिटिश सरकार पर सत्ता हस्तांतरण के लिए व्यवस्था निर्धारित करने का भार।

४—मौजूदा संविधान-सभा और उसके कामों की स्वीकृति।

५—नयी संविधान-सभा की संभावना की ओर संकेत।

६—बंगाल और पंजाब के विभाजन की व्यवस्था।

७—सिलहट, उत्तरी-पश्चिमी सीमांत प्रांत और ब्रिटिश बिलोचिस्तान के संबंध की नवीन व्यवस्था।

८—विभाजन से संबद्ध प्रशासकीय बातों का निबटारा।

९—ब्रिटिश सरकार जून सन् १९४८ के पूर्व ही सत्ता के हस्तातरण के लिए तैयार।

१०—पार्लमेंट के आगामी अधिवेशन में तत्संबंधी विधेयक के प्रेषित करने की सूचना।

३ जून की घोषणा और भारतीय लोकमत—उपरिलिखित घोषणा के कारण, भारतीय वातावरण पुनः आशातीत हो गया। उसमें सत्ता हस्तांतरण के संबंध में शीघ्रातिशीघ्र कार्य-संपादन पर जोर दिया गया था, पाकिस्तान की माँग स्वीकृत कर ली गयी थी और उससे उन प्रदेशों के पृथक करने की व्यवस्था की गयी थी जिनके बहुसंख्यक निवासी गैर-मुसलमान थे। भारतीय संविधान-सभा तथा उसके काम को स्वीकार किया गया था, और जिन सत्ताओं को सत्ता हस्तांतरित की जाने को थी, उन पर ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल में रहने के संबंध में किसी प्रकार का प्रतिबंध न लगाया था। घोषणा का मूलमंत्र समझौता था जिसमें न तो कांग्रेस के दृष्टि-कोण का पूर्णरूपेण समर्थन था और न मुस्लिम लीग के दृष्टि-कोण था। अतः वह हर्षोल्लास से नहीं वरन् विवशता-पूर्ण गंभीरता से स्वीकार की गयी। उसके संबंध में भारत के प्रधान मंत्री पं० जवाहर लाल नेहरू के विचार इस प्रकार थे—"हमने इन प्रस्तावों को स्वीकार कर लेने तथा अपनी बड़ी कमेटियों से यह सिफारिश करने का निर्णय किया है कि उन्हें भी प्रस्तावों को मान लेना चाहिये।.......आपके आगे इन प्रस्तावों की सिफारिश करते हुए मुझे खुशी नहीं हो रही है। हाँ मुझे इस में कोई संदेह नहीं

कि इस समय यही रास्ता ठीक है। दूर की दृष्टि से भी मौजूदा फैसला ठीक है।" मिस्टर जिन्ना ने मुस्लिम लीग की कौंसिल पर अंतिम फैसला छोड़ते हुए, अपने व्यक्तिगत् विचारों को इस प्रकार प्रगट किया था, "मुझे यह अवश्य कहना चाहिये कि वाइसराय को विभिन्न शक्तियों के विरुद्ध बड़ी वीरता से लड़ना पड़ा है और मेरे मस्तिष्क पर यह प्रभाव अंकित हुआ है कि उन्होंने न्यायोचित और पक्षपातहीन उद्देश्य से प्रेरित होकर कार्य किया है। अब उनके काम को हल्का बनाना, तथा अपने सामर्थ्य के अनुसार उनकी सहायता करना हमारा काम है ताकि वे शांतिपूर्वक और व्यवस्थित ढंग से भारत के लोगों को सत्ता हस्तांतरित कर सकें।" गांधी जी उक्त घोषणा से संतुष्ट न थे। ४ जून के प्रार्थना-भाषण में उन्होंने इस संबंध में अपने विचारों को इस प्रकार प्रगट किया था, "जनता को यह विस्मरित न कर देना चाहिये कि कांग्रेस को इस स्थिति में आने के लिए बाध्य किया गया है। मैं आप लोगो के हृदय की कसक को यह कह कर कम कर देना चाहता हूं कि हिंदुओं, मुसलमानों और सिक्खों का अभी तक कुछ भी नुकसान नहीं हुआ है। जो कुछ वाइसराय ने किया है उसे वे परस्पर समझौते द्वारा शून्य कर सकते हैं।" हिंदू-महासभा के सभापति श्री एल० बी० भोपटरकर के विचारानुकूल नयी योजना से यह स्पष्ट था कि "ब्रिटिश सरकार सत्ता के हस्तांतरण के लिए उत्सुक थी और मुस्लिम लीग का परिपक्व नेतृत्व, कांग्रेस हाईकमांड के कच्चे नेतृत्व के सम्मुख विजय प्राप्त कर रहा था।"

कालांतर में ३ जून सन् १९४७ की घोषणा, एक प्रकार से समस्त भारत द्वारा स्वीकृत समझी गयी। ब्रिटिश सरकार ने भी उसके अनुसार कानूनी कार्रवाई आरंभ कर दी। बंगाल और पंजाब की विधान-सभाओं ने अपना निर्णय विभाजन के पक्ष में दिया, सिलहट ने पूर्वी बंगाल से मिलने के पक्ष में और सीमांत प्रांत और सिंध ने नयी संविधान-सभा में सम्मिलित होने के पक्ष में। फलस्वरूप पाकिस्तान की स्वीकृति अनिवार्य सी हो गयी। ४ जुलाई सन् १९४७ को ब्रिटिश पार्लमेंट में भारतीय स्वतंत्रता विधेयक प्रेषित हुआ। इसमें १५ अगस्त १९४७ तक सत्ता के हस्तांतरण की व्यवस्था थी। १४ जुलाई सन् १९४७ को पार्लमेंट ने उस विधेयक को पारित करके सम्राट के पास उनकी अनुमति के लिए भेज दिया। उनकी अनुमति प्राप्त करने के पश्चात, १५ अगस्त सन् १९४७ को, भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम के रूप में वह भारत पर लागू हो गया।

१३

भारतीय रियासतें

(१६३५ – १६४७)

भारतीय नरेश और सन् १६३५ का संविधान—भारतीय नरेश और ब्रिटिश सरकार—भारतीय नरेश और कांग्रेस—मैसूर, जयपुर और राजकोट के आंदोलन—हैदराबाद की विशेष समस्या—सन् १६४० तक रियासतों की राजनीतिक स्थिति—समूहीकरण और विलीनीकरण की ओर—सन् १६४० से १६४५ तक—रियासती प्रजा का उदयपुर सम्मेलन—नरेंद्र-मंडल का सन् १६४६ का अधिवेशन—कैबिनेट प्रतिनिधि-मंडल और भारतीय रियासतें—नरेशों की प्रतिक्रिया—नरेशों का प्रजा की प्रतिक्रिया—अंत:कालीन सरकार और रियासती प्रजा—अंत:कालीन सरकार का रियासती विभाग।

भारतीय नरेश और सन् १६३५ का संविधान—गोलमेज-परिषद के अधिवेशनों में भारतीय नरेशों और उनके प्रतिनिधियों ने भारतीय संघ राज्य में सम्मिलित होने के पक्ष में अपने विचार प्रगट किये थे। किंतु जैसे-जैसे संघ-राज्य की योजना मूर्तिमान स्वरूप धारण करने लगी, उनका उत्साह पहले की अपेक्षा कम होने लगा। अब उन्हें इस बात की आशंका होने लगी कि संघ की सरकार संघीय विषयों में, रियासतों के आंतरिक स्वशासन और प्रभुता में हस्तक्षेप करेगी। भारतीय शासन संबंधी विधेयक (गवर्मेंट आफ इंडिया बिल) के प्रकाशित होने पर उनकी उक्त आशंका और भी दृढ़ हो गयी। शांति और व्यवस्था संबंधी गवर्नर जनरल के विशेष उत्तरदायित्व के कारण, वे इस परिणाम पर पहुँचे कि भारत की उत्तरदायी सरकार, उस व्यवस्था के अंतर्गत, उनके आंतरिक शासन में मनमाना हस्तक्षेप कर सकेगी। फलस्वरूप

नरेशों के, बंबई में किये गये सम्मेलन से यह प्रगट होने लगा कि संघ-राज्य के संबंध में उनका समर्थन अब केवल अधमना ही था। संसार-व्यापी महा-समर के छिड़ने तथा उसके संचालन के लिए एकाग्रचित्तता के कारण, सन् १९३९ में संघ-राज्य की योजना स्थगित कर दी गयी। फलस्वरूप नरेशों को भी, इसी बहाने कुछ दिनों के लिए अपने भविष्य की चिंता से मुक्ति मिली।

भारतीय नरेश और ब्रिटिश सरकार – भारतीय रियासतों की सबसे कठिन समस्या अधिपति-सत्ता संबंधी थी। उनका दावा था कि उनकी संधियाँ सम्राट के साथ थीं। फलस्वरूप उनका अंतर्राष्ट्रीय नहीं, तो कम से अर्द्ध-अंतर्राष्ट्रीय स्थान अवश्य था। उनके इस संबंध की जाँच बटलर कमेटी[1] द्वारा की गयी। कमेटी के मतानुकूल नरेश स्वतंत्र शासक न थे। उनका संबंध सीधे सम्राट के साथ था। संधियाँ सम्राट और नरेशों के बीच में थीं और उनका बंधन हमेशा के लिए था। अधिपति-सत्ता सम्राट में केंद्रित थी पर सम्राट जो सदा भारत-मंत्री और स-कौंसिल गवर्नर जनरल के द्वारा, जो ग्रेट-ब्रिटेन की पार्लमेंट के प्रति उत्तरदायी थे, काम करते थे। सम्राट की अधिपति-सत्ता के कारण ब्रिटिश सरकार का यह कर्तव्य था कि वह नरेशों की, भीतरी और बाहरी दोनों प्रकार के खतरों से, रक्षा करें। बाहरी खतरों के विषय में किसी प्रकार का मतभेद न था। किंतु ब्रिटिश भारत की राजनीतिक जागृति का प्रभाव क्रमशः रियासतों तक प्रसारित हो रहा था। क्या ब्रिटिश सरकार का यह भी कर्तव्य था कि भीतरी खतरों से बचाव के बहाने वह रियासतों में उत्तरदायी शासन की माँग को दबावे और मध्य-कालीन रंग में रँगे हुए नरेशों को, कुशासन के होते भी पदासीन रखे? संधियाँ सम्राट और नरेशों के बीच में थी, सम्राट और नरेशों की प्रजा के बीच में नहीं। फलस्वरूप अधिपति सत्ता का संबंध केवल नरेशों से था उनकी प्रजा से नहीं। यही कारण था कि अखिल भारतीय रियासती प्रजा-सम्मेलन की, बटलर कमेटी के सम्मुख गवाही देने की, प्रार्थना अस्वीकार कर दी गयी थी, गोलमेज परिषदों में केवल नरेश या उनके प्रतिनिधि सम्मिलित हो सके थे और भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ के अधिनियम के अनुसार आयोजित संघीय विधान-मंडल में, रियासती प्रतिनिधियों के नरेशों द्वारा मनोनीत किये जाने की व्यवस्था थी, रियासती जनता द्वारा निर्वाचित किये जाने की नहीं। इससे यह स्पष्ट था कि अधिपति-सत्ता राजवंशों के अंत के

1. Indian States Inquiry Committee 1928.

पक्ष में न थी। पर वह कुशासन के पक्ष में भी न थी। संधियों को तोड़कर, कभी-कभी उसने सुशासन के लिए, रियासतों के आंतरिक शासन में, हस्तक्षेप किया था। इस संबंध की कुछ प्रथाएँ भी बन गयी थीं और बटलर कमेटी की रिपोर्ट के अनुसार इनका बंधन कानूनी अधिकारों[1] के ही समान था। वह परोक्ष रूप से नरेशों को शासन-सुधार की सलाह भी दिया करती थी। इस संबंध में, मार्च सन् १६३६ में, नरेंद्रमंडल के अधिवेशन में दिये गये लॉर्ड लिनलिथगो के भाषण के निम्नलिखित अंश उल्लेखनीय हैं—

"मुझे विश्वास है कि मेरे ही समान आपको यह स्पष्ट है कि आधुनिक परिस्थितियों और परिवर्तनशील संसार में, पहले की अपेक्षा अब यह अधिक आवश्यक हो गया है कि रियासती अधिकारी शासकीय क्षेत्र में, (प्रजा की) कठिनाइयों को जानने तथा उन्हें दूर करने का निरंतर प्रयत्न करें। आप लोग मुझ से इस बात में सहमत होंगे कि आपके हित तथा साधारण कर्तव्य-पालन दोनों की दृष्टि से, आप लोगों को रियासती बातों, अधिकारियों के आचरण तथा प्रजा के नित्यप्रति के जीवन में निजी ध्यान देकर उसे सतुष्ट करना चाहिये और यह देखना चाहिये कि वह रियासतों के लिए या अयोग्य अधिकारियों के आदेशों के कारण, अनावश्यक उगाहियों से बची रहे और उसकी सब शिकायतों पर तुरंत और सक्रिय ध्यान दिया जाय। इसमें लेशमात्र भी संदेह नहीं कि मौजूदा परिस्थिति में एक ऐसी व्यवस्था की आवश्यकता है जिसके कारण रियासती प्रजा को यह संतोष हो जाय कि उक्त प्रकार की सब शिकायतें दरबार के कानों तक पहुँच सकती हैं। आप लोग मुझसे इस बात में भी सहमत होंगे कि रियासती प्रजा को इस बात का भी विश्वास हो कि उसकी आवश्यकताओं, कठिनाइयों तथा आवेदन-पत्रों पर अधिक से अधिक ध्यान दिया तथा सहानुभूति दिखलायी जायगी।"[2]

लॉर्ड लिनलिथगो के पूर्व अन्य गवर्नर जनरल और वाइसराय भी, कुशा-

---

१ "राज्य और मनुष्य दोनों के जीवन में लिखित अधिकारों की अवहेलना प्रथाओं द्वारा की जा सकती है। यदि कुछ प्रथाएं एक पार्टी को हानि पहुँचाते हुए भी कुछ दिनों तक चालू रहा है तो अधिपति-सत्ता और भारतीय रियासतों का संबंध इन्हीं पर अवलंबित समझना चाहिये।" कन्हैयालाल वर्मा—भारतीय राजनीति और शासन-पद्धति (१८५८–१६३५) पृष्ठ २१८।

२ नरेंद्र-मंडल में १३ मार्च सन् १६३६ को दिये गये भाषण से।

मन के दूर करने के लिए, नरेशों को इसी प्रकार का परामर्श दे चुके थे। गोलमेज परिषद् के दूसरे अधिवेशन में गांधीजी ने जनता के सेवक होने के नाते नरेशों से आग्रहपूर्वक यह निवेदन किया था कि भावी संविधान में उनकी प्रजा के लिए कुछ स्थान हो, उसके कुछ मूल अधिकार स्वीकृत कर लिये जायँ और रियासती शासन में उसका प्रतिनिधित्व हो। गांधी जी इस संबंध में साधारण से साधारण बातों से ही संतुष्ट होने को तैयार थे।[१] पर नरेश अपनी स्थिति से लेश-मात्र भी न बदले। सन् १९३७ तक, (यद्यपि कुछ रियासतों में विधान-सभाएँ स्थापित की गयी थीं), किसी नरेश ने अपनी रियासत में उस सीमा तक भी शासन-सुधार न किये थे जो ब्रिटिश भारतीय प्रांतों में सन् १९१९ के ऐक्ट द्वारा किये गये थे। विधान-मंडल के प्रति उत्तरदायी मंत्रियों को कोई भी विषय हस्तांतरित न किये गये थे। समस्त शासनाधिकार नरेशों को ही थे।[२] अधिपति सत्ता इस संबंध में संकेत देने के अतिरिक्त और कुछ भी न करती थी। राष्ट्रवादियों के विचार में यह जानबूझ कर किया जा रहा था। 'भेद और शासन' की नीति के कारण, ब्रिटिश सरकार, रियासतों को ब्रिटिश भारत से अलग रख कर, छिपे छिपे इस बात के लिए प्रयत्न-शील थी कि उस क्षेत्र को केंद्र बना कर ब्रिटिश भारत की राजनीतिक जागृति का दमन किया जाय।

भारतीय नरेश और कांग्रेस—यदि अधिपति सत्ता का झुकाव नरेशों की ओर था, तो कांग्रेस का झुकाव रियासती प्रजा की ओर था। सन् १९२७ में अखिल भारतीय रियासती प्रजा-सम्मेलन की स्थापना हुई थी। उसका एक शिष्ट-मंडल कांग्रेस के तत्कालीन अध्यक्ष से मिला और कांग्रेस ने रियासतों के संबंध में निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया—"इस कांग्रेस की जोर के साथ यह राय है कि देशी (भारतीय) रियासतों की प्रजा और उनके शासक दोनों के हित की दृष्टि से, राजाओं को अपनी रियासतों में शीघ्र ही प्रतिनिधि विधान-मंडल तथा उत्तरदायी शासन की व्यवस्था कर देनी चाहिये।"[३] दूसरे साल

---

१. यदि नरेश इतना भी स्वीकार कर लें कि समस्त भारत में जनता के कुछ मूल अधिकार होंगे और उनके ठीक तरह से पालन के संबंध में न्यायालय को अधिकार होगा तो वे अधिकार और न्यायालय कुछ भी हो, यह कहा जा सकेगा कि जनता को संतोष दिलाने के लिए नरेशों ने कुछ किया है।

2. Coupland : Indian Politics 1936-42 Vol. II P. 167.

३. मद्रास कांग्रेस, १९२७, प्रस्ताव १५।

कलकत्ते के अधिवेशन में यह माँग दोहरायी गयी। प्रतिनिधि-संस्थाओं और उत्तरदायी शासन के अतिरिक्त कांग्रेस ने ऐसी घोषणाओं और कानूनों की आवश्यकता पर जोर दिया "जिनमें सभा-समिति बनाने, भाषण करने और लिखने की स्वतंत्रता तथा प्राण और संपत्ति की रक्षा तथा इसी प्रकार के दूसरे मूल अधिकारों के सुरक्षित रहने की बात हो।"[१] पर कांग्रेस रियासती मामलों में हस्तक्षेप करने को तैयार न थी। गांधीजी के विचारानुकूल "रियासतों के संबंध में कांग्रेस जिस तटस्थता की नीति का अवलंबन कर रही है, उसमें बड़ी समझ-दारी थी।" वे कहते थे कि ब्रिटिश भारत और भारतीय रियासतों की प्रजा के हित तो एक ही हैं, पर नरेश इसे स्वीकार नहीं करते और ब्रिटिश कानून और ब्रिटिश हथियार उनकी रक्षा में उद्यत हैं। इस समय वे इस नीति के इतने कट्टर समर्थक थे कि कांग्रेस-कार्य-समिति द्वारा नरेशों के दमन की निंदा भी उन्हें अनुचित प्रतीत होती थी। अप्रैल सन् १९३५ के जबलपुर के अधिवेशन में अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने, तटस्थ रहते हुए भी, रियासती जनता को, अपनी राजनीतिक माँगों के संबंध में, निम्नलिखित प्रस्ताव को पास करके, प्रोत्साहित किया—"कांग्रेस को भारतीय रियासतों की प्रजा के हितों की उतनी ही चिंता है जितनी ब्रिटिश भारत के निवासियों के हितों की और वह रियासती जनता को यह विश्वास दिलाती है कि वह अपनी स्वतंत्रता के लिए जो लड़ाई करेगी, उसमें कांग्रेस की पूरी सहायता रहेगी।"[२] इसी साल जुलाई में कांग्रेस कार्य-समिति ने वर्धा के अधिवेशन में विचार करने के पश्चात भारतीय रिया-सतों के संबंध में एक वक्तव्य प्रकाशित किया जिसके महत्वपूर्ण अंश इस प्रकार हैं—"कांग्रेस यह स्वीकार करती है कि भारतीय रियासतों की प्रजा को भी स्वराज्य का उतना ही अधिकार है जितना ब्रिटिश भारत की प्रजा को है। तदनुसार कांग्रेस ने रियासतों में प्रतिनिधि-संस्थाओं और उत्तरदायी शासन की स्थापना के पक्ष में अपना मत प्रगट किया है.......कांग्रेस समझती है कि यह स्वयं भारतीय नरेशों के ही भले के लिए है, यदि वे शीघ्रातिशीघ्र अपनी रियासतों में पूर्ण उत्तरदायी शासन-प्रणाली स्थापित कर दें जिससे उनकी प्रजा को नागरिकता के पूर्ण अधिकार प्राप्त हों।........पर यह बात समझ लेनी चाहिये कि इस प्रकार के संघर्ष के जारी रखने का बोझ स्वयं रियासतों की प्रजा पर है।.......वाद-विवाद की गर्मा-गर्मी में कांग्रेस के सीमित सामर्थ्य

---

१. कन्हैयालाल—कांग्रेस के प्रस्ताव, पृष्ठ ४९१–९२।

२. प० सीतारामय्या—कां० का इ० भाग १, पृष्ठ ५२८।

की बात भुला दी जाती है।.......भारतीय नरेशों का सहयोग प्राप्त करने के लिए कांग्रेस रियासतों की प्रजा के हितों का बलिदान करने का अपराध कभी न करेगी। अपने जन्म से ही कांग्रेस सदा, जनता और उच्च वर्ग के हितों में विरोध होने की अवस्था में, जनता के हितों के लिए असंदिग्ध रूप से लड़ती रही है।''[१] फैजपुर के अधिवेशन में इसी आशय का प्रस्ताव पुनः पारित किया गया किंतु अगले साल हरिपुरा के अधिवेशन (सन् १६३८) में कांग्रेस कुछ बढ़ती हुई दृष्टि-गोचर होने लगी। देश की एकता, प्रतिनिधि-संस्थाओं, मूल अधिकारों, उत्तरदायी शासन आदि की बातों को दोहराते हुए उसने रियासतों के संबंध में अपनी तटस्थता की नीति पर पुनः जोर दिया, पर नैतिक समर्थन और सहानुभूति का आश्वासन देते हुए, कांग्रेसवादियों को व्यक्तिगत् रूप से इससे अधिक सहायता करने की भी स्वतंत्रता दे दी, किंतु कांग्रेस के तत्वावधान में नहीं। रियासती कांग्रेस कमेटियाँ "कांग्रेस के नाम अथवा तत्वाधान में न तो पार्लमेंटरी काम करेंगी और न सीधे संघर्ष को उठायेंगी। रियासती जनता की कोई भीतरी लड़ाई कांग्रेस के नाम से न उठायी जानी चाहिये। इसके लिए रियासतों में स्वतंत्र संगठन खड़े किये जायँ और अगर वे पहले ही से हों तो उनको जारी रखा जाय।" कांग्रेस द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव का अंतिम अंश इस प्रकार था—"कांग्रेस रियासती जनता को यह आश्वासन देना चाहती है कि वह उनके साथ है और स्वाधीनता के लिए चलायी जाने वाली उनकी लड़ाई में उसकी पूरी सहानुभूति और सक्रिय तथा सावधान दिलचस्पी है। कांग्रेस को विश्वास है कि रियासती जनता की मुक्ति का दिन भी दूर नहीं है।"[२]

रियासतों के संबंध में कांग्रेस की नीति का यह अंतिम महत्वपूर्ण प्रस्ताव था। नैतिक समर्थन का पक्ष लेकर विभिन्न कांग्रेसवादी इससे भी आगे बढ़ गये। ३ दिसंबर सन् १६३८ के वक्तव्य में, गांधीजी ने रियासतों की जागृति की प्रशंसा करते हुए यह स्पष्ट किया कि रियासतों के विनाश और पूर्ण उत्तरदायी शासन की स्थापना में, मध्यवर्त्ती मार्ग न था। प्रांतीय मंत्रि-मंडलों[३]

---

१. प० सीतारामय्या—कां० का इ० भाग १, पृष्ठ ५३०-३१।

२. बैजनाथ महोदय—रियासतों का सवाल पृष्ठ ४७।

३. इन दिनों भारत के सात प्रांतों में कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों का शासन था और उन्होंने गवर्नर जनरल के इस वक्तव्य के कारण ही मंत्रि-पद ग्रहण किया था कि गवर्नर साधारणतया मंत्रियों की सलाह पर ही चलेंगे।

का यह नैतिक कर्त्तव्य था कि वे रियासतों के कुशासन पर ध्यान तथा अधिपति-सत्ता को उसके अंत के संबंध में मंत्रणा दें। उन्होंने रियासतों को कांग्रेस द्वारा तटस्थता की नीति के परित्याग की चेतावनी दी और नरेशों को उस संस्था से मैत्री करने का परामर्श दिया जो निकट भविष्य में, उनके आशानुकूल, मित्रतापूर्वक समझौते द्वारा अधिपति-सत्ता का स्थान ग्रहण करने को थी।[1] फरवरी सन् १६३६ में पं० जवाहरलाल नेहरू ने रियासती आंदोलन की प्रशंसा करते हुए कहा, "सब रियासतों में हलचल मची हुई है और बहुतों में शक्तिशाली जन-आंदोलन चल रहे हैं। रियासतों के निवासी वेग से शेष भारत के निवासियों के बराबर आ रहे हैं।........इसलिए अब वह समय आ गया है कि आंतरिक झगड़ों तथा ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध महान संघर्ष के लिए रियासती संघर्षों का एकीकरण किया जाय।"[2] नैतिक प्रभाव के उक्त प्रसार से यह स्पष्ट है कि कांग्रेस तथा कांग्रेस के प्रभावशाली नेता, बड़े वेग से रियासतों के प्रश्न को अपना रहे थे।

मैसूर, जयपुर और राजकोट के आंदोलन—नैतिक समर्थन के उक्त रूप के अतिरिक्त, कांग्रेस के विभिन्न नेता, व्यक्तिगत हैसियत से, रियासतों के आंदोलनों का नेतृत्व या उनका संचालन कर रहे थे। सबसे पहले मैसूर की बारी आयी।[3] शासन-सुधार के लिए वहाँ पर जन-आंदोलन चलाया गया। उसे दबाने के लिए यथावत् बल का प्रयोग हुआ जिसके कारण कई व्यक्तियों को जान से हाथ धोना पड़ा। अंत में मैसूर की सरकार और कांग्रेस में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार मैसूर सरकार ने रियासत की कांग्रेस-कमेटी को अभिज्ञात किया। यह भी स्वीकार किया गया कि मैसूर की कांग्रेस, संविधान या उस सुधार-कमेटी के साथ सहयोग करेगी जो मैसूर सरकार द्वारा राजनीतिक सुधारों पर विचार करने के लिए स्थापित की जायगी और सामयिक अवसरों पर रियासती झंडे के साथ-साथ कांग्रेस का झंडा भी फहराया जायगा। इसे आंशिक विजय को कांग्रेस कार्य-समिति ने हरिपुरा के प्रस्ताव के होते हुए भी

---

1. Coupland : Indian Politics 1936-42 Vol. II P. 173.

2. Ibid P, 174.

३. यह संघर्ष अप्रैल सन् १६३८ में हुआ था और तत्संबंधी कार्य-समिति का प्रस्ताव मई सन् १६३८ में स्वीकार किया गया था।

स्वीकार किया और यह विनम्र आशा प्रगट की कि मैसूर में शीघ्र ही उत्तरदायी सरकार की स्थापना हो जायगी।

फरवरी सन् १६३६ में जयपुर का आंदोलन उठ खड़ा हुआ। जयपुर-दरबार ने सेठ जमना लाल बजाज पर रियासत में आने के संबंध में प्रतिबंध लगाये। उन्होंने उनका तीन बार उल्लंघन किया और तीसरे उल्लंघन पर वे रियासत में बंदी कर लिये गये। फलस्वरूप जयपुर का आंदोलन चला।[१] रियासत ने दमन का चक्र चलाया। अतएव अन्य स्थानों की भाँति वहाँ पर भी जागृत जनता को कष्ट दिये जाने लगे। मार्च में गांधीजी ने जयपुर के आंदोलन के स्थगित करने की सिफारिश की। फलस्वरूप एक समझौता हुआ और सेठ जमना लाल बजाज छोड़ दिये गये।

इसी बीच राजकोट का भी मामला चला। राजकोट की सरकार द्वारा, शासन सुधार के संबंध में, सरदार वल्लभ भाई पटेल को दिये गये आश्वासन की अवहेलना के कारण, सरदार पटेल ने राजकोट में दूसरी बारदोली बनाने की इच्छा प्रकट की। "जिस तरह मैंने बारदोली से, ब्रिटिश भारत के किसानों के सामने एक सबक रखा है, उसी तरह मैं राजकोट से, समस्त भारतीय रियासतों की जनता के सामने, एक सबक रखना चाहता हूँ।" हरिपुरा कांग्रेस के प्रस्ताव की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा, "अगर भारतीय रियासतों के निवासी कठिनाइयाँ झेल कर यह सिद्ध कर देते हैं कि वे अधिकार पाने के लिए उत्सुक हैं, तो कांग्रेस उनकी मदद पर है। उनके आग लगाने पर कांग्रेस खड़ी तमाशा न देखती रहेगी। सारा भारत राजकोट की मदद के लिए तैयार है।" राजकोट दरबार से संतोषजनक उत्तर न मिलने के कारण, रियासत में सविनय अवज्ञा आंदोलन आरंभ हुआ। कस्तूरबा गांधी और मनीबेन पटेल ने, पकड़े जाने के लिए, रियासत में प्रवेश किया और वे पकड़ ली गयीं। अंत में गांधीजी स्वयं दरबार द्वारा दिये गये वचन की रक्षा के लिए, वहाँ पधारे। २ मार्च सन् १९३६ को, परिस्थिति का ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात्, उन्होंने राजकोट के ठाकुर साहब को यह अल्टीमेटम दिया कि यदि २४ घंटे के भीतर, सरदार

१. जयपुर की चर्चा करते हुए ११ फरवरी सन् १६३१ को गांधीजी ने हरिजन में इस प्रकार लिखा था—"कांग्रेस में जब तक दम है, तब तक वह चुपचाप तमाशा नहीं देख सकती, विशेष कर ऐसे समय जब उन्हें इस स्वाभाविक अधिकार से वंचित करने में ब्रिटेन की ताकत से सहायता ली जा रही हो।"

पटेल के साथ किये गये समझौते की रक्षा के विषय में, संतोषजनक उत्तर न मिलेगा तो वे कोई जबरदस्त कारवाई करेंगे ठाकुर साहब ने अल्टीमेटम की शर्तों को स्वीकार करने में असमर्थता स्वीकार की। फल-स्वरूप ३ मार्च को गांधीजी ने अपना आमरण उपवास[१] आरंभ कर दिया। देश का कोना-कोना विह्वल हो उठा। वाइसराय के हस्तक्षेप की चर्चा होने लगी। कांग्रेसी मंत्रि-मंडलों ने उन पर दबाव डालने के लिए संवैधानिक संकट की आशंका पर जोर दिया। वाइसराय स्वयं परिस्थिति को संभालने के लिए दिल्ली लौटे। लंदन और दिल्ली में निरंतर बातचीत होती रही। अंत में अधिपति-सत्ता के हस्तक्षेप के कारण, साढ़े चार दिन के पश्चात्, गांधीजी का अनशन समाप्त हुआ और राजकोट का मामला संघीय न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति के पास निर्णय के लिए भेज दिया गया। निर्णय गांधीजी के पक्ष में हुआ। पर उन्होंने इस निर्णय से किसी प्रकार का लाभ न उठाने का निश्चय किया। उन्हें ऐसा प्रतीत होने लगा था कि राजकोट के अनशन में हिंसा का पुट था। "अनशन आरंभ करते समय मैंने अधिपति-सत्ता से तत्काल हस्तक्षेप की माँग की थी। ....यह अहिंसा एवं हृदय-परिवर्तन का मार्ग नहीं है। ....मेरा अनशन व्रत विशुद्ध हो, इसके लिए यह आवश्यक था कि वह ठाकुर साहब के प्रति किया गया होता और अगर उससे ठाकुर साहब और दरबार वीरबाला का दिल न पिघल जाता तो मुझे मरने में ही संतोष करना चाहिये था।" कालांतर में, रियासतों में सविनय अवज्ञा आंदोलन के निलंबन के पश्चात, अक्टूबर में सुधार-कमेटी की योजना प्रकाशित हुई जिसे स्थानीय कार्य-कर्ताओं ने स्वीकार कर लिया।

हैदराबाद की विशेष समस्या—इन्हीं दिनों ट्रावनकोर, काश्मीर और हैदराबाद में भी शासन-सुधार के आंदोलन चले। पर वे पूर्णरूपेण अहिंसात्मक न रह सके। उनमें साम्प्रदायिकता[२] का भी दोष आने लगा। अतएव कांग्रेस की नीति को बदले बिना, गांधीजी ने नरेशों से समझौता करने पर जोर दिया और सुधारकों से कहा कि अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए, यदि वे

---

१. देखिये पृष्ठ ४५-४६ पूर्व।

२. कुछ नेताओं के मतानुकूल रियासतों में सांप्रदायिकता का उदय नरेशों द्वारा ब्रिटिश सरकार की "भेद और शासन," की नीति का अनुकरण था। इसके सहारे वे अधिकार बनाये रखना चाहते थे।

आवश्यक समझें, तो अपनी तत्कालीन माँगों को कुछ कम कर दें। उन्होंने विभिन्न रियासतों के सविनय अवज्ञा आंदोलनों को निलंबित करने का परामर्श दिया और यह भी बतलाया कि उनका इरादा निकट भविष्य में किसी भी स्थान में सविनय अवज्ञा आंदोलन आरंभ करने की सिफारिश करने का न था। इसके कारण व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा पर, यदि वह अहिंसात्मक और अनुशासित हो, किसी प्रकार का प्रतिबंध न लगाया गया था। फल-स्वरूप सभी रियासतों के सविनय अवज्ञा आंदोलन निलंबित कर दिये गये और नरेशों से समझौता करके शासन-सुधार की ओर ध्यान दिया जाने लगा।

राजनीतिक आंदोलन के अतिरिक्त, हैदराबाद में, इन्हीं दिनों एक दूसरा आंदोलन भी चला जिसका नाम आर्य-सत्याग्रह था। इसका उद्देश्य हिंदुओं के धार्मिक अधिकारों की रक्षा करना था। कुछ बरसों से आर्य-समाजियों को ऐसा प्रतीत होने लगा था कि हैदराबाद में आर्य-समाजियों पर नाना प्रकार के प्रतिबंध लगे हुए थे। अतएव उन्होंने अधिकारियों से प्रार्थनापूर्वक अधिकार-याचना की, किंतु कुछ भी परिणाम न निकला। दिसंबर सन् १९३८ में आर्य-कांग्रेस का अधिवेशन शोलापुर में हुआ जिसके निर्णय के अनुसार हैदराबाद में आर्य-सत्याग्रह आरंभ हुआ। हिंदू महासभा भी आर्य-समाज के उद्देश्यों से सहमत थी। इस आंदोलन के कारण लगभग दस हजार आर्य-सत्याग्रही निजाम के कारागारों में बंद हो गये थे।

हैदराबाद-सत्याग्रह में आर्य-समाजियों ने विशेषतया हिंदुओं के धार्मिक और सांस्कृतिक अधिकारों पर जोर दिया था। उनकी महत्वपूर्ण माँगें इस प्रकार थीं—

१—धार्मिक कार्यों और विचारों के लिए पूरी स्वतंत्रता हो।

२—धार्मिक उपदेश देने और कथाओं के सुनाने, नगर-कीर्तन और जलूस निकालने, आर्य-समाज मंदिर, यज्ञशाला और हवन-कुंड बनाने, ओम् झंडा फहराने, नये आर्य-समाज स्थापित करने और वैदिक धर्म-संबंधी साहित्य के छापने की पूर्ण स्वतंत्रता हो।

३—धर्म-परिवर्तन में न तो रियासत का प्रत्यक्ष हाथ हो और न वह उसको प्रोत्साहन दे। कारागारों के हिंदू कैदी और स्कूलों के हिंदू छात्र मुसलमान न बनाये जायँ। हिंदुओं के अनाथ बच्चे मुसलमानों को न दिये जायँ।

४—रियासत का धर्म-विभाग तोड़ दिया जाय। कम से कम हिंदू-मंदिर और हिंदुओं तथा आर्यों के मामले उसके अधीन न रखे जायँ।

५—आर्य-समाज के प्रतिकूल मौजूदा प्रतिबंध हटा लिये जायँ और आर्य-उपदेशकों को स्वतंत्रतापूर्वक रियासत में आने दिया जाय।

६—हिंदू और आर्य बालकों और बालिकाओं की आरंभिक और माध्यमिक शिक्षा उनकी मातृ-भाषा में दी जाय।

७—यदि हिंदू और आर्य व्यायाम-शाला या बालकों और बालिकाओं की शिक्षा के लिए शिक्षण-संस्थाएँ स्थापित करना चाहें, तो उन पर किसी प्रकार का प्रतिबंध न लगाया जाय।

आर्य-सत्याग्रह के संबंध में कांग्रेस की नीति तटस्थता की थी। बंबई और मद्रास की कांग्रेसी सरकारों ने, आर्य-सत्याग्रहियों को अपने प्रांतों में आधार बनाने तथा सभा आदि करने की भी, मनाही कर दी थी। मध्य-प्रांत में कुछ नेताओं के विरुद्ध अभियोग चले, पर साधारणतया आंदोलन इसी प्रांत से चलता रहा, यद्यपि उसमें भाग लेने वाले स्वयंसेवक भारत के विभिन्न भागों से आते थे। अंत में निजाम की शासन-सुधार की योजना प्रकाशित हुई। यद्यपि वह संतोषप्रद न थी, फिर भी आर्य-सत्याग्रह स्थगित कर दिया गया।

सन् १९४० तक रियासतों की राजनीतिक स्थिति—कांग्रेस की उक्त नीति तथा लगभग दो बरस तक उसके व्यावहारिक रूप के कारण, रियासतों की राजनीतिक स्थिति में काफी परिवर्तन हो गये थे। औंध[1] में पूर्ण उत्तरदायी शासन का श्रीगणेश किया गया था और कोचीन तथा राजकोट[2] में द्वैध-शासन प्रणाली के अनुसार उत्तरदायी शासन। मैसूर में दो सदनों के विधान-मंडल की व्यवस्था की गयी थी। विधान-परिषद द्वारा प्रेषित विधेयकों के सिद्धांत

---

१. औंध के नये संविधान में परोक्ष रीति से निर्वाचित विधान-सभा की व्यवस्था थी जिसे रियासत की आधी आय पर पूर्ण अधिकार था। मंत्रियों के लिए विधान-सभा का सदस्य होना आवश्यक था और वे उसी समय तक अपने पद पर रह सकते थे जब तक विधान-सभा का उनमें विश्वास हो। नरेश किसी विधेयक का विचार स्थगित तथा विधान-सभा के निर्णय को रद कर सकते थे। किंतु यदि तीन बार ऐसे व्यवहार के पश्चात विधान-सभा उसे चौथी बार पारित करती थी तो नरेश को उसे स्वीकार करना पड़ता था।

२. कोचीन और राजकोट में ऐसी विधान-सभाओं की व्यवस्था की गयी जिसके दो तिहाई सदस्य परिमित निर्वाचनाधिकार द्वारा चुने जाने को थे। विधान-सभा को नियम-निर्माण, आय-व्यय तथा मंत्रियों पर पूर्ण अधिकार था, पर शांति और व्यवस्था (Law and Order) का विषय संरक्षित विषय था।

पर विधान-सभा वाद-विवाद कर सकती थी, पर विधान-परिषद् के अधिकार पूर्ववत् बने हुए थे। हाँ, उसमें निर्वाचित सदस्यों की संख्या बढ़ायी गयी थी। रियासत की कार्य-पालिका शक्ति एक दीवान और चार मंत्रियों को थी। दो मंत्री विधान-सभा के गैर-सरकारी सदस्यों में से नियुक्त होते थे। बड़ौदा, ग्वालियर और इंदौर में न्यूनाधिक इसी प्रकार के शासन-सुधार किये गये थे। हैदराबाद और काश्मीर में भी विधान-सभाएँ स्थापित की गयी थीं और हैदराबाद में परामर्शदात्री कौंसिलों की भी रचना की गयी थी। इनमें से कुछ रियासत की सरकार को कृषि, शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, अर्थ आदि विषयों पर परामर्श देती थीं और कुछ जिलों तथा म्युनिसिपिल्टियों को अपने शासन-संचालन में। रामपूर में भी विधान-सभा की स्थापना द्वारा शासन-सुधार किये गये थे और राजपूताने की कुछ रियासतें भी इसी दिशा में बढ़ने लगी थीं। सारांश यह कि प्रायः सभी रियासतों में राजनीतिक कुलबुलाहट मची हुई थी। पर जो कुछ शासन-सुधार हुए थे, उनसे रियासती जनता को संतोष न था। वह तीन बातें चाहती थी—

१—रियासतों में पूर्ण उत्तरदायी शासन स्थापित किया जाय।

२—जनता के मूल अधिकारों की घोषणा की जाय।

३—भारत के भावी सविधान के निर्माण में रियासती जनता के प्रतिनिधियों का भी हाथ हो, अर्थात् संविधान-सभा में रियासतों के प्रतिनिधि रियासती जनता द्वारा चुने जायँ, केवल नरेशों द्वारा नामजद न किये जायँ।

सन् १९४० तक नरेश उनकी उक्त माँगों के सर्वथा अनुकूल न थे। उन्हें ब्रिटिश सरकार की रक्षा का पूर्ण विश्वास था। फलस्वरूप परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तनशील होने पर भी वे इतना आगे बढ़ने को तैयार न थे कि रियासतों में सन् १९३५ के प्रांतीय शासन का-सा उत्तरदायी शासन का आरंभ हो सकता।

समूहीकरण और विलीनीकरण की ओर—भारत में संघ-राज्य स्थापित करने का आदर्श गोलमेज परिषदों मे अपना लिया गया था। किंतु भारत की लगभग ५६३ रियासतें संघ-राज्य में किस प्रकार सम्मिलित होंगी, यह एक विचारणीय प्रश्न था। सन् १९३९ में, अखिल भारतीय रियासती प्रजा-सम्मेलन का अधिवेशन, पं० जवाहर लाल नेहरू की अध्यक्षता में, लुधियाना में हुआ। उसमें कई महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास हुए। प्रजा-सम्मेलन ने, कांग्रेस की भाँति, नरेशों द्वारा संसार-व्यापी महासमर से घसीटे जाने का विरोध किया

और उन संधियों को मानने से इनकार किया, जो अधिपति-सत्ता और नरेशों में स्वार्थ-साधन के लिए की गयी थीं, पर जो रियासती जनता के हित की विरोधिनी थीं। किंतु सम्मेलन का सब से अधिक महत्वपूर्ण प्रस्ताव रियासतों के समूहीकरण और विलीनीकरण के संबंध में था। सम्मेलन के मतानुकूल भारत की परिवर्तित परिस्थिति में छोटी रियासतों के लिए कोई स्थान न था। भारतीय संघ-राज्य में वे ही रियासतें स्वतंत्र इकाइयों की भाँति सम्मिलित की जा सकती थीं जिनकी जनसंख्या २० लाख और जिनकी वार्षिक आय ५० लाख रुपये हो। शेष रियासतों को या तो ब्रिटिश भारतीय प्रांतों में विलीन हो जाना चाहिये या आपस में मिलकर संघांतरित इकाइयों के समान, समूहों का निर्माण करना चाहिये। कालांतर में भारत सरकार ने भी विलीनीकरण की आवश्यकता को स्वीकार किया, किंतु वह रियासतों के ब्रिटिश भारतीय प्रांतों में विलीन होने की अपेक्षा, बड़ी रियासतों में विलीन होने के अधिक अनुकूल थी। सन् १९४६ में प्रजा-सम्मेलन की स्थायी कमेटी ने लुधियाना के उक्त निर्णय को बदला। उसके मतानुकूल वे ही रियासतें भारतीय संघ में स्वतंत्र इकाइयों की भाँति सम्मिलित की जा सकती थीं जिनकी जन-संख्या ५० लाख और आय लगभग ३ करोड़ रुपये थी।

सन् १९४० से १९४५ तक—सन् १९४० से १९४५ तक भारत की राजनीतिक परिस्थिति बड़ी गंभीर थी। संसार-व्यापी महासमर में जबरदस्ती घसीटे जाने के कारण कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दे दिया था, और गांधी जी के नेतृत्व में कांग्रेस ने व्यक्तिगत सत्याग्रह आंदोलन चला कर अपनी अहिंसात्मक शक्ति की परीक्षा की थी। १८ अक्टूबर सन् १९३९ को, वाइसराय ने युद्ध के उपरांत, भारतीय जनता के विभिन्न दलों, स्वार्थों और संप्रदायों तथा भारतीय नरेशों के परामर्श से भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ के अधिनियम को दोहराने का वचन दिया था। ८ अगस्त सन् १९४० की घोषणा में राष्ट्रीय जीवन के प्रधान अंगों के प्रतिनिधियों की ऐसी सभा का उल्लेख था जिसका काम भारत के लिए नया संविधान बनाना था। क्रिप्स की योजना में भारतीय रियासतों के संबंध में निम्नलिखित बातें सम्मिलित की गयी थी—(अ) संविधान-सभा के विचारों में भारतीय रियासतों के भाग लेने की व्यवस्था की जायगी ; (ब) कोई भारतीय रियासत संविधान को मानती है अथवा नहीं, इस संबंध की नयी परिस्थिति के अनुकूल, उसकी संधि की शर्तों का दोहराना आवश्यक होगा; (स) भारतीय रियासतों के प्रतिनिधियों का उनकी जन-संख्या

के साथ वही अनुपात होगा जो ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधियों का उनकी जन-संख्या के साथ। क्रिप्स-योजना की रियासतों से संबद्ध व्यवस्था में सब से बड़ी दुर्बलता यह थी कि उसमें भारतीय रियासतों की प्रजा की पूर्ण-रूपेण अवहेलना की गयी थी। कांग्रेस को यह बात पसंद न थी। महात्मा जी रियासती नरेशों को ब्रिटिश सरकार की, अपने हितों की रक्षा के लिए, सृष्टि समझते थे। स्टैफर्ड क्रिप्स की योजना में रियासतों की व्यवस्था से इस बात की आशंका थी कि उनकी सहायता से ब्रिटिश सरकार भारत के राष्ट्रीय विकास के मार्ग को अवरुद्ध करेगी। क्रिप्स की विफलता के पश्चात् भारत में अगस्त क्रांति हुई। कांग्रेस के नेता जेल में बंद कर दिये गये और देश का राजनीतिक जीवन लगभग ३ बरस के लिए सुप्तावस्था में हो गया। लड़ाई के बहाने भारतीय रियासतों में भी दमन-चक्र चलाया गया। जनता को जितने कुछ नागरिक अधिकार मिले हुए थे, क्रमशः उनका अपहरण होने लगा। अखिल भारतीय रियासती-प्रजा-सम्मेलन के अधिवेशन न्यूनाधिक स्थगित से हो गये। उसकी स्थायी-समिति ही उसका काम चलाती रही। उसने भी क्रिप्स की योजना को रियासती प्रजा के लिए अहितकर ठहराया और उस संविधान-सभा में सम्मिलित होने से इनकार कर दिया जिसकी व्यवस्था उसमें की गयी थी। सन् १९४२ की क्रांति में रियासती कार्य-कर्ताओं ने भी कांग्रेस के साथ सहयोग किया। तनातनी की यह अवस्था सन् १९४५ तक चलती रही, जब लॉर्ड वैवेल की योजना पर विचार करने के लिए कांग्रेस कार्य-समिति के सब सदस्य कारागार से मुक्त कर दिये गये। देश का राजनीतिक जीवन पुनः आशातीत हो गया। लॉर्ड वैवेल की योजना में यह स्पष्ट कर दिया था कि उसका संबंध केवल ब्रिटिश भारत से था और उसके कारण नरेशों और सम्राट के प्रतिनिधि के संबंधों पर किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया गया था। पूर्व कालीन अन्य योजनाओं की भाँति यह योजना भी भारतीय जनता के प्रतिनिधियों को मान्य न थी। फलस्वरूप शिमला सम्मेलन की विफलता के पश्चात वह वापस कर ली गयी। लॉर्ड वैवेल की दूसरी योजना में रियासतों की स्थिति में किसी प्रकार का परिवर्तन न किया गया था।

रियासती प्रजा का उदयपुर सम्मेलन—सन् १९४५ के पश्चात रियासतों का वातावरण क्रमशः बदलने लगा। नरेश जो अब तक कांग्रेसी कार्य-कर्ताओं के निकट आने से घबड़ाते थे, क्रमशः उनकी ओर आकृष्ट होने लगे। संभवतः युरोपीय परिस्थिति तथा ब्रिटिश सरकार की घोषणाओं के कारण अब उन्हें यह विदित होने लगा था कि अधिपत्ति सत्ता द्वारा उनकी रक्षा बहुत

दिनों तक न हो सकेगी। अतएव उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन का होना कुछ स्वाभाविक-सा था। कांग्रेस कार्य-कर्ताओं के विचार भी कुछ परिवर्तित हो गये थे। अब वे नरेशों को व्यर्थ न समझ कर, उनसे संपर्क स्थापित करने के पक्ष में थे और उनके प्रति पूर्वकालीन उग्र भाषा के स्थान पर कुछ सौम्य भाषा का प्रयोग करते थे। पं० जवाहर लाल नेहरू जो पहले रियासतों में जाना तक नापसंद करते थे, अब वहाँ जाने लगे, यहाँ तक कि भारतीय रियासती-प्रजा-सम्मेलन का आठवां अधिवेशन, बड़ी शान-शौकत से, उन्हीं की अध्यक्षता में जनवरी सन् १९४६ उदयपुर में हुआ।[१] इस प्रकार के अधिवेशन अब तक ब्रिटिश भारत के ही किसी नगर में हुआ करते थे। उदयपुर का अधिवेशन ऐसा प्रथम अधिवेशन था जो रियासत में किया गया था, और जिसे रियासत की ओर से सुविधाएँ मिली थीं।

अध्यक्ष पद से दिये गये भाषण में पं० जवाहर लाल नेहरू ने रियासतों को भारत का भाग बतलाते हुए, उन संधियों की निंदा की जो दो सौ पूर्व अधिपति-सत्ता के साथ की गयी थीं और जो आधुनिक भारत मे हास्यास्पद प्रतीत होती थीं। उन्होंने नरेशों से परिस्थिति के अनुकूल परिवर्तनशील होने की अपील की, और लुधियाना में स्वीकृत प्रस्ताव का उल्लेख करते हुए जनता के हित के लिए, राजनीतिक स्वतंत्रता, प्रतिनिधि शासन-प्रणाली, नागरिकों के मूल अधिकार, स्वतंत्र न्यायपालिका, आर्थिक स्वतंत्रता, जागीरदारी तथा इसी प्रकार के अन्य बंधनों से मुक्ति पर जोर दिया। रियासतों के समूहीकरण एवं विलीनीकरण का उल्लेख करते हुए, उन्होंने कहा कि छोटी रियासतों को प्रांतों से मिल जाना चाहिये और संविधान-सभा में रियासतों के प्रतिनिधियों का उनकी जनता द्वारा निर्वाचन होना चाहिये।[२] सम्मेलन द्वारा पारित प्रस्ताव भी न्यूनाधिक इसी आशय के थे। राजनीतिक प्रस्ताव की निम्नलिखित बातें उल्लेखनीय हैं[३]—

(अ) संवैधानिक परिवर्तन उसी स्थिति मे मान्य होंगे जब कि उनका आधार स्वतंत्र भारत की अंग-स्वरूप-रियासतों में पूर्ण उत्तरदायी शासन हो।[१]

(ब) संविधान-सभा में रियासती जनता के प्रतिनिधियों का निर्वाचन

---

१. ३१ दिसंबर सन् १९४५ से २ जनवरी सन् १९४६ तक।

2. Indian Quarterly Register 1946 Vol. I PP. 353-56.

३. विषय-निर्धारिणी समिति द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव।

उसी आधार पर होना चाहिये जिस पर प्रांतों की विधान-सभाओं का निर्वाचन होता है।

(स) नागरिक स्वतंत्रता के अधिकारों के बिना यह असंभव था कि स्वतंत्र निर्वाचन हो सकें या स्वतंत्रता अथवा प्रतिनिधि-संस्थाओं की स्थापना की दिशा में पर्याप्त उन्नति की जाय।

(द) सम्मेलन ने कांग्रेस की चुनाव-घोषणा को स्वीकार किया, और आजाद-हिंद फौज के लौटे हुए सैनिकों के पुनर्वास के लिए सहायता पर जोर दिया।

पं० जवाहर लाल नेहरू के भाषण तथा उक्त प्रस्तावों से यह स्पष्ट है कि अब रियासती जनता ब्रिटिश भारत से अलग न रह कर उसके बहुत ही निकट आ गयी थी और भारतीय संघ में सम्मिलित होने के पूर्व यह आवश्यक समझती थी कि संविधान-सभा के विचारों में उसके प्रतिनिधि भाग लें और रियासतों के आंतरिक शासन में नागरिक स्वतंत्रता के अधिकारों की गारंटी तथा प्रतिनिधि-संस्थाओं और उत्तरदायी शासन की स्थापना की जाय।

नरेंद्र-मंडल का सन् १६४६ का अधिवेशन—रियासती-प्रजा-सम्मेलन के लगभग पंद्रह दिन के पश्चात्, नरेंद्र-मंडल का अधिवेशन १७ जनवरी सन् १६४६ को आरंभ हुआ। अध्यक्ष पद से दिये गये अपने भाषण में, वाइसराय ने, अन्य बातों का उल्लेख करने के पश्चात्, नरेशों की राजनीतिक स्थिति तथा संधि और संबंधों के आधार पर उनके अधिकारों पर प्रकाश डाला। "मैं आपको यह विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि हमारा इरादा, आपकी अनुमति के बिना, ऐसी बातों के आरंभ करने का नहीं है जो उक्त संबंधों या अधिकारों में परिवर्तन करते हों।" १६ सितंबर सन् १६४५ को दिये गये अपने रेडियो भाषण का उल्लेख करते हुए, उन्होंने यह विश्वास प्रगट किया कि नरेश या उनके प्रतिनिधि संविधान-निर्मात्री-सभा के विचारों में भाग लेंगे और मौजूदा समस्याओं को इस दृष्टि से देखेंगे कि "न तो भारत द्वारा अपने उद्देश्य की पूर्ति में किसी प्रकार की बाधा पड़े और न उनकी प्रजा की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक उन्नति में।"[1]

दूसरे दिन नरेंद्र मंडल के चांसलर, नवाब साहब भूपाल ने संवैधानिक विकास संबंधी निम्नलिखित प्रस्ताव रखा—"नरेंद्र-मंडल यह दोहराता है कि

---

1. Indian Quarterly Register 1946 Vol. II P. 345.

भारत अपने पूर्ण विकास की स्थिति को शीघ्र ही पहुँचे, इस संबंध में समस्त जनता में जो आकांक्षा है उसमें रियासतें पूर्णतया सम्मिलित हैं और वे भारत की संवैधानिक समस्या के हल में यथाशक्ति हाथ बँटावेंगी।" प्रस्ताव रखते हुए नवाब साहब ने जो भाषण दिया, राजनीतिक दृष्टि से वह भी महत्वपूर्ण था। उसके निम्नलिखित अंश उल्लेखनीय हैं—"दुर्भाग्य से परस्पर मत-भेद के कारण आज हम में एकता का अभाव है। पर यहाँ भी मेरी यह आशा है कि न्याय, सहिष्णुता और सहयोग द्वारा हम उस लक्ष्य को प्राप्त कर सकेंगे जिसकी कामना राजा से लेकर किसान तक, सभी विचारशील भारतीय करते हैं। क्या हम में से एक भी ऐसा व्यक्ति है जो अपनी मातृ-भूमि को स्वतंत्र, महान और समस्त संसार में आदरित न देखना चाहता हो या यह चाहता हो कि आधुनिक काल में, मानव-जाति के उत्थान के लिए वह वे महान कार्य न कर सके जिन्हें उसने भूत काल में किया था?" प्रेषित प्रस्ताव में यह बताया गया कि भारत की संवैधानिक समस्या के हल करने में "हम भी भाग लेंगे। पर यह भाग क्या होगा, यह अभी ठीक ठीक नहीं बतलाया जा सकता।....... पर हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि न्याय और विवेक-बुद्धि के आधार पर भारत की संवैधानिक समस्या के हल के लिए जो भी प्रयत्न किये जायँगे उनमें हमारा पूरा पूरा सहयोग होगा।" अपने भाषण में चांसलर ने रियासतों में किये जाने वाले राजनीतिक सुधारों के संबंध निम्नलिखित घोषणा की—

"नरेंद्र-मंडल ने, मंत्रियों की कमेटी के सहयोग से, रियासतों में संवैधानिक सुधारों के विकास के प्रश्न पर चिंतापूर्वक विचार किया है। रियासतों की संवैधानिक स्थिति के विषय में सम्राट की सरकार की ओर से पार्लमेंट में पुनः घोषणा की गयी है और वाइसराय ने भी उसे दोहराते हुए यह कहा है कि अमुक रियासत और उसके निवासियों के लिए कौन सा संविधान उपयुक्त होगा, इसके निर्णय का अधिकार उसके नरेश को ही है। इस स्थिति को ध्यान में रखते हुए, नरेंद्र-मंडल राजनीतिक विकास के संबंध में अपनी नीति की स्पष्ट घोषणा करता है और उन रियासतों से इस दिशा में पग उठाने की सिफारिश करता है, जहाँ इस प्रकार का पग अब तक नहीं उठाया गया है।"

तत्पश्चात् चांसलर ने नरेंद्र-मंडल से अधिकार पाकर उसकी ओर तथा पूर्ण अधिकार से निम्नलिखित घोषणा की—

"........प्रत्येक रियासत में ऐसे संविधान बनें कि राजवंश और रियासती प्रदेशों पर कुप्रभाव डाले बिना, नरेश की प्रभु-सत्ता का प्रयोग संवैधानिक ढंग

से हो। प्रत्येक रियासत में ऐसी सार्वजनिक संस्थाएँ स्थापित की जायँ जिनमें निर्वाचित सदस्यों का बहुमत हो, ताकि रियासत के शासन में जनता का निकट और प्रभावशाली सहयोग प्राप्त हो सके। यह मान लिया गया है कि इस आधार पर प्रत्येक रियासत के लिए जो ब्यौरेवार संविधान बनेगा, उसमें प्रत्येक रियासत की विशेष परिस्थिति का ध्यान रखा जायगा।

"अधिकांश रियासतों में पहले ही से विधानानुकूल राज तथा जीवन और संपत्ति की रक्षा की गारंटी देने वाले कानून बन चुके हैं। जिन रियासतों में अब तक ऐसा नहीं हुआ है, उनके संबंध में उक्त नीति को स्पष्ट शब्दों में प्रगट करने के उद्देश्य से यह घोषित किया जाता है कि जनता के निम्नलिखित आवश्यक अधिकारों की गारंटी की जाय और रियासती न्यायालयों को यह अधिकार दिया जाय कि इन अधिकारों के उल्लंघन पर वे उसकी शिकायतों को दूर कर सकें—

(१) कानून के अतिरिक्त न तो किसी व्यक्ति की स्वतंत्रता का अपहरण किया जाय, और न कोई किसी के घर या जायदाद में घुसे या उसे छीने या जब्त करे।

(२) युद्ध, विद्रोह या आंतरिक अशांति के दिनों में उक्त अधिकार, घोषित व्यवस्था के अंतर्गत, निलंबित किये जा सकेंगे।

(३) प्रत्येक व्यक्ति को विचार-अभिव्यक्ति, समुदाय-निर्माण तथा ऐसी निरायुध सभाओं के करने की स्वतंत्रता होगी जिनका सैनिक उद्देश्य न हो और जो कानून और नैतिकता के विरुद्ध न हों।

(४) सार्वजनिक शांति और नैतिकता पर कुप्रभाव डाले बिना, प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आत्मा के अनुसार चलने तथा अपने धर्म को मानने की स्वतंत्रता दी जाय।

(५) धर्म, जाति या विश्वास के आधार पर विभेद किये बिना सब मनुष्य कानून की दृष्टि में एक दूसरे के समान समझे जायँ।

(६) केवल धर्म, जाति या विश्वास के कारण, सार्वजनिक नौकरियों या प्रतिष्ठा और सत्ता के पदों या उद्योग और व्यापार के लिए किसी व्यक्ति पर किसी प्रकार का प्रतिबंध न लगाया जाय।

(७) किसी प्रकार की बेगार न ली जाय।"

उक्त अधिकारों के अतिरिक्त चांसलर ने शासन संबंधी सिद्धांतों का भी उल्लेख किया और कहा कि जिन रियासतों में अब तक उनके अनुसार शासन

नहीं हो रहा था उनमें उन्हें तुरंत ही कार्यान्वित करना चाहिये। ये सिद्धांत इस प्रकार थे—

(१) न्याय करने का काम निष्पक्ष और सुयोग न्यायपालिका को हो, जो कार्यपालिका से स्वतंत्र हो। रियासत और व्यक्ति के बीच के मामलो के लिए भी निष्पक्ष निर्णय की उपयुक्त व्यवस्था की जाय।

(२) नरेश अपने निजी व्यय को शासन संबंधी व्यय से अलग रखें। उनका निजी व्यय रियासत की साधारण आय के विवेकपूर्ण अनुपात में होना चाहिये।

(३) कर-भार न्यायोचित और सब पर समान होना चाहिये और रियासती आय का एक निश्चित भाग जनता की भलाई के कामों, विशेषतया राष्ट्र-निर्माण के कामों, में खर्च करना चाहिये।"

रियासत शासन-संबंधी घोषणा को चांसलर ने निम्नलिखित हृदय-ग्राही ढंग से समाप्त किया—

"यह घोषणा स्वेच्छापूर्वक तथा सच्चे हृदय से की जा रही है क्योंकि हमें रियासती जनता तथा रियासतों के भविष्य में पूर्ण विश्वास है। यह रियासती शासकों द्वारा, उक्त निर्णयों को अविलंब तथा सच्चे हृदय से कार्यान्वित करने की इच्छा का प्रतीक है। हमारी कामना है कि इसके कारण जनता को भय और अभाव से उत्तरोत्तर मुक्ति तथा मस्तिष्क और विचार-अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता मिले और परस्पर स्नेह, सहिष्णुता, सेवा और उत्तरदायित्व के सुदृढ़ आधार पर उसका अधिकाधिक विकास और परिवर्द्धन हो।"

वाइसराय के उद्घाटन भाषण का उत्तर देते हुए, चांसलर ने दस्तकारियों की उन्नति तथा ब्रिटिश भारत और रियासतों के आर्थिक संबंध का उल्लेख किया। विलीनीकरण की योजनाओं के संबंध में जिनकी ओर शासन-सुधार की दृष्टि से, वाइसराय ने संकेत किया था, उन्होंने अपने विचार इस प्रकार प्रगट किये—"आपका इरादा किसी ऐसी योजना की ओर संकेत करने का नहीं है जिसका राजबंशों के बने रहने तथा उनकी रियासतों के प्रदेश या उन आंतरिक स्वशासन पर कुप्रभाव पड़ता हो। आपको यह बतलाना हम अपना कर्तव्य समझते हैं कि तथाकथित छोटी रियासतों के शासकों में इस संबंध में बड़े भ्रम हैं। इसलिए हम उनकी समस्याओं पर सहानुभूति और विवेक के साथ विचार करने के लिए आमंत्रित करते हैं।"[1]

---

1. Indian Quarterly Register 1946 Vol. I PP. 344-50.

वाइसराय और चांसलर के उपर्युक्त भाषणों से यह स्पष्ट है कि अधिपति-सत्ता और नरेशों के दृष्टिकोण में परिवर्तन तो हुआ था पर उनका हृदय पूर्ववत् बना हुआ था। रियासती प्रजा तथा ब्रिटिश भारत के विरोध करने पर भी वाइसराय संधियों और संबंधों को अक्षुण्ण समझते थे, और यद्यपि वे नरेशों से शासन-सुधार के लिए कहते थे, तो भी उनकी अनुमति के बिना, उक्त संबंधों और तत्जनित अधिकारों में परिवर्तन करने को तैयार न थे। नरेश शासन-सुधार की आवश्यकता को स्वीकार करने लगे थे। नरेंद्र-मंडल ने जनता के अधिकारों तथा शासन के सिद्धांतों की अधिकारयुक्त स्पष्ट घोषणा अवश्य की थी। पर जो अधिकार घोषित किये गये थे, वे जनता की माँग को देखते हुए अपर्याप्त तथा प्रतिबंधों से आच्छादित थे। नरेश अब भी राजवंश के स्थायित्व तथा आंतरिक स्वशासन के अधिकारों में लिप्त थे और वे अपनी अनुमति के बिना विलीनीकरण एवं समूहीकरण की उन योजनाओं को स्वीकार करने के अनुकूल न थे जो उन्नतिशील शासन के लिए आवश्यक थीं और जिन पर ब्रिटिश भारत के राजनीतिज्ञ तथा रियासती जनता नित्यप्रति अधिकाधिक जोर दे रही थी।

कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल और भारतीय रियासतें—१६ मई सन् १९४६ का कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की योजना प्रकाशित हुई। भारत की संवैधानिक समस्याओं के हल पर प्रकाश डालते हुए, उसमें भारतीय रियासतों के संघ-राज्य में सम्मिलित होने, तथा उन सब विषयों में संघ-सरकार के शासन की व्यवस्था थी जो रियासतों द्वारा उसे समर्पित किये जाते। कम से कम पर-राष्ट्र-संबंध, रक्षा और यातायात के विषयों का समर्पण अनिवार्य था। रियासतों और अधिपति सत्ता के संबंध में उसमें निम्नलिखित बातें थीं—

"अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करने से पहले हम ब्रिटिश भारत के साथ भारतीय रियासतों के संबंध की विवेचना करना चाहते हैं। यह स्पष्ट है कि ब्रिटिश भारत के स्वतंत्र होने पर, चाहे वह ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल के भीतर रहे या उससे अलग हो जाय, सम्राट और रियासतों के बीच में वह संबंध नहीं रह सकता जो अब तक रहा है। उन्हें नयी सरकार को भी नहीं सौंपा जा सकता। अधिपति-सत्ता न तो सम्राट के हाथ में रखी जा सकती है और न नयी सरकार को सौंपी जा सकती है। भारतीय रियासतों की ओर से जिन लोगों से हमारी बातचीत हुई है, उन्होंने इस बात को पूर्ण रूप से स्वीकार कर लिया है। साथ ही उन्होंने यह आश्वासन भी दिया है कि रियासतें भारत के नवीन

विकास में सहयोग करने की इच्छुक और तत्पर हैं। उनके सहयोग का वास्तविक रूप क्या होगा, यह नवीन संवैधानिक ढाँचे को बनाते समय, विचार-विनिमय द्वारा निश्चित किया जायगा। सहयोग का यह तात्पर्य भी नहीं कि प्रत्येक रियासत के सहयोग का एक ही रूप होगा।"[१] दूसरे दिन के रेडियो-भाषण में भारत-मंत्री ने भी न्यूनाधिक इसी प्रकार के विचार प्रगट किये।[२] इसके लगभग पाँच दिन पूर्व १२ मई को कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल ने, नरेंद्र-मंडल के चांसलर को, संधियों और अधिपति-सत्ता के संबंध में इस प्रकार लिखा था[३]—"ब्रिटिश प्रधान-मंत्री ने, कामन सभा में, हाल के वक्तव्य के पूर्व, नरेशों को यह आश्वासन दिया था कि नरेशों की अनुमति के बिना सम्राट और उनके संबंध तथा संधियों और इकरारनामों द्वारा गारंटी किये गये उनके अधिकारों में, परिवर्तन करने का इरादा, सम्राट न करते थे। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया गया था कि विचार-विनिमय के परिणाम-स्वरूप होने वाले परिवर्तनों के संबंध में, नरेश अपनी अनुमति को अनुचित रूप से न रोकेंगे।........संक्रमण काल में, जिसकी अवधि उस संवैधानिक ढांचे के बनने के पूर्व समाप्त हो जानी चाहिये जिसके अंतर्गत् ब्रिटिश भारत स्वतंत्रता अथवा पूर्णरूपेण स्वशासन-भोगी होगा, अधिपति-सत्ता पूर्ववत् बनी रहेगी। परंतु ब्रिटिश सरकार किसी भी परिस्थिति में, अधिपति-सत्ता को, एक भारतीय सरकार को न तो हस्तांतरित कर सकती है, और न करेगी ही।........इस बीच में भारतीय रियासतें संवैधानिक ढांचे के बनाने के काम में महत्वपूर्ण भाग लेने की स्थिति में होंगी।........इसकी सुगमता के लिए नरेश, अपने शासन को यथाशक्ति उच्चतम मान तक पहुँचाने की व्यवस्था करके निस्संदेह अपनी स्थिति को सुदृढ़ बना लेंगे। जहाँ कहीं रियासतों के मौजूदा साधनों के अंतर्गत् इस मान तक नहीं पहुँचा जा सकता वहाँ वे निस्संदेह परस्पर मिल, या दूसरी इकाइयों में सम्मिलित होकर इतनी बड़ी शासकीय इकाइयाँ बनावेंगे कि

---

१. कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की योजना, १४ वाँ पैरा।

२. "ब्रिटिश भारत के पूर्ण स्वाधीन होने पर रियासतों की स्थिति अप्रभावित नहीं रह सकती।......किंतु इस संबंध में पहले ही से निर्णय कर लेना हमारे अधिकार में नहीं है। कोई भी कार्रवाई करने के पूर्व नरेशों से बातचीत करना आवश्यक होगा।"

३. यह स्पष्टीकरण १२ मई सन् १९४६ को किया गया था, पर इसका प्रकाशन २२ मई सन् १९४६ को किया गया था।

वे संवैधानिक ढाँचे में उपयुक्त स्थान प्राप्त कर सकें। ....संक्रमण काल में भारतीय रियासतों के लिए यह आवश्यक होगा कि वे ब्रिटिश भारत के साथ सामान्य मामलों की भावी व्यवस्था के विषय में बातचीत चलावें।........जब ब्रिटिश भारत में नयी पूर्ण-रूपेण स्वतंत्र सरकार या सरकारें स्थापित हो जायँगी तब सम्राट की सरकार का इन सरकारों पर ऐसा प्रभाव न होगा कि वह अधिपति सत्ता के कर्तव्यों का पालन कर सके।........अतः यह युक्ति-संगत तथा नरेशों की आकांक्षाओं के अनुरूप ही है कि सम्राट की सरकार अधिपति-सत्ता के अधिकारों का उपयोग न करेगी। दूसरे शब्दों में भारतीय रियासतों के वे सब अधिकार लुप्त हो जायँगे जो सम्राट के साथ उनके संबंधों पर आश्रित हैं और उनकी वे शक्तियाँ उनके पास लौट आयँगी जिन्हें उन्होंने अधिपति-सत्ता को समर्पित किया था। अतएव एक ओर भारतीय रियासतों और दूसरी ओर ब्रिटिश सम्राट और ब्रिटिश भारत की मौजूदा राजनीतिक व्यवस्था की इतिश्री हो जायगी। इस रिक्त स्थान की पूर्ति या तो रियासतों द्वारा उत्तराधिकारी सरकार या सरकारों से संघीय संबंध स्थापित करके की जायगी या ऐसा न होने पर, उत्तराधिकारी सरकार या सरकारों से विशिष्ट राजनीतिक समझौता करके।''[१]

नरेशों की प्रतिक्रिया—इस योजना का नरेशों और उनकी प्रजा पर वही प्रभाव पड़ा जिसकी आशा की जा सकती थी। मंत्रियों की कमेटी और संविधान-परामर्शदात्री (Constitution Advisory) कमेटी के सहयोग से नरेंद्र-मंडल की स्थायी समिति की ओर से उसके चांसलर भूपाल के नवाब साहब ने योजना की कुछ बातों को अस्पष्ट बतलाते हुए भी कहा कि "वह भारत के स्वतंत्र होने के लिए आवश्यक व्यवस्था तथा आगे की बात-के लिए न्यायपूर्ण आधार प्रदान करती है।" संक्रमणकालीन व्यवस्था के लिए समिति ने चांसलर के उस प्रस्ताव का समर्थन किया जिसमें उन्होंने सामान्य बातों में बातचीत करने के लिए एक विशेष कमेटी, जिसमें केंद्रीय सरकार और रियासतों के प्रतिनिधि हों, की नियुक्ति के लिए कहा था। न्याय-योग्य, कर-संबंधी तथा आर्थिक और वित्तीय मतभेद को दूर करने के लिए कमेटी ने पंचायती न्यायालयों पर जोर दिया और नरेशों के व्यक्तिगत एवं राजवंशीय मामलों के निर्णय के लिए स्वीकृत कार्य-पद्धति के अक्षरशः तथा

---

१. भारतीय समाचार—१५ जून १९४६, पृ० ५६१–६२।

भावार्थ में पालन करने पर। अगर संबंधित रियासत को किसी प्रकार की आपत्ति न हो, तो ऐसे मामलों का निर्णय करते समय सम्राट के प्रतिनिधि-स्वरूप वाइसराय, नरेंद्र-मंडल के चांसलर तथा कुछ अन्य नरेशों का भी परामर्श ले लिया करें। स्थायी समिति ने कैबीनेट-प्रतिनिधि-मंडल की इस बात का भी समर्थन किया कि नरेश अपने शासन को "उच्चतम मान तक पहुँचाने की व्यवस्था करके निस्संदेह अपनी स्थिति को सुदृढ़ बना लेंगे।" कमेटी ने वाइसराय के उस निमंत्रण को भी स्वीकार किया जिसमें पारस्परिक चर्चा (Negotiating) कमेटी की नियुक्ति के लिए कहा गया था। अधिपति-सत्ता के विषय में कैबीनेट-प्रतिनिधि-मंडल की योजना में जो व्यवस्था थी, कमेटी उससे भी सहमत थी[1]। सारांश यह कि कुछ बातों के अतिरिक्त, जिनके विषय में अधिक बातचीत की आवश्यकता थी, नरेंद्र-मंडल की स्थायी समिति को, कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की प्रायः सभी बातें मान्य थीं। पर वास्तव में नरेशों की स्थिति पहले की अपेक्षा बड़ी दुर्बल हो गयी थी। सम्राट की अधिपति सत्ता के अंत के पश्चात, यह निश्चित था कि उनकी पूर्वकालीन स्थिति की इतिश्री हो जायगी और समयानुकूल बदलने के लिए उन्हें भारी त्याग करने पड़ेंगे।

चांसलर के उपरिलिखित वक्तव्य के उत्तर में, वाइसराय ने अपनी प्रसन्नता का पत्र, २६ जून सन् १९४६ को उनके नाम भेजा। "भारत की संवैधानिक समस्या के हल के लिए, हमारे द्वारा प्रस्तावित योजना के संबंध में नरेशों ने जो दृष्टिकोण अपनाया है उसका हम (कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल और वाइसराय) स्वागत करते हैं। ....हमें विश्वास है कि रियासतों द्वारा अंतिम निर्णय करने का जब समय आवेगा, तो उस निर्णय को करते समय भी रियासतें, वास्तविकता और बुद्धिमत्ता की इसी भावना का परिचय देंगी। स्थायी समिति ने मेरे और राजनीतिक परामर्शदाता के विषय में जो विचार प्रकट किये हैं उनका भी मैं आदर करता हूँ। मैं आप तथा स्थायी समिति को विश्वास दिलाना चाहता हूँ कि आगामी बातचीत में रियासतों तथा ब्रिटिश भारत के लिए सामान रूप से संतोषजनक परिणामों पर पहुँचने में हम यथाशक्ति सहायता देना जारी रखेंगे। पारस्परिक चर्चा कमेटी में प्रतिनिधित्व

---

१. नरेंद्र-मंडल की स्थायी समिति का अधिवेशन १० जून सन् १९४६ को हुआ था और इसके निर्णयों की सूचना चांसलर ने वाइसराय को १९ जून के पत्र में भेजी थी।

करने के लिए रियासतों ने जिन सज्जनों को चुना है उनकी सूची को मैंने ध्यान से देखा हैं। ....मुझे विश्वास है कि आपने जो मार्ग प्रदर्शित किया है उसका भारत के सभी नरेश अनुसरण करेंगे।"[१]

नरेशों की प्रजा की प्रतिक्रिया—अखिल भारतीय रियासती-प्रजा-सम्मेलन की जनरल कौंसिल ने, कैबीनेट प्रतिनिधि मंडल की योजना के संबंध में १७ जून सन् १९४६ को निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किया—"अखिल-भारतीय रियासती प्रजा-सम्मेलन की जनरल कौंसिल ने, उन सब वक्तव्यों पर विचार किया है जिन्हें कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल और वाइसराय ने समय समय पर दिया है। कौंसिल को यह देख कर आश्चर्य और दुःख हुआ है कि अपनी वार्तालाप और परामर्श में कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल ने रियासती प्रजा के प्रतिनिधियों की पूर्ण अवहेलना की है। भारत का कोई भी संविधान उस समय तक न तो विधान-युक्त और न प्रभावी होगा जब तक कि वह रियासतों की ९ करोड़ जनता पर लागू न होगा और उसके प्रतिनिधियों का उसके संबंध में परामर्श न लिया जायगा। भारतीय इतिहास की इस नाजुक घड़ी में रियासती जनता को अलग रख कर, जिस प्रकार उसकी अवहेलना की गयी है, कौंसिल उसके संबंध में अपना रोष प्रकट करती है। तत्पश्चात् कौंसिल के प्रस्ताव में कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की योजना की विभिन्न बातों पर विचार करके उनके संबंध में मत-प्रकाश किया गया था। तमाम खतरों पर विचार करने के पश्चात् कौंसिल स्वतंत्र और संयुक्त भारत के निर्माण के लिए सहयोग देने को तैयार थी। कौंसिल का मत था कि चूँकि स्वतंत्र भारत का संविधान निश्चित रूप से लोकतंत्रात्मक होगा, इसलिए रियासतों में भी उत्तर-दायी शासन की स्थापना हो जानी चाहिये। संविधान-सभा के संबंध में कौंसिल ने इस बात पर जोर दिया कि उसमें रियासतों के प्रतिनिधियों को आरंभ ही से उपस्थित रहना चाहिये और उनका निर्वाचन होना चाहिये। कौंसिल की राय थी कि कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल द्वारा प्रस्तावित पारस्परिक-चर्चा कमेटी में रियासती जनता के प्रतिनिधियों को भी सम्मिलित करना चाहिये। सारांश यह कि कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की योजना नरेशों और प्रजा दोनों को मान्य थी, पर नरेशों का झुकाव उसे सामंतवाद के अनुकूल बनाने का था और प्रजा का उसे लोकतंत्र की ओर ले जाने का।

---

१. भारतीय समाचार, १५ अगस्त सन् १९४६, पृ० ११२।

अंतःकालीन सरकार और रियासती प्रजा—२ सितंबर सन् १६४६ को अंतःकालीन सरकार की स्थापना हुई। रियासती प्रजा में उसकी भी गंभीर प्रतिक्रिया हुई। १८ सितंबर सन् १६४६ को अखिल भारतीय रियासती-प्रजा सम्मेलन की कार्य-समिति की बैठक दिल्ली में हुई। उसने पुनः इस माँग को प्रस्तुत किया कि रियासतों में अब तक उत्तरदायी सरकार की स्थापना हो जाना चाहिये थी। 'निकट भूत में भारत के शासन में जो परिवर्तन हुए हैं, उनका जनता पर गहरा असर पड़ा है........वह चाहती है कि वह समस्त देश के साथ रहे।' अतः वह इस बात के लिए बड़ी अधीर है कि उक्त परिवर्तन बड़ी शीघ्रता से किये जायँ। स्थायी समिति को इस बात से भी दुख था कि नरेशों की ओर से जो पारस्परिक चर्चा कमेटी नियुक्त हुई थी, उसमें रियासती प्रजा का एक भी प्रतिनिधि न था। पं० जवाहर लाल नेहरू को भी इस बात से बड़ा दुख था।[१]

संविधान-सभा और रियासतें—६ दिसंबर सन् १६४६ को संविधान-सभा की कर्रवाई आरंभ हुई। कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की योजना के अनुसार, उसने २१ दिसंबर को अपनी पारस्परिक चर्चा कमेटी नियुक्त की। यह इसी नाम की नरेंद्र-मंडल द्वारा नियुक्त कमेटी से निम्नलिखित बातों पर बातचीत करने को थी। (अ) भारतीय रियासतों में संविधान-सभा के उन ६३ स्थानों का वितरण, जिनकी व्यवस्था कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल की योजना में की गयी थी। (२) उस तरीके का निर्धारण जिसके द्वारा रियासतों के प्रतिनिधि चुने जाने को थे। २० फरवरी की प्रधान-मंत्री की घोषणा में इस बात का ऐलान किया गया था कि ब्रिटिश सरकार जून सन् १६४८ तक सत्ता के हस्तांतरण के लिए तैयार थी। अतः इस बात का संकेत किया गया कि संविधान-सभा के अगले सत्र में, जो अप्रैल सन् १६४७ को होने को था, रियासतों के प्रतिनिधि सम्मिलित हो जायँ। अतः २८ अप्रैल को बड़ौदा, कोचीन, जयपुर, जोधपुर बीकानेर, पटियाला और रीवाँ की रियासतों ने अपने स्थान ग्रहण कर लिये। ३ जून सन् १६४७ की घोषणा में रियासतों के संबंध में निम्नलिखित व्यवस्था

---

१. "मैं समझता हूँ कि अब भी पारस्परिक चर्चा कमेटी में, यदि वह ठीक काम करना चाहे तो, कुछ इस प्रकार के प्रतिनिधियों को शामिल करना चाहिये। लेकिन इस समय हम इस बात पर अड़ नहीं सकते।" २१ दिसंबर सन् १६४६ को संविधान-सभा में दिये गये भाषण से।

सम्मिलित की गयी थी—"सम्राट की सरकार यह स्पष्ट कर देना चाहती है कि उपर्युक्त निर्णयों का संबंध केवल ब्रिटिश भारत से है और रियासतों की प्रति उसकी नीति वही है जो कैबीनेट प्रतिनिधि-मंडल के १२ मई सन् १६४६ के मेमोरेंडम में दी गयी थी।" कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनों ने इस बात को स्वीकार कर लिया और इसी आधार पर उत्तराधिकारी सरकारों के हाथ में सत्ता के हस्तांतरण की व्यवस्था की गयी।

अंतःकालीन सरकार का रियासती विभाग—२५ जून सन् १६४७ ई० को, लार्ड माउंटबैटेन की सिफारिश पर अंतःकालीन सरकार ने रियासती विभाग की स्थापना का निश्चय किया। सरदार वल्लभ भाई पटेल उसके अध्यक्ष बनाये गये और सरदार अब्दुर रब निश्तर सहयोगी अध्यक्ष। दो अधिकारियों की व्यवस्था इसलिए की गयी थी कि विभाजन होने पर दोनों अलग-अलग अपने देश की रियासतों की देख-भाल कर सकें। ५ जुलाई को यह विभाग खुल भी गया। उसके संबंध में उसी दिन सरदार पटेल ने सहयोग की अपील करके निम्नलिखित वक्तव्य प्रकाशित किया—"........रियासतें यह आधारभूत सिद्धांत पहले ही स्वीकार कर चुकी हैं कि रक्षा, पर-राष्ट्र-संबंध और यातायात के विषयों में वे भारतीय यूनियन में सम्मिलित होंगी। हम उनसे देश के सामान्य हित में इन तीन विषयों में भाग लेने के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहते। जहाँ तक अन्य विषयों का संबंध है, हम उनके स्वतंत्र अस्तित्व को पूरी तरह स्वीकार करेंगे। यह देश और उसकी संस्थाएँ उस जनता का गर्वपूर्ण उत्तराधिकार है जो यहाँ बसती है। यह केवल संयोग की बात है कि हम में से कुछ लोग रियासतों में रहते हैं और कुछ ब्रिटिश भारत में। पर सभी समान रूप से इसकी संस्कृति और प्रवृत्तियों के अधिकारी हैं। अतः मेरा सुझाव यह है कि हमारे लिए यह अधिक अच्छा होगा कि हम सब मिलकर मित्रों की भाँति नियम आदि बनावें न कि विदेशियों की भाँति संधियाँ करें। मैं अपने मित्रों—भारतीय रियासतों के शासकों और जनता—को आमंत्रित करता हूँ कि वे मैत्री और सहयोग की भावना से प्रेरित होकर संविधान-सभा में आवें और मिल बैठ कर उसके कार्यों में भाग लें।........मैं आशा करता हूँ कि रियासतें यह समझ लेंगी कि जनहित के लिए सहयोग न करने का विकल्प ऐसी अराजकता और अव्यवस्था है जो छोटे-बड़े सबको विनाश की ओर खींच ले जायगी।" २५ जुलाई सन् १६४७ को, भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम के पारित हो जाने के पश्चात, लॉर्ड माउंटबैटेन ने नरेंद्र-मंडल में अपना प्रथम और अंतिम भाषण

दिया—"......अब, भारतीय स्वतंत्रता विधेयक के पास हो जाने के पश्चात, रियासतें सम्राट के प्रति अपनी सभी प्रकार की जिम्मेदारियों से मुक्त हो गयी हैं। रियासतों को पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त हो गयी है। टेकनिकल और कानूनी दृष्टि से वे स्वतंत्र हैं।.......ब्रिटिश शासनकाल में, सम्राट का प्रतिनिधि और वाइसराय एक ही व्यक्ति रहा है। अतः सामान्य हितों से संबंध रखने वाली सभी बातों के विषय में एक एकात्मक शसानप्रणाली का विकास हो गया है। इसका तात्पर्य यह है कि भारतीय उपमहाद्वीप आर्थिक दृष्टि से एक इकाई रहा है। अब यह कड़ी टूटने को है। अगर उसकी जगह कोई और व्यवस्था न की गयी तो अव्यवस्था के अतिरिक्त और कुछ भी हाथ न लगेगा। और मेरा विचार है कि उस अव्यवस्था से सब से पहले रियासतों की हानि पहुँचेगी। रियासत जितनी ही बड़ी होगी उतनी ही कम उसको हानि पहुँचेगी और उसका अनुभव भी उसे बहुत देर में होगा। लेकिन बड़ी से बड़ी रियासत भी छोटी से छोटी रियासत की भाँति इस हानि का अनुभव करेगी।" तत्पश्चात वाइसराय ने रियासती विभाग और दो डोमीनियनों की चर्चा करते हुए कहा कि सिद्धांत में रियासतें अपने इच्छानुसार किसी भी डोमीनियन से गठबंधन कर सकती थी। "किंतु जब मैं यह कहता हूँ कि वे किसी भी डोमीनियन से नाता जोड़ने के लिए स्वतंत्र हैं तो मैं यह कहना चाहूँगा कि कुछ भौगोलिक अनिवार्यताएँ ऐसी हैं जिनकी अवहेलना नहीं की जा सकती।... जिस प्रकार आप अपनी प्रजा से जिसके कल्याण के लिए आप उत्तरदायी हैं पृथक नहीं हो सकते उसी प्रकार आप अपने पड़ोस की डोमीनियन से अलग नहीं रह सकते।" १५ अगस्त सन् १९४७ तक काश्मीर और हैदराबाद के अतिरिक्त, भारत की भौगोलिक सीमा के अंतर्गत प्रायः सब रियासतें, भारतीय डोमीनियन में सम्मिलित हो गयी थीं।

१४

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम १९४७

भारतीय स्वतंत्रता विधेयक का शीर्षक—दो स्वतंत्र डोमीनियनों की व्यवस्था—भारत और पाकिस्तान के प्रदेश—डोमीनियनों के गवर्नर जनरल—डोमीनियन लेजिस्लेचरों (विधान-मंडलों) की प्रभुसत्ता—नयी डोमीनियनों के बनने के परिणाम—नयी डोमीनियनों की संक्रमण-कालीन शासन-व्यवस्था—भारत-मंत्री की नौकरियाँ—भारतीय और ब्रिटिश सेनाएँ—भारत-मंत्री, उनके परामर्श-दाता तथा उनके द्वारा एवं विरुद्ध चलाये गये कानूनी मामले—स्वतंत्रता अधिनियम की अन्य धाराएँ—स्वतंत्रता अधिनियम पर भारतीय लोकमत—१८ जुलाई से १५ अगस्त सन् १९४७ तक—भारत की स्वतंत्रता क्यों ?—सत्ता का हस्तांतरण ।

भारतीय स्वतंत्रता विधेयक का शीर्षक—१५ अगस्त सन् १९४७, भारत के राजनीतिक विकास की एक महत्वपूर्ण तिथि है। किंतु उतनी ही महत्वपूर्ण इसी साल की ४ और १८ जुलाई की तिथियाँ हैं जब कि भारतीय स्वतंत्रता विधेयक क्रमानुगत ब्रिटिश पार्लमेंट में पेश किया और शाही अनुमति पाकर अधिनियम बन गया था। इसी कानूनी आधार पर १५ अगस्त सन् १९४७ के संवैधानिक परिवर्तन किये गये। विधेयक के उद्देश्य इस प्रकार थे—"दो स्वतंत्र डोमीनियनों के निर्माण की व्यवस्था करना, भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ के अधिनियम की उन धाराओं के बदले नयी धाराओं को स्थान देना, जिनका संबंध डोमीनियन के बाहर की बातों से है और दो डोमीनियनों के निर्माण के परिणाम-स्वरूप तथा संबंधित अन्य बातों की व्यवस्था करना।" इन उद्देश्यों से यह स्पष्ट है कि भारतीय स्वतंत्रता विधेयक मुख्यत: ब्रिटिश भारत में दो डोमिनियनों के निर्माण तथा भारतीय शासन-संबंधी सन्

१९३५ के अधिनियम में तत्संबंधी संशोधन करने के लिए पेश किया गया था। वह अंतिम निर्णय के समान न था; वरन् एक ऐसे प्रस्ताव के रूप में था जिसके कारण "भारत और पाकिस्तान के प्रतिनिधियों को अपने-अपने संविधान बनाने तथा अति कठिन संक्रमण-काल की व्यवस्था करने की क्षमता मिल जाय।"[१]

दो स्वतंत्र डोमिनियनों की व्यवस्था—भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम की पहली धारा में दो स्वतंत्र डोमिनियनों की व्यवस्था की गयी थी। "१५ अगस्त सन् १९४७ से भारत में दो स्वतंत्र डोमिनियनें बनेंगी जिनके नाम क्रमानुगत भारत और पाकिस्तान होंगे।" स्वतंत्र शब्द के प्रयोग से यह स्पष्ट कर दिया गया था कि दोनों डोमिनियनें एक दूसरे से पूर्णतया स्वतंत्र होंगी और उन पर किसी प्रकार का बाह्य नियंत्रण न रह जायगा। 'डामीनियन' शब्द के साथ 'स्वतंत्र' शब्द का प्रयोग कुछ अनुपयुक्त सा था। वेस्टमिंस्टर स्टेच्यूट[२] की व्यवस्था के कारण डोमीनियन और स्वतंत्र-राज्य में किसी प्रकार का महत्वपूर्ण अंतर न रह गया था। पर भारत में किसी प्रकार के संदेह को स्थान न देने के लिए 'स्वतंत्र' शब्द का प्रयोग आवश्यक था। कुछ

---

1. This bill is unlike other bills dealing with India. It does not lay down, as in the Act of 1935, a new constitution for India providing for every detail. It is far more in the nature of an enabling bill – a bill to enable the representatives of India and Pakistan to draft their own constitutions and to provide for the exceedingly difficult period of transition'. — Prime Minister Attlee's Speech in the House of Commons on the occasion of the second reading of the bill on the 11th of July 1947.

२. डोमीनियन के दर्जे के संबंध में वेस्ट मिंस्टर स्टेच्यूट की व्यवस्था इस प्रकार थी — "They are autonomous communities within the British Empire, equal in status, in no way subordinate one to another in any aspect of their domestic and external affairs, though united by a common allegiance to the Crown and freely associated as members of the British Commonwealth of Nations—" Wheare: The Statute of West-Minister and Dominion Status P. 28.

लोगों का विचार था कि नयी डोमीनियनों के नाम हिंदुस्तान और पाकिस्तान हों। किंतु कांग्रेस इससे सहमत न थी। उसके विचारानुकूल हिंदुस्तान शब्द से यह आभास होता था कि उस नाम का देश केवल हिंदुओं का निवास-स्थान था और वह इस बात को नापसंद करती थी। फलस्वरूप एक डोमीनियन का नाम तो पाकिस्तान कर दिया गया पर दूसरी का नाम पूर्ववत् भारत (India) बना रहा। इसका तात्पर्य यह था कि भारत के कुछ प्रदेश उससे अलग कर दिये गये थे और उनसे पाकिस्तान नाम की नयी डोमीनियन का निर्माण किया गया था।

भारत और पाकिस्तान के प्रदेश—स्वतंत्रता अधिनियम की दूसरी, तीसरी और चौथी धाराओं में दोनों डोमीनियनों के प्रदेश की व्यवस्था की गयी थी। पाकिस्तान के प्रदेश निर्धारित कर दिये गये थे और ब्रिटिश भारत के अवशिष्ट प्रदेशों को भारत का नाम दिया गया था। प्रदेश-निर्धारण का आधार निवासियों का सांप्रदायिक बहुमत था। पर अंतिम निर्णय सीमा-निर्धारण कमीशनों[1] पर छोड़ दिया गया था जो अपना निर्णय देते समय सांप्रदायिक बहुमत के अतिरिक्त कुछ अन्य बातों पर भी विचार करने को थे। दूसरी धारा की तीसरी और चौथी उप-धाराओं द्वारा यह स्पष्ट कर दिया गया था कि उक्त सीमा-निर्धारण अपरिवर्तनशील न होगा। किसी प्रदेश का, एक डोमीनियन में सम्मिलित तथा उससे पृथक होने का अधिकार इस शर्त पर था कि संबंधित डोमीनियनें इस संबंध में अपनी अनुमति दे दें। अधिनियम की इस व्यवस्था के कारण भविष्य में सीमा-परिवर्तन की संभावना थी किंतु यह आशा निर्मूल थी कि कोई भी डोमीनियन अपने किसी प्रदेश को अपने से पृथक होने की अनुमति दे देगी। भारतीय रियासतों को एक या दूसरी डोमीनियन में सम्मिलित होने की स्वतंत्रता दी गयी थी। किंतु वे स्वतंत्र न हो सकती थीं। व्यवहार में एक या दूसरी डोमीनियन से मिलने का क़ानूनी अधिकार भी बहुत कुछ सीमित था। स्वतंत्रता अधिनियम के पास होने के पूर्व ही उन्होंने भौगोलिक स्थिति की महत्ता को स्वीकार कर लिया था। वाइसराय के विचारानुकूल "कुछ भौगोलिक अनिवार्यताएँ ऐसी थीं जिनसे बचना असंभव था।"

---

१. कुछ दिनों पश्चात् सर सीरिल रैडक्लिफ़ की अध्यक्षता में बंगाल और पंजाब के सीमा-निर्धारण कमीशन नियुक्त हुए। उन्होंने १८ अगस्त को अपना निर्णय दिया, जिसे दोनों डोमीनियनों ने, दोषपूर्ण होते हुए भी, स्वीकार कर लिया।

डोमीनियनों के गवर्नर जनरल—स्वतंत्रता अधिनियम की पाँचवीं धारा में नव-निर्मित डोमीनियनों के गवर्नर जनरलों की व्यवस्था थी। "प्रत्येक डोमीनियन के शासन के लिए सम्राट (His Majesty) द्वारा नियुक्त एक गवर्नर जनरल होगा, पर इस शर्त पर कि जब तक किसी डोमीनियन का लेजिस्लेचर विरोधात्मक कानून न बनावे, तब तक एक ही व्यक्ति दोनों डोमीनियनों का गवर्नर जनरल नियुक्त किया जा सके।" इस धारा से यह स्पष्ट है कि सम्राट की सरकार दोनों डोमीनियनों के लिए, एक ही व्यक्ति को, गवर्नर जनरल नियुक्त करना चाहती थी। इसका उद्देश्य संभवतः देश का शांतिपूर्ण विभाजन था। किंतु मुस्लिम लीग की आपत्ति के कारण यह निर्णय कार्यान्वित न किया जा सका और कालांतर में दोनों डोमीनियनों के अलग अलग गवर्नर जनरल नियुक्त हुए। ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल की अन्य डोमीनियनों के गवर्नर जनरलों को, सम्राट डोमीनियन मंत्रिमंडलों की सिफारिश पर नियुक्त करते हैं। किंतु नव-निर्मित डोमीनियनों की स्थिति कुछ अपूर्व सी थी। १५ अगस्त सन् १९४७ के पूर्व उनके पृथक मंत्रि-मंडलों का अस्तित्व ही न था। अतएव उनके प्रथम गवर्नर जनरलों की नियुक्ति के समय, सम्राट और सम्राट की सरकार को, एक अनोखे ढंग से काम करना पड़ा। विभिन्न राजनीतिक दलों के नेताओं का परामर्श लिया गया और उसके आधार पर सम्राट की सरकार ने सम्राट से गवर्नर जनरलों की नियुक्ति के संबंध में सिफारिश की और जिन व्यक्तियों की सिफारिश की गयी वे गवर्नर जनरल नियुक्त कर दिये गये। इसमें सदेह नहीं कि नियुक्ति की प्रणाली का उक्त परिवर्तन महत्वपूर्ण था किंतु भारतीय परिस्थिति में इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग भी न था और ब्रिटिश प्रधान-मंत्री मिस्टर एटली के कथनानुसार, यह प्रणाली विशेष परिस्थिति के कारण, केवल इसी अवसर के लिए अपनायी गयी थी।

डोमीनियन लेजिस्लेचरों (विधान-मंडलों) की प्रभु-सत्ता—स्वतंत्रता अधिनियम की छठी धारा में डोमीनियनों के विधान-मंडलों की प्रभु-सत्ता की व्यवस्था थी। भारतीय दृष्टि-कोण से अधिनियम की यह धारा सबसे अधिक महत्व की थी। विधान-मंडलों की प्रभु-सत्ता से तात्पर्य है उनका वह अधिकार, जिसके कारण वे किसी विषय के कानून बना तथा उनको निरसित कर सकते थे और किसी बाह्य सत्ता द्वारा निर्मित विधियाँ न तो उनकी विधियों से श्रेष्ठतर समझी जा सकती थीं और न उनको शून्य कर सकती थीं। १५ अगस्त सन् १९४७ के पूर्व भारतीय विधान-मंडल की स्थिति इससे सर्वथा

भिन्न थी। उसके अधिकार निम्नलिखित सीमाओं के कारण परिमित थे—

(१) वह ब्रिटिश पार्लमेंट द्वारा पास किये गये भारत पर लागू विधियों से असंगत विधियाँ न बना सकता था। स्वतंत्रता अधिनियम द्वारा यह बंधन मिटा दिया गया। डोमीनियन के लेजिस्लेचर अब ब्रिटिश पार्लमेंट द्वारा पास किये गये अधिनियमों (जिसमें भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम सन् १९४७ की भी गणना थी) तथा तत्संबंधी जारी किये गये नियमों से असंगत विधियाँ बना सकते थे। वे ब्रिटिश पार्लमेंट द्वारा स्वीकृत विधियों को भी निरसित कर सकते थे।

(२) उसके द्वारा पारित विधेयकों को गवर्नर जनरल सम्राट की अनुमति के लिए सुरक्षित कर सकते थे और सम्राट को अनुमति देने अथवा न देने, उन्हें शून्य करने तथा स्थगित करने का पूर्ण अधिकार था। स्वतंत्रता अधिनियम के कारण यह बंधन भी मिटा दिया गया। संवैधानिक शासक होने के नाते गवर्नर जनरल के विशेष अधिकारों की इतिश्री हो गयी और यह स्पष्ट कर दिया गया कि डोमिनियन लेजिस्लेचरों द्वारा पास किया गया कोई भी विधेयक सम्राट की अनुमति के लिए सुरक्षित न किया जायगा।

(३) ब्रिटिश पार्लमेंट द्वारा पास किये गये अनेक अधिनियम भारत पर भी लागू होते थे। स्वतंत्रता अधिनियम के कारण इस व्यवस्था का भी अंत हो गया। अब ब्रिटिश पार्लमेंट द्वारा बनाया गया कोई भी अधिनियम इस देश की किसी भी डामिनियन पर उस समय तक लागू नहीं हो सकता था जब तक डोमिनियन का लेजिस्लेचर स्वेच्छा से उसे अंगीकार न कर ले। यही व्यवस्था स-कौंसिल सम्राट के आदेशों तथा अधिनियमों और आदेशों के अंतर्गत जारी किये गये नियमों, उपनियमों और आज्ञाओं के विषय में भी की गयी थी।

स्वतंत्रता अधिनियम के द्वारा डोमीनियन लेजिस्लेचरों की केवल सीमाएँ ही दूर नहीं की गयी थीं वरन् उन्हें स्पष्ट रूप से सब प्रकार की विधियों के बनाने का अधिकार भी प्रदान किया था। "प्रत्येक डोमीनियन के लेजिस्लेचर को, डोमीनियन संबंधी सब विधियों के, जिनमें डोमीनियन के बाहर लागू होने वाली विधियों की भी गणना है, बनाने का पूर्ण अधिकार होगा।" वे अपनी सत्ता को सीमित भी कर सकते थे। यह व्यवस्था संभवतः डोमीनियनों में भावी संघ-राज्यों की स्थापना के कारण की गयी थी किंतु इसके कारण उनकी प्रभु-सत्ता पर किसी प्रकार का कुप्रभाव नहीं पड़ा था।

नयी डोमीनियनों के बनने के परिणाम—स्वतंत्रता अधिनियम का सातवीं धारा में नयी डोमिनियनों के निर्माण के परिणामों का उल्लेख था। सम्राट की सरकार, डोमिनियनों के निर्माण के पूर्व, ब्रिटिश भारत की सरकार के लिए उत्तरदायी थी और वह भारतीय रियासतों और कबाइली जातियों से संधियों और संबंधों के आधार पर संबंधित थी। स्वतंत्रता अधिनियम द्वारा उक्त उत्तरदायित्वों और संबंधों की इतिश्री कर दी गयी। "निर्धारित तिथि से सम्राट की युनाइटेड किंगडम की सरकार पर उन प्रदेशों के शासन का कुछ भी उत्तरदायित्व न रह जायगा जो उस तिथि तक ब्रिटिश भारत में सम्मिलित थे। उसी दिन से भारतीय रियासतों के संबंध में सम्राट की अधिपति-सत्ता की भी इतिश्री हो जायगी। इसके साथ-साथ वे संधियाँ और समझौते भी जो अधिनियम के पास होने के समय सम्राट और भारतीय रियासतों के संबंध के विषय में प्रचलित थे, वे कार्य जो सम्राट भारतीय रियासतों के संबंध में कर सकते थे, वे बंधन जो सम्राट पर भारतीय रियासतों तथा उनके नरेशों के संबंध में लागू थे और वे सब अधिकार, जो उस दिन तक संधियों, प्रथाओं, स्वीकृतियों तथा अन्य कारणों से भारतीय रियासतों मे सम्राट के थे, निर्धारित दिन से समाप्त समझे जायँगे।" यही व्यवस्था कबाइली जातियों तथा क्षेत्रों के विषय में भी की गयी थी।

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम की उक्त धारा 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव के कार्यान्वित रूप के समान थी। व्यवहार में यह सबसे अधिक विवादास्पद सिद्ध हुई। भारतीय रियासतों में से कुछ, इस धारा के आधार पर अपने को स्वतंत्र बनाने की इच्छा करने लगीं और कुछ भौगोलिक अनिवार्यताओं की अवहेलना करके मनचाही डोमीनियन में सम्मिलित होने की इच्छुक हुईं। सम्राट की सरकार की मंशा इस प्रकार की न थी। कानूनी दृष्टि से रियासतें स्वतंत्र अवश्य हो गयी थीं किंतु व्यावहारिक दृष्टि से, वास्तविक परिस्थिति के आधार पर, उनके लिए एक या दूसरी डोमीनियन से मिलना अनिवार्य था। लार्ड माउंटबैटेन के विचारानुकूल ब्रिटिश शासन-काल में समस्त भारत का एकीकरण हो गया था। आयात-कर, डाकखानों, तारघरों और यातायात के साधनों के कारण, ब्रिटिश भारत और रियासतें एक दूसरे से संबद्ध थीं। स्वतंत्र होने पर इन संबंधों के अंत की आशंका थी। यह परिस्थिति स्वयं रियासतों के लिए अहितकर सिद्ध होती। अतएव उन्होंने रियासतों को भारतीय डोमीनियन में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित किया। "मुझे इस विषय में लेशमात्र

भी संदेह नहीं है कि भारतीय यूनियन में सम्मिलित होना रियासतों के हित में सिद्ध होगा और प्रत्येक समझदार शासक और सरकार इस आधार पर महान भारतीय डोमीनियन से मिलने की इच्छुक होगी कि उसकी आंतरिक स्वतंत्रता बनी रहे और वह पर-राष्ट्र-संबंध, रक्षा, यातायात के साधनों आदि की चिंता से मुक्त रहे।........अपने पड़ोस वाली डोमीनियन की सरकार से बचना रियासतों के लिए उतना ही कठिन है जितना अपनी प्रजा से बचना जिसके कल्याण के लिए वे उत्तरदायी हैं।" भारतीय राजनीतिज्ञों ने भी रियासतों के प्रति सद्भावना तथा सहानुभूति का बर्ताव किया। उन्होंने उनसे स्वेच्छापूर्वक, परिस्थिति के दबाव के अनुसार, डोमीनियनों से मिलने के लिए आमंत्रित किया। फलस्वरूप स्वतंत्रता अधिनियम की यह विवादास्पद धारा विवादरहित हो गयी और हैदराबाद के अतिरिक्त प्रायः सभी रियासतें एक या दूसरी डोमीनियन से मिल गयीं। अधिनियम की इसी धारा के अनुसार सम्राट की उपाधि में कुछ परिवर्तन किये गये। अब तक वे भारत के सम्राट (Emperor of India) थे, किंतु भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम के कारण, पार्लमेंट की अनुमति से, उनकी उपाधि का यह अंश निकाल दिया गया।

नयी डोमीनियनों की संक्रमण-कालीन शासन-व्यवस्था— स्वतंत्रता अधिनियम की आठवीं और नवीं धाराओं में संक्रमण-कालीन शासन-व्यवस्था का उल्लेख था। प्रत्येक डोमीनियन की संविधान-सभा को लेजिस्लेचर की हैसियत से, डोमीनियन के संविधान के निर्माण का अधिकार दिया गया था और यह स्पष्ट कर दिया गया था कि जब तक कोई नयी व्यवस्था न की जाय, नयी डोमीनियनों और प्रांतों का शासन न्यूनाधिक भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ के अधिनियम, स-कौंसिल सम्राट के आदेशों और उनके अंतर्गत जारी किये गये नियमों और आज्ञाओं के अनुसार उस अंश तक होता रहेगा जहाँ तक वे लागू होंगे और गवर्नर जनरल के आदेश द्वारा उनमें बढ़ाव, घटाव, परिवर्तन और संशोधन न किये जायँगे। इस संबंध में निम्नलिखित शर्तों की पूर्ति आवश्यक थी—

(अ) अधिनियम की उक्त व्यवस्था दोनों डोमीनियनों पर अलग-अलग लागू होगी और निर्धारित तारीख से दोनो डोमीनियनों की न तो उभयनिष्ठ सरकार रह जायगी और न विधान-मंडल।

(ब) निर्धारित दिन तथा उसके पश्चात् युनाइटेड किंगडम में सम्राट की

सरकार का न तो डोमीनियन के मामलों पर किसी प्रकार का नियंत्रण न रह जायगा, न प्रांतों अथवा उनके किसी भाग पर।

(स) निर्धारित दिन से गवर्नर जनरल और गवर्नरों के व्यक्तिगत निर्णय और विवेक के विशेषाधिकारियों की इतिश्री हो जायगी।

(द) निर्धारित दिन से कोई भी प्रांतीय विधेयक सम्राट की अनुमति के लिए सुरक्षित न किया जायगा और सम्राट किसी स्वीकृत प्रांतीय विधेयक को शून्य न करेंगे।

(य) संविधान-सभाओं को, संविधान-निर्माण के अधिकारों के अतिरिक्त, भारतीय और संघीय विधान-मंडलों के अधिकार प्राप्त होंगे।

नवीं धारा के अनुसार गवर्नर जनरल को अपने आदेश द्वारा निम्नलिखित बातों की व्यवस्था का अधिकार दिया गया था—

(अ) भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम को कार्यरूप में परिणत करने के लिए।

(ब) अधिनियम के अंतर्गत निर्मित नयी डोमीनियनों में स-कौंसिल गवर्नर जनरल की शक्तियों, अधिकारों, जायदादों, कर्त्तव्यों, उत्तरदायित्वों के विभाजन तथा नये निर्मित प्रांतों में इसी प्रकार के विभाजन के लिए।

(स) भारतीय शासन-संबंधी सन् १६३५ के अधिनियम, स-कौंसिल सम्राट के आदेशों तथा उनके अंतर्गत बनाये गये नियमों और उप-नियमों आदि में घटाव, बढ़ाव, संशोधन और परिवर्तन के लिए, जहाँ तक वे नयी डोमीनियनों पर लागू हों।

(द) उन कठिनाइयों को दूर करने के लिए, जो स्वतंत्रता अधिनियम के कार्यान्वित करने में संक्रमण काल में उत्पन्न हो।

(य) मुद्रा-संबंधी तथा रिजर्व बैंक-संबंधी बातों के संचालन के लिए।

(फ) नयी डोमीनियनों के लेजिस्लेचरों, न्यायालयों तथा अन्य संस्थाओं के संगठन, अधिकार और अधिकार-क्षेत्र में परिवर्तन के लिए तथा नये लेजिस्लेचरों, न्यायालयों और संस्थाओं के निर्माण के लिए।

गवर्नर जनरल के उक्त अधिकार उन प्रांतीय गवर्नरों[1] द्वारा भी प्रयोग में

---

१. गवर्नरों द्वारा उनका अधिकार अधिक से अधिक १५ अगस्त सन् १६४७ तक इस्तेमाल किये जा सकते थे। समाप्त प्रांतों से तात्पर्य है बंगाल और पंजाब के पुराने प्रांतों से।

लाये जा सकते थे, जो इस अधिनियम द्वारा समाप्त समझे गये थे। अधिनियम की यह धारा ३ जून सन् १६४७ से लागू समझी जाने को थी और ३१ मार्च सन् १६४८ के पश्चात् और डोमीनियन लेजिस्लेचर के निश्चय के अनुकूल इसके पूर्व भी, गवर्नर जनरल इसके अनुसार आदेश जारी न कर सकते थे।

स्वतंत्रता अधिनियम की इस धारा से यह स्पष्ट है कि संक्रमण काल के लिए गवर्नर जनरल को अनेक अधिकारों से सुसज्जित किया गया था। परिस्थिति के कारण इसकी आवश्यकता भी थी। व्यवहार में इन अधिकारों पर भली भाँति अमल भी किया गया। गवर्नर जनरल के आदेशों द्वारा भारतीय शासन संबंधी सन् १६३५ के अधिनियम की लगलग १०५ धाराएँ समाप्त समझी गयीं और अनेक धाराओं की उप-धाराएँ और संबंधित अंश शून्य कर दिये गये। फलस्वरूप भारतीय शासन-संबंधी सन् १६३५ के अधिनियम मे इतने महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गये कि उसकी रूप-रेखा ही बदल गयी। इस संबंध में हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि गवर्नर जनरल के उक्त अधिकार व्यक्तिगत अधिकार न थे।[1] वे उन्हें देश के संवैधानिक शासक की हैसियत से ही व्यवहृत कर सकते थे। अधिकारों का निश्चित कार्य-काल भी था और प्रत्येक डोमीनियन के लेजिस्लेचर को उनके आदेशों को संशोधित तथा शून्य करने का अधिकार था। फलस्वरूप महत्वपूर्ण होते हुए भी उनका दुरुपयोग न हो सकता था।

अधिनियम की इस धारा के कारण संवैधानिक संकटों की आशंका था। डोमीनियनों के गवर्नर जनरल सवैधानिक शासक होने के नाते, मंत्रि-मंडल द्वारा दिये गये परामर्श से सीमित थे। यदि सम्राट की सरकार के मौलिक निश्चय के अनुसार दोनों डोमीनियनों के लिए एक ही व्यक्ति गवर्नर जनरल नियुक्त होता और किसी महत्वपूर्ण प्रश्न पर दोनों डोमीनियनों के मंत्रिमंडल उसे अलग-अलग परामर्श देते, तो उस समय भी उसे एक संवैधानिक संकट का सामना करना पड़ता। किंतु फिर भी यह संभव था कि अपने व्यक्तिगत प्रभाव और परामर्श के कारण, वह ऐसी परिस्थितियों के सुलझाने में कुछ अंश तक

---

१. गवर्नर जनरल के उक्त अधिकार भारतीय शासन-संबंधी सन् १६३५ के अधिनियम के अंतर्गत थे। किंतु ३ जून के वक्तव्य के कारण अंतःकालीन सरकार का दर्जा डोमीनियन के दर्जे का-सा हो गया था। फलस्वरूप गवर्नर जनरल के विशेषाधिकारों का अंत हो गया था।

सफल होता। किंतु दोनों डोमीनियनों के अलग-अलग गवर्नर जनरलों के कारण, यह कठिनाई और भी बढ़ गयी थी। ब्रिटिश पार्लमेंट के कुछ सदस्य इसे भली भाँति समझते थे। उनके मतानुकूल संक्रमण काल में मुद्रा, रिजर्व बैंक आदि महत्वपूर्ण विषयों के संबंध में यह आवश्यक था कि दोनों डोमीनियनों का समान दृष्टिकोण होता। यदि मतभेद होता तो अधिनियम में उसके निवारण की कोई व्यवस्था न थी। किंतु स्वतंत्रता अधिनियम में इस संबंध की कोई व्यवस्था न की जा सकती थी। ऐसा करना डोमीनियनों की प्रभु-सत्ता के विरुद्ध होता। फलस्वरूप १५ अगस्त सन् १९४७ के पश्चात् ऐसी संकटमयी परिस्थितियों का सुलझाना दोनों गवर्नर जनरलों के परस्पर आदान-प्रदान की आशा पर छोड़ दिया गया था।[१]

भारत-मंत्री की नौकरियाँ—स्वतंत्रता अधिनियम की दसवीं धारा का संबंध भारत-मंत्री की नौकरियों से था। भारतीय शासन-संबंधी सन् १९३५ के अधिनियम के अनुसार, भारत-मंत्री को भारतीय सिविल सर्विस के सदस्यों को नियुक्त करने तथा कुछ सिविल स्थानों के भरने का अधिकार था। स्वतंत्रता अधिनियम की दसवीं धारा द्वारा इस व्यवस्था की इतिश्री कर दी गयी। किंतु इसके साथ ही भारत-मंत्री की सिविल सर्विस के मौजूदा सदस्यों तथा हाईकोर्टों और संघीय न्यायालय के न्यायाधीशों के अधिकारों, वेतन आदि की रक्षा की व्यवस्था भी की गयी। उक्त व्यक्ति "परिवर्तित परिस्थिति[२] के अनुकूल, डोमीनियन तथा प्रांतीय सरकारों से, जिनके अधीन वे काम करते हों, वेतन, छुट्टी, पेंशन, अनुशासन और कार्य-काल संबंधी उन्हीं स्वत्वों के अधिकारी होंगे जिनके निर्धारित दिन के ठीक पूर्व, वे अधिकारी थे।" भारतीय नेताओं को यह बात भारत-मंत्री की तथा अन्य सरकारी नौकरियों के विषय में मान्य थी। संभवतः

---

१. "मैं स्वीकार करता हूँ कि ऐसे संकटों को दूर करने के लिए कोई व्यवस्था नहीं है। यदि दोनों गवर्नर जनरलों के दृष्टिकोण में अंतर हो, तो यह स्पष्ट है कि वह अंतर उन्हीं के कामों द्वारा, विधेयक में की गयी व्यवस्था के द्वारा नहीं, दूर किया जा सकता है"—मिस्टर हेंडरसन का भाषण। मिस्टर एटली के विचार भी न्यूनाधिक इसी प्रकार के थे।

२. परिवर्तित परिस्थिति की व्यवस्था संभवतः इस लिए की गयी थी कि भविष्य में उनका वेतन बिना किसी संवैधानिक कठिनाई के दोहराया जा सके।

वे शासन-नीति में तारतम्य बनाये रखने तथा किसी विप्लवकारी परिवर्तन से बचने के लिए इस बात को मानने के लिए तैयार हो गये थे।

भारतीय और ब्रिटिश सेनाएँ—स्वतंत्रता अधिनियम की ग्यारहवीं, बारहवीं और तेरहवीं धाराओं में भारतीय और ब्रिटिश सेनाओं तथा जल-सेनाओं की व्यवस्था की गयी थी। इसके तीन मुख्य सिद्धांत थे—

(अ) भारतीय सेनाओं का विभाजन—"गवर्नर जनरल अपने आदेश द्वारा दोनों डोमीनियनों में भारतीय सेना के विभाजन की व्यवस्था करेंगे और जब तक पूर्ण रूप से विभाजन न हो जाय, तब तक सेना के नायकत्व तथा शासन की व्यवस्था करेंगे।"

(ब) ब्रिटिश सेना का भारत से हटाया जाना—"गवर्नर जनरल अपने आदेश द्वारा क्रमशः भारत से ब्रिटिश सेना के हटाने की व्यवस्था करेंगे।" प्रधान मंत्री एटली के कथनानुसार ब्रिटिश सेना के हटने की गतिविधि जहाजों में मिलने वाले स्थान पर निर्भर थी। जब तक ब्रिटिश सेनाएँ भारत या पाकिस्तान में रहें तब तक उनके अधिकारों और सुविधाओं की रक्षा की पूर्ण व्यवस्था थी। पर वे देश की आंतरिक शांति की रक्षा के लिए इस्तेमाल न की जा सकती थीं और दोनों डोमीनियनों में से एक या दूसरी का साथ भी न दे सकती थीं।

(स) ब्रिटिश सैनिक अधिकारियों के अधिकारों की रक्षा—जब तक ब्रिटिश सेनाएँ भारत या पाकिस्तान में रहे, तब तक उनके ब्रिटिश अधिकारियों के के अधीन होने की व्यवस्था थी। दोनों डोमीनियनों के लिए अलग-अलग एक प्रधान सेनापति था। इन दोनों के ऊपर एक सर्व प्रधान सेनापति था और उसका संबंध सीधे ब्रिटिश अधिकारियों के साथ था। अधिनियम की उक्त व्यवस्था संभवतः इसलिए की गयी थी कि स्वतंत्रता अधिनियम के मामले में, नयी डोमीनियनों के गवर्नर जनरलों तथा अन्य अधिकारियों का ब्रिटिश सेना के साथ किसी प्रकार का हस्तक्षेप न हो सके।

भारत-मंत्री, उनके परामर्शदाता तथा उनके द्वारा एवं विरुद्ध चलाये गये कानूनी मामले—स्वतंत्रता, अधिनियम की १४वीं और १५वीं धाराओं का संबंध भारत-मंत्री के आर्थिक अधिकारों, उनके परामर्श-दाताओं तथा उनके द्वारा और उनके विरुद्ध चलाये गये कानूनी मामलों से था। भारतीय शासन-संबंधी सन् १६३५ के अधिनियम के अनुसार भारत-मंत्री भारत-

सरकार की ओर से अदायगी का काम करते थे। सार्वजनिक ऋण का प्रबंध तथा उसका भुगतान भी उन्हीं के अधीन था और वे ही भारत-सरकार के लिए स्टर्लिंग ऋण ले सकते थे। भारत के स्वतंत्र होने के कारण भारत-मंत्री की आवश्यकता ही न रह गयी। पर उनके द्वारा आरंभ किये गये कामों को पूरा करने की आवश्यकता थी। स्वतंत्रता अधिनियम के अनुसार इस काम को या तो भारत-मंत्री स्वयं करने को थे या कोई दूसरा मंत्री जिसे स-कौंसिल सम्राट अपने आदेश द्वारा इस काम के करने का अधिकार देते। कालांतर में कॉमन-वेल्थ-संबंध के मंत्री[1] की नियुक्ति की गयी और उन्हें दोनों डोमीनियनों की सरकारों की ओर से भुगतान के संबंध में काम करने का अधिकार मिला। सकौंसिल गवर्नर जनरल द्वारा स्टर्लिंग ऋण लेने के संबंध के प्रतिबंध हटा दिये गये और भारत-मंत्री द्वारा इस प्रकार के ऋण लेने की व्यवस्था तथा उनके परामर्श दाताओं की इतिश्री कर दी गयी। निर्धारित दिन से युनाइटेड किंगडम में भारत-मंत्री द्वारा चलाये जाने वाले तथा उनके विरुद्ध चलने वाले कानूनी मामले, हाई कमिश्नर द्वारा तथा उनके विरुद्ध समझे जाने को थे और दूसरे मामले उस अधिकारी द्वारा तथा उसके विरुद्ध जिसे गवर्नर जनरल अपने ऑर्डर द्वारा निर्धारित करते। जो मामले निर्धारित दिन के ठीक पूर्व भारत-मंत्री द्वारा चलाये गये तथा उनके विरुद्ध चल रहे थे उनमें भी उक्त व्यवस्था के अनुसार भारत-मंत्री के स्थान पर हाई कमिश्नर या गवर्नर जनरल द्वारा निर्धारित व्यक्ति का नाम लिखा जाने को था। भारत-मंत्री से संबंधित स्वतंत्रता अधिनियम की उक्त धारा के कारण ब्रिटिश नियंत्रण और निरीक्षण की समस्त बातों की इतिश्री हो गयी और नयी डोमीनियनों की पूर्णरूपेण स्वतंत्रता स्वीकार कर ली गयी।

स्वतंत्रता अधिनियम की अन्य धाराएँ—उक्त धाराओं के अतिरिक्त भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम की पाँच अन्य धाराएँ थीं। १६वीं धारा में एडेन के शासन की व्यवस्था की गयी थी, १७ वीं में विवाह-विच्छेद के अधि-कार-क्षेत्र के विषय में जब १८ वीं में मौजूदा कानून के संबंध में। "जब तक इस अधिनियम में दूसरी व्यवस्था न की गयी हो, निर्धारित तिथि को,

---

1. Minister of State for Commonwealth Relations. This officer was different from the Secretary of State for Common-wealth Affairs.

ब्रिटिश भारत और उसके विभिन्न भागों पर लागू, अथवा आवश्यकतानुकूल संशोधित, कानून, दोनों डोमीनियनों तथा उनके भागों पर लागू बने रहेंगे, जब तक डोमीनियनों के लेजिस्लेचरों तथा अन्य लेजिस्लेचर या किसी अन्य अधिकार-प्राप्त संस्था अथवा अधिकारी द्वारा दूसरी व्यवस्था न की जाय।" अधिनियम की १९ वीं धारा में गवर्नर जनरल, संविधान-सभा, भारतीय-शासन-संबंधी सन् १९३५ का अधिनियम, भारत, भारतीय सेना, पेंशन, प्रांत, वेतन (Remuneration) आदि शब्दों की व्याख्या की गयी थी और २०वीं धारा में अधिनियम के संक्षिप्त शीर्षक (टाइटिल) भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम १९४७, (Indian Independence Act 1947) का उल्लेख था।

स्वतंत्रता अधिनियम पर भारतीय लोकमत—भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम के उक्त अध्ययन से यह स्पष्ट है कि इस अधिनियम द्वारा सम्राट की सरकार ने शीघ्रातिशीघ्र भारत की शासन-सत्ता को भारतीयों के हाथ में देने का निश्चय कर लिया था। अधिनियम में कुछ न्यूनताएँ थीं और कुछ दोष भी थे, किंतु शीघ्राति-शीघ्र सत्ता हस्तांतरण की इच्छा प्रगट रूप से स्पष्ट थी। भारतीय स्वतंत्रता विधेयक के संबंध में गृह-मंत्री सरदार वल्लभभाई पटेल ने अपने विचार इस प्रकार प्रगट किये थे—"यह ऐसा विधेयक है जिसका उद्देश्य शीघ्राति-शीघ्र सत्ता का हस्तांतरण है। इसकी सब बातों से सब लोगों का संतुष्ट होना संभव नहीं। कुछ न्यूनताएँ, कठिनाइयाँ और संदेह हो सकते हैं, पर ये सब विधेयकों में पाये जाते हैं। किंतु इन सब बातों के होते हुए भी एक निश्चत बात यह है कि १५ अगस्त को भारत को पूर्ण स्वतंत्रता मिल जायगी। यह भारत की सबसे बड़ी सफलता है और किसी देश द्वारा किया गया इतिहास का महान-तम कार्य है।" किंतु अधिनियम द्वारा किया गया देश का विभाजन भारत के अनेक नेताओं को असह्य तथा गांधीजी को नापसंद था। पं० जवाहर लाल नेहरू ने ३ जून की घोषणा को भारी हृदय से स्वीकार किया था। स्वतंत्रता अधिनियम के संबंध में भी उनकी अवस्था न्यूनाधिक इसी प्रकार की थी। गांधी जी परस्पर समझौते द्वारा देश के विभाजन को मिटाना चाहते थे। किंतु मुस्लिम लीग और उसके नेता पाकिस्तान की स्थापना पर तुले हुए थे। फलस्वरूप देश का विभाजन रोका न जा सका। किंतु इस दोष के तथा अन्य दोषों के होते हुए भी, भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम ब्रिटिश पार्लमेंट द्वारा पास किया गया एक महानतम अधिनियम था। उसके द्वारा भारत और ब्रिटेन के संबंध का एक अध्याय समाप्त हो गया और परस्पर सहयोग के आधार पर एक

नये अध्याय के आरंभ की चर्चा होने लगी। सम्राट की स्वीकृति मिलने के अवसर पर प्रधान-मंत्री एटली द्वारा भारत और पाकिस्तान की जनता को भेजे गये निम्नलिखित संदेश से यह बात स्पष्ट थी—

"इस स्मरणीय दिवस पर जब कि सम्राट ने भारतीय स्वतंत्रता विधेयक पर हस्ताक्षर कर दिये हैं, मैं सम्राट की सरकार तथा ब्रिटिश जनता की ओर से भारतीय महाद्वीप की समस्त जनता के प्रति सद्भावना तथा हार्दिक शुभकाम-नाएँ प्रगट करता हूँ।

"कुछ ही दिनों के भीतर भारतीयों को अपने मामलों पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त हो जायगा। मैं आशा करता हूँ कि दोनों देशों की जनता में मैत्री का एक नया संबंध स्थापित होगा और वे शांतिपूर्ण और समृद्धिशाली संसार के निर्माण के लिए एक दूसरे से मिल-जुल कर काम करेंगे।"

१८ जुलाई से १५ अगस्त सन् १९४७ तक—४ जुलाई सन् १९४७ को ही, जब भारतीय स्वतत्रता विधेयक पार्लमेंट में पेश किया गया था, यह स्पष्ट था कि वह शीघ्रातिशीघ्र अधिनियम में परिवर्तित हो जायगा। अतः उसी दिन से उसके कार्यान्वित करने की कार्रवाई आरंभ हो गयी थी। मोटे तौर पर देश का विभाजन हो ही चुका था। ११ जुलाई को यह घोषित किया गया कि मिस्टर मुहम्मद अली जिन्ना पाकिस्तान के गवर्नर जनरल नियुक्त किये गये हैं। १९ जुलाई को अंतःकालीन सरकार दो ऐसे भागों में विभक्त कर दी गयी जिनमें से एक भारत की अंतःकालीन सरकार के तुल्य था और दूसरा पाकिस्तान की अंतःकालीन सरकार के तुल्य। बंगाल और पंजाब के विभाजन के लिए सर सीरिल रैडक्लिफ की अध्यक्षता में, सीमा-निर्धारण कमीशन नियुक्त हुए, परंतु उनके एकमत न होने के कारण, उनकी अनुमति से, सर रैडक्लिफ ने १७ अगस्त को स्वयं अपना निर्णय दिया। भारतीय संविधान-सभा के विचारों में मुस्लिम लीग और भारतीय रियासतों के प्रतिनिधियों ने भाग लेना आरंभ किया और यह घोषित कर दिया गया कि १० अगस्त से पाकिस्तान की संविधान-सभा अपना काम आरंभ करेगी। विभाजन-कौंसिल ने सेना के विभाजन के काम को आरंभ किया और प्रधान-मंत्री एटली के कथनानुसार ब्रिटिश सेनाएँ भारत से जाने की तैयारियाँ करने लगीं। विभिन्न देशों में भारतीय राजदूतों की नियुक्ति की गयी। २२ जुलाई को अशोक के चक्र के साथ, कांग्रेस के तिरंगे झंडे को भारतीय संविधान-सभा ने भारत का राष्ट्रीय झंडा स्वीकार किया

गया । "भारत का राष्ट्रीय झंडा तिरंगा रहेगा जिसमें केसरी, सफेद और गहरे हरे रंग की पड़ी पट्टियाँ समान अनुपात में होंगी । सफेद पट्टी के मध्य में गहरे नीले रंग का एक चक्र होगा जो चर्खे का प्रतीक होगा । यह चक्र अशोक के सारनाथ वाले स्तंभ पर अंकित चक्र के समान होगा । चक्र का व्यास अनुमानतः सफेद पट्टी की चौड़ाई के बराबर होगा । झंडे की चौड़ाई और लंबाई का अनुपात साधारण २ : ३ होगा ।" प्रांतों के भारतीय गवर्नरों की नियुक्ति की घोषणा की गयी और परिस्थिति के अनुकूल प्रांतीय मंत्रि-मंडलों में परिवर्तन किये गये । सरकारी आलेखों से ब्रिटिश उपाधियों के निकालने का निर्णय किया गया और बंगाल में सांप्रदायिक शांति की स्थापना के लिए गांधी जी और मिस्टर सुहरावर्दी ने मिल कर काम करना आरंभ किया । २५ जुलाई को लॉर्ड माउंटबैटेन ने भारतीय रियासतों को भारतीय डोमीनियन में सम्मिलित होने के लिए आमंत्रित किया और इस प्रकार उनका स्वतंत्रता संबंधी भ्रम दूर हो गया । इसका विवरण पिछले परिच्छेद में दिया जा चुका है ।

भारत को स्वतंत्रता क्यों?—भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम के विश्लेषण के पश्चात, यह जानना आवश्यक प्रतीत होता है कि ब्रिटिश सरकार, स्वयं भारतीयों में मतभेद के होते हुए भी, भारत से ब्रिटिश सत्ता हटाने के लिए स्वयं इतनी अधिक प्रयत्नशील क्यों थी ? इस संबंध में निम्नलिखित बातें विचारणीय हैं—

(१) महात्मा गांधी का नेतृत्व—भारत की स्वतंत्रता के आंदोलन का नेतृत्व एक ऐसे व्यक्ति के हाथ में था, जो अद्वितीय था । उसने संघर्ष के ऐसे साधनों को अपनाया था जिनका प्रतिकार किसी भी सभ्य सरकार के लिए असंभव था । सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह, सविनय अवज्ञा और आत्म-शुद्धि तथा असत्य के प्रतिकार के लिए अनशन के रूप में अग्नि-परीक्षा आदि ऐसे साधन थे जिन्हें भारतीय तो समझ सकते थे, पर जिनके वास्तविक मर्म को अंगरेज समझने में असमर्थ थे । उसने, अपने पूर्वकालीन इतिहास में, किसी ऐसे संघर्ष का सामना न किया था । समस्त संसार के लिए यह एक नवीन एवं अनोखा प्रयोग था । गांधीजी को अपने प्रयोग में अनुपम सफलता मिली । यही कारण है कि उन्हें राष्ट्र-पिता के नाम से पुकारा जाता है ।

(२) भारतीयों में असंतोष—भारतीयों में इन दिनों ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध बड़ा असंतोष था । सरकार इसे जानती थी, और कांग्रेस ने भी उसका ध्यान इस ओर आकृष्ट किया था । तोड़े गये वादे, आंदोलनों के दबाने के

लिए असहनीय दमन, नेताओं की गिरफ्तारी, पुलिस के अत्याचार आदि ऐसी बातें थीं जिनके परिणाम-स्वरूप जनता, विदेशी सरकार से ऊब सी गयी थी, और किसी भी भाँति उससे मुक्ति-लाभ करना चाहती थी। सन् १९४२ की अनायास क्रांति से यह बात सिद्ध हो जाती है। किसी ने उस प्रकार की क्रांति का आयोजन न किया था। उसकी कल्पना तक न की गयी थी। फिर भी नेताओं की गिरफ्तारी के पश्चात, जनता ने क्रुद्ध होकर तोड़-फोड़ के अनेक काम कर डाले। ऐसी कुपित जनता का शासन या तो बहुत बड़ी सेना की सहायता से हो सकता था या उसका तोषण करके। ब्रिटिश सरकार ने दूसरे विकल्प को अधिक श्रेयस्कर समझा।

(३) भारत की आंतरिक स्थिति—युरोपीय महासमर के काल में तथा उसके पश्चात, भारत की आंतरिक हालत बहुत बिगड़ गयी थी। आर्थिक स्थिति डावाँडोल अवस्था में थी, खाने-पीने की वस्तुओं की कमी थी, मुस्लिम लीग पाकिस्तान की प्राप्ति के लिए सक्रिय आंदोलन चला रही थी और सांप्रदायिक वैमनस्य के परिणाम-स्वरूप समस्त देश और विशेषतया बंगाल और पंजाब में, ऐसे पैशाचिक कांड किये जा रहे थे, जो किसी भी अर्थ में सभ्य जगत के अनुकूल नहीं कहे जा सकते थे। ब्रिटेन के १९० बरस के शासन के पश्चात भी भारत की दशा ऐसी हो, यह बात इंगलैंड की उस शान से असंगत थी जिसके कारण उसे भारत की एकता स्थापित करने का गौरव था। अतः वह ऐसे अवसर की प्रतीक्षा में था, जब कांग्रेस और मुस्लिम लीग में समझौता हो जाय और वह, भारतीयों के हाथ में सत्ता का हस्तांतरण करके, आदरपूर्वक और शान के साथ भारत से विदा हो जाय। इस संबंध में मजदूर-दल की उदार नीति का उल्लेख न करना भूल होगी। किंतु यदि इंगलैंड की सरकार पूर्ववत् पुरातनवादी (Conservative) ही बनी रहती, तो भी, देश की आंतरिक स्थिति के कारण, बुद्धिमत्ता का यही आदेश होता कि अंगरेज लोग सुव्यवस्थित रूप से भारत से बिदा हो जायँ और भारत की शासन-सत्ता भारतीयों को सौंप दी जाय।

(४) सेना और पुलिस में असंतोष—अंगरेजी सरकार से केवल जनता ही असंतुष्ट न थी, वरन् सेना और पुलिस में भी असंतोष फैल गया था। आजाद हिंद फौज का विवरण पहले दिया जा चुका है।[1] सेना के भारतीय

---

१. देखिये पृष्ठ २६०–६३ पूर्व।

२४

सिपाही इस बात से असंतुष्ट थे कि युद्ध के काल में उनके साथ वैसा बर्ताव न किया गया था जैसा अंगरेज सैनिकों के साथ। आजाद हिंद फौज की स्थापना का एक प्रधान कारण, उक्त भेद-भावपूर्ण व्यवहार था। उसके अभियुक्तों की रिहाई से यह निष्कर्ष निकाला गया कि देश की स्वतंत्रता के लिए, सेना को अपनी विदेशी सरकार के विरुद्ध विद्रोह करके, स्वतंत्र सरकार स्थापित करने का अधिकार निषिद्ध न था। लड़ाई के पश्चात भी कई स्थानों में सेना और पुलिस ने विद्रोहात्मक मनोवृति का परिचय दिया था। सेना और पुलिस की ऐसी स्थिति में, विदेशी सरकार की कौन कहे, राष्ट्रीय सरकार तक, स्थायी नहीं रह सकती। भारत को अपने अधीन रखने के लिए अब इंगलैंड के पास एक ही साधन था और वह था एक विशाल अंगरेजी सेना का भारत में रखना। महासमर के कुप्रभावों के कारण वह ऐसा करने में असमर्थ था। सभ्य संसार का मत भी इसका विरोधी था। अतः इंगलैंड ने भारत को स्वतंत्रता देना ही अधिक श्रेयस्कर समझा।

सत्ता का हस्तांतरण—१४ अगस्त को, भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम के अनुसार, रात्रि को बारह बजे भारत और पाकिस्तान नाम की दो डोमीनियनें बनीं। उसकी आठवीं धारा के अनुसार, संक्रमण काल में, प्रत्येक डोमीनियन की संविधान-सभा, उसके लेजिस्लेचर (विधान-मंडल) की भाँति काम करने को थी और छठीं धारा के अनुसार विधान-मंडल सीमारहित होकर प्रभुता-संपन्न हो गये थे। अतः सत्ता-ग्रहण का महान कार्य संविधान-सभा द्वारा संपन्न किया गया। ठीक बारह बजे संविधान-सभा के अध्यक्ष और सदस्यों ने निम्न-लिखित शपथ ली—'इस शुभ समय, जब भारत के निवासियों ने त्याग और कष्ट-सहन से स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है, मैं....जो इस संविधान-सभा का सदस्य हूँ, अपने को बड़ी नम्रता से, भारत और भारतवासियों की सेवा में अर्पित करता हूँ जिससे यह प्राचीन देश संसार में अपना उचित और गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर ले और संसार की शांति की स्थापना और मानव-जाति के कल्याण के कामों में अपनी पूर्ण शक्ति लगा कर प्रसन्नतापूर्वक हाथ बँटा सके।' तत्पश्चात संविधान-सभा ने, भारत की प्रभु-सत्ता अपने हाथ में लेकर लॉर्ड माउंटबैटेन को गवर्नर जनरल नियुक्त करने की सिफारिश की संपुष्टि की और डा० राजेंद्र प्रसाद और पं० जवाहरलाल नेहरू ने उनके पास जाकर उन्हें गवर्नर जनरल नियुक्त होने की सूचना तथा प्रथम मंत्रि-मंडल के सदस्यों की सूची दी।

१५ अगस्त सन् १९४७ को समस्त देश में स्वतंत्रता-दिवस मनाया गया।

संविधान-सभा का अधिवेशन ठीक दस बजे आरंभ हुआ। अध्यक्ष ने सर्व-प्रथम विभिन्न देशों से आये हुए सद्भावना के संदेशों को पढ़ कर सुनाया। तत्पश्चात उन्होंने लॉर्ड माउंटबैटेन को, जो उन्हीं के साथ सभा-भवन में आये थे, अपना भाषण देने के लिए आमंत्रित किया। अपने भाषण में उन्होंने सर्व-प्रथम सम्राट का निम्नलिखित संदेश पढ़ा—

"इस ऐतिहासिक दिन जब भारत ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल में, एक स्वतंत्र और स्वाधीन डोमीनियन की भाँति स्थान ग्रहण करने जा रहा है, मैं आप सबको अपनी हार्दिक शुभ कामनाएँ भेजता हूँ।

"आपके इस महोत्सव में प्रत्येक स्वाधीनता-प्रेमी राष्ट्र को भाग लेना चाहिये। पारस्परिक स्वीकृति से सत्ता के हस्तांतरण द्वारा एक महान लोक-तंत्रात्मक आदर्श की पूर्ति हुई है जिसे कार्यान्वित करने के लिए ब्रिटिश और भारतीय दोनों राष्ट्र दृढ़ संकल्प रहे हैं। यह बड़े उत्साह की बात है कि यह सब काम एक शांतिपूर्ण परिवर्तन के द्वारा हो सका है। आपके सामने भारी उत्तरदायित्व है। किंतु जब मैं आपके द्वारा प्रगट की गयी राज्य-विज्ञता तथा किये गये त्यागों पर विचार करता हूँ तो मुझे विश्वास हो जाता है कि आप अपने को भावी गौरव के योग्य सिद्ध कर सकेंगे।"

"मैं प्रार्थना करता हूँ कि सर्व शक्तिमान ईश्वर का आशीर्वाद आपको प्राप्त हो और आप के नेता भविष्य के कामों को सद्बुद्धि के अनुसार करते रहें। मेरी यह भी प्रार्थना है कि संसार के अन्य राष्ट्रों के साथ संबंध में आप मैत्री, सहिष्णुता और शांति-प्रियता की भावनाओं से अनुप्राणित हों। इस बात का विश्वास रखिये कि आप की जनता को समृद्धि तथा मानव-जाति के कल्याण के लिए आपके प्रयत्नों में मेरी सहानुभूति सदा आपके साथ रहेगी।"

तत्पश्चात् उन्होंने, विगत छः महीनों की राजनीतिक बातों की समीक्षा करके, अपने विषय में निम्नलिखित विचार प्रगट किये—"आज से मैं आपका संवैधानिक गवर्नर जनरल हूँ। मैं आप से अनुरोध करता हूँ कि आप मुझे अपने ही जैसा एक व्यक्ति समझें जो भारत के हितों के परिवर्द्धन के लिए सच्चे हृदय से प्रयत्नशील रहेगा। मैं इस बात से भी अपने को सम्मानित अनुभव करता हूँ कि आपके नेताओं ने मुझे आपका गवर्नर जनरल बने रहने के लिए आमंत्रित किया है और आपने उसे स्वीकार कर लिया है। इसे स्वीकार करने में मैं केवल इसी विचार से प्रेरित हुआ हूँ कि भविष्य के कठिन समय में मैं कदा-

चित आपकी कुछ सहायता कर सकें। भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम पर विचार करते समय आपके नेताओं ने ३१ मार्च १९४८ को अंतःकाल की अंतिम तिथि निर्धारित की है। मैं अनुरोध करता हूँ कि अप्रैल में आप मुझे मुक्त कर दें। इसका तात्पर्य यह नहीं कि आपकी सेवा में रह कर मैं अपने आपको सम्मानित अनुभव नहीं करता। किंतु मेरी यह भावना अवश्य है कि यथाशीघ्र भारत यदि चाहे तो, अपनी जनता से किसी को गवर्नर जनरल चुनने के लिए स्वतंत्र रहे। तब तक मेरी धर्म-पत्नी और मैं आपके साथ और आपके मध्य में काम करने में अपना सौभाग्य समझेंगे। सभी अवसरों पर हमारे प्रति समझौते सहयोग, सच्ची सहानुभूति और उदारता की जो भावना व्यक्त की गयी है, उसके लिए कृतज्ञता-प्रकाशन के हेतु मेरे पास शब्द नहीं है।"

१५

भारत की डोमीनियन का संविधान

डोमीनियन संविधान की विशेषताएँ—होम गवर्मेंट—गवर्नर जनरल और डोमीनियन मंत्रि-मंडल—डोमीनियन लेजिस्लेचर और विधि-निर्माण की प्रक्रिया—डोमीनियन लेजिस्लेचर और वित्तीय प्रक्रिया—डोमीनियन लेजिस्लेचर और न्यायालयों का संबंध—प्रांतीय शासन—प्रांतीय लेजिस्लेचर—प्रांतीय लेजिस्लेचरों की सदस्यता के अनधिकारी—सदस्यों के अधिकार—विधि-निर्माण की प्रक्रिया—आर्थिक प्रस्तावों की प्रक्रिया—प्रक्रिया के नियम—गवर्नर के अध्यादेश—कार्य-विभाजन—डोमीनियन और संघांतरित अंगों का शासन-संबंध—वित्तीय व्यवस्था—संघीय न्यायालय और हाईकोर्ट—सार्वजनिक नौकरियाँ—उपसंहार।

डोमीनियन संविधान की विशेषताएँ—भारत की डोमीनियन के संविधान की निम्नलिखित विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं—

(१) यह ब्रिटिश पार्लमेंट द्वारा निर्मित कोई नया संविधान न था। इसका मूल आधार भारतीय शासन-संबंधी सन् १९३५ का अधिनियम था जो भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम सन् १९४७ के अनुसार गवर्नर जनरल के आदेशों[1] द्वारा घटाया, बढ़ाया, संशोधित एवं परिवर्तित किया गया था। इनके कारण मूल अधिनियम की लगभग १०५ धाराएँ निकाल दी गयी थीं और अवशिष्ट धाराओं की रूप-रेखा इस प्रकार बदल दी गयी थी कि भारतीय डोमीनियन का संविधान न्यूनाधिक ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल की अन्य डोमीनियनों के

---

१. इन आदेशों के कारण मूल अधिनियम का लगभग एक तिहाई भाग तथा पहली, दूसरी, आठवीं और नवीं अनुसूचियाँ समाप्त हो गयी थीं।

समान हो गया था। इन परिवर्तनों के होते हुए भी संविधान का रूप पूर्ववत संघात्मक था और कार्य-विभाजन और वित्तीय व्यवस्था भी न्यूनाधिक वही थी जो सन् १६३५ के अधिनियम के द्वारा निर्धारित की गयी थी।

(२) यह केवल भारतीय डोमीनियन का संविधान था। भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम के कारण, भारतीय डोमीनियन का क्षेत्रफल, सन् १६३५ के अधिनियम के भारत से, बहुत कम हो गया था। उसके कुछ प्रदेश, जिनका सामूहिक नया नाम पाकिस्तान था, उससे निकल गये थे। भारतीय डोमीनियन के अब निम्नलिखित अंग[1] थे—(अ) गवर्नरों के प्रांत (ब) चीफ कमिश्नरों के प्रांत (स) भारतीय रियासतें जो निर्धारित पद्धति के अनुसार डोमीनियन में सम्मिलित हो गयी हों। रियासतें भारतीय डोमीनियन में प्रवेश-प्रार्थना-पत्रों द्वारा सम्मिलित होने को थीं। इन प्रवेश-प्रार्थना-पत्रों में रियासतों के नरेश[2] यह वचन देने को थे कि वे निर्धारित शर्तों पर भारतीय डोमीनियन से मिलना चाहते थे और गवर्नर जनरल, डोमीनियन लेजिस्लेचर, संघीय न्यायालय तथा डोमीनियन के अन्य अधिकारी उनकी रियासतों में, डोमीनियन के लिए, उन सब अधिकारों का उपयोग कर सकेंगे जो उन्हें, डोमीनियन संविधान द्वारा, प्रवेश-प्रार्थना-पत्रों की शर्तों के अंतर्गत प्राप्त थे। इन्हीं पत्रों में वे यह वचन भी देने को थे कि वे अपनी रियासतों में लागू होनेवाली उन सब बातों को कार्यान्वित करेंगे, जिनका उल्लेख डोमीनियन संविधान में किया गया था और जो उनके प्रवेश-प्रार्थना पत्रों के अंतर्गत थी। प्रवेश-प्रार्थना-पत्रों में यह स्पष्ट किया जाने को था कि किन-किन बातों में डोमीनियन का लेजिस्लेचर, उनकी रियासतों के लिए कानून बना सकेगा और किन-किन बातों में रियासतों के संबंध में डोमीनियन के लेजिस्लेचर तथा शासनाधिकारियों के अधिकार सीमित होंगे। डोमीनियन के अधिकारों के बढ़ाने के लिए, नरेशों को प्रथम प्रवेश-प्रार्थना-पत्र के अतिरिक्त एक दूसरा प्रवेश-प्रार्थना-पत्र दाखिल करने का अधिकार था। प्रवेश-प्रार्थना-पत्रों को स्वीकृत करने का अधिकार गवर्नर जनरल को था।

---

१. इसके अतिरिक्त वे प्रदेश भी भारतीय डोमीनियन के अंग होने को थे जो उसकी अनुमति से उसमें सम्मिलित किये गये हों।

२. "नरेश" शब्द के अंतर्गत उन सब अधिकारियों की भी गणना थी जो नरेश के अल्पवयस्क होने तथा किसी अन्य कारण से रियासतों के नरेश के समान शासन करते थे।

स्वीकृत हो जाने के पश्चात् प्रवेश-प्रार्थना-पत्रों की नकलें डोमीनियन लेजिस्लेचर में दाखिल होने तथा सब न्यायालयों द्वारा मान्य समझी जाने को थीं।

(३) यह एक अल्प-कालीन संविधान था। भारतीय डोमीनियन की संविधान-सभा डोमीनियन का नया संविधान बना रही थी। जब तक वह संविधान बनकर कार्य-रूप में परिणत नहीं किया जाता, तब तक इस संविधान के अनुसार भारतीय डोमीनियन का शासन होने को था। किंतु जिस दिन से नया संविधान देश पर लागू होता, उस दिन से यह संविधान समाप्त समझा जाने को था।

होम गवर्मेंट—भारतीय शासन-संबंधी सन् १९३५ के अधिनियम की वे धाराएँ जिनका संबंध होम गवर्मेंट तथा उसकी संस्थाओं से था, भारत के डोमीनियन संविधान से निकाल दी गयी थीं। भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम सन् १९४७ के अनुसार भारतीय शासन में न तो पार्लमेंट का कोई स्थान रह गया था न ब्रिटिश मंत्रिमंडल या प्रधान मंत्री का। भारत-मंत्री का पद तोड़ दिया गया था और उनके परामर्श-दाताओं की इतिश्री हो गयी थी। अब केवल इंगलैंड के राजा ही भारतीय संविधान के अंग रह गये थे, किंतु देश के शासन में उनके भी व्यक्तिगत अधिकार न थे। जिस प्रकार ग्रेट ब्रिटेन में वे ब्रिटिश प्रधान मंत्री तथा मंत्रिमंडल के परामर्श से सारा काम करते थे उसी प्रकार भारतीय डोमीनियन में वे भारत के उत्तरदायी मंत्रिमंडल के परामर्श से अपने अधिकारों का प्रयोग करने को थे। व्यवहार में राजा के वास्तविक अधिकार नहीं के बराबर थे। वे केवल उस सुनहले बंधन के समान थे जिसके कारण ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल के समस्त स्वतंत्रता-प्राप्त राष्ट्र एक दूसरे से संबद्ध थे।

गवर्नर जनरल और डोमीनियन मंत्रि-मंडल—भारतीय डोमीनियन की सर्वोच्च शासन-सत्ता गवर्नर जनरल को थी। ये सम्राट की ओर से स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा उसका उपयोग करते थे। गवर्नर जनरल की नियुक्ति का अधिकार सम्राट को था। उनकी सहायता तथा मंत्रणा के लिए एक मंत्रि-मंडल की व्यवस्था थी। मंत्रियों की नियुक्ति का अधिकार गवर्नर जनरल को था। वे उसी समय तक अपने पद पर रह सकते थे, जब तक गवर्नर जनरल चाहते। व्यवहार में, उत्तरदायी शासन की व्यवस्था के कारण, इस धारा का कुछ दूसरा ही स्वरूप था। मंत्रियों के चुनाव में गवर्नर

जनरल अपनी इच्छा के अनुसार कुछ भी न कर सकते थे। उन्हें डोमीनियन लेजिस्लेचर में बहुसंख्यक दल के नेता को प्रधान मंत्री और प्रधान मंत्री की सिफारिश पर अन्य मंत्रियों को नियुक्त करना पड़ता था। संवैधानिक शासक होने के नाते उन्हें मंत्रि-मंडल के परामर्श के अनुसार काम करना पड़ता था। यदि वे किसी समय मंत्रि-मंडल का परामर्श मानने से मुख मोड़ते तो मंत्रि-मंडल पद-त्याग की धमकी दे सकता था। फलस्वरूप मंत्रियों की नियुक्ति और कार्यकाल के संबंध में गवर्नर जनरल की चाह अथवा अनचाह का कुछ भी मूल्य न था। नियुक्ति के लिए मंत्रियों का लेजिस्लेचर का सदस्य होना आवश्यक न था किंतु, कोई व्यक्ति, जो लेजिस्लेचर का सदस्य न था, छः महीने से अधिक मंत्रि-पद पर न रह सकता था। मंत्रियों को डोमीनियन लेजिस्लेचर द्वारा निर्धारित वेतन मिलता था, पर किसी मंत्री का वेतन, उसके कार्य-काल में घटाया न जा सकता था। मंत्री लोग गवर्नर जनरल को गुप्त परामर्श देते थे और किसी न्यायालय को यह पूछने का अधिकार न था कि अमुक प्रश्न पर मंत्रियों ने गवर्नर जनरल को क्या परामर्श दिया है।

डोमीनियन संविधान की उक्त धाराओं के कारण गवर्नर जनरल की स्थिति पूर्वकालीन स्थिति से सर्वथा भिन्न थी। अब उनकी नियुक्ति तथा उत्तरदायित्व के संबंध में ब्रिटिश सरकार की ओर देखना आवश्यक न था। भारत-मंत्री के पद टूट जाने के कारण उस पदाधिकारी का भी नियंत्रण लुप्त हो गया था। स्वयं गवर्नर जनरल के भी विवेक तथा व्यक्तिगत निर्णय के अधिकारों की इतिश्री हो गयी थी और उनके विशेष अधिकार समाप्त हो गये थे। गवर्नर जनरल अब देश के संवैधानिक शासक मात्र रह गये थे और उन्हें उत्तरदायी मंत्रियों के परामर्श से शासन करना पड़ता था।

गवर्नर जनरल को डोमीनियन के महाधिवक्ता (एडवोकेट जनरल) को नियुक्त करने का अधिकार था। नियुक्ति के लि इस व्यक्ति में कम से कम उन योग्यताओं का होना आवश्यक था जो संघीय न्यायालय के न्यायाधीश के लिए आवश्यक थीं। एडवोकेट जनरल का काम डोमीनियन की सरकार को कानूनी बातों में परामर्श देना तथा उन सब कानूनी कामों को करना था जो गवर्नर जनरल उनसे करने को कहते। इन कामों को करते समय उन्हें सब न्यायालयों में, तथा जिन बातों का संबंध डोमीनियन के हितों से हो, उनके विषय में सम्मिलित रियासतों के न्यायालयों में भी, बोलने का अधिकार था।

एडवोकेट जनरल का कार्य-काल गवर्नर जनरल की इच्छा पर निर्भर था और उनको गवर्नर जनरल द्वारा निर्धारित वेतन मिलता था।

डोमीनियन सरकार के समस्त काम गवर्नर जनरल के नाम पर किये जाते थे। उनके नाम पर जारी किये गये सारे आदेश, नियमानुकूल प्रमाणित किये जाने पर, ठीक समझे जाते थे। डोमीनियन सरकार के सुगमतापूर्वक कार्य-संचालन के लिए गवर्नर जनरल को नियम आदि बनाने तथा मंत्रियों के कार्य निर्धारित करने का अधिकार था।

डोमीनियन लेजिस्लेचर और विधि-निर्माण की प्रक्रिया—जब तक कोई दूसरी व्यवस्था न की जाय, संविधान-सभा को डोमीनियन लेजिस्लेचर के काम करने का अधिकार था। इन दोनों हैसियतों में उसके अलग-अलग सभापति थे।[१] संविधान-सभा के एक निर्णय के अनुसार, प्रांतीय लेजिस्लेचरों के सदस्य संविधान-सभा के उन अधिवेशनों में भाग न लेते थे, जब वह डोमीनियन लेजिस्लेचर की हैसियत से काम करता था। प्रतिवर्ष लेजिस्लेचर के एक अधिवेशन का होना आवश्यक था और यह निश्चित कर दिया गया था कि दो अधिवेशनों के बीच में बारह महीने से अधिक का अंतर न होगा। उक्त व्यवस्था के अंतर्गत लेजिस्लेचर के सभापति को, निर्धारित स्थान और समय पर, लेजिस्लेचर के अधिवेशनों को बुलाने तथा उनके सत्रावधान का अधिकार था। गवर्नर जनरल को लेजिस्लेचर के सम्मुख भाषण देने तथा उसके विचारार्थ अपने संदेश भेजने का अधिकार था। प्रत्येक मंत्री तथा एडवोकेट जनरल को भी लेजिस्लेचर में बोलने तथा उसके विचारों में भाग लेने का अधिकार था, किंतु एडवोकेट जनरल को वोट देने का अधिकार न था। लेजिस्लेचर के सभापति को लेजिस्लेचर द्वारा निर्धारित वेतन मिलता था। लेजिस्लेचर के समस्त निर्णय बहुमत के आधार पर होते थे। सभापति को स्वयं वोट देने जा अधिकार न था, किंतु किसी विधेयक पर समान वोट होने पर उसे निर्णायक (कास्टिंग) वोट देने का अधिकार था। डोमीनियन लेजिस्लेचर को, कुछ स्थानों के रिक्त होने पर भी, काम करने का अधिकार

---

१. संविधान बनाते समय डा० राजेंद्र प्रसाद सभापति का आसन ग्रहण करते थे और विधि-निर्माण करते समय श्री मावलंकर जी।

२. भारतीय शासन संबंधी सन् १९३५ के अधिनियम के अनुसार कोई व्यक्ति एक ही समय दो लेजिस्लेचरों का सदस्य न हो सकता था।

था। ? सदस्यों का कोरम था और कोरम के पूरा न होने पर अधिवेशन के स्थगित किये जाने की व्यवस्था थी। लेजिस्लेचर के सदस्यों को उसके अधिवेशनों में स्वतंत्रतापूर्वक विचार प्रगट करने का अधिकार था। वे उसकी किसी कमेटी के सम्मुख गवाही तथा अपना वोट अपने इच्छानुकूल दे सकते थे। इन बातों के कारण उनके विरुद्ध किसी प्रकार की कानूनी कार्रवाई किसी न्यायालय में न की जा सकती थी। सदस्यों को डोमीनियन लेजिस्लेचर द्वारा निर्धारित वेतन तथा भत्ता मिलता था। १५ अगस्त १६४७ को जो विधेयक भारतीय विधान-मंडल के विचाराधीन थे, वे उसके सत्रावसान के कारण समाप्त नहीं, वरन् डोमीनियन लेजिस्लेचर के विचाराधीन, समझे गये थे। किसी विधेयक के स्वीकृत हो जाने पर सम्राट के नाम पर गवर्नर जनरल की स्वीकृति की व्यवस्था थी। वे किसी स्वीकृत विधेयक को लेजिस्लेचर के पास पुनर्विचार के लिए लौटा और अपने संदेश में आवश्यक संशोधन का परामर्श दे सकते थे। असाधारण परिस्थितियों में डोमीनियन की शांति और व्यवस्था की रक्षा के लिए गवर्नर जनरल को अध्यादेश (ऑर्डीनेंसें) जारी करने का अधिकार था। उनका कार्य-काल अधिक से अधिक छः महीने हो सकता था और इसके पूर्व भी वे लेजिस्लेचर द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव के कारण शून्य किये जा सकते थे। उक्त अधिकारों का प्रयोग करते समय गवर्नर जनरल को संवैधानिक शासक की हैसियत से काम करना पड़ता था, व्यक्तिगत हैसियत से नहीं।

डोमीनियन लेजिस्लेचर और वित्तीय प्रक्रिया—विधि-निर्माण के अतिरिक्त डोमीनियन लेजिस्लेचर को वित्तीय बातों की भी देखभाल का अधिकार था। प्रतिवर्ष वार्षिक आय-व्यय का ब्यौरा डोमीनियन लेजिस्लेचर में पेश किया जाता था। व्यय संबंधी ब्यौरे के दो भाग होते थे—(१) वे मदें जिनका खर्च डोमीनियन की आमदनी से करना पड़ता था और (२) वे मदें जिनका खर्च डोमिनियन लेजिस्लेचर की अनुमति पर निर्भर था। पहली मदों में से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

(अ) गवर्नर जनरल के वेतन और भत्ते का तथा भारतीय शासन-संबंधी सन् १६३५ के अधिनियम की तीसरी अनुसूची में उल्लिखित सारा अन्य खर्च।

(ब) डोमिनियन के सार्वजनिक ऋण से संबंधित खर्च।

(स) मंत्रियों, चीफ कमिश्नरों और एडवोकेट जनरल के वेतन तथा भत्ते का खर्च।

(द) संघीय न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन, भत्ते तथा पेंशन का खर्च और हाईकोर्ट के न्यायाधीशों की पेंशन का खर्च।

(य) किसी न्यायालय के निर्णयों के अनुसार चुकायी जाने वाली रकमों का खर्च।

(फ) कोई अन्य खर्च जो संविधान अथवा डोमीनियन लेजिस्लेचरों के किसी अधिनियम के द्वारा इस प्रकार का घोषित किया जाय।

व्यय की उक्त मदों पर डोमीनियन लेजिस्लेचर को वोट देने का अधिकार न था। किंतु शेष सारा व्यय उसके निर्णय पर निर्भर था। वह मंत्रियों द्वारा माँगी गयी रकमों में कमी कर सकता था। गवर्नर जनरल की सिफारिश के बिना व्यय की कोई माँग लेजिस्लेचर में पेश न की जा सकती थी। लेजिस्लेचर द्वारा स्वीकृत खर्च को तथा उस खर्च को जिसे डोमीनियन की आय से करना अनिवार्य था, गवर्नर जनरल प्रमाणित करते थे और उनके द्वारा प्रमाणित स्वीकृतियाँ सर्वमान्य समझी जाती थीं। खर्च के वार्षिक ब्यौरे के अतिरिक्त पूरक ब्यौरे की व्यवस्था थी। गवर्नर जनरल की सिफारिश के बिना लेजिस्लेचर में कोई ऐसा विधेयक पेश न किया जा सकता था जो नये टैक्सों को लगाता तथा पुराने टैक्सों को बढ़ाता हो तथा डोमिनियन की आमदनी से किये जाने वाले अनिवार्य खर्च को बढ़ाता या तत्संबंधी नयी मदों को जोड़ता हो।

डोमीनियन लेजिस्लेचर और न्यायालयों का संबंध—डोमीनियन लेजिस्लेचर एक प्रभुतायुक्त विधि बनानेवाली संस्था था। फिर भी उसकी एक व्यावहारिक सीमा निर्धारित की गयी थी। डोमीनियन लेजिस्लेचरों में संघीय न्यायालय तथा हाईकोर्टों के न्यायाधीशों के उन आचरणों पर किसी प्रकार का वाद-विवाद न हो सकता था जो उन्होंने अपने कर्तव्य-पालन के संबंध में किये हों। हाईकोर्टों के अंतर्गत, सम्मिलित रियासतों के उन न्यायालयों की भी गणना थी जो अधिनियम के अनुसार हाईकोर्ट समझे जा सकते थे। इसी प्रकार किसी न्यायालय को यह कहने का अधिकार न था कि डोमीनियन लेजिस्लेचर की कार्रवाई ठीक ढंग से नहीं हुई थी और न उसके किसी अधिकारी के उन कामों के संबंध में विचार करने का, जो उसने लेजिस्लेचर की कार्य-प्रणाली के संचालन, काम करने के ढंग तथा उसकी शांति और व्यवस्था की रक्षा के लिए किये थे।

प्रांतीय शासन—डोमीनियन संविधान के अनुसार भारतीय डोमीनियन

में दो प्रकार के प्रांतों की व्यववस्था की गयी थी। मद्रास, बंबई, पश्चिमी बंगाल, संयुक्त-प्रांत, पूर्वी पंजाब, बिहार, मध्य-प्रांत और बरार, आसाम तथा उड़ीसा गवर्नरों के प्रांत थे और अंडमांस-नीकोबार, दिल्ली, अजमेर-मेरवाड़ा, कुर्ग और पंच-पिपलोदा चीफ़-कमिश्नरों के प्रांत। बराबर के विषय में किंचित् काल के लिए वही व्यवस्था स्थायी समझी गयी थी, जो भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम १९४७ के पास होने के पूर्व थी।[1]

प्रत्येक गवर्नर के प्रांत के सर्वोच्च अधिकारी को गवर्नर कहते थे। स्वतंत्र होने के दिन सब गवर्नरों को सम्राट (His Majesty) ने रायल सील मेन्युअल से नियुक्त किया था। भविष्य के रिक्त स्थान गवर्नर जनरल द्वारा भरे जाने को थे। गवर्नरों को निर्धारित वेतन और भत्ता मिलता था[2]। प्रांत का शासनाधिकार गवर्नर को था और इसके अंतर्गत वे सब बातें आ जाती थीं जिनके विषय में प्रांतीय लेजिस्लेचर को विधि बनाने का अधिकार था। चीफ कमिश्नरों के प्रांत गवर्नर जनरल के अधीन थे और वे उनका शासन बजरिये चीफ कमिश्नरों के करते थे। चीफ कमिश्नरों की नियुक्ति का अधिकार गवर्नर जनरल को था।

प्रत्येक गवर्नर के प्रांत के लिए एक मंत्रि-मंडल की व्यवस्था थी। मंत्रियों की सहायता और मंत्रणा से गवर्नर प्रांत का शासन करते थे। मंत्रियों की नियुक्ति का अधिकार गवर्नर को था और वे उसी समय तक अपने पद पर रह सकते थे जब तक गवर्नर चाहते। उत्तरदायी शासन के सिद्धांतों के कारण, इस कानूनी व्यवस्था का व्यावहारात्मक रूप इससे सर्वथा भिन्न था। मंत्रियों की नियुक्ति राजनीतिक दलों के आधार पर होती थी और जब तक किसी दल का लेजिस्लेचर में बहुमत रहे तब तक गवर्नर उसके मंत्रियों को निकाल न सकते

---

१. डोमीनियन सविधान के पूर्व मध्य-प्रांत और बरार का एक प्रांत था और दोनों एक ही गवर्नर और मंत्रि मंडल के अधीन थे। डोमीनियन संविधान मे यह व्यवस्था कायम रखी गयी थी।

२. डोमीनियन सविधान की तृतीय अनुसूची के अनुसार गवर्नर जनरल का वार्षिक वेतन २,५०,८०० रुपया नियत हुआ था और प्रांतीय गवर्नरों का ६६,००० रुपया। इसके अतिरिक्त उन्हे मर्यादापूर्वक रहने के लिए भत्ता मिलता था। छुट्टी के भत्ते की भी व्यवस्था थी।

थे। मंत्रियों के लिए यह आवश्यक न था कि वे लेजिस्लेचर के सदस्य हों, किंतु कोई ऐसा व्यक्ति, जो लेजिस्लेचर का सदस्य नहीं था, छः महीने से अधिक मंत्रि-पद पर न रह सकता था। मंत्रियों को प्रांतीय लेजिस्लेचर द्वारा निर्धारित वेतन मिलता था और वह उनके कार्यकाल में घटाया न जा सकता था। किसी न्यायालय को यह पूछने का अधिकार न था कि अमुक मंत्री ने गवर्नर को अमुक विषय पर क्या परामर्श दिया है। प्रत्येक प्रांत के लिए एक एडवोकेट जनरल की व्यवस्था थी। उसकी नियुक्ति और कार्य-काल की शर्तें तथा उसके कर्त्तव्य उसी प्रकार के थे, जिस प्रकार डोमीनियन के एडवोकेट जनरल के। प्रांतीय शासन के समस्त काम गवर्नर के नाम पर किये जाते थे और उनके द्वारा नियमानुकूल प्रमाणित प्रत्येक आदेश ठीक समझा जाता था। प्रांतीय शासन के सुचारु संचालन और मंत्रियों के काम के निर्धारण का अधिकार भी गवर्नर को था। १५ अगस्त सन् १९४७ के पश्चात् प्रांतीय गवर्नर प्रांत के संवैधानिक शासकमात्र रह गये थे। फलस्वरूप उनके विशेष उत्तरदायित्वों और विवेक और व्यक्तिगत अधिकारों की इतिश्री हो गयी थी।

प्रांतीय लेजिस्लेचर—डोमीनियन संविधान के अनुसार प्रत्येक प्रांत के लिए एक लेजिस्लेचर की व्यवस्था थी। बंबई, मद्रास, संयुक्त-प्रांत और बिहार के लिए दो सदनों के लेजिस्लेचर थे और अन्य प्रांतों के लिए एक सदन का। जिन प्रांतों में दो सदन थे उनमें निम्न सदन को लेजिस्लेटिव असेंबली और उच्च सदन को लेजिस्लेटिव कौंसिल कहते थे। अन्य प्रांतों के लेजिस्लेचर को असेंबली ही कहा जाता था। असेंबली का कार्य-काल पाँच बरस था और वह इसके पूर्व भी भंग की जा सकती थी। कौंसिल एक स्थायी संस्था थी। उसके एक तिहाई स्थान प्रति तीसरे वर्ष रिक्त घोषित किये जाते तथा नये निर्वाचन द्वारा भरे जाते थे। प्रांतीय लेजिस्लेचरों की रचना का पता हमें पृष्ठ ३८२ और ३८३ की तालिकाओं से चलता है—

इन तालिकाओं से स्पष्ट है कि डोमीनियन संविधान के द्वारा प्रांतीय लेजिस्लेचरों की रचना में कई परिवतन हो गये थे। प्रांतीय कौंसिलों की रचना, डोमीनियन संविधान के अनुसार, वही थी जो उसके पूर्व थी। किंतु आसाम और पश्चिमी बंगाल की कौंसिलें तोड़ दी गयी थीं। फलस्वरूप आसाम और पश्चिमी बंगाल के लेजिस्लेचर, एक ही सदन के हो गये थे। प्रांतीय असेंबलियों की रचना में कई परिवर्तन हो गये थे। १९३५ के संविधान द्वारा पश्चिमोत्तर सीमा-प्रांत और उड़ीसा को छोड़ कर, अन्य प्रत्येक प्रांत में कुछ स्थान, युरो-

लेजिस्लेटिव कौंसिलों की रचना

प्रांत	कुल स्थान	साधारण स्थान	मुस्लिम स्थान	भारतीय इसाइयों के स्थान	असेंबली द्वारा भरे गये स्थान	गवर्नर द्वारा भरे गये स्थान
मद्रास	कम से कम ५३ अधिक से अधिक ५५	३५	७	२	×	कम से कम ८ अधिक से अधिक १०
बंबई	कम से कम २८ अधिक से अधिक २९	२०	५	×	×	कम से कम ३ अधिक से अधिक ४
संयुक्त प्रांत	कम से कम ५७ अधिक से अधिक ५९	३४	१७	×	×	कम से कम ६ अधिक से अधिक ८
बिहार	कम से कम २८ अधिक से अधिक २९	९	४	×	१२	कम से कम ३ अधिक से अधिक ४

लेजिस्लेटिव असेंबलियों की रचना

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८
		साधारण											महिलाओं के स्थान				
प्रांत	कुल स्थान	कुल साधारण स्थान	दलित जातियों के लिए संरक्षित साधारण स्थान	असभ्य जिलों और जातियों के प्रतिनिधियों के स्थान	सिक्ख	मुसलमान	एंग्लो इंडियन	भारतीय ईसाई	वाणिज्य व्यवसाय आदि	जमींदार	विश्वविद्यालय	मजदूर	साधारण	सिक्ख	मुसलमान	एंग्लो इंडियन	भारतीय ईसाई
मद्रास	२१२	१४६	३०	१	०	२८	२	८	६	६	१	६	६	०	१	०	१
बंबई	१७२	११४	१५	१	०	२९	२	३	७	२	१	७	५	०	१	०	०
पश्चिमी बंगाल	९०	४४	१४	०	०	२१	३	२	७	२	१	८	१	०	१	१	०
संयुक्त प्रांत	२२६	१४०	२०	०	०	६४	१	२	३	६	१	३	४	०	२	०	०
पूर्वी पंजाब	८१	३१	६	०	२०	२३	०	०	१	२	१	२	१	१	०	०	०
बिहार	१५०	८६	१५	७	०	३९	१	१	४	४	१	३	३	०	१	०	०
मध्यप्रांत और बरार	१११	८४	२०	१	०	१४	१	०	२	३	१	२	३	०	०	०	०
आसाम	७१	३७	५	९	०	१६	०	१	४	०	०	३	१	०	०	०	०
उड़ीसा	६०	४४	६	५	०	४	०	१	१	२	०	१	२	०	०	०	०

पियनों को दिये गये थे। डोमीनियन संविधान में ये स्थान समाप्त समझे गये। फलस्वरूप इन प्रांतों की असेंबलियों के सदस्यों की संख्या पहले की अपेक्षा कुछ कम हो गयी थी।

प्रतिवर्ष प्रांतीय लेजिस्लेचर के एक अधिवेशन का होना आवश्यक था। किन्हीं दो अधिवेशनों के बीच में बारह महीने से अधिक का समय न हो सकता था। लेजिस्लेचर के एक या दोनों सदनों को बुलाने, उनके सत्रावसान तथा असेंबली के विघटन का अधिकार गवर्नर को था। वे उनके सम्मुख भाषण दे सकते तथा उनके विचारार्थ संदेश भेज सकते थे, जिन पर यथा-शीघ्र विचार करना आवश्यक समझा गया था। मंत्रियों और एडवोकेट जनरल को भी असेंबली या कौंसिल या दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन के विचारों में भाग लेने का अधिकार था किंतु एडवोकेट जनरल को वोट देने का अधिकार न था।

प्रत्येक प्रांतीय असेंबली के लिए एक अध्यक्ष और एक उपाध्यक्ष की व्यवस्था थी। ये अपने-अपने सदनों द्वारा चुने गये उनके सदस्य होते थे। यदि अध्यक्ष और उपाध्यक्ष असेंबली के सदस्य न रह जाते थे तो उनको अपना पद त्यागना पड़ता था। वे स्वयं गवर्नर के पास त्याग-पत्र भेज कर अपने पद से अलग हो सकते थे और असेंबली भी उस समय के कुल सदस्यों के बहुमत से, अविश्वास का प्रस्ताव पास करके, उन्हें अपने पद से हटने के लिए बाध्य कर सकती थी। अविश्वास के प्रस्ताव के लिए चौदह दिन का नोटिस आवश्यक था। अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उनके सब काम उपाध्यक्ष को करने पड़ते थे और दोनों की अनुपस्थिति में असेंबली किंचित काल के लिए अपने किसी सदस्य को अध्यक्ष चुन लेती थी। अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को प्रांतीय लेजिस्लेचर द्वारा निर्धारित वेतन मिलता था। लेजिस्लेटिव कौंसिलों के अध्यक्ष भी अपनी कौंसिलों द्वारा चुने गये उनके सदस्य होते थे। उनके वेतन और अधिकारों की वही व्यवस्था थी जो असेंबली के अध्यक्षों की थी। अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष को किसी विधेयक पर स्वयं वोट देने का अधिकार न था, किंतु समान वोट आने पर वे निर्णायक वोट दे सकते थे।

प्रांतीय लेजिस्लेचर के प्रत्येक सदस्य को गवर्नर या उनके द्वारा नियुक्त किसी व्यक्ति के सम्मुख निर्धारित शपथ लेनी पड़ती थी। कोई व्यक्ति लेजिस्लेचर के दोनों सदनों का सदस्य न हो सकता था। सदस्यता छोड़ने के कई तरीके थे। सदस्य स्वयं गवर्नर के पास त्याग-पत्र भेज कर लेजिस्लेचर

से अलग हो सकते थे। उन निर्योग्यताओं को प्राप्त करने से जिनका उल्लेख नीचे है, उनकी सदस्यता का अंत हो जाता था। यदि कोई सदस्य सदन की अनुज्ञा के बिना, निर्धारित नियमों के अंतर्गत, ६० दिन तक अनुपस्थित रहता था तो सदन उसके स्थान को रिक्त घोषित कर सकता था। लेजिस्लेचर के प्रत्येक सदन को, कुछ स्थानों के रिक्त होने पर भी, काम करने का पूर्ण अधिकार था। असेंबली के लिए $^1/_6$ सदस्यों का कोरम था और कौंसिल के लिए दस सदस्यों का।

प्रांतीय लेजिस्लेचर की सदस्यता के अनधिकारी—निम्नलिखित निर्योग्यताओं वाले व्यक्ति प्रांतीय लेजिस्लेचर के दोनों सदनों की सदस्यता से वंचित रखे गये थे—

१—लाभप्रद सरकारी पदों के अधिकारी, जब तक वे किसी ऐसे पद पर न हों जिसे प्रांतीय लेजिस्लेचर ने इस निर्योग्यता से मुक्त कर दिया हो।

२—वे व्यक्ति जिनके दिमाग को उपयुक्त न्यायालय ने खराब ठहराया हो।

३—अमोचित दिवालिये।

४—वे मनुष्य, ऑर्डर-इन-कौंसिल या प्रांतीय लेजिस्लेचर द्वारा निर्धारित काल के लिए, प्रांतीय लेजिस्लेचर के सदस्य नहीं हो सकते थे, जो ऑर्डर-इन-कौंसिल या प्रांतीय लेजिस्लेचर द्वारा, किसी निर्वाचन संबंधी मामले में डोमीनियन संविधान के लागू होने के पूर्व अथवा पश्चात दोषी ठहराये गये थे।

५—वे मनुष्य, अपनी रिहाई के पाँच बरस या गवर्नर द्वारा निर्धारित कम काल तक प्रांतीय लेजिस्लेचर के सदस्य नहीं हो सकते थे, जिनको डोमीनियन की स्थापना के पूर्व ब्रिटिश भारत के किसी न्यायालय ने और स्थापना के पश्चात् किसी प्रांतीय न्यायालय (चाहे वह गवर्नर के प्रांत में हो या चीफ कमिश्नर के प्रांत में) या सम्मिलित रियासत के न्यायालय ने किसी फौजदारी अपराध के लिए काले पानी या कम से कम दो बरस की सजा दी थी।

६—वे मनुष्य, निर्धारित समय से पाँच बरस तक, प्रांतीय लेजिस्लेचर के सदस्य नहीं हो सकते थे जो डोमीनियन या प्रांतीय लेजिस्लेचर के उम्मेदवार के एजंट रहे थे और जिन्होंने ऑर्डर-इन-कौंसिल या डोमीनियन लेजिस्लेचर या प्रांतीय लेजिस्लेचर द्वारा निर्धारित दिन तक निर्वाचन संबंधी व्यय का ब्यौरा न भेजा था। गवर्नर को इस अवधि के घटाने का अधिकार था।

७—वे मनुष्य, प्रांतीय लेजिस्लेचर के किसी सदन के सदस्य नहीं हो सकते थे जो काले पानी या किसी फौजदारी के अपराध की सजा भोग रहे थे।

यदि कोई ऐसा व्यक्ति प्रांतीय लेजिस्लेचर के किसी सदन में बैठता और वोट देता था जिसका वह अधिकारी न था तो उससे ५००) प्रति दिन के हिसाब से जुर्माना लेने की व्यवस्था की गयी थी।

सदस्यों के अधिकार—प्रांतीय लेजिस्लेचर के सदस्यों के कई अधिकार थे। वे लेजिस्लेचर के अधिवेशनों में अपने विचारों को स्वतंत्रतापूर्वक प्रगट कर सकते थे, उसकी किसी कमेटी के सम्मुख गवाही दे सकते थे और अपना वोट अपनी इच्छा के अनुकूल दे सकते थे। इन बातों के कारण उनके प्रतिकूल किसी प्रकार की कानूनी कार्रवाई न की जा सकती थी। सदस्यों को लेजिस्लेचर द्वारा निर्धारित वेतन और भत्ता मिलता था। वे उन सुविधाओं के भी अधिकारी थे जो समय-समय पर प्रांतीय लेजिस्लेचर उनके लिए मंजूर करता। लेजिस्लेचर के एक अथवा दोनों सदन अपने-अपने सदस्यों के अनुशासन की देखभाल करते थे, पर सदस्यता के अधिकार से वंचित करने के अतिरिक्त वे उनको कोई दूसरा दंड नहीं दे सकते थे। लेजिस्लेचर द्वारा नियुक्त कमेटी के सम्मुख यदि कोई व्यक्ति गवाही देने से इनकार करता था तो उसके प्रतिकूल न्यायालय में मुकद्दमा चलाया जा सकता था। नव-निर्मित पश्चिमी बंगाल और पूर्वी पंजाब के लेजिस्लेचरों के सदस्यों के वे ही अधिकार थे जो विभाजन के पूर्व बंगाल और पंजाब के लेजिस्लेचरों के सदस्यों के थे।

विधि-निर्माण की प्रक्रिया—वित्तीय विधेयकों के अतिरिक्त, जिनकी विशेष व्यवस्था की गयी थी, कोई भी विधेयक लेजिस्लेचर के किसी सदन में आरंभ हो सकता था। लेजिस्लेचर के एक अथवा दोनों सदनों के सत्रावसान पर कोई भी विचाराधीन विधेयक समाप्त न हो जाता था। यदि किसी प्रांत की लेजिस्लेटिव कौंसिल किसी विधेयक पर विचार कर रही थी, तो असेंबली के विघटित होने पर वह समाप्त न हो जाता था। पर, यदि प्रांतीय असेंबली किसी विधेयक पर विचार कर रही थी अन्यथा उसके द्वारा स्वीकृत होने पर वह कौंसिल के विचाराधीन था तो असेंबली के विघटित होने पर वह समाप्त हो जाता था।

जिन प्रांतों का लेजिस्लेचर, एक ही सदन का था, वहाँ की विधि-निर्माण की प्रक्रिया बड़ी सरल थी। सदन द्वारा अस्वीकृत होने पर वह विधेयक गिर जाता था और स्वीकृत होने पर वह गवर्नर के पास, सम्राट के नाम पर, अनुमति के लिए भेजा जाता था। गवर्नर विधेयक के संबंध में अनुमति दे

सकते थे अथवा अनुमति देने से इनकार कर सकते थे, या उसे गवर्नर जनरल के विचारार्थ सुरक्षित कर सकते थे। वे विधेयक को अपने संदेश के साथ लेजिस्लेचर द्वारा पुनर्विचार अथवा विशिष्ट बातों के पुनर्विचार के लिए लौटा सकते थे और लेजिस्लेचर के लिए यह आवश्यक था कि वह लौटाये गये प्रस्ताव पर संदेशानुकूल विचार करे। जिन प्रांतों के लेजिस्लेचर के दो सदन थे, वहाँ गवर्नर की अनुमति के लिए किसी विधेयक के भेजे जाने के पूर्व यह आवश्यक था कि उसके संबंध में दोनों सदन एक मत हों। मतभेद होने पर दोनों सदनों के संयुक्त अधिवेशन की व्यवस्था थी। इसके कराने का अधिकार गवर्नर को था। संयुक्त अधिवेशन के बहुमत का निर्णय दोनों सदनों का निर्णय समझा जाता था।

डोमीनियन संविधान की उक्त व्यवस्था के कारण प्रांतीय लेजिस्लेचरों का अधिकार-क्षेत्र अधिक स्वतंत्र हो गया था। सम्राट द्वारा प्रांतीय विधेयकों के शून्य किये जाने की व्यवस्था की इतिश्री हो गयी थी। संवैधानिक शासक होने के कारण गवर्नर की अनुमति के विषय में वह आशंका न रह गयी थी जो उस समय था जब कि गवर्नर अपने विवेक के अनुसार किसी विधेयक को शून्य तथा उसे सम्राट की अनुमति के लिए सुरक्षित कर सकते थे। गवर्नर जनरल की अनुमति के विषय में भी न्यूनाधिक यही बात कही जा सकती है। वे भी सुरक्षित विधेयकों के संबंध में सम्राट के नाम पर अपनी अनुमति दे सकते थे या अनुमति देने से इनकार कर सकते थे या उसे लेजिस्लेचर के पास पुनर्विचार के लिए लौटा सकते थे। संशोधनों अथवा बिना संशोधनों के साथ पुनर्विचार किये गये विधेयकों को गवर्नर जनरल के विचारार्थ पुनः भेजने की व्यवस्था थी।

वित्तीय विधेयकों की प्रक्रिया—प्रतिवर्ष प्रांतीय आय-व्यय का वार्षिक ब्यौरा प्रांतीय लेजिस्लेचर में पेश किया जाता था। व्यय की मदें दो समूहों में विभक्त होती थीं—(१) वह व्यय जिसे अधिनियम की व्यवस्था के अनुसार प्रांतीय कोष से करना अनिवार्य था और (२) वह व्यय जिसकी स्वीकृति प्रांतीय लेजिस्लेचर से माँगी जाती थी। पहले प्रकार की मदें निम्नलिखित थीं—

(१) गवर्नर का वेतन और भत्ता तथा उनके कार्यालय का वह व्यय जिसकी व्यवस्था अधिनियम की तीसरी अनुसूची में की गयी थी।

(२) सार्वजनिक ऋण-संबंधी व्यय।

(३) मंत्रियों और प्रांतीय महाधिवक्ता (एडवोकेट जनरल) का वेतन और भत्ता।

(४) हाईकोर्ट के न्यायाधीशों का वेतन और भत्ता।

(५) अपवर्जित (Excluded) प्रदेशों के शासन का व्यय।

(६) न्यायालयों के निर्णय के अनुसार चुकायी जाने वाली रकमें।

(७) कोई अन्य व्यय जो संविधान या प्रांतीय लेजिस्लेचर की विधि द्वारा इस प्रकार का घोषित किया गया हो।

व्यय की इन मदों के संबंध में, प्रथम मद के अतिरिक्त, प्रांतीय असेंबली तर्क-वितर्क कर सकती थी, पर वोट न दे सकती थी। शेष व्यय असेंबली की स्वीकृति के अनुसार किया जाता था। व्यय की इन मदों के संबंध में असेंबली को स्वीकृति देने अथवा न देने या किसी मद को घटाने का अधिकार था। असेंबली द्वारा स्वीकृत, व्यय की दोनों प्रकार की मदें, गवर्नर द्वारा प्रमाणित करके, असेंबली में रख दी जाती और सर्वमान्य समझी जाती थीं। इनके विरुद्ध किसी प्रकार का व्यय न किया जा सकता था। व्यय की पूरक माँगों की भी व्यवस्था थी। उनकी प्रक्रिया वही थी जो मौलिक माँगों की। व्यय की समस्त माँगें गवर्नर के नाम पर पेश की जाती थीं।

गवर्नर की सिफारिश के बिना कोई ऐसा विधेयक प्रांतीय असेंबली में पेश नहीं किया जा सकता था जो (१) नया कर लगाता हो अथवा मौजूदा कर को बढ़ाता हो; (२) जो प्रांतीय ऋण को नियंत्रित करता हो या प्रांत की ओर से कोई गारंटी देता हो या वर्तमान अथवा भविष्यत की आर्थिक जिम्मेदारी से संबंध रखने वाली किसी विधि को संशोधित करता हो; (३) जो किसी व्यय को प्रांतीय आय से चुकाया जाने वाला अनिवार्य व्यय घोषित करता अथवा उसे बढ़ाता हो।

उक्त वित्तीय व्यवस्था के कारण, प्रांतों के वित्तीय अधिकार भी पहले की अपेक्षा अधिक हो गये थे। सन् १९३५ के संविधान द्वारा, गवर्नर को वित्तीय बातों के संबंध में अनेक अधिकार दिये गये थे और वे उन अधिकारों का उपयोग अपने विवेक तथा व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार, गवर्नर जनरल के निरीक्षण में, करते थे। डोमीनियन संविधान में गवर्नर का पद संवैधानिक शासक का-सा हो गया था। फलस्वरूप उनके विशेष अधिकारों की इतिश्री हो गयी थी और वे सब प्रांतीय लेजिस्लेचर अथवा मंत्रि-मंडल को मिल गये थे। प्रांतीय स्वराज्य इस प्रकार पूर्ण रूप से वास्तविक हो गया था।

प्रक्रिया के नियम—अधिनियम के अंतर्गत लेजिस्लेचर के प्रत्येक सदन को अपनी प्रक्रिया तथा अपने कार्य-संचालन के नियम बनाने का अधिकार था। जिन प्रांतों के लेजिस्लेचर के दो सदन थे वहाँ के संयुक्त अधिवेशन तथा परस्पर व्यवहार के नियम, गवर्नर, असेंबली तथा कौंसिल अध्यक्ष के परामर्श से बनाते थे। संयुक्त अधिवेशन में कौंसिल का अध्यक्ष सभापति का आसन ग्रहण करता था और उसकी अनुपस्थिति में कोई दूसरा व्यक्ति, जिसकी नियमानुकूल व्यवस्था हो। प्रांतीय लेजिस्लेचर को संघीय न्यायालय अथवा हाईकोर्ट के न्यायाधीशों के कर्तव्य-पालन संबंधी आचरणों पर तर्क-वितर्क करने का अधिकार न था। प्रांतीय लेजिस्लेचर की प्रक्रिया के ठीक न होने के कारण उसके निर्णयों के संबंध में किसी प्रकार की आपत्ति नहीं की जा सकती थी।

गवर्नर की ऑर्डीनेंसें—प्रांतीय गवर्नरों को उस समय, जब लेजिस्लेचर के अधिवेशन न हो रहे हों, अध्यादेश (ऑर्डीनेंसें) जारी करने का अधिकार था। निर्धारित कार्य-काल में इन ऑर्डीनेंसों का, वही स्थान था जो प्रांतीय कानूनों का। ऐसी ऑर्डीनेंसें लेजिस्लेचर के अधिवेशन के आरंभ होने के छः सप्ताह के पश्चात् स्वयं समाप्त हो जाती थीं और इसके पूर्व भी यदि लेजिस्लेचर, उनके वापस लिये जाने के पक्ष में प्रस्ताव पास करता था या गवर्नर उनको स्वयं वापस कर लेते थे। इस प्रकार की ऑर्डीनेंसें मंत्रिमंडल के परामर्श से जारी की जाती थीं। १९३५ के शासन संबंधी अधिनियम द्वारा दिये गये गवर्नर के अन्य विधि-निर्माण के अधिकारों की इतिश्री हो गयी थी। प्रांतीय गवर्नर न तो अपने अधिनियम जारी कर सकते थे और न असाधारण परिस्थिति की घोषणा करके प्रांत के शासन को अपने अधीन कर सकते थे।

कार्य-विभाजन—भारत का डोमीनियन संविधान संघ-संविधान था। फलस्वरूप अन्य संघ-राज्यों की भाँति उसमें भी संघ-राज्य और संघांतरित अंगों में कार्य-विभाजन किया गया था। विभाजन का आधार न्यूनाधिक वही था जो सन् १९३५ के संविधान का। एक संघीय विषयों की सूची थी, एक प्रांतीय विषयों की और एक समवर्ती विषयों की। अवशिष्ट विषयों में सन् १९३५ के अधिनियम की व्यवस्था कायम रखी गयी थी। गवर्नर जनरल सार्वजनिक घोषणा द्वारा डोमीनियन तथा प्रांतीय लेजिस्लेचरों को ऐसे विषयों के कानून बनाने का अधिकार दे सकते थे। असाधारण परिस्थिति में, अर्थात् जब गवर्नर जनरल इस बात की घोषणा करते कि युद्ध अथवा आंतरिक अशांति के

कारण, देश की रक्षा भयंकर खतरे में थी, डोमीनियन लेजिस्लेचर प्रांतीय तथा अवशिष्ट विषयों के भी कानून बना सकता था। इस प्रकार का कोई विधेयक गवर्नर जनरल की अनुमति के बिना, डोमीनियन लेजिस्लेचर में पेश न किया जा सकता था। इस बीच में प्रांतीय लेजिस्लेचरों का अपने कार्य-क्षेत्र के अंतर्गत कानून बनाने का अधिकार पूर्ववत् बना रहता था किंतु, यदि कोई प्रांतीय कानून, घोषणांतर्गत निर्मित डोमीनियन कानून से, असंगत होता था तो वह असंगत अंश तक शून्य समझा जाता था। युद्ध आरंभ होने के पूर्व भी यदि आने वाले खतरे के संबंध में उन्हें संतोष हो जाय, तो गवर्नर जनरल इस प्रकार की घोषणा कर सकते थे। असाधारण परिस्थिति के अंत के लिए दूसरी घोषणा की व्यवस्था थी। प्रांतीय लेजिस्लेचर की अनुमति से, अर्थात् यदि प्रांतीय लेजिस्लेचर अनुमति-सूचक प्रस्ताव पास करे, तो डोमीनियन लेजिस्लेचर संबद्ध प्रांतों के लिए, प्रांतीय विषयों के भी कानून बना सकता था, किंतु प्रांतीय लेजिस्लेचरों को ऐसे अधिनियमों के संशोधन[1] तथा निरसन का अधिकार था। डोमीनियन लेजिस्लेचर सम्मिलित भारतीय रियासतों के संबंध में उन्हीं विषयों के कानून बना सकता था, जो प्रवेश-प्रार्थना-पत्र द्वारा डोमीनियन को हस्तांतरित किये जाते थे। यदि कोई विधेयक गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति से डोमीनियन लेजिस्लेचर में पेश किया जाता था तो इसके कारण उनके अनुमति देने अथवा न देने या रिजर्व करने के अधिकार में किसी प्रकार की कमी न होती थी।

कार्य-विभाजन के उक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि डोमीनियन और प्रांतीय लेजिस्लेचरों के कार्य-संपादन के संबंध में जो रुकावटें सन् १६३५ के भारतीय शासन-संबंधी अधिनियम द्वारा लगायी गयी थीं, उनमें से बहुतों की इतिश्री हो गयी थी। ब्रिटिश पार्लमेंट अब भारतीय डोमीनियन के संबंध में कानून नहीं बना सकती थी और न सम्राट भारतीय डोमीनियन अथवा प्रांतों के लेजिस्लेचरों द्वारा स्वीकृत विधेयकों को शून्य कर सकते थे। गवर्नर जनरल के विवेक और व्यक्तिगत निर्णय के अधिकारों के लुप्त हो जाने के कारण, विधि-निर्माण संबंधी जो रुकावटें, वे लगा सकते थे, वे भी समाप्त हो गयी थीं। सन् १६३५ के अधिनियम में अनेक ऐसी बातें निर्धारित थीं जिनके संबंध के विधेयक संघीय अथवा प्रांतीय लेजिस्लेचरों में पेश न किये जा सकते थे और

---

1. Section 103 of the Government of India Act 1935.

बहुतों के विषय में गवर्नर जनरल अथवा गवर्नर की पूर्व अनुमति अनिवार्य थी। भेद-भाव संबंधी विधेयकों के बारे में भी कई रुकावटें थीं। डोमीनियन संविधान से ये सब रुकावटें निकाल दी गयी थीं। फलस्वरूप डोमीनियन लेजिस्लेचर एक प्रभुता-युक्त विधि-निर्माणकारी संस्था में परिवर्तित हो गया था। उसके अधिकार अब कार्य-विभाजन संबंधी धाराओं से ही सीमित थे, किसी बाह्य नियंत्रण से नहीं।

डोमीनियन और संघांतरित अंगों में शासन-संबंध—प्रांतीय तथा सम्मिलित रियासतों की सरकारें अपना कार्य-संचालन इस प्रकार करने को थीं कि डोमीनियन लेजिस्लेचर द्वारा निर्मित विधियों की मर्यादा का उल्लंघन न हो। गवर्नर जनरल को अधिकार था कि वे प्रांतीय सरकारों अथवा सम्मिलित रियासतों के नरेशों की अनुमति से, उन्हें शासन-संबंधी कोई ऐसा काम दे दें जो डोमीनियन के शासन के अंतर्गत था। इसी प्रकार डोमीनियन लेजिस्लेचर, किसी प्रांत या प्रांतीय अधिकारियों को ऐसे अधिकार दे सकता, तथा उन पर कर्तव्य लगा सकता था जिनके संबंध में प्रांतों को विधि बनाने का अधिकार था। अतिरिक्त कामों में जो व्यय होता, वह डोमीनियन के कोष से दिया जाने को था। डोमीनियन लेजिस्लेचर द्वारा निर्मित अधिनियम, गवर्नर जनरल और नरेशों के परस्पर समझौते के अनुसार, रियासतों में उस सीमा तक कार्यान्वित किये जाते थे जहाँ तक वे उन पर लागू थे। गवर्नर जनरल को इस बात की जाँच करने का अधिकार था कि समझौते के अंतर्गत रियासतों में डोमीनियन सरकार की नीति कार्यान्वित की जा रही थी अथवा नहीं। यदि नहीं, तो इस संबंध में वे नरेशों को आवश्यकतानुसार आदेश दे सकते थे। विभिन्न प्रांत अपना शासन-संचालन इस प्रकार करने को थे कि डोमीनियन के शासन-संचालन में किसी प्रकार की बाधा अथवा रुकावट न हो। डोमीनियन सरकार, प्रांतीय सरकारों को कुछ समवर्ती विषयों के शासन के संबंध में तथा यातायात के ऐसे साधनों के निर्माण अथवा उनकी रक्षा के संबंध में जो सैनिक महत्त्व के थे, तथा भारत या उसके किसी भाग की शांति और व्यवस्था के भंग की आशंका पर, प्रांतीय शासन-संचालन किस प्रकार किया जाय—इनके संबंध के आदेश दे सकती थी। जब ऐसी असाधारण परिस्थिति की घोषणा की जाय कि भारत के विरुद्ध युद्ध छिड़ने वाला है, उस समय डोमीनियन की सरकार प्रांतों को शासन-संचालन संबंधी आदेश दे सकती थी। डोमीनियन की सरकार, संघीय विषयों के

संबंध में आवश्यकता पड़ने पर, प्रांतों में स्थित अथवा प्रांतीय सरकारों की भूमि पर अधिकार कर सकती थी। किंतु इस संबंध में हरजाना देने तथा समझौता करने की व्यवस्था थी। यदि परस्पर समझौता न होता था तो संघीय न्यायालय के प्रधान न्यायाधीश को, निर्णय के लिए, पंच नियुक्त करने का अधिकार था। यही व्यवस्था सम्मिलित रियासतों के संबंध में भी की गयी थी। उनका शासन-संचालन इस प्रकार का होना चाहिये था कि डोमीनियन के शासनाधिकार पर, जहाँ तक वे रियासतों में लागू थे, कुप्रभाव न पड़े। यदि किसी समय गवर्नर जनरल को यह विदित हो कि अमुक सम्मिलित रियासत के नरेश इस संबंध में अपने कर्तव्यों का पालन नहीं कर रहे थे, तो नरेश की बात सुनने के पश्चात्, वे उन्हें आवश्यकतानुकूल आदेश दे सकते थे।

वित्तीय व्यवस्था—डोमीनियन संविधान की वित्तीय व्यवस्था न्यूनाधिक उसी प्रकार की थी जैसी सन् १६३५ के भारत-शासन-संबंधी अधिनियम द्वारा निर्धारित की गयी थी। उसके मूल सिद्धांत इस प्रकार थे—

१—कुछ ऐसे टैक्स निर्धारित किये थे जिनकी सारी आमदनी डोमीनियन सरकार को मिलने को थी; जैसे आयात-कर, रेलवे का मुनाफा, मुद्रा और टकसाल, रिज़र्व बैंक का लाभ आदि।

२—कुछ टैक्स ऐसे थे जिनके उगाहने का अधिकार डोमीमियन सरकार को था पर जो प्रांतों और सम्मिलित रियासतों में अधिनियम द्वारा निर्धारित सिद्धांतों के अनुसार विभाजित कर दिये जाते थे; जैसे उत्तराधिकार का टैक्स। इन मदों के संबंध में जो अतिरिक्त कर लगाया जाता, उसकी सारी आमदनी डोमीनियन सरकार को मिलने को थी।

३—कुछ टैक्स ऐसे थे जिनके उगाहने का अधिकार संघ-सरकार को था पर जिनका निर्धारित प्रतिशत प्रांतों तथा सम्मिलित रियासतों को लौटाया जाने को था; जैसे आय-कर। इस संबंध में भी जो अतिरिक्त कर लगाया जाता उसकी सारी आमदनी डोमीनियन सरकार को मिलने को थी।

४—वे टैक्स जिनकी समस्त आय प्रांतीय सरकारों को मिलने को थी; जैसे मालगुजारी, जंगलात आदि।

गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति के बिना, कोई ऐसा विधेयक अथवा संशोधन डोमीनियन लेजिस्लेचर में पेश न किया जा सकता था जिसका प्रांतों के हित पर कुप्रभाव पड़ता हो अथवा जो कृषि की आय के अर्थ को बदलता हो अथवा जो आय के विभाजन के सिद्धांतों पर असर डालता हो अथवा

अतिरिक्त कर लगाता हो। वे अतिरिक्त कर लगाने की अनुमति तभी दे सकते थे जब उन्हें यह विश्वास हो जाय कि मितव्ययता करने तथा संघीय आमदनी के बढ़ाने पर भी आमदनी और खर्च का बराबर होना असंभव था। डोमीनियन की सरकार, गवर्नर जनरल के ऑर्डर के अनुसार प्रांतों की आर्थिक सहायता भी कर सकती थी।

संघीय न्यायालय और हाईकोर्ट— डोमीनियन संविधान द्वारा न तो संघीय न्यायालय और हाईकोर्टों के संगठन में किसी प्रकार का परिवर्तन किया गया था और न उनके अधिकारों में। सब से महत्त्वपूर्ण परिवर्तन जो किया गया था वह न्यायाधीशों की नियुक्ति से संबंधित था। अगस्त सन् १९४७ तक नियुक्ति का अधिकार सम्राट को था और उसके पश्चात् गवर्नर जनरल को। प्रधान न्यायाधीश के लिए सन् १९३५ के अधिनियम के अनुसार यह आवश्यक था कि नियुक्ति के समय अथवा जब वह सर्वप्रथम किसी न्याय-संबंधी पद पर नियुक्त हुआ था उस समय या तो वह इंगलैंड का बैरिस्टर या स्कॉटलैंड की फैकल्टी ऑफ एडवोकेट्स का सदस्य या भारतीय वकील रहा हो। डोमीनियन संविधान से यह धारा निकाल दी गयी थी। संघीय न्यायालय के न्यायाधीश गवर्नर जनरल के पास त्यागपत्र भेजकर पहले की तरह अपने पद से अलग हो सकते थे और सम्राट भी दुराचरण अथवा शारीरिक और मानसिक दुर्बलता संबंधी प्रिवी कौंसिल की रिपोर्ट पर उन्हें अपने पद से अलग कर सकते थे। न्यायाधीशों के वेतन आदि निश्चित करने का अधिकार गवर्नर जनरल को था किंतु वह किसी व्यक्ति के कार्य-काल में इस प्रकार बदला न जा सकता था जिससे उसको हानि पहुँचे। संघीय न्यायालय की भाषा, उसके मौलिक तथा अपीलों के सुनने के कार्य-क्षेत्र, उसके अधिवेशनों के स्थान तथा उसके संबंध में प्रिवी कौंसिल की स्थिति में डोमीनियन संविधान द्वारा किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया गया था। संघीय न्यायालय और प्रिवी कौंसिल के निर्णय पूर्ववत सर्वमान्य समझे जाने को थे और उनके कार्य-रूप में परिणत किये जाने की व्यवस्था थी। हाईकोर्टों की अवस्था न्यूनाधिक पूर्ववत बनी हुई थी। इनके संबंध में भी सम्राट के समस्त अधिकार गवर्नर जनरल को दिये गये थे और पूर्वी पंजाब और आसाम के लिए नये हाईकोर्टों की व्यवस्था की गयी थी।

सार्वजनिक नौकरियाँ—भारतीय शासन-संबंधी सन् १९३५ के अनुसार भारत में सम्राट की दो प्रकार की नौकरियाँ थीं—(१) सैनिक नौकरियाँ और (२) असैनिक अर्थात् सिविल नौकरियाँ। डोमीनियन संविधान से

सैनिक नौकरियों के संबंध की समस्त धाराएँ निकाल दी गयी थीं। उनकी आवश्यकता उस समय थी जब देश-रक्षा एक संरक्षित विषय था और उसके संबंध में गवर्नर जनरल ब्रिटिश सरकार के प्रति उत्तरदायी थे। सिविल नौकरियों के विषय में भी महत्त्वपूर्ण अंतर हो गये थे। सन् १९३५ के संविधान के अनुसार कई ऐसी नौकरियाँ थीं जिन्हें भारत-मंत्री की नौकरियाँ कहते थे। इनकी नियुक्ति तथा हितों की रक्षा का अधिकार भारत-मंत्री तथा स-कौंसिल भारत-मंत्री को था। इस प्रकार नियुक्त जितने सरकारी नौकर, डोमीनियन की स्थापना के पश्चात् भारत में काम कर रहे थे, उन्हें निकालने का अधिकार, डोमीनियन या प्रांतों में काम करने के अनुसार, गवर्नर जनरल या प्रांतीय गवर्नरों को था। दुराचरण के अतिरिक्त, इस प्रकार का कोई व्यक्ति, उस समय तक न तो निकाला जा सकता था और उसका दर्जा ही गिराया जा सकता था, जब तक उसे अपनी स्थिति के स्पष्ट करने का पूर्ण अवसर न दिया गया हो। सिविल सर्विसों की नियुक्ति का अधिकार, डोमीनियन संविधान के अनुसार गवर्नर जनरल या गवर्नरों को था और नौकरी की शर्तें उन्हीं के द्वारा बनाये गये नियमों के अनुसार निश्चित की गयी थीं।

उपसंहार—उपर्युक्त विवरण में हमने भारत के डोमीनियन संविधान का संक्षिप्त विवरण दिया है। किंतु यह संविधान स्थायी न था। भारतीय संविधान-सभा स्वतंत्र भारत के संविधान के निर्माण में संलग्न थी। २६ जनवरी सन् १९५० को उसके द्वारा निर्मित लोकतंत्रात्मक संविधान भारत पर लागू कर दिया गया। उस दिन से डोमीनियन संविधान की इतिश्री हो गयी।

१६

स्वतंत्रता से नये संविधान तक (१)

आंतरिक शासन

प्राक्कथन—डोमीनियन की स्थापना के पूर्व भारतीय परिस्थिति—डोमीनियन तथा प्रांतीय सरकारों का निर्माण—डोमीनियन सरकार की शासन-नीति—डोमीनियन सरकार की पर-राष्ट्र-नीति—डोमीनियन सरकार का आंतरिक शासन ; देश का बँटवारा; शांति और व्यवस्था की स्थापना ; शरणार्थियों की समस्या ; खाद्यान्न की समस्या ; दस्तकारियों की अवस्था ; रियासतों की समस्या ; विरोधी दल की समस्या—कांग्रेस की स्थिति में परिवर्तन—गांधीजी की हत्या ।

प्राक्कथन—१५ अगस्त सन् १९४७ को, भारत स्वतंत्र हुआ था । उस दिन से २६ जनवरी सन् १९५० तक, उसका शासन डोमीनियन संविधान के अनुसार होता रहा । लगभग ढाई बरस के इस काल में देश को भयंकर कठिनाइयों का सामना करना पड़ा । यद्यपि यह कहना कठिन है कि भारत की डोमीनियन सरकार इन कठिनाइयों को दूर करने में पूर्णरूपेण सफल हुई, पर इतना कहने में किसी को संकोच नहीं हो सकता कि यथाशक्ति उसने इनके दूर करने का प्रयत्न किया था ।

डोमीनियन की स्थापना के पूर्व भारतीय परिस्थिति—भारतीय डोमीनियन की स्थापना के पूर्व, युरोपीय महासमर के प्रभावों के कारण, संसार के अन्य देशों की भाँति, भारत की भी परिस्थिति चिंताजनक थी । भोजन तथा वस्त्र का अभाव था, शिक्षा की कमी थी, और रोगियों के लिए औषधियाँ तक न मिलती थीं । मुद्रा-बाहुल्य के कारण, वस्तुओं का मूल्य अत्यधिक बढ़ गया

था। चोर-बाजार गरम था और मुनाफाखोरों की बन आयी थी। श्रमजीवियों की कमी थी और जो थे, वे ऐसे लोगों के प्रभाव में थे, जो उत्पादन-वृद्धि द्वारा, देश का हित-साधन न करके, उन्हें श्रेणी-संघर्ष की ओर ले जाने का प्रयत्न कर रहे थे। सांप्रदायिक वैमनस्य के कारण हिंदुओं और मुसलमानों में फूट का अस्तित्व था और उनके कुत्सित कार्यों को मानवता धिक्कार रही थी। लगभग दो सौ बरस के विदेशी शासन के कारण, भारतीयों का नैतिक अधःपतन इतना अधिक हो गया था कि बहुत से मनुष्य, मानव-जीवन के उच्च आदर्शों को विस्मरित करके, अपने सब कामों को स्वार्थ-परायणता वश करते थे। सरकारी नौकर तक इस प्रकार के अधःपतन से मुक्त न थे। उनमें से कुछ सांप्रदायिक पक्षपात की ओर झुके हुए थे और कुछ आर्थिक लोभ की ओर। मानसिक दासत्व राजनीतिक दासत्व अपेक्षा कई गुना अधिक था और उसका अस्तित्व उस शिक्षित समुदाय पर भी था जिसके अधिकांश व्यक्ति राजनीतिक स्वतंत्रता का राग अलापते तथा अन्य सब बातों में राष्ट्रीय उन्नति के लिए प्रयत्नशील थे। यह थी देश की आंतरिक स्थिति, जब ब्रिटिश सरकार ने, भारत का शासन भारतीयों के हाथ में देने का निश्चय किया।

१५ अगस्त सन् १९४७ को शृंखला-मुक्त नवीन भारत का उदय हुआ और भारतीय परिस्थिति पहले की अपेक्षा जटिलतर हो गयी। स्वतंत्रता के बदले भारत को अंग-विच्छेद स्वीकार करना पड़ा। मुस्लिम लीग तथा उसके नेताओं की निरंतर मांग, ब्रिटिश सरकार की "भेद और शासन" की नीति तथा कांग्रेसी नेताओं की उत्सुकता के कारण, उस भारत में दो स्वतंत्र डोमीनियनें बनीं जिसकी राजनीतिक एकता स्थापित करने का ब्रिटिश सरकार को गौरव था। भारत अखंड न रह कर खंडित हो गया और उसकी उस मौलिक एकता की इतिश्री हो गयी जो वैदिक काल से उस समय तक अकाट्य तथा सर्वमान्य थी और जो देश की भौगोलिक रचना के अतिरिक्त उसके सांस्कृतिक जीवन तथा उसकी इच्छाओं और आकांक्षाओं का मूर्तिमान स्वरूप थी। ब्रिटिश सरकार ने देश को छोड़ते-छोड़ते परिस्थिति को जटिलतर बनाने वाली एक बात और कर डाली। भारतीय रियासतें, जो समस्त ब्रिटिश काल में, व्यावहारिक दृष्टि से, भारत-सरकार के अधीन थीं, उन सब बंधनों से मुक्त कर दी गयीं जो संधियों, सनदों, संबंधों तथा चलनों पर निर्भर थे। अधिपति-सत्ता हटा ली गयी और इस प्रकार भारतीय नरेशों तथा नवाबों को यह समझने का

अवसर मिला कि वे नव-निर्मित भारत-सरकार से सर्वथा स्वतंत्र थे और स्वतंत्र शासकों की भाँति उससे व्यवहार कर सकते थे।

अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति इससे भी अधिक भयानक थी। १५ अगस्त सन् १९४७ तक समस्त भारत का पर-राष्ट्र-संबंध ब्रिटिश सरकार के अधीन था। स्वतंत्र डोमीनियनों के बनने पर वह भारतीयों के हाथ में आ गया। युरुप के द्वितीय महासमर का अंत तो लगभग दो बरस पूर्व हो चुका था, पर युद्ध का वातावरण अब भी शेष था और विजयी राष्ट्र अपनी शक्ति-वृद्धि तथा स्वार्थ-साधन में लिप्त थे। वे दो प्रधान गुट्टों में विभक्त थे जिनमें से एक सोवियट रूस को अपना नेता मानता था और दूसरा इगलैंड और अमरीका को। संसार के विभिन्न देशों में भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार हो रहा था और किसी देश में भारत का कोई ऐसा राजदूत अथवा प्रतिनिधि न था जो राष्ट्रीय दृष्टि-कोण को समझता और तदनुकूल काम करता हो। पाकिस्तान की नव निर्मित डोमीनियन के कारण अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति और भी अधिक जटिल हो गयी थी। धर्म के नाम पर पूर्वी और पश्चिमी पंजाब में अनेक हिंदू और मुसलमान हताहत हो रहे थे। इसके कारण शरणार्थियों की विकट समस्या नव-निर्मित डोमीनियन के सम्मुख थी। देश के बँटवारे के कारण, मतभेद की अनेक बातें सामने आ गयी थीं और बहुतों के आने की आशंका थी। अतएव अंतर्राष्ट्रीय परिस्थिति भी काफी जटिल थी।

डोमीनियन तथा प्रांतीय सरकारों का निर्माण—देश की उपर्युक्त आंतरिक परिस्थिति तथा अंतर्राष्ट्रीय स्थिति में डोमीनियन सरकार का निर्माण हुआ। संविधान-सभा के हाथ मे प्रभु-सत्ता का हस्तांतरण हुआ और उसने नेताओं द्वारा आमंत्रित लॉर्ड माउंटबैटेन को गवर्नर जनरल के पद पर नियुक्त करना स्वीकार किया। डोमीनियन मंत्रि-मंडल की घोषणा की गयी और निम्न-लिखित व्यक्ति मंत्री तथा विभागाध्यक्ष नियुक्त हुए—

१—पं० जवाहरलाल नेहरू—प्रधान मंत्री, पर-राष्ट्र, राष्ट्र-मंडल-संबंध और वैज्ञानिक अनुसंधान-विभाग।

२—सरदार वल्लभ भाई पटेल—गृह, सूचना तथा ब्रॉडकास्टिंग और रियासत विभाग।

३—डा० राजेंद्र प्रसाद—खाद्य एवं कृषि-विभाग।

४—मौलाना अबुल कलाम आजाद—शिक्षा-विभाग।

५—डा० जॉन मथाई—रेलवे तथा यातायात-विभाग।

६—सरदार बलदेव सिंह—रक्षा-विभाग।

७—श्री जगजीवन राम—श्रम-विभाग।

८—श्री सी. जी. भाभा—व्यापार-विभाग।

९—श्री रफी अहमद किदवाई—डाक और तार-विभाग।

१०—राजकुमारी अमृत कौर—स्वास्थ्य-विभाग।

११—डा० बी० आर० अंबेडकर—कानून विभाग।

१२—श्री० आर० के० षणमुखं चेट्टी—अर्थ-विभाग।

१३—डा० श्यामा प्रसाद मुकर्जी—उद्योग और रसद विभाग।

१४—श्री० एन० वी० गाडगिल—कारखाना, खान और बिजली विभाग।

कालांतर में डाक्टर राजेंद्र प्रसाद मंत्रि-मंडल से अलग हो गये और उनके स्थान पर श्री जयरामदास दौलतराम की नियुक्ति हुई। इसके पूर्व ये बिहार के गवर्नर थे। ब्रिटिश शासन-काल में केंद्रीय इक्जीक्यूटिव कौंसिल के सदस्य बढ़ते बढ़ते गवर्नर के पद पर नियुक्त होते थे किंतु स्वतंत्र भारत में एक प्रांतीय गवर्नर डोमीनियन मंत्रिमंडल के सदस्य बने और दूसरे मनोनीत प्रांतीय गवर्नर पश्चिमी बंगाल के प्रधान मंत्री। आवश्यकतानुकूल मंत्रिमंडल में कई अन्य परिवर्तन भी हुए। प्रांतीय सरकारों का भी नव-निर्माण हुआ। १५ अगस्त के पूर्व ही प्रांतीय गवर्नरों ने अपना त्याग-पत्र दे दिया था। उस दिन मद्रास, बंबई और आसाम के गवर्नरों को अपने पद पर बने रहने का निमंत्रण दिया गया और उन्होंने उस निमंत्रण को स्वीकार कर लिया। अन्य प्रांतों के लिए नये गवर्नर नियुक्त हुए। उनकी सूची इस प्रकार है—

१—पश्चिमी बंगल—श्री राजगोपालाचारी।

२—पूर्वी पंजाब—सर चंदूलाल त्रिवेदी।

३—मध्य-प्रांत और बरार—श्री मंगलदास पकवासा।

४—बिहार—श्री जयरामदास दौलतराम।

५—संयुक्त-प्रांत—डाक्टर विधानचंद्र राय और स्थानापन्न गवर्नर श्रीमती सरोजनी नायडू।

६—उड़ीसा—डाक्टर कैलाशनाथ काटजू।

कालांतर में श्री जयरामदास दौलतराम के डोमीनियन सरकार में खाद्य-सदस्य नियुक्त होने के कारण श्री एम० एस० अणे बिहार के गवर्नर, श्रीमती सरोजनी

नायडू संयुक्त-प्रांत की स्थायी गवर्नर, सर महाराज सिंह बंबई के गवर्नर, श्री श्री प्रकाश आसाम के गवर्नर और भावनगर के महाराजा मद्रास के गवर्नर और लॉर्ड माउंटबैटेन के जाने के पश्चात श्री राजगोपालाचारी भारत के गवर्नर जनरल नियुक्त हुए। प्रांतीय मंत्रि-मंडलों का भी पुनर्निर्माण हुआ। इस प्रकार भारत का केंद्रीय और प्रांतीय शासन पूर्ण रूप से भारतीयों के हाथ में आ गया।

डोमीनियन सरकार की शासन-नीति—सत्ता-हस्तांतरण के अवसर पर डा० राजेंद्रप्रसाद ने जो संविधान-सभा के सभापति थे, स्वतंत्र भारत की शासन-नीति पर कुछ प्रकाश डाला। आंतरिक शासन में अल्प-संख्यकों को धर्म, संस्कृति और भाषा की स्वतंत्रता का आश्वासन देने के पश्चात, उन्होंने स्वतंत्र भारत के आंतरिक कार्य-क्रम के संबंध में निम्नलिखित बातें कहीं, "सभी लोगों को हम यह आश्वासन देना चाहते हैं कि हमारी यह अथक कोशिश होगी कि देश से गरीबी और दीनता, भूख और बीमारी दूर हो जाय, मनुष्य और मनुष्य के बीच में भेदभाव उठ जाय, कोई मनुष्य दूसरे का शोषण न करे और सब के लिए सुंदर और समुचित जीवन बिताने का साधन जुटा दिया जाय।" पं० जवाहरलालजी के विचार इस संबंध में निम्नलिखित थे—"हमारा ध्येय है भारत के जन-साधारण, किसान और मजदूर को स्वाधीनता और सुयोग देना; अज्ञान, बीमारी और गरीबी के विरुद्ध लड़ना और उनको मिटाना; समृद्ध, संपन्न और प्रगतिशील लोक-तंत्र का निर्माण करना; ऐसी राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था करना, जिससे देश के प्रत्येक नर-नारी को समुचित अधिकार और जीवन के पूर्ण विकास का अवसर मिल सके।" सरदार वल्लभभाई पटेल के शब्दों में स्वतंत्र भारत की सरकार का उद्देश्य इस प्रकार था—हमें इस बात का प्रबंध करना है कि देश में छोटे से छोटे और बड़े से बड़े को एक ही दर्जा मिले; मजदूरों को अपनी मेहनत के फल का पूरा हिस्सा मिले और लाखों किसान जो अपना लहू-पसीना एक कर देते हैं, उन्हें उसका पूरा फल मिले और भारत-सरकार देश के हर स्त्री और पुरुष को खाना, कपड़ा, रहने की जगह और शिक्षा देने के अपने कर्तव्य को अच्छी तरह पूरा करे।" आचार्य कृपलानी के विचार भी न्यूनाधिक इसी प्रकार के थे—"आज हमारा शत्रु बाहर नहीं, बल्कि भीतर ही है। हमारे वास्तविक शत्रु भुखमरी, निर्धनता, अस्वास्थ्य, अज्ञान, दुर्भावना, मूर्खता और सांप्रदायिक उत्तेजना के कारण फैली हुई हिंसा और अव्यवस्था की भावना है। इन शत्रुओं के विरुद्ध हमें अपनी सारी शक्ति केंद्रित करनी पड़ेगी।"

डोमीनियन सरकार की पर-राष्ट्र-नीति—सत्ता हस्तांतरण के अवसर तथा उसके पश्चात डोमीनियन सरकार की पर-राष्ट्र-नीति पर भी कुछ प्रकाश डाला गया था। इस संबंध में डा० राजेंद्र प्रसाद के विचार इस प्रकार थे—दुनिया के सभी देशों को हम यह आश्वासन दिलाना चाहते हैं कि हम अपनी परंपरा के अनुसार सब के साथ मित्रता का बर्ताव रखना चाहते हैं। किसी से हमारा द्वेष नहीं। हमें किसी के साथ घात नहीं करना है और हम उम्मीद करते हैं कि कोई हमारे साथ भी ऐसा न करेगा। हमारी एक ही आशा और अभिलाषा है कि हम सबके लिए स्वतंत्रता और मानव-जति में शांति और सुख स्थापित करने में मददगार हो सकें।" सरदार पटेल के विचारानुकूल स्वतंत्र भारत का पहला कर्तव्य यह था "कि भीतरी और बाहरी खतरों से वह अपनी अच्छी तरह रक्षा करे।" डोमीनियन सरकार, उपनिवेशों में स्थित भारतीयों की दशा सुधारना चाहती थी और एशियायी राष्ट्रों को संगठित करने के पक्ष में थी। पाकिस्तान में छूटे हुए भारतीयों की भी उसे चिंता थी। देश के विभाजन से भारत के अनेक राष्ट्रवादी नेता दुखी थे। खंडित देश की स्वतंत्रता का आनंद वे उसी प्रकार मना रहे थे जिस प्रकार एक घायल सिपाही युद्ध में विजय का आनंद मनाता है। सीमा पार के भाइयों की याद उन्हें सदा सताती थी। उन्हें आशा थी कि दोनों का पुनर्मिलन हो जायगा, किंतु जब तक यह न हो वे उन्हें पाकिस्तान में ही रहने का परामर्श देते थे। डा० राजेंद्र प्रसाद के विचार इस संबंध में इस प्रकार थे—"ऐसे लोगों को जो बँटवारे से दुखी हैं और पाकिस्तान में रह गये हैं, हम अपनी शुभ-कामना भेजते हैं। उनको घबड़ाना नहीं चाहिये; अपने घर-बार, धर्म और संस्कृति को बचाये रखना तथा हिम्मत और सहिष्णुता से काम लेना चाहिये। उनके इस संबंध में भय करने का कोई कारण नहीं कि उनके साथ ठीक और न्यायपूर्ण व्यवहार न होगा और उनकी रक्षा न होगी। जो आश्वासन दिया गया है उसको मान लेना चाहिये और आज जहाँ पर वे रहते हैं, वहीं अपनी वफादारी और सचाई से अपनी मुनासिब जगह उन्हें हासिल करनी चाहिये।"

डोमीनियन सरकार का आंतरिक शासन; देश का बँटवारा—देश का बँटवारा डोमीनियन सरकार की सर्वप्रथम समस्या थी। संसार के इतिहास में किसी अन्य ऐसे उदाहरण का मिलना असंभव है जब कि इतने बड़े देश का बँटवारा इतने कम समय में किया गया हो। भारत में ही जब बर्मा पृथक किया गया था और सिंध तथा उड़ीसा के नये प्रांत बने थे, उस समय

बँटवारे के काम में इससे कहीं अधिक समय लगा था। बर्मा को पृथक करने में दो बरस और उड़ीसा को बिहार से पृथक करने में दो बरस लगे थे। किंतु भारत के विभाजन में केवल छः महीने लगे। लार्ड माउंटबैटेन के विचारानुकूल, जब विभाजन का सिद्धांत स्वीकृत हो चुका था, तो शीघ्रातिशीघ्र ही उसे कार्यान्वित करना ही उचित था। अतएव वे इस काम में एकाग्र-चित्तता से लग गये। विभाजन संबंधी समितियों ने भी उन्हीं की भाँति तत्परता और लगन से काम किया। इसका तथा दोनों नव-निर्मित्त डोमीनियनों के परस्पर सहयोग का प्रभाव यह हुआ कि विभाजन-संबंधी समस्त काम इतने कम समय में संपन्न हो गया, जिसका ब्रिटिश सरकार तक को अनुमान न था। सरदार वल्लभ भाई पटेल के विचार इस संबंध में इस प्रकार थे—'मुझे निश्चय है कि जब इस कठिन और चिंतापूर्ण स्थिति का इतिहास लिखा जायगा जिसमें से हम गुजरे हैं, तो विभाजन को संयुक्त प्रयास और कार्य-संपादन की योग्यता का एक चमत्कार समझा जायगा।''

शांति और व्यवस्था की स्थापना—भारतीय डोमीनियन की दूसरी महत्वपूर्ण समस्या शांति और व्यवस्था की रक्षा की समस्या थी। देश के बँटवारे तथा सांप्रदायिकता-जनित उन्माद के कारण सीमा-प्रांत, सिंध, पश्चिमी और पूर्वी पंजाब तथा दिल्ली के प्रांतों में रक्तपात, नर-संहार, लूटमार और आगजनी के जो भयंकर कांड हुए, उनका स्मरण करके आज भी रोंगटे खड़े हो जाते हैं। पैशाचिकता का नग्न तांडव हुआ। चलती हुई रेलगाड़ियों से यात्री नीचे फेंके गये, स्त्रियाँ भगायी गयीं और सहस्रों निर्दोष व्यक्ति हताहत हुए। पाकिस्तान में होनेवाले अत्याचारों का विवरण सुनकर, जिसे शरणार्थी सजल नेत्रों से सुनाते थे, लोगों के हृदय में बदला लेने की भावना का उदय होता था। इस प्रकार डोमीनियन सरकार की शांति और व्यवस्था की रक्षा की समस्या एक कठिन समस्या थी। तिस पर संयुक्त प्रांतीय हिंदू-सभा ने, कांग्रेसी शासन की सांप्रदायिक नीति के कारण, सक्रिय आंदोलन आरंभ किया था और कुछ ही दिनों पश्चात् एक ऐसे मुस्लिम-एंग्लो-इंडियन षडयंत्र का पता चला था जिसका उद्देश्य सरकार का ध्वंश करना था। डोमीनियन सरकार ने अपूर्व दृढ़ता से इस परिस्थिति का सामना किया। भारत और पाकिस्तान की सरकारों ने मिलकर शांति संबंधी कई अपीलें निकालीं और भारतीय नेताओं ने भी इस प्रकार की अपीलें कीं। गांधीजी ने तो इस संबंध में आमरण व्रत तक आरंभ

किये। सरकार की ओर से सैनिक कार्रवाई भी की गयी और वे लोग गिरफ्तार कर लिये गये जो शांति और व्यवस्था के भंग के अपराधों के दोषी थे। कुछ सरकारी नौकरों को, जिनके विषय में सांप्रदायिक पक्षपात् की शिकायतें आयीं, कड़ी चेतावनी दी गयी। फलस्वरूप शांति और व्यवस्था की वह समस्या जो १५ अगस्त सन् १९४७ को बड़ी जटिल प्रतीत होती थी, क्रमशः हल हो गयी और भारतीय डोमीनियन और तत्पश्चात स्वतंत्र भारत के हिंदू और मुसलमान निवासी उसी प्रकार रहने लगे, जिस प्रकार वे देश के बँटवारे के पूर्व रहते थे।

शरणार्थियों की समस्या—डोमीनियन सरकार की तीसरी समस्या शरणार्थियों की समस्या थी। संसार के इतिहास में किसी अन्य ऐसे उदाहरण का मिलना कठिन है जिसमें इतनी अधिक जन-संख्या का विनिमय हुआ हो। बँटवारे के पूर्व ही सांप्रदायिक वैमनस्य ने देश को अपने पंजे में कर लिया था। फलस्वरूप जिन क्षेत्रों में मुसलमान बहु-संख्यक थे, वहाँ के हिंदू अपने को सुरक्षित न समझते थे और जिन क्षेत्रों में हिंदू बहु-संख्यक थे, वहाँ के मुसलमानों की भावना इसी प्रकार की थी। अतएव पाकिस्तान की हिंदू जनता, भारत की ओर आने लगी और भारतीय डोमीनियन में, पूर्वी पंजाब की मुस्लिम जनता, पाकिस्तान की ओर जाने लगी। कुछ अपनी चल संपत्ति को लेकर पैदल अथवा बैलगाड़ियों में चले और कुछ के निष्क्रमण का प्रबंध सरकार को करना पड़ा। स्पेशल रेलगाड़ियाँ चलायी गयीं, मोटरों का प्रबंध हुआ और हवाई जहाज तक प्रयुक्त हुए। लगभग ६० लाख शरणार्थी इन दिनों पाकिस्तान से भारत को आये, जिनमें ३५ लाख के निष्क्रमण में सरकार ने सहायता पहुँचायी। कालांतर में पूर्वी पाकिस्तान की सांप्रदायिक नीति के कारण लगभग ९ लाख शरणार्थी भारत में और आये।

इसमें संदेह नहीं कि शरणार्थियों के निष्क्रमण की समस्या कठिन थी किंतु इससे भी अधिक कठिन समस्या उनके बसाने तथा उनकी जीविका के प्रबंध की थी। इस कठिन काम को करने के लिए डोमीनियन के मंत्रि-मंडल में पुनर्वास-मंत्री की नियुक्ति हुई। बहुत से शरणार्थी पूर्वी पंजाब और दिल्ली के प्रांतों मे बसाये गये और कुछ बंबई और संयुक्त-प्रांत में। भारतीय रियासतों ने भी उन्हें अपनी रियासतों में बसने की सुविधा दी। उनके भोजन और वस्त्र तथा उनके बच्चों की निःशुल्क शिक्षा का प्रबंध किया गया। आरंभ में भारत-सरकार की नीति का मूलमंत्र, समस्त उपलब्ध साधनों द्वारा, शरणार्थियों का

सहायता करना था। उनके लिए शरणार्थी-शिविर खोले गये।[१] कालांतर में भारत-सरकार की उक्त नीति में परिवर्तन हुआ। अब वह शरणार्थियों को अपने पैरों पर खड़ा करना चाहती थी। फलस्वरूप शरणार्थी-शिविर क्रमशः तोड़ दिये गये और शरणार्थियों के रहने के लिए बड़े शहरों के निकट उपनिवेश-नगर बसाये गये।[२] शरणार्थी-कृषकों को खेती के लिए भूमि दी गयी और बहुतों को काम-काज आरंभ करने के लिए ऋण दिया गया। शरणार्थियों को काम-काज की शिक्षा देने के लिए कामकाजी शिक्षा-केंद्र खोले गये, हरिजनों की सहायता की व्यवस्था की गयी, बालक-बालिकाओं की शिक्षा का प्रबंध किया गया और बेकार लोगों को काम-काज दिलाने के लिए सरकारी कार्यालय खोले गये। इस प्रकार शरणार्थियों की वह समस्या जो सन् १९४७ में बड़ी कठिन प्रतीत होती थी, एक प्रकार से हल हो गयी सी विदित होने लगी।

खाद्यान्न की समस्या—डोमीनियन सरकार की चौथी समस्या खाद्यान्न की समस्या थी। देश के विभाजन के कारण भारतीय यूनियन को पूर्वकालीन भारत की ७७·७% जन-संख्या और ७३·१% भूमि मिली थी। देश का वह प्रदेश, जिसमे सिंचाई का प्रबंध उच्च कोटि का था और जिसकी उपज आवश्यकता से अधिक थी, पाकिस्तान में चला गया था। फल-स्वरूप भारत में खाद्यान्न की कमी थी, जिसकी पूर्ति के लिए विदेशों से अन्न मँगाना पड़ता था।[३] इसके कारण देश की सुदृढ़ आर्थिक स्थिति को धक्का लगता था।

---

१. कुरुक्षेत्र, दिल्ली और पूर्वी पंजाब मे शरणार्थियों को अस्थायी तौर पर शिविरों में बसाने के लिए ३७९४८ सैनिक तंबू दिये गये और १,५०,००० छोटे तंबू पूर्वी पंजाब को भेजे गये। २६ दिसंबर सन् १९४७ तक ८,५५,९१० रजाइयाँ और ३,४०,४५७ कंबल शरणार्थियों के लिए भेजे गये। ७,००० जाकिट, १ ००,००० स्वेटर, १,२५,००० पौंड ऊन, २,००,००,००० तैयार कपड़े और ३९,०५,००० गज सूती कपड़ा शरणार्थियों में बाँटा गया।

२. मार्च सन् १९५० तक १९,९०० पक्के और २६,६०० अध-पक्के मकान शरणार्थियों के रहने के लिए बन चुके थे और ११,३०० पक्के और १०,५०० अध-पक्के मकान बनाये जा रहे थे।

३. सन् १९४९–५० में भारत-सरकार ने इस काम में २८,७०,००,००० रु० खर्च किये थे।

अतः सरकार ने यथाशक्ति स्वपर्याप्त होने का प्रयत्न किया था। उसने ऊसरों को हल के तले लाने का प्रयत्न किया, नहरों को बनवा तथा पाताल कुँओं को खोदवा कर सिंचाई का प्रबंध किया, रासायनिक खाँदों के लिए फैक्टरियाँ खोलीं और किसानों को अच्छे बीज दिये। वह कृषि में वैज्ञानिक आविष्कारों के प्रयोग के लिए प्रयत्नशील थी। सब लोगों तक अन्न पहुँचाने के लिए, उसने शहरों में राशन आरंभ किया और कृषि एवं जानवरों के विषय में वैज्ञानिक अन्वेषण कराया। इन सब बातों से उसे आशा थी कि दिसंबर सन् १९५१ तक भारत खाद्यान्न में स्वपर्याप्त हो जायगा।

दस्तकारियों को अवस्था—डोमीनियन सरकार की पाँचवीं समस्या, दस्तकारियों के संबंध में थी। देश के विभाजन का कुप्रभाव भारतीय दस्तकारियों पर भी पड़ा था। कई दस्तकारियों के केंद्र भारतीय प्रदेश में आये थे, पर उनके लिए कच्चे माल देने वाले प्रदेश पाकिस्तान में चले गये थे श्रमजीवियों की भी कमी थी। जो कुछ थे उनकी अवस्था संतोषप्रद न थी। और वे हड़ताल आदि के द्वारा स्वार्थसाधन में लिप्त थे। यातायात के उपयुक्त साधनों का अभाव था। अन्य आवश्यक बातों के लिए उनकी माँग इतनी अधिक थी कि दस्तकारियों के लिए न तो कच्चा माल ठीक समय पर मिल सकता था और न बनी हुई वस्तुओं की बिक्री की यथोचित व्यवस्था थी। पूँजी की भी कमी थी। इन बातों के कारण स्वतंत्र होने के समय, भारतीय दस्तकारियों की अवस्था अधिक आशाजनक न थी।

भारत की डोमीनियन सरकार ने, दस्तकारियों की अवस्था सुधारने का यथाशक्ति प्रयत्न किया। कच्चे माल की प्राप्ति के लिए दूसरे देशों, विशेषतया पाकिस्तान से व्यापारिक संधियाँ की गयीं। श्रमजीवियों की दशा सुधारने के लिए सरकार ने कई अधिनियम बनाये। इन सब में इस बात का ध्यान रखा गया कि मजदूर छोटी-छोटी बातों में हड़ताल का सहारा न पकड़ें। यातायात के साधनों की सुविधा, दस्तकारियों को दी गयी। विकास की दृष्टि से सरकार ने दस्तकारियों को तीन भागों में विभक्त किया। पहले वर्ग में वे दस्तकारियाँ थीं जिनका एकाधिकार केंद्रीय सरकार को था। दूसरे वर्ग में वे दस्तकारियाँ थीं जो आधार (Basic) दस्तकारियाँ कही जाती थीं, जैसे लोहे, कोयले, जहाज बनाने आदि की दस्तकारियाँ। इनके भावी विकास का उत्तरदायित्व, भारत-सरकार ने अपने

ऊपर लिया। तीसरे वर्ग में वे दस्तकारियाँ थीं जिनका सरकार नियमन और नियंत्रण करती थीं। दस्तकारियों के द्रुत विकास के लिए, सरकार ने विदेशी पूँजी की आवश्यकता को स्वीकार किया, पर सावधानी के साथ आवश्यक नियंत्रण के अंतर्गत।

रियासतों की समस्या—डोमीनियन सरकार की छठी समस्या का संबंध भारतीय रियासतों से था।

भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम के पास होने के पूर्व, लार्ड माउंटबैटेन और सरदार वल्लभ भाई पटेल के प्रयत्नों के कारण हैदराबाद के अतिरिक्त, अन्य सब रियासते निर्धारित शर्तों के अनुसार भारतीय यूनियन में सम्मिलित हो गयीं थी। जूनागढ़ ने भौगोलिक अनिवार्यताओं की अवहेलना करके, पाकिस्तान से मिलना चाहा। किंतु भारतीय डोमीनियन ने इसे स्वीकार न किया। इस संबंध में उसका सिद्धांत जनानुमति के अनुसार, अंतिम निर्णय के पक्ष में था। कालांतर में जनमत-संग्रह किया गया और निर्णय भारतीय यूनियन के साथ मिलने के पक्ष में हुआ। काश्मीर का मामला संयुक्त राष्ट्र-संघ की सुरक्षा-समिति के विचाराधीन कर दिया गया और हैदराबाद की रियासत पुलिस कार्रवाई के पश्चात् भारतीय यूनियन से मिल गयी।

५६३ भारतीय रियासतों में अधिकांश बहुत छोटी थीं। भारत के संघ-संविधान में उनका स्वतंत्र इकाइयों के रूप में सम्मिलित होना असंभव था। देशी-राज्य-प्रजा-सम्मेलन ने, लुधियाना के अधिवेशन में, इस संबंध में अपने विचार इस प्रकार प्रगट किये थे—

"भविष्य के संघ-शासन में वे ही रियासतें या उनके संघ स्वतंत्र इकाइयों के रूप में सम्मिलित हो सकेंगे जिनकी जनसंख्या कम से कम २० लाख और आय ५० लाख रुपये सालाना होगी। जो रियासतें इस शर्त को पूरा न कर सकेंगी, उन्हें पड़ोस के प्रांत में मिला लिया जायगा।"

चार बरस के पश्चात यह बात दोहरायी गयी और जनता की सामाजिक और आर्थिक उन्नति को, सम्मिलित होने का मुख्य आधार समझा गया। डोमीनियन सरकार ने रियासतों के प्रति न्यूनाधिक इसी नीति को कार्यान्वित किया। कुछ छोटी रियासतें भारतीय प्रांतों में मिला ली गयीं, कुछ को मिलाकर समूह बनाने की व्यवस्था की गयी और कुछ स्वतंत्र इकाइयों के रूप में स्वीकार कर ली गयीं।

रियासतों के संबंध में किये गये उक्त परिवर्तन महत्वपूर्ण थे, किंतु इनसे भी अधिक महत्वपूर्ण वह भावना थी जिसके कारण रियासतों में शासन-सुधार किये गये। भारतीय नरेश और नवाब, ब्रिटिश छत्रछाया में राजतंत्र का राग अलापते और लोकतंत्र और उससे संबंधित आंदोलनों की निंदा करते थे; वहाँ की जनता नागरिकता के अधिकार तक से वंचित थी। डोमीनियन सरकार के काल में यह व्यवस्था पूर्णतया बदल गयी और एक के पश्चात् दूसरे नरेश ने अपनी रियासत में उत्तरदायी शासन स्थापित करने की घोषणा की। कालांतर में ठोस संघ की आवश्यकता के कारण उन्होंने भारत के गणतंत्रात्मक संविधान को स्वीकार करके, अपनी रियासतों या रियासती-समूहों के लिए उसी प्रकार की सरकार को स्वीकार किया जिसकी व्यवस्था पूर्वकालीन ब्रिटिश भारत से बने हुए राज्यों के लिए की गयी थी।

विरोधी दल की समस्या—भारत के डोमीनियन संविधान में उत्तरदायी सरकार की व्यवस्था थी। उसकी सफलता के लिए राजनीतिक दलों का होना अनिवार्य है। बहुसंख्यक दल सरकारी दल हो जाता है और अल्पसंख्यक दल विरोधी दल। अल्पसंख्यक-दल सरकारी कामों की आलोचना करता, तथा उसे अपने कामों में सतर्क रखता है। इंगलैंड में तो विरोधी दल के नेता को सरकारी वेतन मिलता है। विरोधी दल के अभाव या उसकी अतिशय दुर्बलता में सरकारी दल मनमानी करने लगता है। भारतीय डोमीनियन की दशा न्यूनाधिक इसी प्रकार की थी। विरोधी दलों का अस्तित्व ही न था। भारतीय विधान-मंडल में कांग्रेस का अकाट्य बहुमत था और यद्यपि देश में कांग्रेस पार्टी के विरोधियों की संख्या कम न थी, तो भी संगठित विपक्षी दल की अनुपस्थिति में, उनके वोट विपक्षी अभ्यर्थियों केंद्रित नहीं किये जा सकते थे। देश की उक्त अवस्था उत्तरदायी सरकार के अनुकूल न थी। अतः प्रभावशाली विरोधी दल के निर्माण का प्रश्न भारतीय डोमीनियन के सम्मुख था।

कांग्रेस की स्थिति में परिवर्तन—स्वतंत्रता के पश्चात् कांग्रेस की स्थिति में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गये। सन् १९४७ के पूर्व वह समस्त देश की प्रतिनिधि संस्था थी और कांग्रेस के अध्यक्ष को राष्ट्रपति कहा जाता था। स्वतंत्रता के पश्चात् उसमें कई विच्छेद हुए। पहले समाजवादी उससे बाहर हो गये और तत्पश्चात् मद्रास और उत्तर-प्रदेश के कुछ कांग्रेसी सदस्य सरकारी बेंचों से अलग बैठने लगे। बंगाल में श्री प्रफुल्ल घोष की अध्यक्षता

में 'कृषक-प्रजा-मजदूर' पार्टी का जन्म हुआ। इन विच्छेदों के कारण कांग्रेस समस्त राष्ट्र की प्रतिनिधि-संस्था न रहकर एक दल की प्रतिनिधि-संस्था हो गयी।

सरकार और राजनीतिक दल में क्या संबंध होना चाहिये, यह भी डोमीनियन सरकार की एक महत्वपूर्ण समस्या थी। सन् १९४७ में आचार्य कृपलानी ने अध्यक्ष-पद से त्याग-पत्र देकर, देश का ध्यान इस समस्या की ओर प्रभावशाली ढंग से आकर्षित किया था। उनके मतानुकूल यह खेद की बात थी कि कांग्रेस कार्य-पालिका और केंद्रीय सरकार दोनों एक ही प्रकार के मतों को प्रगट करती थीं। उनके सम्मुख एक प्रश्न यह भी था कि कांग्रेस उस समय तक सरकार को अपना सक्रिय सहयोग कैसे दे सकती थी, जब तक उसके अध्यक्ष को उन सब महत्वपूर्ण प्रश्नों से अवगत न कराया जाय, जो राष्ट्र के सम्मुख थे। उन्हें इस प्रश्न का संतोष-जनक उत्तर न मिला। फलस्वरूप वे कांग्रेस के अध्यक्ष के पद से अलग हो गये।

कांग्रेस के भविष्य की समस्या भी देश के सम्मुख थी। उसका ध्येय भारत को स्वतंत्र बनाना था। कुछ लोगों का विचार था कि इस ध्येय की प्राप्ति के पश्चात कांग्रेस को विघटित कर देना चाहिये था। गांधीजी उसे लोक-सेवक-मंडल में परिवर्तित कर देना चाहते थे। किंतु अन्य कांग्रेसवादी इस मत के न थे। कांग्रेस के रचनात्मक कार्य-क्रम की पूर्ति के लिए वे उसे एक ठोस संस्था में परिवर्तित कर देना चाहते थे। कालांतर में दूसरे पक्ष वालों की विजय हुई। कांग्रेस राष्ट्र की प्रतिनिधि-संस्था न रह कर एक राजनीतिक दल में परिवर्तित हो गयी।

स्वतंत्र भारत के उक्त पर्यालोचन से यह स्पष्ट है कि भारत की डोमीनियन सरकार को अपने ढाई बरस के शासन-काल में अनेक भीतरी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा था। वह उनमें से अधिकांश का सफलतापूर्वक दूर कर सकी थी और जो कुछ बची थीं उनके दूर करने के लिए प्रयत्नशील था। उसके विपक्ष में सब से महत्वपूर्ण बात देश की आर्थिक स्थिति थी। वस्तुओं का मूल्य बराबर बढ़ता जा रहा था। सरकार इसके रोकने में असमर्थ थी। कुछ लोगों के के विचार में, देश की उक्त परिस्थिति, सरकारी नियंत्रणों के कारण थी, पर सरकार इस विचार से सहमत न थी।

गांधी जी की हत्या—स्वतंत्र भारत के आंतरिक शासन विशेषतया सांप्रदायिकता संबंधी उसकी नीति से भारतीय जनता के कुछ लोग असंतुष्ट थे।

उनका विचार था कि डोमीनियन की सरकार कांग्रेस की पूर्वकालीन नीति की भाँति मुसलमानों का तोषण और हिंदू-हितों का बलिदान कर रही थी। पाकिस्तान की सांप्रदायिक नीति के कारण उनके विचार और भी उत्तेजित हो रहे थे। वहाँ एक मुस्लिम राज्य की स्थापना की जा रही थी जो शरीयत पर आधारित था और जिसमें गैर-मुसलमानों का लेशमात्र भी स्थान न था। विपरीत इसके भारत में एक धर्म-निरपेक्ष राज्य (Secular State) स्थापित किया जा रहा था, जिसमें धर्म का विचार किये बिना सब व्यक्तियों को स्वतंत्रतापूर्वक रहने तथा नागरिकता के अधिकारों के भोगने का अधिकार था। फलस्वरूप जब पाकिस्तान के हिंदू अपना सर्वस्व छोड़कर वहाँ से भाग रहे थे, भारत के मुसलमान स्वतंत्रतापूर्वक अपना जीवन बिता रहे थे। साथ ही उन्हें इस बात की भी आशंका थी कि पाकिस्तान के विरुद्ध युद्ध छिड़ने पर भारत के मुसलमान पंचम वर्ग की भाँति भारत को धोखा तथा पाकिस्तान का साथ देंगे और तब मुस्लिम लीगियों का यह नारा कि "हँस कर लिया है पाकिस्तान, लड़ कर लेंगे हिंदुस्तान" चरितार्थ हो जायगा। अतएव वे चाहते थे कि डोमीनियन सरकार तथा प्रांतीय सरकारें मुसलमानों के तोषण की नीति का परित्याग कर दें और अखंड भारत में हिंदू-राज्य स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील हों। राष्ट्रीय स्वयंसेवक-संघ और हिंदू-महासभा के कुछ उग्र सदस्य इस विचार के थे।

किंतु भारत की डोमीनियन सरकार उनकी यह बात मानने मे असमर्थ थी। इसमे संदेह नहीं कि उसने हिंदू महा-सभा के कार्य-क्रम की उचित बातों को मान लिया था किंतु उसके लिए यह असंभव था कि वह अपने राष्ट्रीय स्वरूप को छोड़ कर सांप्रदायिकता का आवरण धारण करे। अतएव सांप्रदायिकता के हिंसात्मक प्रदर्शनों को उसने कड़ाई के साथ दबाया। किंतु उससे भी अधिक कड़ाई गांधीजी के त्याग-बल की थी। कलकत्ते में सांप्रदायिक सद्भावना के लिए आमरण उपवास आरंभ करके उन्होंने वहाँ की परिस्थिति को विद्युत्-गति से बदल दिया था। दिल्ली में भी उनके उपवास का यही परिणाम हुआ था। धरा निर्दोषों के रक्त से रंजित होने से बचा ली गयी थी और नर-पैशाचिकता का नग्न तांडव न होने पाया था। हिंदू सांप्रदयिकता-वादियों की दृष्टि में गांधी जी के उक्त उपवासों का प्रभाव हिंदू-हितों के विरुद्ध था। हिंदू जाति तथा भारत-सरकार उनके प्राणों की रक्षा के लिए दबती जाती थी और मुसलमान और पाकिस्तान अधिकाधिक उद्दंड होते जा रहे थे।

ऐसी परिस्थिति में हिंदू-राष्ट्रवादी, कांग्रेसी सरकार तथा गांधी जी की ओर से कुछ खिंचने से लगे। उनके पास कोई ऐसी शक्ति तो न थी जिसके आधार पर वे प्रत्यक्ष रूप से गांधी जी तथा डोमीनियन सरकार का विरोध कर सकते। अतएव उन्होंने एक निर्मम, निंदनीय मार्ग अपनाया। सरकार के विरुद्ध षड़यंत्र रचा गया जिसका तथाकथित उद्देश्य डोमीनियन सरकार के मंत्रियों का वध था। गांधीजी की प्रार्थना-सभा में बम फेंका गया किंतु वार खाली गया। इसके दस दिन पश्चात् नाथूराम विनायक गोडसे नामक एक व्यक्ति ने ३० जनवरी सन् १९४८ को लगभग दो गज के फासले से, प्रार्थना सभा में जाते हुए गांधीजी पर, तीन बार गोली चलायी। "बापू" संसार से उठ गये और दूसरे दिन उनका नश्वर शरीर शीतल चंदन की लकड़ियों से जला कर भस्म कर दिया गया। अहिंसा का पुजारी हिंसा का शिकार बना और समस्त संसार उसके वियोग से शोकातुर हो, प्रकाश के लिए भटकने लगा। भारत-माता का वह लाल उससे छिन गया जिसने अपने को अनेक बार शृंखलाबद्ध करके उसे शृंखला-मुक्त करने का मार्ग दिखलाया था।

भारतीय डोमीनियन की राजधानी में 'बापू' की हत्या के कारण, डोमीनियन सरकार की सफलताओं का रंग बहुत कुछ फीका पड़ जाता है। वे लोग भी, जो हत्या के पूर्व दिन तक उसकी प्रशंसा करते थे, उस दिन से उसकी आलोचना करने लगे और इस बात पर जोर देने लगे कि डोमीनियन सरकार का गृह-विभाग अपने काम में असफल सिद्ध हुआ था तथा सरदार वल्लभ भाई पटेल के हाथ में तीन विभागों का होना अनुचित था। उनके काम के घटाने की बड़ी आवश्यकता थी। कुछ तो सरकार के पद-त्याग की चर्चा करने लगे और कुछ ने इस बात पर जोर दिया कि मंत्रि-मंडल में सांप्रदायिक मंत्रियों का होना ठीक न था। उनके विचार में भारतीय स्वतंत्रता की लड़ाई सांप्रदायिकता और पूँजीवाद के शासन के लिए नहीं लड़ी गयी थी। कालांतर मे डोमीनियन सरकार की पर-राष्ट्र-नीति की आलोचना की जाने लगी और काश्मीर के प्रश्न पर संयुक्त-राष्ट्र-संघ के रुख के आधार पर यह कहा जाने लगा कि डोमीनियन सरकार, पर-राष्ट्र-संबंध-संचालन में भी असफल सिद्ध हुई थी।

'बापू' की हत्या के कारण भारत का वातावरण पूर्णतया बदल गया। जो काम वे अपने जीवन काल में करना चाहते थे किंतु न कर सके थे, उनकी मृत्यु के पश्चात् वे सब स्वतः बड़ी शीघ्रता से होने लगे। सांप्रदायिकता का

अंत सा हो गया। नये संविधान में संयुक्त निर्वाचन की व्यवस्था की गयी है और सरकारी नौकरियों से सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व का अनुपात मिटा दिया गया है। भारत आज सचमुच एक धर्म-निरपेक्ष राज्य है जिसमें सब धर्मों के अनुयायी स्वतंत्रतापूर्वक रह तथा नागरिकता के अधिकारों का उपयोग कर सकते हैं। यही 'बापू' की हार्दिक इच्छा थी। इसी के लिए वे जीवन पर्यंत भारत-माता की सेवा में संलग्न थे।

१७

स्वतंत्रता से नये संविधान तक (२)

पर-राष्ट्र-संबंध-संचालन

पर-राष्ट्र-नीति के मूल सिद्धांत—राजदूत और राजदूतावास— भारत और राष्ट्रमंडल—भारत और दक्षिणी पूर्वी एशिया—भारत और चीन—भारत और कोरिया—भारत और जापान—भारत और दक्षिणी अफ्रीका—भारत में विदेशी क्षेत्र—भारत और तिब्बत—भारत और नैपाल—भारत और पाकिस्तान ; शरणार्थियों की संपत्ति ; आर्थिक बातें ; काश्मीर की समस्या ; हैदराबाद की समस्या ; विदेशी राज्यों का प्रभाव ; सांप्रदायिक वैमनस्य—भारत और संयुक्त राष्ट्र-संघ—पर-राष्ट्र संबंध के मूल सिद्धांतों का व्यावहारिक स्वरूप—पर-राष्ट्र-नीति की आलोचना ।

पर-राष्ट्र-नीति के मूल-सिद्धांत—भारतीय डोमीनियन के निर्माण के अवसर पर, भारतीय नेताओं ने डोमीनियन सरकार की पर-राष्ट्र-नीति के संबंध में कुछ वक्तव्य निकाले थे । यदि उनका तथा उनके पश्चात् निकाले गये वक्तव्यों का हम विश्लेषण करें, तो भारतीय डोमीनियन की पर-राष्ट्र-नीति के निम्नलिखित आधारभूत सिद्धांत मिलते हैं—

(१) संसार के दो प्रधान गुट्टों से अलग रहना । द्वितीय महासमर के पश्चात, संसार के विभिन्न देश दो गुट्टों में विभक्त हो गये थे । उनमें से एक सोवियट रूस को अपना नेता मानता था और दूसरा संयुक्त-राज्य-अमरीका को। दोनों की विचार-धाराओं में आधारभूत भेद थे । भारत इन दोनों गुट्टों में तटस्थ रहना चाहता था । वह प्रत्येक प्रश्न पर स्वतंत्रतापूर्वक विचार करके, स्वतंत्र निर्णय के पक्ष में था ।

(२) दक्षिणी-पूर्वी एशिया के देशों को, उनके हित तथा अन्य बातों के लिए, एक दूसरे से ग्रथित करना।

(३) जब कभी जिस किसी ढंग से संभव हो, संसार की शांति को बढ़ाना।

(४) निर्बल राष्ट्रों का पक्ष ग्रहण करना, चाहे ऐसा करने में उसे उन राष्ट्रों की अप्रसन्नता का ही सामना क्यों न करना पड़े, जिनका उनसे स्वार्थ-साधन होता हो।

(५) उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संयुक्त-राष्ट्रसंघ का अधिक से अधिक प्रयोग करना, जिनके लिए वह स्थापित किया गया था।

(६) संसार के विभिन्न देशों से अंतर्राष्ट्रीय संबंध स्थापित करना, जिससे भारत संसार की और संसार भारत की गतिविधि से परिचित हो जाय।

भारत की डोमीनियन सरकार का पर-राष्ट्र-संबंध-संचालन इन्हीं आधार-भूत सिद्धांतों के अनुसार हुआ था। केवल तटस्थता शब्द की अधिक विस्तृत व्याख्या कर दी गयी थी। पं० जवाहरलाल नेहरू के मतानुकूल, तटस्थता शब्द निरंतर सुप्तावस्था का द्योतक न था। वह उस सकारात्मक क्रियाशीलता का परिचायक था जिसके अनुसार शांति-भंग या स्वतंत्रता के खतरे के अवसरों पर आवश्यक कारवाई की जा सकती थी।

राजदूत और राजदूतावास—स्वतंत्र होने के पश्चात् भारत ने विभिन्न देशों के लिए अपने प्रतिनिधि नियुक्त किये। इनमें से कुछ को राजदूत (Ambassador), कुछ को पूर्ण अधिकारी दूत (Envoy Plenipotentiary), कुछ को हाई कमिश्नर और कुछ को कांसल-जनरल की उपाधि मिली। दूसरे देशों के प्रतिनिधि भारत में आये। उनके भी कई वर्ग थे। इन राजदूतों और प्रतिनिधियों के कारण, अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की प्राप्ति तथा अंतर्राष्ट्रीय संबंध-संचालन में बड़ी सुविधा मिली। भारत को संसार के विभिन्न देशों में होनेवाली बातों की प्रामाणिक सूचना मिलने लगी और अन्य देशों को भारत में होनेवाली बातों की। विदेशों से सांस्कृतिक संबंधों की स्थापना के लिए 'सांस्कृतिक संबंधों की भारतीय कौंसिल' (Indian Council of Cultural Relations) की स्थापना की गयी और कभी-कभी भारतीय मंत्री तथा नेता विदेशों को इसी उद्देश्य से भेजे गये। विदेशों के सांस्कृतिक प्रतिनिधि-मंडल भी इसी उद्देश्य से भारत में आये।

भारत और राष्ट्रमंडल—भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम के पूर्व भारत

ब्रिटिश साम्राज्य का अंग था। स्वतंत्रता अधिनियम के पश्चात् उसे डोमीनियन का दर्जा मिला और यह ब्रिटिश राष्ट्रमंडल का सदस्य बन गया। इनका परस्पर संबंध वेस्टमिंस्टर स्टेच्यूट के अनुसार था। डोमीनियन की स्थिति में ही भारत ने संपूर्ण प्रभुता-संपन्न लोकतंत्रात्मक गण-राज्य होने का निश्चय किया। फलस्वरूप संवैधानिक दृष्टि से उसका ब्रिटिश राष्ट्रमंडल में रहना असंभव हो गया। राष्ट्रमंडल के सब सदस्य 'डोमीनियन' कहे जाते थे, भारत एक स्वतंत्र राज्य था। उनमें से प्रत्येक में क्राउन (Crown) के प्रतिनिधि-स्वरूप गवर्नर जनरल का अस्तित्व था, किंतु स्वतंत्र भारत में ऐसा न हो सकता था। राष्ट्रमंडल का नाम ही ब्रिटिश राष्ट्रमंडल था और भारतीय राष्ट्र ब्रिटिश राष्ट्र न था। किंतु भारत का ब्रिटिश राष्ट्रमंडल से पूर्णरूपेण अलग हो जाना न तो उसके अन्य सदस्यों को पसंद था और न स्वयं भारत को। कुछ लोगों के मतानुकूल वह भारत के भी हित में न था। किंतु संपूर्ण प्रभुता-संपन्न लोकतंत्रात्मक गण-राज्य को राष्ट्रमंडल में रखने की समस्या भी बड़ी कठिन थी। इसके हल के लिए अप्रैल सन् १९४९ में राष्ट्रमंडल के प्रधान मंत्रियों का एक सम्मेलन लंदन में हुआ। उसमें यह निश्चित किया गया कि ब्रिटिश राष्ट्रमंडल को भविष्य में केवल राष्ट्रमंडल कहा जायगा। डोमीनियन शब्द को निकाल दिया गया और क्राउन के स्थान पर राजा (King) शब्द स्वीकार किया गया। भारत ने स्वतंत्र सहयोग के लिए इंगलैंड के राजा की आवश्यकता को स्वीकार किया। समझौते की उक्त भावना के कारण भारत राष्ट्रमंडल का सदस्य बना रहा।

स्वतंत्र भारत के उक्त निर्णय से कुछ लोग संतुष्ट न थे। सैद्धांतिक दृष्टि से इस बात पर जोर दिया जाता था कि किस प्रकार एक संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न देश दूसरे देश के राजा की आवश्यकता के बंधन को स्वीकार करके स्वतंत्र सहयोग के आधार पर राष्ट्रमंडल में रह सकता था। कुछ लोग कांग्रेस की पूर्वकालीन घोषणाओं के आधार पर, राष्ट्रमंडल की सदस्यता को अनुचित समझते थे और कुछ यह कहते थे कि नये संबंध के कारण, भारत ने तटस्थता की नीति का परित्याग करके, एंग्लो-अमरीकन गुट्ट को परोक्ष रूप से स्वीकार कर लिया था। डोमीनियन सरकार के मतानुकूल ये आलोचनाएँ व्यर्थ थीं। नये संबंध द्वारा भारत-सरकार ने कोई ऐसा काम नहीं किया था, जो उसकी पूर्ण स्वतंत्रता तथा पर-राष्ट्र-संबंध में तटस्थता की नीति के अनुकूल न था।

भारत और दक्षिणी-पूर्वी एशिया—स्वतंत्रता के पश्चात ही भारत

को दक्षिणी-पूर्वी एशिया की राजनीति में काफी दिलचस्पी लेनी पड़ी। कोरिया से इंडोनेशिया तक का समस्त प्रदेश उथल-पुथल की अवस्था में था। दो प्रतिद्वंदी अपनी विचारधाराओं एव कार्य-पद्धति के कारण, इसकी अवस्था को और भी अधिक बिगाड़ने में लगे थे। एंग्लो-अमरीकन गुट्ट के देश इसे अस्त-व्यस्त अवस्था में इस लिए रखना चाहते थे, कि युरुप के विभिन्न देश, अपनी मौजूदा स्थिति को सुधार कर, इसे पुनः अपने आधिपत्य में रखने के योग्य बन जायें। साम्यवादियों का प्रभाव भी नित्यप्रति बढ़ता जा रहा था पर संभवतः इतना अधिक नहीं, जितना एंग्लो-अमरीकन गुट्ट के लोग कहते थे। इन दोनों प्रतिद्वंदियों के बीच में, इस प्रदेश के विभिन्न देशों के देशभक्त थे, जो अपने देशों को साम्राज्यवादी शक्तियों के पंजे से छुड़ा कर, संसार के अन्य स्वतंत्र राष्ट्रों की भाँति, मर्यादापूर्वक रखना चाहते थे।

निर्बल जातियों का उभारना, स्वतंत्र भारत की पर-राष्ट्र-नीति का एक मूल मंत्र था। दक्षिणी-पूर्वी एशिया में उसने इसी नीति को कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया। जब हॉलैंड ने इंडानेशिया की नवनिर्मित रिपब्लिक पर नृशंस अत्याचार आरंभ किये, भारत ने इस समस्या पर विचार करने के लिए एशियायी देशों के एक सम्मेलन को आमंत्रित किया। इसके पूर्व सन् १९४७ में इस प्रकार का एक गैर-सरकारी सम्मेलन हो चुका था। २० जनवरी सन् १९४९ से नये सम्मेलन के अधिवेशन दिल्ली में आरंभ हुए और इसमें एशिया के १७ विभिन्न देशों ने, जो संयुक्त-राष्ट्र संघ के भी सदस्य थे, भाग लिया। भारत के कहने पर, विभिन्न एशियायी देशों ने, हालैंड के हवाई जहाजों को अपने प्रदेश के ऊपर से जाने को मना कर दिया। सम्मेलन ने इंडोनेशिया के संबंध में तीन प्रस्ताव पास किये। पहले में संयुक्त-राष्ट्र-संघ की सुरक्षा-परिषद से यह सिफारिश की गयी थी कि १ जनवरी सन् १९५० तक इंडोनेशिया की प्रभुता उसे हस्तांतरित कर दी जाय। दूसरे में सम्मिलित विभिन्न राज्यों से यह कहा गया था कि वे संयुक्त-राष्ट्र संघ में अपने प्रतिनिधियों तथा राजदूतों को इस संबंध में एक दूसरे के साथ परामर्श करने का आदेश दें। तीसरे में उस व्यवस्था पर जोर दिया गया था जिसके अनुसार सदस्य-राज्य एक दूसरे का परामर्श लें तथा एक दूसरे के साथ सहयोग कर सकें। भारत द्वारा निर्दिष्ट उद्देश्य से एशियायी सम्मेलन के बुलाये जाने के कारण, कुछ देशों में सनसनी फैली। उसकी आलोचना यह कह कर की गयी कि वह एशियायी देशों का नेतृत्व करना चाहता था और एक पृथक एशियायी

गुट्ट के बनाने के लिए प्रयत्नशील था। इसमें कोई आश्चर्य की बात न थी। स्वार्थपरायण देश साधारणतया इस प्रकार की आलोचना करते हैं। सम्मेलन के आमंत्रित करने में, भारत न तो एक पृथक् गुट्ट के निर्माण का दोषी था और न एशिया के नेतृत्व ग्रहण करने का। पर संयुक्त-राष्ट्र संघ के अंतर्गत वह यह अवश्य चाहता था कि अमरीकन पूँजी की सहायता से युरुप के देश, एशियायी देशों के न्यायोचित राष्ट्रीय के उत्थान में अड़चन न डाल सकें।

इंडो चाइना के संबंध में भारत का दृष्टिकोण न्यूनाधिक इसी प्रकार का था। यह प्रदेश फ्रांस के कानूनी आधिपत्य में था, पर यहाँ के निवासियों ने, फ्रांस का विरोध करके, वियतनाम (Vietnam) नाम की रिपब्लिक का निर्माण किया। फ्रांस ने, इसे दबाने के लिए, कंबोडिया के भूतपूर्व सम्राट, बाओ दायी, की अध्यक्षता में अपनी कठपुतली सरकार की स्थापना की। इंडो-चाइना का लगभग नौ-दशांश वियतनाम रिपब्लिक के अधीन था और एक दशांश बाओ दायी के अधीन। साम्यवादी चीन ने वियतनाम रिपब्लिक को अभिज्ञात कर लिया और भारत ने भी यही किया। पं० जवाहरलाल नेहरू के मतानुकूल भारत उस सरकार के अभिज्ञात करने मे असमर्थ था, जो सैनिक बल पर अवलंबित थी और जिसकी रक्षा और पर-राष्ट्र संबंध-संचालन का उत्तरदायित्व एक गैर-एशियायी शक्ति के अधीन था।

दक्षिणी-पूर्वी एशिया की स्थिति पर, १० जनवरी सन् १९५० को बुलाये गये कोलंबो-सम्मेलन में भी, विचार किया गया। इसमे राष्ट्रमंडल के वैदेशिक मंत्री सम्मिलित हुए थे। सम्मेलन के कार्यक्रम में, दक्षिणी-पूर्वी एशिया के संबंध में निम्नलिखित तीन महत्वपूर्ण बातें सम्मिलित की गयी थीं—(१) प्रदेश का आर्थिक सुधार, (२) साम्यवादी प्रचार रोकने की समस्या, (३) प्रदेश की रक्षा की समस्या। सम्मलन के मतानुकूल दूसरी समस्या के हल के लिए यह आवश्यक था कि इस प्रदेश का आर्थिक विकास किया जाय। अतएव राष्ट्र-मंडल के विभिन्न सदस्यों ने, इस काम की पूर्ति के लिए, इस प्रदेश में अपने हित के अनुपातानुसार सहायता देने का वचन दिया। रक्षा के लिए राष्ट्र-मंडल के कुछ सदस्य अटलांटिक-पैक्ट की भाँति एक पैसीफिक पैक्ट के पक्ष में थे। किंतु पं० जवाहरलाल नेहरू इसके पक्ष में न थे। फलस्वरूप ऐसे पैक्ट का निर्माण न हो सका।

भारत और चीन—चीन के संबंध में भारत की डोमीनियन को एक नाजुक परिस्थिति का सामना करना पड़ा। साम्यवादी प्रसार के पूर्व, भारत

चीन की राष्ट्रीय सरकार के अनुकूल था। चीन की पीपुल्स रिपब्लिक की घोषणा के पश्चात्, उसके सम्मुख लाल चीन की सरकार के अभिज्ञात करने का प्रश्न आया। आरंभ में इंगलैंड और अमरीका लाल चीन के विरोधी थे। भारत राष्ट्रमंडल का सदस्य था और कुछ लोगों का अनुमान था कि वह इस बात में इंगलैंड का साथ देगा। ऐसा करने से वह निश्चित रूप से ऐंग्लो-अमरीकन गुट्ट के अंतर्गत आ जाता। लाल चीन के अभिज्ञात करने से इंगलैंड और अमरीका के विरोध की आशंका थी। किंतु भारत ने इस समस्या के हल में किसी भी गुट्ट का साथ न दिया। स्वतंत्र निर्णय के आधार पर उसने लाल चीन की सरकार को अभिज्ञात कर लिया। कालांतर में आर्थिक जोखिम के कारण इंगलैंड ने भी लाल चीन की सरकार को अभिज्ञात कर लिया।

भारत और कोरिया—दूसरे महासमर के पूर्व कोरिया जापान के अधीन था। वहाँ के निवासी इसे नापसंद करते थे और स्वतंत्र कोरिया के निर्माण के पक्ष में थे। फल-स्वरूप महासमर के काल में ही याल्टा (Yalta) और पोट्सडैम (Potsdam) के समझौतों के अनुसार, मित्र-राष्ट्रों ने स्वतंत्र कोरिया के निर्माण का निश्चय किया। मई सन् १९४६ में जापान के आत्म-समर्पण के पश्चात्, ३८ वें अक्षांश द्वारा कोरिया के दो भाग कर दिये गये। इस प्रकार उत्तरी कोरिया सोवियट रूस के प्रभाव-क्षेत्र में आ गया और दक्षिणी कोरिया अमरीका के प्रभाव-क्षेत्र में। आरंभ ही से कोरिया के उक्त दोनों भागों का संबंध तनातनी का था। उत्तरी भाग ने, समस्त देश के लिए, सोवियट रूस के ढंग का सा एक साम्यवादी संविधान बनाया और इस बात पर जोर दिया कि विदेशी सेनाएँ देश से हटा ली जायँ। दक्षिणी भाग ने भी अपना लोकतंत्रात्मक संविधान बनाया। उसकी राष्ट्रीय असेंबली ने, संयुक्त-राष्ट्रसंघ से, प्रस्ताव पास करके, कहा कि अमरीकी सेनाएँ दक्षिणी कोरिया में बनी रहें। रूस और उसके साथी देशों ने उत्तरी कोरिया की सरकार को अभिज्ञात किया तथा ब्रिटेन और अमरीका ने दक्षिणी कोरिया की सरकार को। मार्च सन् १९४९ को उत्तरी कोरिया और रूस की सरकारों में एक आर्थिक और सांस्कृतिक समझौता हुआ जिसके कारण उत्तरी कोरिया की आर्थिक स्थिति दक्षिणी कोरिया की अपेक्षा श्रेष्ठतर हो गयी और वह समस्त देश की एकता के लिए प्रयत्नशील हुआ। अगस्त सन् १९४९ में उत्तरी कोरिया की सेनाओं ने दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण किया। मामला संयुक्त-राष्ट्रसंघ के विचाराधीन

किया गया। उसने उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित किया और उसके सदस्यों ने, संयुक्त-राज्य-अमरीका के नेतृत्व में, सैनिक बल द्वारा, उत्तरी कोरिया की पराजय का निश्चय किया।

कोरिया की उक्त स्थिति के कारण, भारत को एक कठिन समस्या का सामना करना पड़ा। सुरक्षा-परिषद् के निर्णय के अनुसार उसने यह तो स्वीकार कर लिया कि उत्तरी कोरिया आक्रमण का दोषी था, पर परंपरागत शांति-प्रियता के कारण, वह इसलिए तैयार न था कि अन्य देशों की भाँति भारतीय सेनाएँ भी उत्तरी कोरिया के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित हों। उसके उक्त निर्णय की संयुक्त-राज्य-अमरीका और ब्रिटेन में बड़ी आलोचना हुई, पर वह अपने निश्चय से लेशमात्र भी न डिगा। उत्तरी कोरिया के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित होने से वह प्रगट रूप से एंग्लो-अमरीकन गुट्ट में आ जाता। ऐसा करना उसकी पर-राष्ट्र-नीति के आधारभूत सिद्धांतों के विरुद्ध था। कालांतर में चीन की साम्यवादी सरकार ने खुल्लमखुल्ला उत्तरी कोरिया की सहायता करना आरंभ कर दिया। फलस्वरूप यह लड़ाई, जो उत्तरी और दक्षिणी कोरिया में, गृह-युद्ध के रूप में आरंभ हुई थी, संसार-व्यापी महासमर में परिवर्तित होने की दिशा में अग्रसर दिखलायी पड़ने लगी।

इस गंभीर परिस्थिति को रोकने के लिए, भारत के प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने, शांति-वाहक बनने की कोशिश की। समस्त संसार को विदित था कि कोरिया की लड़ाई उत्तरी और दक्षिणी कोरिया में नहीं, वरन् सोवियट रूस और संयुक्त-राज्य अमरीका में थी। साम्यवादी चीन निडर होकर, उत्तरी कोरिया की सहायता इसलिए कर रहा था कि अमरीका की सरकार ने उसे अब तक अभिज्ञात नहीं किया था। फलस्वरूप १२ जुलाई सन् १९५० को पं० जवाहरलाल नेहरू ने मार्शल स्टैलिन और संयुक्त-राज्य अमरीका के गृह-सचिव डीन एचेसन दोनों के पास निम्नलिखित आशय का एक संदेश भेजा—भारत, कोरिया की लड़ाई को सीमित करने तथा उसके शांतिमय निर्णय के पक्ष में है। इस उद्देश्य से वह चाहता है कि सोवियट रूस के प्रतिनिधि सुरक्षा-परिषद् में पुनः सम्मिलित हों, साम्यवादी चीन को उसमें एक स्थान मिले और संयुक्त-राज्य-अमरीका, सोवियट रूस और साम्यवादी चीन की सरकारें, अन्य शांतिप्रिय सरकारों के सहयोग से, कोरिया की लड़ाई बंद करने तथा उसकी समस्या को स्थायी रूप से हल करने के लिए प्रयत्नशील हों। मार्शल स्टैलिन ने उक्त संदेश से सहमति प्रगट की। "मैं शांति स्थापित करनेवाले आपके

प्रयत्न का स्वागत करता हूँ। मैं आपके इस विचार के पूर्णतया सहमत हूँ कि सुरक्षा-परिषद् में कोरिया में शांति की समस्या हल की जाय और उसके विचारों में साम्यवादी चीन के सहित पाँचों महाशक्तियाँ भाग लें। शीघ्र निर्णय के लिए मैं यह भी उपयुक्त समझता हूँ कि सुरक्षा-परिषद कोरिया के निवासियों के प्रतिनिधियों को भी सुने।" डीन एचेसन का उत्तर इससे भिन्न था। संयुक्त-राष्ट्र-संघ के उद्देश्यों की प्रशंसा करने के पश्चात्, उसमें साम्यवादी चीन को सुरक्षा-परिषद के सदस्य बनाने के संबंध में निम्नलिखित विचार प्रगट किये गये थे—"हमारे विचार में चीन की प्रतिद्वंद्वी सरकारों में से सुरक्षा-परिषद का स्थान किसे मिले, इसका निर्णय संयुक्त-राष्ट्र संघ ही कर सकता है। इस समय, इस संबंध में, सदस्य-राष्ट्रों में, मतभेद है। मैं जानता हूँ कि आप इस बात में मुझसे सहमत होंगे कि इसका निर्णय गैर-कानूनी आक्रमण या किसी अन्य ऐसे आचरण के अनुसार न होना चाहिये जो संयुक्त-राष्ट्र संघ को धमका या दबाकर उससे किसी काम को कराना चाहता हो।" अमरीका के गृह-सचिव का उक्त उत्तर शीघ्र हल के अनुकूल न था। फलस्वरूप किंचित काल के लिए शांति-स्थापना का प्रयत्न स्थगित कर दिया गया।

भारत और जापान—द्वितीय महासमर के पूर्व जापान एशिया का सबसे अधिक उन्नतिशील देश था। भारत के राजनीतिज्ञ उसकी उन्नति के लिए उसकी प्रशंसा तथा चीन में उसकी साम्राज्यवादी नीति के लिए उसकी निंदा करते थे। द्वितीय महासमर में, आत्म-समर्पण के पश्चात्, वह एक प्रकार से संयुक्त-राज्य-अमरीका के अधीन कर दिया गया। जनवरी सन् १६५० में कोलंबो के सम्मेलन में इस प्रश्न पर भी विचार किया गया। सम्मेलन में राष्ट्र-मंडल के वैदेशिक सचिव सम्मिलित थे। सम्मेलन के सदस्य इस बात पर सहमत थे कि जापान के साथ शीघ्रता से संधि की जाय, पर संयुक्त-राज्य-अमरीका के हितों के कारण, उसने इस संबंध में कुछ भी निश्चय नहीं किया कि संधि किस प्रकार की हो। भारत कोलंबो सम्मेलन के उक्त निर्णय से सह-मत था। वह एशियायी देशों को युरुप और अमरीका के आधिपत्य से मुक्त करने की नीति को स्वीकार कर चुका था।

भारत और दक्षिणी अफ्रीका—पिछले कुछ बरसों से भारत और दक्षिणी अफ्रीका का संबंध संतोषप्रद न था। इसका मुख्य कारण दक्षिणी अफ्रीका द्वारा प्रवासी भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार था। उन्नीसवीं शताब्दी के

मध्य में, बहुत से भारतीय मजदूर, दक्षिणी अफ्रीका की सरकार की माँग पर, उस देश को गये थे। उनके परिश्रम के कारण वहाँ का आर्थिक विकास हुआ। मजदूरों के साथ-साथ व्यापारी भी गये और इस प्रकार अनेक भारतीय, दक्षिणी अफ्रीका के अधिवासी बन गये। कालांतर में वहाँ के युरोपीय निवासी उनसे इसलिए भयभीत हुए कि उनके कारण उनके जीवन का स्तर गिर जायगा। भारतीय मितव्ययी थे और परिश्रम अधिक करते थे। अपने इन गुणों के कारण वे अवांछनीय समझे गये और उनके साथ ऐसा व्यवहार किया जाने लगा कि वे दक्षिणी अफ्रीका को छोड़ कर अपने देश को चले जायँ। सरकार ने आर्थिक सहायता देकर भी उन्हें दक्षिणी अफ्रीका से चले जाने की नीति अपनायी। पर उसे विशेष सफलता न मिली।

स्वतंत्रता के पूर्व, ब्रिटिश राष्ट्र-मंडल के सदस्य होने के नाते, भारत-सरकार ने, दक्षिणी अफ्रीका के भारतीयों की स्थिति सुधारने के कई प्रयत्न किये थे। इसके पूर्व महात्मा गांधी ने इसी उद्देश्य से सत्याग्रह आंदोलन चलाया था। पर छोटी-मोटी बातों के अतिरिक्त, भारतीयों की स्थिति में कोई ऐसा परिवर्तन न हो सका था जो उसे संतोषप्रद बना सकता। युनाइटेड पार्टी के नेता फील्ड-मार्शल स्मट्स इस बात पर दृढ़ थे कि दक्षिणी अफ्रीका में रंगीन जातियों को श्वेत जातियों के समकक्ष स्थान नहीं मिल सकता। वे यह भी चाहते थे कि जातीय भेद-भाव के आधार पर भारतीयों के रहने के क्षेत्र निर्धारित कर दिये जायँ। भारत-सरकार तथा दक्षिणी अफ्रीका के अधिवासी भारतीय, दक्षिणी अफ्रीका की सरकार की उक्त नीति से सहमत न थे।

दूसरे महासमर के अंत के पश्चात् नव मिर्मित संयुक्त-राष्ट्र संघ ने मनुष्य के मानवीय अधिकारों की घोषणा की। इधर भारत भी स्वतंत्र हो गया। फलस्वरूप भारत-सरकार ने, समस्त प्रवासी भारतीयों और विशेष कर दक्षिणी अफ्रीका के अधिवासी भारतीयों की स्थिति के सुधारने के गुरुतर काम को अपने ऊपर लिया। दक्षिणी अफ्रीका के विरुद्ध संयुक्त-राष्ट्र संघ में शिकायत की गयी। उसके आरोपों की सत्यता तो स्वीकार कर ली गयी, पर दक्षिणी अफ्रीका ने संयुक्त राष्ट्र-संघ के निर्देशों को मानने से इनकार कर दिया। अंत में साधारण असेंबली ने अपने एक प्रस्ताव द्वारा भारत, पाकिस्तान और दक्षिणी अफ्रीका को यह परामर्श दिया कि वे इस मामले को संयुक्त-राष्ट्र संघ के चार्टर तथा मानवीय अधिकारों की घोषणा के अंतर्गत एक गोलमेज परिषद में सुलझा लें।

साधारण असेंबली के उक्त निर्णय के होते हुए भी दक्षिणी अफ्रीका की सरकार ने जातीय भेदभाव की नीति में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया। फील्ड मार्शल स्मट्स और उनकी पार्टी के स्थान पर, सन् १९४८ के निर्वाचन में, डाक्टर मेलन (Malan) और उनकी नैशनलिस्ट पार्टी की सरकार बनी। जातीय भेद-भाव की नीति में इसका कार्यक्रम युनाइटेड पार्टी से भी अधिक उग्र था। डाक्टर मेलन के मतानुकूल "अब वह समय आ गया है कि दक्षिणी अफ्रीका के निवासियों की समस्या उनके वर्ण के आधार पर हल कर ली जाय।" फलस्वरूप दक्षिणी अफ्रीका की पार्लमेंट ने ग्रुप एरियास विधेयकों को पास किया जिनके अनुसार भारतीयों, अफ्रीकी जातियों, तथा युरोपियनों के ऐसे क्षेत्र निर्धारित कर दिये गये जिनका परस्पर किसी प्रकार का संबंध न था। दक्षिणी अफ्रीका की सरकार की उक्त नीति के कारण, जो मानवीय अधिकारों के सिद्धांत के विरुद्ध थी, भारत-सरकार ने संयुक्त-राष्ट्र संघ द्वारा प्रस्तावित गोलमेज-परिषद के विचारों में भाग लेने से इनकार कर दिया। फल-स्वरूप यह समस्या डोमीनियन सरकार के कार्यकाल में हल नहीं हो पायी थी, यद्यपि संयुक्त-राष्ट्र संघ के निर्णयानुसार भारत की नैतिक विजय हो चुकी थी।

भारत में विदेशी क्षेत्र—स्वतंत्र होने के समय भारत में कुछ विदेशी क्षेत्र थे। पांडीचेरी, कारीकल, यनाम, माही और चंद्रनगर नाम के नगर फ्रांस के अधिकार में थे और गोआ, डमन और ड्यू नाम के नगर पुर्तगाल के अधिकार में। स्वतंत्र भारत की सरकार, विदेशों के इन अधिकारों को अनुचित समझती थी। अतएव उनके भारत में मिलाने की समस्या पर विचार किया जाने लगा। फ्रांस की सरकार ने इस सिद्धांत को स्वीकार कर लिया कि यदि जनादेश (Referendum) भारत से मिलने के पक्ष में हुआ तो ये क्षेत्र भारत-सरकार को हस्तांतरित कर दिये जायँगे। चंद्रनगर में इस प्रकार का मत-संग्रह कर लिया गया और उस नगर का वास्तविक शासन भारत-सरकार के अधीन हो गया। कालांतर में अन्य नगरों के भी भाग्य का निर्णय इसी आधार पर किया गया। पुर्तगाल को भी इसी नीति के अनुसार अपने क्षेत्रों को भारत-सरकार के अधीन करना पड़ेगा।

भारत और तिब्बत—भारत के उत्तर में हिमालय के उस पार तिब्बत का पहाड़ी प्रदेश है। इसके अधिकांश निवासी बौद्ध धर्म को मानते हैं। अतिकाल से देश में दो सरकारों का अस्तित्व रहा है; प्रथम पंचन लामा की

सरकार और दूसरी डलाई लामा की सरकार। पंचन लामा बुद्ध अमीतव के अवतार समझे जाते हैं और डलाई लामा बोधिसत्व के। आध्यात्मिक दृष्टि से पंचन लामा का स्थान डलाई लामा की अपेक्षा उच्चतर है, पर सांसारिक दृष्टि से डलाई लामा का स्थान उच्चतर समझा जाता है; विशेषतया इसलिए कि १७ वीं शताब्दी में एक मंगोल राजा ने उन्हें तिब्बत का गवर्नर नियुक्त किया था। देश के उक्त राजनीतिक अनैक्य के कारण, विदेशियों को उसके मामलों में हस्तक्षेप करने का अवसर मिला। साम्यवादी चीन ने भी इसी आधार पर उस पर आक्रमण किया।

साम्यवादी चीन के आक्रमण तथा भारत पर उसकी प्रतिक्रिया का विवरण देने के पूर्व हमें यह जान लेना चाहिये कि व्यवहार में तिब्बत का चीन के साथ क्या संबंध था। कानूनी दृष्टि से तिब्बत चीन के आधिपत्य को कुछ अंश तक मानता आया था। पर वास्तव में वह न्यूनाधिक स्वतंत्र था। पंचन लामा का पक्ष लेकर भूतकाल में चीन ने इस बात का प्रयत्न अवश्य किया था कि देश पर उसका प्रभाव बना रहे और उसकी राजनीतिक एकता न स्थापित होने पावे। पर डलाई लामा की सरकार ने चीन के आधिपत्य का विरोध किया। अंत में पंचन लामा और डलाई लामा का विरोध इतना अधिक बढ़ा कि पंचन लामा को देश छोड़कर भागना पड़ा। सन् १९३७ में उन्होंने तिब्बत में लौटने की कोशिश की, पर उनकी हार हुई और कुछ दिनों के पश्चात् उनका स्वर्गवास हो गया।

तिब्बत में प्रचलित विचार-धारा के अनुसार पंचन लामा और डलाई लामा की मृत्यु के पश्चात् उनका पुनर्जन्म होता है। जिस शिशु के रूप में वे आते हैं उसमें कुछ विशेष गुण होते हैं और खोज द्वारा उसका पता लगाया जा सकता है। पंचन लामा की मृत्यु के पश्चात् उनका पुनर्जन्म साम्यवादी चीन में हुआ और उसने उनका पक्ष ग्रहण करके, उन्हें पदासीन करने के लिए, तिब्बत पर आक्रमण कर दिया। इसके दो अन्य कारण भी थे—(१) डलाई लामा की सरकार चीन के आधिपत्य की विरोधिनी थी और (२) कोरिया की स्थिति के कारण चीन को विदेशी आक्रमण का भय था। अतएव अपनी रक्षा के लिए वह तिब्बत में अपनी स्थिति को अधिक से अधिक दृढ़ बनाना चाहता था।

तिब्बत, भारत का पड़ोसी देश था। अतएव भारत-सरकार चाहती थी

कि उस देश में कोई ऐसी परिस्थिति उत्पन्न न हो जिससे उसकी शांति और व्यवस्था में बाधा पहुँचे और उसका कुप्रभाव भारत पर पड़े। वह तिब्बत की समस्या को शांतिपूर्ण तरीकों से हल करना चाहती थी। अतएव जब साम्यवादी सेनाओं ने तिब्बत पर आक्रमण किया और डलाई लामा को अपनी राजधानी छोड़कर भागना पड़ा, उसने आक्रमण के विरुद्ध आपत्ति की और यहाँ तक स्पष्ट कह दिया कि जब तक चीन की सेनाएँ न रुकेंगी, तिब्बत का शिष्टमंडल पीकिंग को शांतिपूर्ण समझौते के लिए न रवाना होगा और ग्यान्टे में ठहरी हुई सैनिक टुकड़ी वापस न बुलायी जायगी। भारत के इस रुख के कारण कुछ लोगों को आश्चर्य हुआ। एक ओर तो वह साम्यवादी चीन को सुरक्षा-समिति का सदस्य बनाना चाहता था और दूसरी ओर तिब्बत में उसका विरोध कर रहा था। भारत की आपत्ति के उत्तर में चीन की सरकार ने इस बात पर जोर दिया कि तिब्बत की समस्या चीन की आंतरिक समस्या थी और भारत सरकार की आपत्ति दूसरे राज्यों के प्रभाव पर आधारित थी। डोमीनियन सरकार के कार्यकाल में समस्या का हल न हो पाया था। किंतु स्थिति पहले की अपेक्षा अधिक सुलझी हुई अवश्य दिखलायी पड़ती थी।

भारत और पाकिस्तान—स्वतंत्रता के पश्चात् भारत और पाकिस्तान का परस्पर संबंध ऐसा था कि सुगमता से समझ में नहीं आता। एक ओर तो दोनों देशों ने लगभग एक दर्जन ऐसे समझौते किये थे कि उनका परस्पर संबंध अच्छा हो जाय। ये समझौते साधारणतया दो मुख्य विषयों के थे—(१) सरकारी, अर्द्ध-सरकारी तथा स्थानीय संस्थाओं के भुगतान और पावने के संबंध में (२) यातायात के साधनों और व्यापार के संबंध में। दूसरी ओर दोनों देशों में इतना अधिक मतभेद था कि उनकी दो समस्याएँ संयुक्त-राष्ट्र-संघ के विचाराधीन थीं और कभी-कभी लड़ाई छिड़ जाती अथवा लड़ाई की चर्चा होने लगती थी। मतभेद की मुख्य बातें निम्नलिखित थीं—

(१) शरणार्थियों की संपत्ति—देश के विभाजन के कारण, पाकिस्तान के अधिकाश हिंदू भारत को और पूर्वी पंजाब के अधिकांश मुसलमान पाकिस्तान को चले गये थे। चूँकि विभाजन बड़ी शीघ्रता से किया गया था और उसके साथ सांप्रदायिक बर्बरता के अत्याचार हो रहे थे, इसलिए जितने लोग एक देश से दूसरे देश को गये, वे अपनी अधिकांश संपत्ति को अपने मूल देश में ही छोड़ गये। इस संपत्ति के कारण, दोनों देशोंमें मतभेद था। जनवरी सन् १९४९ में इस संबंध में एक समझौता अवश्य हुआ था जिसके अनुसार शहरों

की अचल संपत्ति की बिक्री या उसके विनिमय और चल संपत्ति के एक देश से दूसरे देश में ले जाने के निरीक्षण के लिए संयुक्त कमीशनों की व्यवस्था की गयी। कालांतर में ऐसे विदित हुआ कि इस समझौते के अनुसार संतोष-पूर्वक कारवाई नहीं की गयी और शरणार्थियों की संपत्ति पूर्ववत् अधिकृत की गयी। २६ जुलाई सन् १९४९ को पाकिस्तान की सरकार ने, एक ऑर्डीनेंस द्वारा इस प्रकार की संपत्ति की बिक्री बंद कर दी और इसके कुछ दिनों पश्चात्, सर जफरुल्ला खाँ ने संयुक्त-राष्ट्र-संघ में दिये गये एक भाषण में एक ऐसे निष्पक्ष न्यायालय की माँग पेश की जो शरणार्थियों की संपत्ति का सर्वमान्य निर्णय कर सके। इतनी बात-चीत के होते हुए भी डोमीनियन सरकार के कार्यकाल में शरणार्थियों की संपत्ति का कोई ऐसा निर्णय नहीं हो सका जो दोनों देशों को मान्य हो। अतएव इसके कारण दोनों देशों में मतभेद था।

(२) **आर्थिक बातें**—आर्थिक प्रश्नों के संबंध में भी दोनों डोमीनियनों में मतभेद था। स्वतंत्रता के पूर्व देश का आर्थिक विकास समस्त देश को एक इकाई मान कर किया गया था। अतएव विभाजन के कारण कुछ ऐसे प्रश्नों का उठना अनिवार्य था जिनके कारण दोनों देशों में मतभेद हो। रेलवे, सड़कें, बैंकों में जमा धन, नहरें आदि ऐसी बातें थीं जिनके संबंध में सर्वमान्य समझौता एकदम से न हो सकता था। सीमा संबंधी झगड़े भी अनिवार्य थे। तिस पर विभाजन के कारण कच्चा माल उत्पादन करने वाले कुछ प्रदेश पाकिस्तान को चले गये थे, पर उनकी मीलें भारत में थीं। खाद्यान्न की दृष्टि से भारत स्वपर्याप्त न रह गया था पर पाकिस्तान के पास आवश्यकता से अधिक खाद्यान्न था। मतभेद की उक्त बातों के निराकरण के लिए कई समझौते किये गये। कुछ बातें हल भी हो गयीं फिर भी डोमीनियन सरकार के कार्यकाल में अनेक ऐसी बातें रह गयीं जिनके कारण दोनों डोमीनियनों में मतभेद था।

(३) **काश्मीर की समस्या**—काश्मीर के प्रश्न पर भी दोनों डोमीनियनों में मतभेद था। भारतीय स्वतंत्रता के पश्चात् काश्मीर के महाराजा ने भारत और पाकिस्तान दोनों डोमीनियनों से यथास्थिति समझौते किये थे। कालांतर में उक्त समझौते के होते हुए भी, कबाइली जातियों ने, पाकिस्तान की सहायता से, रियासत पर हमले आरंभ किये जिनका रोकना महाराजा के लिए असंभव हो गया। ऐसा विदित होने लगा कि रियासत उक्त चाल द्वारा जबरदस्ती पाकिस्तान में मिला ली जायगी। ऐसी संकटग्रस्त परिस्थिति में

महाराजा ने भारतीय संघ में सम्मिलित होने की प्रार्थना की। उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली गयी। इस प्रकार काश्मीर भारत का अंग बन गया और उसकी रक्षा के लिए भारतीय सेनाएँ श्रीनगर को भेजी गयीं और वह नगर बचा लिया गया। कबाइली और पाकिस्तानी सेनाओं को पीछे हटना पड़ा। चूँकि अब काश्मीर भारत का अंग था और निश्चित रूप से यह कहा जा सकता था कि पाकिस्तानी सेनाएँ उस पर आक्रमण कर रही थीं, इसलिए भारत-सरकार ने काश्मीर के प्रश्न को संयुक्त-राष्ट्र संघ द्वारा निर्णीत होने के लिए उसके विचाराधीन कर दिया। उसने जाँच के लिए एक कमीशन की नियुक्ति की जिसने १३ अगस्त सन् १९४८ को अपना निम्नलिखित निर्णय दिया—(१) काश्मीर की लड़ाई बंद कर दी जाय। यह बात १ जनवरी सन् १९४९ से कार्यान्वित की गयी। २७ जुलाई सन् १९४९ को वे सीमाएँ भी निर्धारित कर दी गयीं जहाँ तक पाकिस्तान और भारत की सेनाएँ रह सकती थीं। (२) दोनों देशों मे एक विराम-संधि की जाय जिसके अनुसार पाकिस्तानी सेनाएँ काश्मीर से हटा ली जायँ और तत्पश्चात भारतीय सेनाएँ भी रियासत की रक्षा के अतिरिक्त, वहाँ से हटा ली जायँ। (३) ऐसी परिस्थिति उत्पन्न की जाय कि स्वतंत्रतापूर्वक जनानुमति द्वारा रियासत के भविष्य का निपटारा कर दिया जाय। एडमिरल चेस्टर निमिट्ज (Nimitz) जनानुमति के अधिकारी नियुक्त हुए। किंतु इस निर्णय की दूसरी बात के संबंध में मतभेद हो गया। पाकिस्तान ने काश्मीर से अपनी सेनाओं को हटाने में आनाकानी की। कुछ दिनों तक और बातचीत होती रही। अंत में कमीशन ने अपने निर्णय को वापस कर लिया और काश्मीर का प्रश्न पुनः संयुक्त-राष्ट्र संघ के विचाराधीन हो गया।

कुछ दिनों के पश्चात् सुरक्षा-परिषद ने काश्मीर के प्रश्न को पुनः उठाया। १७ दिसंबर सन् १९४९ को उसने अपने सभापति, जनरल मेकनाटन को दोनों देशों के प्रतिनिधियों के परामर्श से इस प्रश्न के हल का अधिकार दिया। उन्होंने दोनो देशों के प्रतिनिधियों से बातचीत की और तत्पश्चात् हल की एक योजना बनायी जिसकी मुख्य बातें इस प्रकार थीं—(१) काश्मीर का प्रश्न निष्पक्ष जनानुमति के लोकतंत्रात्मक ढंग से शीघ्र से शीघ्र हल किया जाय। (२) दोनों राज्य एक मत से 'लड़ाई बंद करो' लाइन के दोनों ओर से अपनी सेनाएँ इस प्रकार हटा लें कि किसी भी पक्ष को किसी प्रकार की आशंका न रह जाय। (३) 'लड़ाई बंद करो' लाइन के दोनों ओर की

काश्मीरी सेनाएँ इतनी कम कर दी जायँ जितनी शांति और व्यवस्था की रक्षा के लिए आवश्यक हों। (४) दोनों राज्य एक मत होकर यह स्वीकार करें कि उनकी अनुमति से नियुक्त संयुक्त-राष्ट्र संघ का मंत्री जिस व्यक्ति को संयुक्त-राष्ट्र संघ का प्रतिनिधि नियुक्त करे वह लोकतंत्रात्मक ढंग से इस समस्या के हल का निरीक्षण करे।

यह योजना भारत को स्वीकार्य न थी। जिस बात की जाँच के लिए, भारत ने काश्मीर के प्रश्न को संयुक्त राष्ट्रसंघ के विचाराधीन किया था उसकी ओर लेशमात्र भी ध्यान न देकर वह काश्मीर की समस्या को जटिलतर बना रहा था। प्रश्न तो यह था कि कौन राज्य आक्रमण का दोषी था। संयुक्त-राष्ट्र संघ इस बात पर विचार कर रहा था कि अंत में काश्मीर का प्रश्न किस प्रकार हल किया जाय। डोमीनियन सरकार के कार्यकाल में काश्मीर के संबंध में ये ही प्रयत्न किये गये थे। कालांतर में कुछ अन्य प्रयत्न भी किये गये पर समस्या का हल अभी तक नहीं हो पाया है।

(४) **हैदराबाद की समस्या**—हैदराबाद और जूनागढ़ के कारण भी भारत और पाकिस्तान में मतभेद था। इन रियासतों के शासक तो मुसलमान थे, पर अधिकतर निवासी हिंदू थे। ब्रिटेन की अधिपति सत्ता के हटने पर भौगोलिक अनिवार्यता की अवहेलना करके, जूनागढ़ के नवाब ने अपनी रियासत को पाकिस्तान मे मिलाना चाहा और निज़ाम ने यह जानते हुए भी कि रियासतें स्वतंत्र न हो सकती थीं, स्वतंत्र होने का विचार किया। इस संबंध मे भारत-सरकार की नीति जनानुमति के अनुसार आचरण की थी। जूनागढ़ के नवाब के पाकिस्तान चले जाने पर, जनानुमति के निर्णय के अनुसार, वह रियासत भारत में मिला ली गयी। पाकिस्तान को यह बात नापसंद थी। हैदराबाद के साथ पहले तो यथास्थिति-समझौता किया गया। पर निजाम की सरकार उसके अनुसार न चलती थी। उसे कई बार चेतावनी दी गयी, पर परिणाम कुछ भी न निकला। रियासत में, इत्तिहादुल मुसलमीन की सहायता से सैयद कासिम रिज़वी और उसके रजाकार साथी, उत्पात मचा रहे थे। हिंदू जनता, तथा उन मुसलमानों पर भी जो रियासत के भारत से मिलने के पक्ष में थे, भयंकर अत्याचार हो रहे थे, और निजाम की सरकार उनके दमन के संबंध में निष्क्रिय थी। अंत में भारत-सरकार ने हैदराबाद के संबंध में एक श्वेतपत्र प्रकाशित किया, जिनमें स्पष्ट रूप से यह कहा गया था कि "भारत-सरकार हैदराबाद के कुशासन को अकर्मण्य होकर नहीं देख सकती। भारत

और हैदराबाद के संबंध-निर्धारण का एकमात्र तरीका यह है कि रियासत भारतीय संघ में मिल जाय और उसका लोक-तंत्रीकरण किया जाय।" निजाम ने इसे अस्वीकार किया। फलस्वरूप हैदराबाद के विरुद्ध पुलिस कार्रवाई की गयी और अंत में निजाम ने यह स्वीकार कर लिया कि हैदराबाद की रियासत भारतीय संघ में मिल जायगी और उसका शासन-प्रबंध लोक-तंत्रात्मक प्रणाली के अनुसार किया जायगा। कालांतर में निजाम ने भारत के लोकतंत्रात्मक गण-राज्य के संविधान को स्वीकार करके, अपनी रियासत को संघांतरित राज्य में परिवर्तित कर दिया है। राष्ट्रपति ने उन्हें अपनी रियासत का राजप्रमुख नियुक्त किया है।

हैदराबाद को उक्त गतिविधि पाकिस्तान को नापसंद थी। उसने हैदराबाद में की गयी पुलिस कार्रवाई को संयुक्त-राष्ट्र संघ के विचारार्थ उसके सम्मुख रखा। पर कुछ परिणाम न निकला। हैदराबाद की समस्या भारत की आंतरिक समस्या थी और इसके संबंध में संयुक्त राष्ट्र-संघ को किसी प्रकार के हस्तक्षेप का अधिकार न था। इस स्पष्ट बात के होते हुए भी, पाकिस्तान को हैदराबाद के संबंध में जबरदस्ती का आभास होता था। फलस्वरूप हैदराबाद और जूनागढ़ के विषय में भी, दोनों राज्यों में मनोमालिन्य का अस्तित्व था।

(५) **विदेशी राज्यों का प्रभाव**—विदेशी राज्यों की नीति के कारण भी भारत और पाकिस्तान में मनोमालिन्य था। हम ऊपर बतला चुके हैं की द्वितीय महासमर के पश्चात् संसार के अधिकांश देश दो गुट्टों में विभाजित हो गये थे और भारत ने उन दोनों के प्रति तटस्थ रहने का निर्णय किया था। यह बात हृदय से न तो अमरीकी गुट्ट पसंद करता था और न रूसी गुट्ट। यदि भारत और पाकिस्तान का मनोमालिन्य दूर हो जाता और दोनों देश एक दूसरे का साथ देने लगते, तो यह आशंका निर्मूल न थी कि वे एशियायी राज्यों का नेतृत्व करके एक तीसरे गुट्ट का निर्माण कर सकते थे जो अमरीकी और रूसी गुट्टों को निर्धारित सीमा में रहने के लिए बाध्य कर सकता था। संसार के विभिन्न देश भारत और पाकिस्तान के मामलों पर निष्पक्षता से विचार न करके, अपने स्वार्थ के अनुसार उन पर विचार करते थे और कभी-कभी ऐसी बातें कह डालते थे जिनके कारण एक देश दूसरे देश के अधिक निकट आने की अपेक्षा, उसके विरुद्ध भड़क तथा उससे दूर हो जाता था।

(६) **सांप्रदायिक वैमनस्य**—भारत और पाकिस्तान के मनोमालिन्य का सर्वप्रधान कारण सांप्रदायिक वैमनस्य था। रक्तपात और नर-संहार के

जिस दूषित वातावरण में देश का विभाजन हुआ था उसकी दुखद स्मृतियाँ आज भी संबद्ध व्यक्तियों को सता रही हैं। तिसपर स्वतंत्रता के पश्चात् भी उसी प्रकार के नृशंस कार्य होते जा रहे थे जिनके कारण लाखों की संख्या में एक देश के निवासी दूसरे देश की ओर जाने लगते थे और शरणार्थियों की विकट समस्या दोनों देशों के सम्मुख उपस्थित हो जाती थी। जनवरी सन् १९५० से इस प्रकार के अनेक अत्याचार विशेषतया पाकिस्तान में हुए और लाखों की संख्या में सताये गये अथवा भयभीत हिंदू भारत को आने लगे। प्रतिक्रिया-स्वरूप पश्चिमी बंगाल के मुसलमान भी पाकिस्तान की ओर जाने लगे। सांप्रदायिकता की इस भावना के कारण दोनों देशों में मनोमालिन्य था।

भारत और संयुक्त-राष्ट्र संघ—अपने पर-राष्ट्र-संबंध के संचालन में, भारत जब कभी जिस किसी ढंग से संभव हो, संसार की शांति को बढ़ाना चाहता था। वह उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए, संयुक्त-राष्ट्रसंघ का अधिक से अधिक प्रयोग करना चाहता था, जिनके लिए वह स्थापित किया गया था। अतएव भारत संयुक्त-राष्ट्र संघ का सदस्य था। उसके प्रतिनिधियों ने उसकी विभिन्न संस्थाओं के विचारों में भाग लिया तथा उनके हल में महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान किया। उसने अपनी भी दो समस्याएँ, उसके द्वारा निर्णय के लिए, उसके समक्ष रखीं—(१) दक्षिणी अफ्रीका में भारतीयों के प्रति बर्ताव की समस्या और (२) पाकिस्तान द्वारा काश्मीर पर आक्रमण की समस्या। पहली समस्या के सैद्धांतिक सत्य को संयुक्त-राष्ट्र-संघ ने स्वीकार कर लिया पर वह उसके संबंध में कोई ऐसी कार्रवाई करने में असमर्थ रहा जो दक्षिणी अफ्रीका की सरकार को भारतीयों के प्रति अच्छे बर्ताव के लिए बाध्य कर सकती। भारत में संयुक्त-राष्ट्र संघ की उक्त मनोवृत्ति के कारण कुछ असंतोष था। यही बात पाकिस्तान की समस्या के विषय में भी कही जा सकती थी। संयुक्त-राष्ट्र संघ पाकिस्तान को आक्रमणकर्ता घोषित न करके, अंतर्राष्ट्रीय गुत्थियों के कारण, उस समस्या पर ऐसे दृष्टि-कोण से विचार कर रहा था, जो भारतीयों को मान्य न था। फिर भी भारतीय डोमीनियन संयुक्त-राष्ट्र संघ से सहयोग कर रही थी। उसने एशियायी सम्मेलन, संयुक्त-राष्ट्र-संघ के अंतर्गत, किये। संयुक्त-राज्य-अमरीका के अत्यधिक प्रभाव के कारण कुछ लोगों की यह धारणा थी कि संयुक्त-राष्ट्रसंघ की आत्मा का हनन हो गया था।

पर-राष्ट्र-संबंध के मूल सिद्धांतों का व्यावहारिक स्वरूप—भारतीय डोमीनियन की पर-राष्ट्रनीति के मूल तत्वों का विवरण हम इस अध्याय

के आरंभ में दे चुके हैं। ऊपर पर-राष्ट्र-संबंध-संचालन की महत्वपूर्ण बातों का भी विवरण हो चुका है। क्या इन दोनों में सामंजस्य है? बहुत अंश तक अवश्य है। भारतीय डोमीनियन संसार की शांति बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील थी। कोरिया संबंध में उसके प्रयत्न इस बात के प्रत्यक्ष प्रमाण थे। वह संयुक्त-राष्ट्र संघ की भी उसके उद्देश्यों की पूर्ति में सहायता कर रही थी। उसने अपने दो मामले उसके विचाराधीन कर रखे थे। भारतीय प्रतिनिधि उसकी विभिन्न कमेटियों के विचारों में भाग लेते थे। भारत ने अटलांटिक या पैसीफिक पैक्ट की भाँति अलग संस्थाओं के निर्माण द्वारा संयुक्त-राष्ट्र संघ के प्रभाव को घटाने का प्रयत्न नहीं किया था। वह एशिया की निर्बल जातियों को ऊपर उठाने में प्रयत्नशील था। इंडोनेशिया और वियतनाम रिपब्लिकों के संबंध में किये गये उसके काम इस संबंध में उल्लेखनीय थे। उसने फ्रांस और हालैंड की नाखुशी का ख्याल न करके इन देशों की खुल्लम-खुल्ला सहायता की थी। वह यह नहीं चाहता था कि एशियावी देशों में ऐसी सरकारें हों जो विदेशी सेना के बल पर देश पर शासन करें। इसी उद्देश्य से वह कोरिया की लड़ाई को शांतिपूर्ण तरीके से हल करना और स्वयं अपने क्षेत्राधिकार से, जनानुमति के आधार पर, फ्रांसीसियों और पुर्तगाल वालों को निकालना चाहता था। उसने अपने पर-राष्ट्र-संबंध भी स्थापित कर लिये थे। पर क्या वह तटस्थता की इस नीति में सफल हुआ था? इस प्रश्न का उत्तर भी हमें 'हाँ' में ही देना पड़ेगा। भारत ने दो गुट्टों में से किसी का भी साथ इस प्रकार नहीं दिया था कि वह एक पक्षीय समझ लिया जाय। यदि एक ओर वह संयुक्त-राष्ट्रसंघ के साथ था तो दूसरी ओर, अपनी सेनाओं को कोरिया की लड़ाई में सम्मिलित करके, उसने अमरीकी कैंप में पदार्पण नहीं किया था। यदि एक ओर वह लाल चीन को अभिज्ञात करके सुरक्षा-परिषद में उसे स्थान दिलाना चाहता था तो दूसरी ओर तिब्बत में उसके सैनिक आक्रमण को गलत बतलाने के कारण वह साम्यवादी रूस का साथी नहीं कहा जा सकता था। सारांश यह कि वह प्रत्येक अंतर्राष्ट्रीय प्रश्न पर न्याय की दृष्टि से विचार करता था, किसी एक पक्ष के समर्थक की भाँति नहीं।

पर-राष्ट्र-नीति की आलोचना—पर-राष्ट्र-नीति के विषय में भारत में तीन विभिन्न वर्गों के लोग पाये जाते हैं। पहले वर्ग वाले आदर्शवादी कहे जा सकते हैं। ये मनुष्य के अधिकतम नैतिक विकास के पक्ष में हैं। फलस्वरूप ये सेना, युद्ध, पर-राष्ट्र-नीति आदि सभी बातों को अनावश्यक समझते

हैं। भारत की मौजूदा स्थिति में ऐसे लोगों का कोई स्थान नहीं। व्यावहारिक जीवन में आदर्शवाद कपोल कल्पना के समान है। दूसरे वर्ग वाले फासिस्ट-वाद की ओर झुके हुए हैं। वे छोटी-छोटी बातों से क्रुद्ध हो लड़ाई या बदले की चर्चा करने लगते हैं। पर-राष्ट्र-संबंध संचालन में वे अधिक उत्साही हो भारत के खोये हुए प्रदेशों को पुनः अधिकृत करना चाहते हैं। भारत की मौजूदा स्थिति में इन लोगों का भी कोई स्थान नहीं है। तीसरे वर्ग के लोग यथार्थवादी कहे जा सकते हैं। ये कल्पना के संसार में न रह कर वास्तविक संसार के अनुसार पर-राष्ट्र-नीति निर्धारित करना चाहते हैं। यदि एक ओर ये मनुष्य के नैतिक विकास पर जोर देते हैं तो दूसरी ओर सेना और युद्ध की आवश्यकता को स्वीकार करते तथा युद्ध के लिए तत्पर रहने पर भी जोर देते हैं। भारत की डोमीनियन सरकार यथार्थवादी दृष्टि-कोण की थी और इसी के अनुसार अपनी पर-राष्ट्र-नीति को निर्धारित तथा पर-राष्ट्र-संबंध का संचालन कर रही थी।

कुछ यथार्थवादियों के मतानुकूल भारतीय डोमीनियन का पर-राष्ट्र-संबंध संचालन उतने अच्छे ढंग से नहीं किया गया था जितने अच्छे ढंग से वह अन्यथा किया जा सकता था। उनके विचारानुकूल भारतीय राजनीतिज्ञों में दूर-दर्शिता का अभाव तथा वक्तव्य निकालने और भाषण देने की अनुपम चाह थी। फलस्वरूप वे कभी-कभी ऐसी बातें कह डालते थे जिनके विरुद्ध कुछ ही दिनों में उन्हें आचरण करना पड़ता था। उदाहरण के लिए राष्ट्र-मंडल में भारत के स्थान का उल्लेख किया जाता था। जब संविधान-सभा में, ध्येय संबंधी प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, उसी समय भारतीय राजनीतिज्ञों को, राष्ट्र-मंडल की सदस्यता की आवश्यकता पर विचार कर लेना चाहिये था। किंतु ध्येय संबंधी प्रस्ताव को स्वीकार तथा भारत को सर्व-प्रभुत्व-संपन्न लोकतंत्रात्मक गण राज्य घोषित करके राष्ट्रमंडल की रियायतों तथा लाभों के लिए उसकी सदस्यता को स्वीकार करना ठीक न था।

दूसरी बात जिसके संबंध में भारत के पर-राष्ट्र-संबध-संचालन की आलो-चना की जाती थी वह काश्मीर की समस्या थी। इसमें संदेह नहीं कि पाकि-स्तान ने भारत पर आक्रमण किया था और भारतीय और पाकिस्तानी सेनाएँ एक दूसरे के सामने थीं। युद्ध छिड़ जाने की भी आशंका थी। इसका प्रभाव पाकिस्तान पर उतना ही अधिक पड़ता जितना भारत पर। फिर भारत, अति व्यग्रता से परस्पर वार्तालाप किये बिना, इस समस्या को संयुक्त-राष्ट्र संघ के

समक्ष क्यों ले गया ? क्या उसने इस बात पर विचार किया था कि पाकिस्तान का रुख इसके संबंध में क्या होगा ? क्या उसका इस बात में विश्वास था कि संयुक्त-राष्ट्र संघ के सदस्य अपने हित का विचार न करके नितांत सत्य के पक्ष में अपना मत प्रगट करेंगे। गत सौ बरसों का अंतर्राष्ट्रीय इतिहास इस निष्कर्ष के अनुकूल न था। राष्ट्रीय स्वार्थ-साधन उसका मूलमंत्र था। काश्मीर की समस्या को संयुक्त-राष्ट्र संघ के विचारार्थ, उसके समक्ष रखने के पूर्व, भारत को इन बातों पर विचार कर लेना चाहिये था। उसे विपक्षियों की दलीलों तथा अंतर्राष्ट्रीय जगत के रवैये के अनुसार ही अपने सब कामों को करना चाहिये था। ऐसा न करने के कारण काश्मीर की समस्या राज्यों के गोरखधंधे में उलझ गयी है और आज भी उसका ऐसा निर्णय-दृष्टिगोचर नहीं होता, जो भारत की मान-मर्यादा तथा सत्य के अनुकूल हो।

तीसरी बात जिसके संबंध में भारत की पर-राष्ट्र-नीति की कड़ी आलोचना की जा रही थी, वह मुद्रा-अवमूल्यन की थी। १३ सितंबर सन् १९४९ को भारत ने इंगलैंड के साथ-साथ अपने रुपये का अवमूल्यन कर दिया। इस संबंध में विशेषज्ञों का परामर्श लिया गया या नहीं और यदि लिया गया तो उनके परामर्श के अनुसार काम किया गया या नहीं, ये विवादास्पद प्रश्न हैं। किंतु यह निश्चित है कि पाकिस्तान का परामर्श नहीं लिया गया था। अब तक भारत और पाकिस्तान के रुपये के मूल्य में किसी प्रकार का अंतर न था। किंतु इस तिथि के पश्चात हो गया। पाकिस्तान ने अपने रुपये का अवमूल्यन नहीं किया। फलस्वरूप भारत के लगभग १४०) रुपये पाकिस्तान के १००) रुपये के बराबर हो गये। उन दिनों पाकिस्तान की नीति की कड़ी आलोचना की गयी। यहाँ तक कह डाला गया कि पाकिस्तान की आर्थिक स्थिति कुछ ही दिनों में डाँवाडोल हो जायगी। किंतु वास्तविक स्थिति इसके भिन्न निकली। खाद्यान्न के कारण सन् १९५१ के आरंभ में भारत ने पाकिस्तान के साथ एक व्यापारिक समझौता किया जिसमें उसे पाकिस्तान के रुपये की विनिमय की दर को उसकी ही शर्तों पर स्वीकार करना पड़ा। पता नहीं कि इस संबंध में भी विशेषज्ञों का परामर्श लिया गया था या नहीं, और यदि उनके परामर्श के अनुसार सब बातें की गयी थीं, तो उनके विचारों में इतना अधिक परिवर्तन इतने अल्पकाल में किन आधारभूत कारणों की वजह से हो गया था।

तटस्थता की नीति की भी कड़ी आलोचना की जा रही थी। संसार की

तत्कालीन स्थिति म या तो निर्बल शक्तियाँ तटस्थ रह सकती थीं या महाशक्तियाँ। भारत ऐसा राज्य, जो एशिया के मध्य में स्थित था और जिसके चारो ऐसी स्थिति थी कि किसी भी समय आग उभड़ सकती थी, तटस्थ रह सकता था अथवा नहीं, यह एक विवादास्पद बात थी। तटस्थता की नीति के कारण, संसार के विभिन्न राज्य, भारत के प्रति वह सहानुभूति नहीं दिखला रहे थे जिसका वह वास्तव में अधिकारी था। भारत में खाद्यान्न संकट था। दुर्भिक्ष उसके सामने नाच रहा था। संयुक्त-राज्य-अमरीका, सोवियट रूस और लालचीन तीनों के पास अतिरिक्त खाद्यान्न था। भारत उसे मोल लेना चाहता था, पर इस काम में भी उसे कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था। सारांश यह कि तटस्थता की नीति के कारण अंतर्राष्ट्रीय जगत में भारत का स्थान उतना ऊँचा नहीं था जितना उसे वास्तव में होना चाहिये था।

वर्णानुक्रमणिका

सहायक पुस्तकों की सूची

Afzal Haq (Ch) : Pakistan and Untouchability.
Alexander (H.G.) : India Since Cripps.
Ambedkar (B.R.) : Pakistan or Division of India.
Banerjee (A.C.) : Indian Constitutional Documents.
Banerjee (A.C.) : The Constituent Assembly of India.
Banerjee & Bose : The Cabinet Mission in India.
Beni Prasad The Hindu-Muslim Question.
Bose (S.M.) : The Working Constitution of India.
Coupland : The Indian Constitutional Problem 1936-42.
Dutt (R P.) : India Today.
Gandhiji's Correspondence with the Government 1942-44.
Ganpat Rai : Congress Struggle.
Gobind Sahai : '42 Rebellion.
Government of India Act 1935.
Griffiths (P) : The British Impact on India
Haksar : Indian States and Federation.
Hindustan Year Book 1946 to 50.
Humayun Kabir : Muslim Politics.
I. N. A. on Trial. Padma Publication.
Indian Annual Register 1935 to 1947.
Indian Year Book (Times of India). All vols. after 1935 upto 1951.
Johnson : Mission with Mountbatten.
Joshi (G.N.) : The New Indian Constitution.
Joshi (P.C.) : They Must Meet Again.
Khipple : The Simla Conference.
Kanshik (B.G.) : The House that Jinnah Built.
Khan (S.A.) : Indian Federation.
Lohia (Ram Manohar) : The Mystery of Sir Stafford Cripps.
Lovett : A History of Indian Nationalist Movement.
Meherally (Y) : A Trip to Pakistan.

दीनानाथ व्यास —महान विप्लव

सूर्यबली सिंह (स)—आजाद हिंद फौज का इतिहास

भारतीय समाचार —सन् १८४९ से १९४७ तक